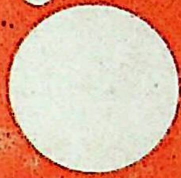
स्कृतरचनावलिः



म. म. श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदः

चौखम्बा प्रका





6-3

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१६१



चतुर्वेदि-संस्कृत-रचनावलिः

(म. म. श्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदविरचितसंस्कृतग्रन्थसंग्रहः)

[प्रथमो भागः]

सम्पादकः

ग्रन्थकर्तुः कनिष्ठात्मजः

श्रीशिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः, एम० ए०

व्याकरण-साहित्याचार्यः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्थ-संस्कृतमहाविद्यालये

साहित्यप्राध्यापकः

प्रकाशकः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२३

मूल्य :



THE
KASHI SANSKRIT SERIES
169

CHATURVEDI SANSKRIT RACHANĀVALĪ

(A Collection of M. M. Śrī Giridhara Śarmā
Chaturvedi's Sanskrit Works.)

PART I

Edited By
Sri Shivadutta Sharma Chaturvedi
M. A., Vyākaraṇa–Sāhityāchārya,
Lecturer Sanskrit Mahāvidyālaya,
Banaras Hindu University, Varanasi

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Post Box 8. Varanasi-1 (India) Phone : 3145.
1966

First Edition
1966
Price

प्राक्कथनम्

अथाधुना पूज्यपादानां पितृचरणानां म. म. श्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदानां संस्कृतरचनासंग्रहरूपायाश्चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावल्या खण्डचतुष्टयात्मकं प्रथमं भागं विद्वद्वरेण्यानां करकमलेषूपायनीकृत्य वयं किमप्यनिर्वचनीयमानन्दातिरेकमनुभवामः । ग्रन्थपरिचयप्रसङ्गे सर्वजनोपयोगिदृशाऽस्माभिः राष्ट्रभाषायां भूमिकात्रैव प्रस्तुता । संस्कृतविद्वांसस्तु ग्रन्थविलोकनेन ग्रन्थगौरवं ज्ञास्यन्त्येव ।

आशासे विद्वांसः प्रयासस्यास्य समुचितं सम्मानं विधायास्मानग्रेऽप्येवंविधप्रयत्ने समुत्साहं प्रदास्यन्तीति ।

विनयावनतः

शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः



भूमिका

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय पितृचरण महामहोपाध्याय पंडितश्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी जी की संस्कृतरचनाओं के संकलन के, जिसे 'चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावली' यह नाम दिया गया है, प्रथम भाग को संस्कृतसाहित्य जगत् को समर्पित करते हुए मुझे जिस हर्ष का अनुभव हो रहा है, वह मेरे लिए वर्णनातीत है। कुछ वर्ष पूर्व मुझे कुछ पूज्यविद्वानों तथा आदरणीय मित्रों ने इस कार्य की ओर मेरा कर्तव्य सुझाया कि पूज्य पिता जी की समस्त रचनाएँ जो संस्कृत और हिन्दी में हों उनका संकलन कर उन्हें प्रकाशित कराने का प्रयत्न होना चाहिए। इस कार्य की प्रेरणा देने वालों में श्रद्धेय म० म० पं० परमेश्वरानन्द जी शास्त्री डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल, श्री दीनानाथ शास्त्री सारस्वत, स्व० श्री नरहरिविष्णु गाडगिल, स्व० श्री केदारनाथ जी सारस्वत, वैद्यवर्य श्रीरामनारायण जी जोशी, के नाम मुझे स्मरण हैं। इनमें वैद्यराज श्री रामनारायण जी ने तो सामग्री संकलन के लिए वर्षों तक आर्थिक सहयोग दिया। मुझे सामग्री संकलन के लिए अनेक बार जयपुर, देहली, आदि जाना पड़ा, वहां से सहस्रों पृष्ठों की जो पिता जी की रचनाएं मिली, उनकी प्रतिलिपि करके उन्हें टाइप कराने आदि के भारी व्यय में हमें श्री रामनारायण जी वैद्य महोदय ने अवलम्ब दिया। उन्होंने वर्षों तक पिता जी की सेवा और सुविधा के लिए भी अर्थ दिया, जब-जब जो विशेष मांग परिस्थिति वश उनके सामने पिता जी के सम्बन्ध में की गई, उसे पूर्ण उदारता और अत्यन्त विनीत भाव से उन्होंने पूर्ण किया। आपकी पुष्कल आर्थिक सहायता मिलने पर इस दिशा में हमारा उत्साह भी बढ़ता गया और एक वैतनिक सहयोगी और एक टाइपिस्ट के साथ मैं प्रेस कापी प्रस्तुत करने में तल्लीन हो गया। विश्वविख्यात दानवीर श्रीमान् माननीय जुगलकिशोर जी बिडला महोदय भी एक लम्बे समय से पिता जी की आर्थिक अर्चना कर रहे हैं। उक्त महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। अत्यन्त वृद्धावस्था में स्थित होने पर भी पूज्य पिता जी ने इस सामग्री को सामने लाने के परिश्रम में हम को पीछे छोड़ दिया यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। उन्होंने पूरे-पूरे लेखों को अक्षर-अक्षर सुनकर सभी लेखों में भारी परिवर्तन परिवर्धनादि काराकर ही उसके प्रकाशन की अनुमति दी। उक्त प्रयासों के फल स्वरूप हम अब तक—

१. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, ३. साहित्यिक निबन्ध,
२. गीता व्याख्यान माला के ३ भाग, ४. दर्शन अनुचिन्तन,

इन पुस्तकों को प्रकाशित कराने में सफल हुए हैं। इनमें से प्रारंभिक चार पुस्तकें स्वतन्त्र ग्रन्थ के ही रूप में यद्यपि लिखी गईं तथापि उनमें भी प्राचीन सामग्री जो कि हमें प्राप्त होती रही थी, उसका स्थान-स्थान पर समावेश हुआ। 'साहित्यक निवन्ध' और 'दर्शन अनुचिन्तन' तो स्पष्ट रूप से प्राचीन लेखों के ही संकलन हैं। हिन्दी में अभी उनका पर्याप्त साहित्य प्रकाशन के लिये रक्खा है, जिसे सुविधानुसार प्रकाश में लाते रहने का हमारा संकल्प है।

मैं जब गीता व्याख्यानमाला के तृतीय भाग का सम्पादन कर रहा था उन दिनों एक बार पिता जी ने मुझ से कहा कि तुम हमारी हिन्दी रचनाओं को प्रकाशित करने में ही लगे हो, हमारी संस्कृत रचनाओं का भी तो संकलन प्रकाशित कराओ। तब तक मैंने संस्कृत रचनाओं के संकलन पर ध्यान नहीं दिया था और मेरा ऐसा विचार था कि संस्कृत में पिताजी की अधिक रचनाएं नहीं हैं। यही बात उस समय मैंने कही। इसके उत्तर मेंउन्होंने कहा कि संस्कृत में हमारे लेख हिन्दी से भी अधिक हैं। उसी दिन से मैंने संस्कृत रचनाओं के संकलन का संकल्प किया और गीता व्याख्यानमाला के सम्पादन से निवृत्त होकर जब मैंने संस्कृत रचनाओं का संग्रह प्रारंभ किया तो धीरे-धीरे इतनी सामग्री सामने आगई कि उसे प्रकाशित कराने के लिए एक जिल्द पर्याप्त प्रतीत नहीं हुई। पिताजी ने प्रायः १५ वर्ष तक जयपुर से निकलने वाले "संस्कृत रत्नाकर" नामक मासिक पत्र का संपादन किया और आगे भी बहुत समय तक उसके प्रकाशक रहे। सौभाग्य से पचास वर्ष पुराने 'संस्कृत रत्नाकर' के वे अंक, जो पिताजी के संपादकत्व में निकले थे, हमारे यहां सुरक्षित मिल गए और उनके सभी अंको में पिताजी के बड़े-बड़े लेख, जो धारावाहिक रूप से अनेक अंकों में छपे थे, हमारे सामने आए। यह 'संस्कृत रत्नाकर' पत्रिका अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन की मुख पत्रिका आगे चल कर बना दी गई। आज भी यह सम्मेलन के देहली स्थित कार्यालय से प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका का संक्षिप्त इतिहास 'चतुर्वेदि-संस्कृत-रचनावली' के द्वितीय भाग में संकलित संस्कृत-रत्नाकरस्यात्मकथा" शीर्षक लेख में पढ़ने को मिलेगा। 'संस्कृत रत्नाकर' के प्राचीन अंकों में जो धारावाहिक मुद्रित लेख उपलब्ध हुए उनमें से एक तो पुस्तक रूप से लिखा गया लेख था, वह दार्शनिक लेख माला "प्रमेयपारिजात" शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। संस्कृत लेख सामग्री एकत्रित होने पर 'प्रमेय पारिजात' और 'पुराणपारिजात' का 'विद्यास्कन्ध' भारत सरकार के अनुदान से संस्कृत विद्यापीठ, देहली द्वारा प्रकाशित किये गये। प्रकाशन के उपरान्त ये दोनों पुस्तकें भारत के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री महामनीषी स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री जी को

समर्पित की गई। अवशिष्ट संस्कृत लेख- 'चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावली' के दो भागों में प्रस्तुत किये जारहे हैं। इन लेखों में बहुतों को ग्रन्थ भी कहा जासकता है। विषय के क्रम से इनका विभाजन कर प्रस्तुत भाग में पांच खण्ड आए हैं, ये क्रमशः हैं—

१. वेद खण्ड
२. पुराण खण्ड
३. शब्द शास्त्र खण्ड
४. धर्मशास्त्र खण्ड
५. काव्य साहित्य खण्ड

प्रथम वेद खण्ड में तीन लेख है—"ऋतं च सत्यं च"
"वेदेषुविज्ञानं तस्य क्रमिको ह्रासश्च"
"वेदेषु पितरः"

प्रथम लेख "ऋतं च सत्यं च" में वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त "ऋत" और "सत्य" इन शब्दों का भाष्यकारों ने क्या आशय प्रकट किया है, यह मन्त्रों के उद्धरण पूर्वक वतलाते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से इन शब्दों का क्या तात्पर्य हैं, यह प्रकाशित किया गया है। इस वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार संसार के सभी पदार्थ दो प्रकार के कहे जासकते हैं। एक वे जो अपना केन्द्र बना कर स्थित हैं तथा दूसरे वे जो बिना केन्द्र बनाए विकीर्ण भाव से संस्थित रहते हैं। प्रथम कोटि में केन्द्र बनाकर रहने वाले पदार्थों में पृथ्वी आदि पदार्थों की गणना होती है, उन्हें ही 'सत्यम्' शब्द से कहा गया है, दूसरे जो बिना केन्द्र के विशीर्ण भावापन्न होकर संस्थित रहते हैं, उनमें वायु आदि की गणना है, उन्हें ही वैदिक परिभाषा में 'ऋतम्' कहा गया है। इसी वैज्ञानिक दृष्टि को वैदिक उदाहरणों के द्वारा परिपुष्ट कर इस लेख में उपस्थित किया गया है। यह लेख कई वर्ष पूर्व सरस्वती भवन, वाराणसी से निकलने वाली 'सारस्वती सुषमा' त्रैमासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इस खण्ड के दूसरे लेख—

"वेदेषु विज्ञानम् तस्य क्रमिको ह्रासश्च" में विज्ञान के अर्थ से सम्बन्धित विप्रतिपत्तियां दिखाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि विज्ञान शब्द का तात्पर्य वही है जो वर्तमान में 'साइन्स' शब्द से समझा जाता है। यह विज्ञान या साइन्स वैदिक साहित्य में परिपूर्ण मात्रा में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से उल्लिखित हुआ है, अनेक मन्त्रों को उद्धृत करके उनमें विज्ञान या साइन्स के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि वर्तमान साइन्स के लिए अभी जो बहुत दूर की स्थिति है वह भी वैदिक साहित्य में बहुत स्पष्टता

से समुपलब्ध है। अन्त में इस महान् विज्ञान का ह्रास किस प्रकार होता चला गया यह दिखाते हुए यह आशा व्यक्त की गई है कि पुनः वैदिक विज्ञान का अन्वेषण होगा और उससे उस महान् विज्ञान का प्रकाश पुनः संसार को आलोकित करेगा। यह लेख 'संस्कृत रत्नाकर' के वेदाङ्क' नामक विशेषाङ्क में मुद्रित हो चुका है।

इस खण्ड का तीसरा लेख "वेदेषु पितरः" है। वैदिक विज्ञान में वर्तमान साइन्स की तरह जो मूल-तत्त्व सृष्टि के उत्पादक के रूप में पहिचाने गए हैं, उनमें देवता, ऋषि, और पितृ तत्त्व मुख्य हैं। इनमें से पितृ तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत लेख में हुआ है। यह लेख भी 'सारस्वती सुषमा' में प्रकाशित हो चुका है। 'देवता' और 'ऋषि' तत्त्व पर भी दो विस्तृत लेख पिता जी ने लिखे थे। वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय की स्थापना के अनन्तर प्रथम उपकुलपति श्रीमान् माननीय आदित्यनाथ झा महोदय ने एक विशिष्ट व्याख्यान पद्धति का वहां आयोजन किया, जिसका कि नाम "म. म श्री गंगानाथ झा व्याख्यान माला" रक्खा गया उस व्याख्यान माला का प्रारंभ पिताजी के ही वेदविज्ञान सम्बन्धी तीन व्याख्यानों से हुआ। ये तीनों व्याख्यान "वेदविज्ञानविन्दु' नाम से वहीं से प्रकाशित भी हुए। हमने इन तीनों व्याख्यानों को प्रस्तुत रचनावली में संकलित करने की अनुमति के लिए सम्बद्ध अधिकारियों को लिखा। परन्तु कुछ वैधानिक आपत्तियों के कारण वहां से अभी उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। यदि आगे कुछ समय में वहां से अनुमति प्राप्त हो गई तो 'चतुर्वेदि-संस्कृत-रचनावली' के दूसरे भाग में हम उसे प्रकाशित करेंगे।

दूसरे पुराणखण्ड में पांच लेख क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. पुराणेषु विकासवादः
२. कूर्मपुराणविषयालोचनम्
३. मुद्गलपुराणविषयालोचनम्
४. वेदेषुपुराणमहत्त्वम्
५. पुराणलक्षणानि

"पुराणेषु विकसवादः" लेख में पाश्चात्य विद्वानों के विकासवाद सिद्धान्त (Theory of Evolution) के संकेत पुराणों में दिखाए गए हैं। एक अन्य हिन्दी लेख में लेखक ने यह प्रतिपादन किया है कि भारतीय प्राचीन दृष्टि ह्रासवादी रही है, और आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि विकासवादी है। यदि तत्त्वविवेचन या परिणाम की यथार्थता को ध्यान में रखकर इन दोनों सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जाय तो परिणाम में दोनों बातें एक ही सिद्ध होती हैं।

केवल बाह्यरूप में भेद दृष्टिगोचर होता है। पुराण साहित्य महान् है। नवीन कहे जाने वाले ये महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पुराण में अनिर्दिष्ट नहीं रह सकते अपितु विकासवाद जैसे नवीन कहे जाने वाले सिद्धान्तों का कैसा स्पष्ट और स्वच्छ निरूपण पुराणों में मिलता है, यह इस लेख को पढ़ने से समझ में आ जायगा।[1] यह लेख 'संस्कृत रत्नाकर' में मुद्रित हुआ था, वहीं से संकलित हुआ है। इसके आगे के पुराण सम्बन्धी चारों लेख 'सर्व भारतीय-काशिराजन्यास' से प्रकाशित 'पुराणम्' नामक अन्वेषण-पत्रिका में यथा समय प्रकाशित हुए थे। वहीं से हमने इनका संकलन किया। पुराणों पर पिताजी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'पुराण पारिजात' सर्व भारतीय काशिराजन्यास' के द्वारा प्रकाशित किया जाना है। उसका उत्तर भाग केन्द्रीय-संस्कृत समिति की आर्थिक सहायता से सस्कृत विद्यापीठ देहली के द्वारा हाल ही में प्रकाशित किया गया है, यह सूचना हम ऊपर दे चुके हैं। उसके पूर्व का भाग अनेक वर्ष पूर्व ही उक्त संस्था को प्रकाशनार्थ सौंप दिया गया था। परन्तु कुछ अड़चनों के कारण वह अभी प्रकाश में नहीं आसका है। भगवान् से प्रार्थना है कि उस ग्रन्थ को भी शीघ्र ही प्रकाश में लाने के लिए उसके दुरदृष्ट को मिटायें। श्रद्धेय काशीनरेश महाराजवहादुर श्रीविभूतिनारायण सिंह देव जी ने पिताजी को पुराण साहित्य पर एक ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित किया और पुष्कल अर्थ साहाय्य प्रदान किया। पिताजी ने प्रायः ६ वर्षों तक परिश्रम करके 'पुराण पारिजात' नामक ग्रन्थ की रचना की। श्रद्धेय काशी नरेश अनेक वर्षों तक प्रतिवर्ष विभिन्न अवसरों पर विभिन्न पुराणों के प्रवचन श्री रामनगर के देवस्थानों में कराया करते थे। तत्तत्पुराणों के प्रवचनों के सार भी उन्होंने लिखवाए। अनेक पुराणों के सार तो हिन्दी में लिखे गए, परन्तु दो पुराणों वामन पुराण और मुद्गल पुराण के सार संस्कृत में लिखे गये और 'पुराणम्'' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुए। उन्हें हमने 'रचनावली' के प्रस्तुत भाग में पुराण खण्ड में सम्मिलित किया है। पूज्य पिताजी पर श्रद्धेय श्री काशिराज का जो अनुग्रह रहा है उसका विस्तृत विवरण हम 'रचनावली' के द्वितीय भाग की भूमिका में विस्तार से देंगे, जहाँ पिताजी के जीवन की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं का भी विवरण होगा। यहाँ हम इन लेखों को 'रचनावली' में सम्मिलित करने के लिए महाराजाधिराज श्री काशीनरेश के प्रति अपनी हार्दिक विनम्रता पूर्ण कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इसी खण्ड के आगे के दो लेख "वेदेपु पुराणमहत्त्वम्" तथा 'पुराणलक्षणानि' "पुराण पारिजात" के प्रथम भाग के अंश हैं, जो कि 'पुराणम्' पत्रिका में भी मुद्रित हुए हैं। इन दोनों लेखों को

---

१. विशेष जिज्ञासा के लिए द्रष्टव्य 'विकास और ह्रास'—'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'।

पढ़कर पाठकों को यह आभास हो जायगा कि 'पुराण पारिजात' ग्रन्थ में कितने महत्त्वपूर्ण विषयों का सारगर्भित और सरल शैली में प्रतिपादन हुआ है। इसी सन्दर्भ में हमें यह भी एक हर्षजनक सूचना देनी है कि पुराणों पर "पुराण परिशीलन" नाम का एक हिन्दी ग्रंथ राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूर्धन्य सेवी संस्थान 'विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना' से बहुत शीघ्र प्रकाशित हो रहा है। इन दिनों उसका भी मुद्रण कार्य चल रहा है। तीसरे 'शब्दशास्त्रखण्ड' में एक बड़ा निवन्ध है जिसका प्रकाशन नवान्हिक महाभाष्य की भूमिका के रूप में 'पाणिनिपरिचयः' शीर्षक से हो चुका है। यह एक स्वतन्त्र ऐतिहासिक समालोचना युक्त पुस्तक कही जा सकती है। इसके लिखने में प्रायः २ वर्ष का समय लगा था। इस निवन्ध में संस्कृत व्याकरण शास्त्र के निर्माता प्राचीन आचार्यों और उनकी रचनाओं की ऐतिहासिक विवेचना बड़ी बारीकी से की गई है। इस निवन्ध के एक दो महत्त्वपूर्ण विषयों का संकेत यहाँ हम इसलिये कर रहे है जिससे हिन्दी के पाठकों को भी इस निवन्ध की गम्भीरता का बोध हो जावे।

पाणिनि से पहिले भी संस्कृत के लौकिक और वैदिक दोनों अंगों पर व्याकरण बने थे। यद्यपि आज पाणिनि से पूर्ववर्ती कोई सुसम्वद्ध व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध तो नहीं है परन्तु पाणिनि व्याकरण के सावधान अनुशीलन से ही यह पता चलता है कि पाणिनि से पहिले भी व्याकरण की सत्ता थी। कुछ उदाहरणों से उक्त तथ्य की जाँच कर लेना यहां उपयुक्त होगा। पाणिनि सूत्र है 'आङिचापः'। इस सूत्र में तृतीया विभक्ति के एक वचन को पाणिनि ने 'आङ्' कहा है। परन्तु तृतीया विभक्ति के एक वचन में पाणिनि ने 'आङ्' नहीं अपितु 'टा' प्रत्यय का विधान किया है। 'आङिचापः' सूत्र की व्याख्या करते हुए व्याख्याकारों का कथन है 'आङिति टा संज्ञा'। अर्थात् तृतीया के एक वचन में जिस 'आङ्' का उक्त सूत्र में निर्देश है, वह 'टा' प्रत्यय का ही पुराना नाम है। उसी को पाणिनि ने 'टा' कर लिया। 'आङ्' प्रत्यय करने पर 'ङ' का लोप करना होता और ङकार के इत्संज्ञक हो जाने के कारण ङित् कार्यों की प्राप्ति तृतीया के एक वचन में हो जाती जो कि अपनी परिभाषाओं के अनुसार पाणिनि को अभीष्ट नहीं थी। इसीलिए उन्होंने उसे 'आङ्' न कहकर 'टा' कह दिया। परन्तु कहीं-कहीं प्राचीन व्याकरणों का संस्कार रह जाने के कारण सूत्रों में 'टा' विभक्ति के स्थान पर 'आङ्' भी उनके मुख से निकल गया। इसी प्रकार का एक सूत्र है 'औङ आपः', यहां भी पाणिनि ने प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन के प्रत्यय को 'औङ' कहा है, परन्तु उनकी विभक्तियों में प्रथमा तथा द्वितीया का द्विवचन 'औ'

तथा 'औट्' है न कि 'औङ्', । इसका भी यही समाधान व्याख्याओं में मिलता है कि प्राचीन व्याकरणों में प्रथम तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में 'औङ' प्रत्यय का विधान था। ङित् कार्य का परिहार करने के उद्देश्य से पाणिनि ने उन्हें उक्त रूप से परिवर्तित कर अपने व्याकरण में ले लिया, परन्तु संस्कारवश अथवा प्राचीन संज्ञाओं की रक्षा के लिए कहीं-कहीं उन नामों से भी उन विभक्तियों का स्मरण उन्होंने कर लिया है। आगे विभक्तियों का अर्थ बतलाते हुए 'कर्मणि द्वितीया', 'कर्तृकरणयोस्तृतीया', कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है, कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है, इत्यादि सूत्रों में किस अर्थ में कौन विभक्ति होती है यह तो बतलाया, परन्तु प्रथमा, द्वितीया, आदि कहते किसे हैं, यह नहीं बतलाया है। सु, औ, जस् आदि तीन-तीन के क्रम से प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियों का स्वरूप सिद्ध है अतः उन्होंने इनके स्वरूप को बतलाने का व्यर्थ प्रयास करना उचित नहीं समझा यह समाधान करना भी अशक्य है, क्योंकि यही समाधान धातुओं से होने वाले प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुरुषों के विषय में भी किया जा सकता था। परन्तु वहां तिप तस् झि को प्रथम पुरुष कहते हैं इत्यादि रूप से पाणिनि ने पृथक् सूत्र बना कर निर्देश किया है। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रथमा, द्वितीया आदि संज्ञाएँ प्राचीन व्याकरणों में सुप्रसिद्ध थी अतः उनका उसी रूप में पाणिनि ने ग्रहण कर लिया उनके लिए पृथक सूत्र बनाना उचित नहीं समझा। कृदन्त प्रत्ययों के प्रकरण में एक सूत्र है—तितुत्रथसिसुसरकसेषु च' इन दस प्रत्ययों में 'इट्' के आगम का निषेध इस सूत्र के द्वारा किया गया है, परन्तु इस सूत्र में पठित अनेक प्रत्यय पाणिनि के द्वारा विहित नहीं हैं, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि दूसरे किसी व्याकरण में इन प्रत्ययों का विधान देखकर उनमें इट् का निषेध पाणिनि ने कर दिया। यदि यह कहा जाय कि ये प्रत्यय उणादि में पढ़े हुए हैं, तो उणादि प्रत्यय भी पाणिनि विहित नहीं है, वह भी पाणिनि से भिन्न व्याकरण है। इसी प्रकार धातु पाठ में कृत्, स्तम्भु स्तुम्भु आदि अनेक धातु नहीं पढ़े गए हैं परन्तु सूत्रों में उनका ग्रहण हुआ है। इन धातुओं को व्याख्याकारों ने 'सौत्र धातु' यह संज्ञा दी है, जिसका आशय है कि पाणिनि के धातु पाठ में उनका उल्लेख नहीं केवल सूत्रों में ही इनका ग्रहण हुआ है। पूर्व व्याकरण में इन धातुओं का उल्लेख रहा होगा, संस्कारवश उनका सूत्रों में ग्रहण पाणिनि ने कर लिया, अपने धातु पाठ में उन्हें नहीं पढ़ा यही यहाँ निष्कर्ष कथन करना होगा। अदादिगण में पाणिनि ने 'चर्करीतं च' यह सूत्र बनाकर 'यङ्०लुगन्त' प्रकरण का चर्करीत शब्द से स्मरण किया है, परन्तु कहीं यङ्लुगन्त की चर्करीत तह संज्ञा उन्हों ने नहीं की। प्राचीन व्याकरणों में

णिजन्त प्रकरण को 'कारित', सन्नन्त प्रकरण को 'चिकीर्षित', यङन्त को 'चेक्रीत' और यङ्लुगन्त प्रकरण को 'चर्करीत' कहा गया था। निरुक्त में भी इन प्रकरणों का व्यवहार इन्हीं नामों से प्राप्त होता है। अतः प्राचीन व्याकरणों के संस्कार से ही पाणिनि मे बिना संज्ञा विधान किये ही चर्करीत आदि प्राचीन व्याकरणों में प्रसिद्ध संज्ञाओं का उपयोग कर लिया।

पाणिनि सूत्रों में पूर्व मतों का खण्डन भी देखा जाता है—

"प्रधानप्रत्यार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्"

"कालोपसर्जने च तुल्यम्"

यहाँ पूर्व सूत्र में तो प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता के लिए पृथक् वचन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्ययार्थ की प्रधानता स्वतः सिद्ध है यह बात बतलाई गई है, दूसरे सूत्र के द्वारा यह बात बतलाई गई है कि अनद्यतन आदि काल का विवरण करने के लिए भी स्वतन्त्र वचन विन्यास की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि जिन वचनों की आवश्यकता का खण्डन उपर्युक्त पाणिनि सूत्रों में प्राप्त होता है उन वचनों की आवश्यकता का प्रतिपादन भी तो कहीं होना चाहिये, तभी तो उसका खण्डन उपयुक्त हो सकता है। इस प्रकार के वचनों की आवश्यकता का प्रतिपादन प्राचीन व्याकरणों में पाणिनि ने अवश्य देखा होगा, तभी उसका खण्डन करने के लिए उन्हें सूत्र बनाने की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार पाणिनि ने 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' इस सूत्र से लिंग वचन का विधान किया है परन्तु आगे चलकर—'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'इस सूत्र से उस बात का स्वयं खण्डन भी कर दिया। पहिले स्वयं ही उस बात को कहना और आगे स्वयं उसका खण्डन कर देना इस बात का ही साक्षी है कि पूर्व व्याकरणों के संस्कार से पहिले उन्होंने सूत्र की आवश्यकता का अनुभव करते हुए सूत्र बना दिया, परन्तु आगे चलकर उन्हें उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। अतः उसका स्वयं खण्डन भी कर दिया।

इस प्रकार पाणिनि के पूर्व भी व्याकरण की सत्ता थी इस बात की साक्षी भगवान् पाणिनि ही देते हैं।

भाष्यकार का साक्ष्य

इसके उपरान्त भाष्यकार ने भी अनेक स्थलों पर ऐसे संकेत किये हैं जिनसे पाणिनि से पूर्व व्याकरण की सत्ता थी यह स्वीकार करने में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। भाष्यकार ने 'देभतुः' 'सस्वजे' आदि ऐसे अनेक उदा-

हरण दिये हैं, जो पाणिनि सूत्रों के आधार पर सिद्ध नहीं किये जा सकते। मूल धातु 'दम्भ' और 'स्वंज' है। यहाँ मकार और नकार का लोप किये विना 'देमतु:' और 'सस्वजे' ये प्रयोग लिट् लकार में सिद्ध नहीं किये जा सकते। यहाँ भाष्यकार ने इन प्रयोगों को सिद्ध करने के लिए अन्य व्याकरण के नियम का ही आश्रय लिया है, यही समाधान भट्टोजिदीक्षित ने भी किया है। एक सूत्र के भाष्य में 'उस सूत्र को भारद्वाज के अनुयायी दूसरे प्रकार से पढ़ते हैं' ऐसा कह कर भाष्यकार ने स्पष्ट ही भारद्वाजीय व्याकरण की सत्ता स्वीकार की है। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र के भाष्य में महर्षि पतंजलि कहते हैं—

नाम च धातुजमाह निरुक्ते
व्याकरणे शकटस्य च तोकम्

यहां 'शकट तोक' अर्थात् शाकटायन व्याकरण की सत्ता को स्पष्ट ही भाष्यकार ने पाणिनि के पूर्व माना है। वर्तमान में शाकटायन व्याकरण के नाम से जो व्याकरण ग्रन्थ मुद्रित रूप में उपलब्ध होता है, वह शाकटायन व्याकरण पाणिनि से पूर्व का नहीं है। शाकटायन स्फोटायन आदि अनेक आचार्यों के नाम पाणिनि के सूत्रों में भी उपलब्ध होते हैं। अत: शाकटायन व्याकरण पाणिनि के पहिले विद्यमान था इसमें तो कोई सन्देह नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त महर्षि पतंजलि ने पाणिनि के अक्षरों से बहुत सी परिभाषाएं निकाली हैं जिनकी सहायता के बिना पाणिनि सूत्रों से शब्द सिद्धि का पूर्ण निर्वाह नहीं होता। उन परिभाषाओं को महाभाष्य से संगृहीत कर के नागेश भट्ट ने 'परिभाषेन्दुशेखर' नाम के स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। नागेश भट्ट ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये परिभाषाएँ पाणिनि से पूर्व भी वाचनिक रूप में प्रचलित थीं और प्राचीन व्याकरणों ने शब्द सिद्धि में इनका आश्रय लिया था।

यहाँ तक पाणिनि व्याकरण के आधार पर दिखाया गया कि पाणिनि के पूर्व भी शब्दों को सिद्ध करने के लिए व्याकरण का प्रणयन अवश्य हुआ था। अव आगे अन्य शास्त्रों में भी पाणिनि के पूर्व व्याकरण की सत्ता थी इसके संकेत प्राप्त होते हैं उनका भी कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। पाणिनि का एक सूत्र है—

'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयो:'

इस सूत्र के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाराशर के बनाए हुए भिक्षु सूत्रों को पाणिनि ने देखा था। भिक्षु सूत्र वेदव्यास के बनाए हुए वेदान्त सूत्र ही हैं, भिक्षा से निर्वाह करने वाले संन्यासियों में अधिक प्रसिद्धि

होने के कारण उनका नाम भिक्षु सूत्र ही प्राचीनकाल में प्रसिद्ध था। ये भिक्षु सूत्र या वेदान्त सूत्र समस्त दर्शनों के सूत्र ग्रन्थों में काल क्रम में अन्तिम हैं, अन्य दर्शन सूत्रों का प्रणयन काल इनके पूर्व का है क्योंकि इन भिक्षु सूत्रों में अन्य दार्शनिक सूत्र ग्रन्थों में आये हुए मतों का खण्डन मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शनों के सभी सूत्र ग्रन्थ पाणिनि से प्राचीन हैं। उनमें से न्याय सूत्रों में व्याकरण सम्बन्धी विचार देखने को मिलता है। एक न्याय सूत्र है—

'विकारादेशोपदेशात् संशये'। (अ० २ पा० २।)

इस सूत्र में शब्द नित्य है या अनित्य इस विषय पर न्याय सूत्रकार भगवान् गौतम ने विचार किया है। इस सूत्र के द्वारा उन्होंने यह आशय अभिव्यक्त किया है कि कुछ वैयाकरण शब्दों में विकार मानते हैं अर्थात् एक वर्ण विकृत होकर अन्य वर्ण का रूप ले लेता है। अन्य वैयाकरण ऐसा नहीं मानते वे कहते हैं कि वर्ण विकृत नहीं होते अपितु एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण का आदेश हो जाता है। इन दोनों मतों में से कौन सा मत वास्तविक है यह विचार न्याय सूत्रों में किया गया है। गौतम ने दोनों पक्षों में तर्कों से विचार करते हुए यही अपना सिद्धान्त स्थिर किया है कि एक वर्ण को दूसरा वर्ण आदिष्ट हो जाता है। वर्णों में विकार या आदेश होकर अन्य वर्ण बन जाना यह दर्शन का नहीं अपितु व्याकरण का ही विषय है। अतः न्याय सूत्रकार महर्षि गौतम व्याकरण के मतों से परिचित थे जो कि उनके पूर्व व्याकरण की सत्ता होने का प्रमाण है। जो व्याकरण गौतम के पूर्व या उनके समय में रहे होंगे उनका पाणिनि से पूर्व होना तो स्वतः सिद्ध ही है। एक बात और है कि न्याय सूत्रों में आदेश वाद और विकार वाद का उपक्षेप किया गया है। उनमें से पाणिनि उपदेशवादी हैं अर्थात् पाणिनि के मत से एक वर्ण को दूसरे वर्ण का आदेश किया जाता है। अतः विकार वाद पाणिनि से भिन्न है जिसके अनुसार भी व्याकरण ग्रन्थों का निर्माण उस समय हुआ था यह न्याय सूत्रों की साक्षि से सिद्ध हो जाता है।

वाल्मीकिरामायण में हनुमान जी से जब रामचन्द्र भगवान् का प्रथम साक्षात्कार और वार्तालाप हुआ उस समय रामचन्द्र ने लक्ष्मण से हनुमान की भाषा की प्रशंसा करते हुए कहा कि—

"नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किंचिदपभाषितम्॥"

अर्थात् निश्चय ही इसने सम्पूर्ण व्याकरण अनेक बार सुना है क्योंकि बहुत

बोलने पर भी इसने एक भी अशुद्ध शब्द का उच्चारण नहीं किया। वाल्मीकि-रामायण में व्याकरण के नाम ग्रहण से व्याकरण शास्त्र के पाणिनि से प्राचीन होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता क्योंकि वाल्मीकिरामायण पाणिनि से पहिले का है इसमें किसी इतिहासज्ञ विद्वान को कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इन सब बातों से पाणिनि के पहिले भी संस्कृत भाषा के व्याकरण बने थे यह तो सिद्ध है, परन्तु उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों में पाणिनि से पूर्व का कोई भी नहीं है। पाणिनिने पूर्ववर्ती व्याकरणों का सार संग्रह करके वैज्ञानिक पद्धति से व्याकरण शास्त्र का सम्पूर्ण गठन जब कर दिया तो अन्य अपूर्ण व्याकरण ग्रंथों की उपयोगिता समाप्त हो जाने के कारण उनका व्यवहार नहीं रहा, फलतः आज वे व्याकरण ग्रन्थ हमें देखने को उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनि व्याकरण ही संस्कृत शब्दों के साधुत्व को जानने का आज मुख्य साधन हमारे पास है जो कि अक्षय है। इसी की कृपा से आज भी संस्कृत भाषा समझने योग्य भाषा बनी हुई है यह कहने में किसी को कुछ भी संकोच नहीं हो सकता।

व्याकरण निर्माताओं के लिए शिष्ट लोगों में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥"

इसमें १. इन्द्र २. चन्द्र ३. काशकृत्स्न ४. आपिशली ५. शाकटायन ६. पाणिनि ७. अमर और ८. जैनेन्द्र इन आठ शाब्दिकों की चर्चा की गई है।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने निरुक्तालोचन में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पाणिनि से पहिले किसी व्याकरण की रचना नहीं हुई थी। उपर्युक्त श्लोक में जो नाम पाणिनि के पहिले आए हैं उनके व्याकरण कर्तृत्व को हटाने के लिए यह युक्ति दी गई है कि उक्त पद्य में निर्दिष्ट आठ व्यक्ति शाब्दिक हैं, न कि व्याकरण निर्माता या वैयाकरण। शाब्दिकत्व तो शब्दशास्त्र में प्रौढ़ होने पर, शब्दशास्त्र में पारंगत होने पर, तथा शब्दशास्त्र का प्रचारक होने पर तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक प्रकारों से सिद्ध हो सकता है। शब्दशास्त्र पद से केवल व्याकरण का ही नहीं अपितु कोश, मीमांसा आदि का भी ग्रहण होता है। व्याकरण के समान ही कोशों में भी शब्द विषयिणी मीमांसा होती है, एकार्थक शब्दों का संकलन होता है, इसी प्रकार मीमांसा शास्त्र में वैदिक शब्दों की व्याख्या की जाती है। संस्कृत के विशिष्ट विद्वानों की एक पुरातन उपाधि है—'पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारीण'। इसमें 'पद' से व्याकरण लिया जाता है, इनमें 'पारावारीण' अर्थात् पूर्ण प्रवीण होना उन विद्वानों

की विशेषता होती थी। शब्द शास्त्र में 'पद' और वाक्य दोनोंका समावेश हो जाता है अतः शब्द शास्त्र से मीमांसा का भी ग्रहण परम्परा सिद्ध है। अतः आठ शाब्दिकों में केवल व्याकरण निर्माता ही सब नहीं हैं अपितु कुछ कोश निर्माता भी हैं तथा कुछ मीमांसा मनीषि भी हैं।

उपर्युक्त पद्य में व्याकरण निर्माताओं की सूचि में सबसे पहिले इन्द्र का नाम आता है। आठ शाब्दिकों में आदि में पठित नामों वाले आचार्यों के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। परन्तु अनेक ग्रंथों में उनके उल्लेख से यह प्रकट होता है कि उन्होंने विशिष्ट ग्रन्थों की रचना की थी जो आगे चलकर विलुप्त हो गये। 'चन्द्र' के विषय में राजतरंगिणी ने लिखा है कि—

> चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।
> प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्।

वैयाकरणों में चान्द्रदौर्गादि नामों से प्राचीन महावैयाकरण विद्वान् प्रसिद्ध थे उन चन्द्राचार्य को दक्षिण के किसी स्थान पर महाभाष्य की कोई जीर्ण पुस्तक उपलब्ध हुई जिसे वे अभिमन्यु के राज्यकाल में काश्मीर ले गए और उन्होंने उसके आधार पर अपना व्याकरण भी बनाया। परन्तु इसी प्रकार की साक्षी से चन्द्र के व्याकरण का अनुमान होता है। कोई ग्रन्थ उनका उपलब्ध नहीं। काशकृत्स्न तो मीमांसक थे, अतः उनकी बनाई हुई मीमांसा का नाम 'काशकृत्स्नी' हुआ। 'आपिशल' का उल्लेख स्वयं पाणिनि ने 'वासुप्यापिशलेः' (६।१।९२) सूत्र में किया है, अतः स्पष्ट है कि प्राचीन वैयाकरणों में उनके मत का आदर था। परन्तु 'इन्द्र' नामक किसी विद्वान ने कोई व्याकरण बनाया, यह बात तो प्रमाणों के अभाव में सन्देह दोलाधिरूढ़ ही है।

श्री सामश्रमी जी ने निरुक्तालोचन में यह विचार प्रकट किया है कि इन्द्र के विषय में महाभाष्य के पस्पशान्हिक में एक आख्यायिका आयी है—

> एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय
> दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां
> शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च
> प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः,
> तथापि नान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं
> जीवति स वर्षशतं जीवति-इत्यादि

(पस्पेशाह्निक)

अर्थात् शब्दशास्त्र का अध्ययन करने के लिए सारे शब्दों का प्रतिशब्द पारायण करना तो असंभव है। यह सुना जाता है कि बृहस्पति ने इन्द्र को एक सहस्र दिव्य वर्षों तक प्रत्येक शब्द का पारायण कर अध्यापन कराया, परन्तु वे शब्दों का अन्त न पासके। बृहस्पति जैसे प्रवक्ता तथा इन्द्र जैसा अध्येता भी जब दिव्य सहस्र वर्षों तक अध्ययन करके शब्दों का अन्त न पा सका तो आज अधिक-से-अधिक सौ वर्ष तक जीवित रहने वाले लोगों में कोई शब्दों का अन्त पालेगा इसकी आशा तो सर्वथा दुराशा मात्र है। महाभाष्य में समुद्धृत इस आख्यायिका से श्री सामश्रमी जी ने यह तात्पर्य निकाला है कि इन्द्र ने बृहस्पति से शब्दों का पारायणरूप अध्ययन किया था। तथा जिस प्रकार का अध्ययन किया था उसी प्रकार की ग्रन्थ रचना भी की होगी। इससे यही सिद्ध होता है कि इन्द्र ने किसी विशाल शब्द कोश की रचना की थी।

वास्तव में वेदों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट होती है कि यह इन्द्र अनेक प्रकार का है। वेदों में देव भी अनेक प्रकार के बतलाए गए हैं, तथा देव-विशेष इन्द्र आदि भी अनेक प्रकार से व्याख्यात हुए हैं। एक प्रकार के इन्द्रादि देवता वे हैं जिनके शरीर आदि नहीं होते, जो सारे जगत् के निर्माता हैं तथा जो प्राण विशेष रूप हैं। तारामण्डल में भी इन्द्रादि नामों वाले विशेष नक्षत्र हैं, उदाहरणार्थ चित्रा नक्षत्र का अधिपति इन्द्र है, रेवती नक्षत्र का अधिपति पूषा है पुष्य का अधिपति बृहस्पति है। द्युलोक में रहने वाले शरीरधारी भी देवता हैं जो कि—

'अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पंचधाभवति मानुष्यश्चैकविधः' इत्यादि सांख्यदर्शन की कारिका में सत्व बहुल सर्ग के रूप में व्याख्यात हुए हैं। हमारी भूमि पर भी देवलोक की कल्पना की गई थी जो हिमालय के उत्तरी भाग में था। उसमें भी इन्द्रादि सभी देवताओं की प्रतिष्ठा थी तथा उन्हीं के पास जाकर अर्जुन का विद्याग्रहण तथा दशरथ दुष्यन्त आदि का युद्ध में सहायता करने जाना आदि इसी लोक की बातें हैं। महाभाष्य में इन्द्र और बृहस्पति विषयक जिस आख्यायिका का उल्लेख हुआ है वह घटना भूखण्डवासी इन्द्र के विषय में समझी जा सकती है, वह इन्द्र जो प्राण विशेष रूप है वह भी व्याकरण कर्ता है, यह बात श्रुति से स्पष्ट होती है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि—

'वाग्वै पराच्यव्याकृता अवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुरु इति। सोऽब्रवीत्—वरं वृणै, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याताविति। तस्मादैन्द्र वायवः सह गृह्येते। तामिन्द्रो मध्यत अवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।' (इति तैत्तिरीय षष्ठकाण्डः)

इसका तात्पर्य यह है कि वाणी के विषय में जो व्याकृत, अव्याकृत, व्याकरण, अव्याकरण, संस्कृत, असंस्कृत, विभक्त, अविभक्त आदि शब्द आते हैं उनसे एक प्राकृतिक घटना का संकेत मिलता है और उस घटना को समझे बिना उपर्युक्त श्रुति के द्वारा बतलाया हुआ इन्द्र का व्याकरण समझ में ठीक से नहीं आता। संसार में हम देखते हैं कि मनुष्य जाति को छोड़कर पशु पक्षि आदि की बोली में, उनके उच्चारण में, किसी प्रकार का पद वाक्यादि विभाग नहीं होता। हम इस बात का अनुभव नहीं कर सकते कि घण्टों चिल्लाने वाले कुत्ते की आवाज में किसी प्रकार के शब्दों का, क ख या इसी प्रकार का कोई विभाग है। वह एक निश्चित स्वर से बोलता है, कभी-कभी अपनी शक्ति से उस स्वर को ऊंचा-नीचा मात्र करता है।

कोयल आदि पक्षियों की बोली में भी एक निश्चित स्वर सन्निवेश होता है जो सुनने में बड़ा मीठा होता है। परन्तु वहां भी उनकी बोली में किसी प्रकार का स्पष्ट विभाग है यह अनुभव में नहीं आता। कुछ पशु-पक्षियों को शिक्षा देकर मनुष्य के समान बोलने की जो शक्ति प्राप्त हो जाती है उसके कारण का संकेत अभी हम इन्द्र की विवेचना में करेंगे। परन्तु साधारणतः यह निर्विवाद है कि पशु-पक्षियों की वाणी में पद आदि का विभाग नहीं होता। यही बात बाल्यावस्था में मानव के साथ भी है, क्योंकि उत्पन्न होने के प्रायः १, १॥, वर्ष बाद ही बालक कुछ विभक्त उच्चारण कर पाता है। प्रारंभ में उसकी वाणी अविभक्त या अव्याकृत ही रहती है। कालानुसार ज्ञान का अधिष्ठाता प्राण-विशेष रूप इन्द्र शरीर में अस्पष्ट या अव्याकृत रूप से संचरण करने वाली वाणी के मध्य में प्रवेश करके उसको व्याकृत कर देता है अर्थात् मानव वाणी में पद वाक्यादि विभक्त उच्चारण की क्षमता प्रदान करता है। मानव शरीर के संगठन में इन्द्र प्राण पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है, अतः सभी मानवों की वाणी में पदादि के विभक्त उच्चारण की क्षमता होती है। यह इन्द्र प्राण ज्ञान रूप है, अतः यह भी समझना आवश्यक होगा की वाणी का वह विभाग बुद्धि पूर्वक किया हुआ है। पशु-पक्षी आदि में बुद्धि की न्यूनता होने के कारण ही इन्द्र प्राण का विकास नहीं होता, प्रयत्न पूर्वक शिक्षा आदि के द्वारा जब पशु-पक्षियों में भी किसी-किसी में इन्द्र प्राण का विकास होता है तब वे भी मानव के सदृश वाणी बोलने लगते हैं। इसके विपरीत विकास के अनुरूप परिस्थिति के अभाव में जब मानवीय इन्द्र प्राण का विकास नहीं होता, तब वह भी गूंगा ही रह जाता है, विभक्त उच्चारण नहीं कर पाता। यही इन्द्र के द्वारा किया गया वाणी का व्याकरण या विभाग

है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम के वाणी के चार भेदों का निरूपण होता है। इनमें परा वाक् तो परम शक्ति स्वरूपा है, उसका स्वरूप न मन में आ सकता है और न ही वाणी का विषय वन सकता है, वह तो योगियों के द्वारा निर्विकल्पक समाधि में ही गृहीत हो सकती है, इससे उत्पन्न होने वाली पश्यन्ती में भी शब्द और अर्थ का विभाग न होने से वह सम्मुग्धज्ञानरूपिणी मानी गई है, क्योंकि मनुष्यों को उसका स्पष्टतया प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। मध्यमा वाणी में शब्द और अर्थ का विभाग तो हो जाता है, परन्तु मध्यमा वाणी में होने वाला विभाग केवल मन के ही द्वारा गृहीत हो सकता है। वह किसी दूसरे पुरुष पर प्रकट नहीं किया जा सकता। चौथी वाणी जो कण्ठ ताल्वाद्यभिघात से उत्पन्न है वह वैखरी कहलाती है तथा उसे सभी समझ सकते हैं। इसी वात को श्रुति ने इस प्रकार कहा है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये
मनीषिणः गुहा त्रीणि निहितानेंगयन्ति तुरीयं वाचो
मनुष्या वदन्ति

यह मन्त्र निगमरूप है, अर्थात् इस मन्त्र की विविध व्याख्याएँ समुपलब्ध होती हैं। महाभाष्य में नाम आख्यात उपसर्ग निपात इन चार शब्द भेदों पर इसे घटाया गया है। कहीं पर इसकी यह भी व्याख्या मिलती है, कि वाणी के एक-एक भाग पशु पक्षी और सरीसृपों में है तथा चौथा भाग मनुष्यों में है। परन्तु इस मन्त्र को परा पश्यन्ती आदि पर लगाने से यह स्पष्ट समझ में आ जाता है, क्योंकि 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' अर्थात् चौथी वैखरी वाणी मनुष्यों के व्यवहार में आती है। इससे यह स्पष्ट है कि पश्यन्ती और मध्यमा से वह वैखरी वाणी अधिक स्पष्ट अर्थबोध की क्षमता रखती है। वाणी का व्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है तथा ज्ञान का मूल इन्द्र प्राण है, अतएव इस वैज्ञानिक रहस्य का अनुसन्धान करने पर इन्द्र के द्वारा वाणी का व्याकरण करना और उसकी व्याकरण निर्माताओं में प्रथम गणना युक्ति युक्त है।

ये कुछ निदर्शन इस निबन्ध ग्रन्थ के हैं। ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक विषय इसमें आए हैं, जो पाठकों की उत्कण्ठा संस्कृत के प्रति उत्पन्न करेंगे। इस प्रबन्ध की सर्वोपरि विशेषता यह समझने में है कि आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों की सारगर्भित स्थापनाओं को भी किस प्रकार निस्सार ठहराया जा सकता है, यदि उनकी उक्तियों में प्रमाणों का अभाव हो। वह भी एक विशुद्ध संस्कृत

विद्वान् के द्वारा, उस पर भी संस्कृत भाषा में। संस्कृत में ऐतिहासिक गवेषणा के इस प्रकार के दो सफल प्रयास पहिले भी हो चुके हैं, जिन के विषयों का कुछ विवरण पाठकों को प्रस्तुत निवन्ध में भी प्राप्त होगा। वे कृतियाँ है, सत्यव्रतसामश्रमी जी के ऐतरेयालोचन तथा निरुक्तालोचन और म० म० पं० शिवदत्तशास्त्री दाधिमथ महोदयका 'त्रिमुनि कल्प तरू'। इन दोनों ही पुस्तकों के सम्बद्ध विषयों की आलोचना इस निबन्ध में है। संस्कृत में लिखी गई ऐतिहासिक आलोचनाओं में "पुरातनानि व्याकरणानि वैयाकरणाश्च" प्रवन्ध का स्थान निर्धारित करना सम्मान्य विद्वानों का कार्य है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है इस प्रवन्ध को पूर्ण करने में पिताजी को प्राय: दो वर्ष लग गए थे और इसी विलम्ब के कारण महाभाष्य नवाह्निक का प्रकाशन रुका रहा। प्रकाशक महाशय का भी धैर्य जब जवाब देने लगा तो पिताजी ने उनसे कहा कि यदि आपको छापने की शीघ्रता हो तो में इसे सामान्य विषयों से ही पूर्ण करदूं। परन्तु यदि आप मुझसे कोई महत्त्व पूर्ण वस्तु लिखाना चाहें तब तो आप को कुछ प्रीतक्षा करनी ही होगी। पिताजी उन दिनों वहुत कार्य व्यस्त रहा करते थे।

प्राय: काशी तथा बाहर की सभाओं में सभा संयोजक गण इनके व्याख्यानों के लिए आकृष्ट रहते थे और आपको उनकी अभिलाषा पूर्ति के लिए सभाओं में भी बराबर जाना होता था। मुझे संख्या तो स्मरण नहीं परन्तु सहस्र नहीं तो अनेक शत सभाओं में मैं भी पिताजी के साथ रहा। इस व्यस्तता के साथ किसी प्रौढ़ रचना का भार वहन करने में विलम्ब तो अनिवार्य ही हो जाता है।

मैं उन दिनों देखा करता था कि निरुक्तालोचन, भाष्य, प्रातिशाख्य आदि अनेक पुस्तकें सफर में भी उनके साथ ही रक्खी जाती थीं, अवसर मिलते ही उस कार्य को वे थोडा वहुत आगे बढ़ा ही देते थे। ऐसा भी मैंने देखा कि कई-कई महीने आप कुछ भी नहीं लिखपाते थे परन्तु पुस्तकों का अवलोकन और उनके नोट्स लेने का कार्य व्रतादि के दिनों के अतिरिक्त शायद ही कभी रुका हो। प्रकाशक महोदयने भी इसपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए यही कहा कि वस्तु रोज-रोज नहीं बना करती। जो कुछ आप इसमें लिख देना चाहते हैं वह अवश्य लिख दें, हम उसके लिए दस वर्ष भी प्रतीक्षा करने को प्रस्तुत हैं। अस्तु,

इसके आगे के धर्मशास्त्र खण्ड में चार लघु पुस्तकें संकलित हैं। पिताजी का इनके लिखने के समय इनको पूरी तुस्तक के रूप में ही प्रस्तुत करने का

विचार था जैसा कि इन विषयों पर उनके द्वारा संकलित नोट्स से पता चलता है और जैसा कि उन्होंने कई बार कहा है। ये सभी लेख 'संस्कृत रत्नाकर' में क्रमशः मुद्रित हुए हैं। केवल 'स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था' शीर्षक लेख हस्तलिखित रूप में प्राप्त हुआ है। वह हमें कहीं मुद्रित रूप में प्राप्त नहीं हुआ।

जहाँ तक इन लेखों की विषय वस्तु का प्रश्न है उसके विषय में लेखक के विचार सर्वविदित हैं। इस विषय में वर्तमान समाज सुधारक विचारों से उनका किसी प्रकार का समझौता सम्भव नहीं। उनका अपना दैनिक क्रिया-कलाप इन्हीं प्राचीन शास्त्रीय आदर्शों पर आधारित है। रचनावली के द्वितीय भाग की भूमिका में जीवन यात्रा के विवरण में हम ऐसी कुछ घटनाओं का उल्लेख करेंगे जब कि अपनी सुदृढ़ आदर्शप्रियता के कारण उन्हें विपत्तियों का मुकावला करना पड़ा और मुसीवतें झेलनी पड़ीं। इसी सुदृढ़ आदर्शप्रियता और तदनुकूल दृढ़-आचरण के कारण धार्मिक जगत् उन्हें 'ऋषि' के रूप में पहिचानता है।

प्रस्तुत निवन्धों की विषय-वस्तु से सम्बद्ध एक बड़ी विशेषता यह है कि इन निबन्धों में वेदों और स्मृतिवचनों के तात्पर्यार्थों पर जो अनेक विभिन्नताएँ आपाततः प्रतीत होती हैं और जिनके आधार पर सुधारवादी दृष्टिकोण भी उन्हें अपने पक्ष में सुसंगत दिखाने की चेष्टा करता है, ऐसे अनेक स्थानों का पूर्ण ऊहापोह के साथ इन निवन्धों में विश्लेषण पढ़ने को मिलता है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' इस उक्ति के अनुसार श्रुति-स्मृति-वचनों के अभिप्राय तक पहुँचने की परिपाटी का अवबोध इन निबन्धों से भली भाँति होता है। हिन्दी में भी इस विषय से सम्बद्ध अनेक पिताजी के लेख हमारे पास संगृहीत हैं, वे भी यथाशीघ्र पुस्तक के रूप में पाठकों को समर्पित किये जाँयगे।

इस खण्ड का अन्तिम लेख 'पितृविवेकः' अपूर्ण है। वैसे अपूर्ण तो अन्य लेख भी हैं, परन्तु इस लेख में केवल पूर्वपक्षों का ही संकलन हुआ है, जिससे पाठकों को कुछ भ्रम हो जाने की आशंका बनी रहजाने का सन्देह होता है। पिताजी ने पहिले तो इसको संकलित करने का निषेध कर दिया था, परन्तु भाषा लालित्य और युक्तियों की प्रबलता को देखते हुए इसको संकलित करने के लोभ का संवरण न हो सका और एक सूचनात्मक टिप्पणी के साथ इस लेख के संकलन की हमने स्वीकृति प्राप्त कर ली। चतुर्थ 'काव्यसाहित्यखण्ड' में क्रमशः 'रघुवंश महाकाव्य' के द्वितीय और त्रयोदश, कुमारसंभव महाकाव्य के प्रथम और

पंचम, 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के द्वितीय और एकादश तथा 'शिशुपालवध' महाकाव्य के प्रथम और द्वितीय सर्गों का सार स्वतंत्र सरल संस्कृत में दिया गया है। यह भाग पिताजी के द्वारा व्याख्यात और सम्पादित 'महाकाव्यसंग्रह' नामक पुस्तक का अंश है। इस अंश की रोचकता का अनुभव पाठकों को इनके पढ़ने पर स्वतः होगा। पुस्तक के मुद्रण-काल में सम्मान्य पं० श्री मधुसूदन जी शास्त्री (अध्यक्ष साहित्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा सम्मान्य पं० श्री रामकुवेर जी मालवीय (अध्यक्ष, साहित्य विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) ने इस अंश को पुस्तक में संकलित करने का परामर्श दिया। उक्त परामर्श के लिए हम दोनों विद्वानों के आभारी हैं।

अन्तिम निबन्ध कवि और काव्य शब्दों के अर्थान्वेषणपूर्वक संस्कृत-काव्य सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों से युक्त है। यह निबन्ध पूज्य स्वर्गीय कविशिरोमणि भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री जी के द्वारा लिखित काव्य ग्रन्थ 'जयपुरवैभवम्' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हो चुका है। स्वर्गीय भट्टजी पिताजी के सहाध्यायी और सहयोगी थे। उनके कुछ अन्य ग्रन्थों पर भी पिताजी ने भूमिकाएँ लिखी थीं।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का यह संक्षिप्त विवरण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया गया है।

इस कार्य में हमें जिन विद्वानों ने सत्परामर्श देकर अनुगृहीत किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। इस सन्दर्भ में कुछ और भी स्मरणीय महानुभाव हैं जिनको धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। वे हैं—स्व० पं० श्री रघुराज जी चक्रवर्ती, श्री पं० रामाधीन जी चक्रवर्ती, डा० श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, श्री पं० गोपालचन्द्र जी मिश्र, श्री पं० रतिनाथ जी झा, श्रीयुत जनार्दनस्वरूप जी अग्रवाल, श्री पं० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री, श्री पं० दुर्गादत्त जी मैथिल, श्री पं० भवदत्त जी मैथिल, श्री युत डा० मंडन मिश्र जी, स्वामी श्री केशव पुरी तथा मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री देवीदत्त जी चतुर्वेदी। उक्त महानुभावों से मैंने समय समय पर परामर्श लिया और अपने उपयुक्त विचारों से उन्होंने हमें अनुगृहीत किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में पूज्य पिता जी के द्वारा किये गए परिश्रम के विषय में कुछ भी लिखना हमारे सामर्थ्य से बाहर है, वे हमारी विनीत वन्दनाओं को निरन्तर ग्रहण करते रहें यही हमारी भगवान् विश्वनाथ के चरणों में भाव भरी प्रार्थना है। मेरे छात्र श्री रामप्रसाद त्रिपाठी,

श्री गोपराजुराम तथा श्री जयशंकर वाजपेयी ने प्रेस कापी बनाने में सहयोग दिया तदर्थ मैं उन्हें शुभाशीर्वाद देता हूँ। प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाशित कराने, सामग्री संकलन करने, तथा संपादन कार्य में भी मेरी ही तरह मेरे भ्रातृज आयुष्मान् श्री ईश्वरप्रसाद शर्मा चतुर्वेदी एम० ए० ने रुचिपूर्वक परिश्रम किया है उन्हें मैं हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ। चौखम्बा संस्कृत सीरीज के उदीयमान संचालक श्री मोहनदास जी गुप्त तथा उनके सम्पादक मंडल के सदस्य विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने पुस्तक को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में पूर्ण तल्लीनता दिखाई और साहित्य जगत् को एक सुन्दर कृति भेंट करने के लिये हमें सुअवसर दिया।

आशा है पिता जी की अन्य कृतियों की भाँति प्रस्तुत ग्रन्थ का भी समुचित समादर होगा।

धर्मसंघ, नवाब गंज
वाराणसी
२७-४-६३

विनीत—
शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी



विषय-सूची

काव्यसाहित्यखण्डः



चतुर्वेदि-संस्कृतरचनावलिः

वेदखण्डः

(अस्मिन् खण्डे—

१. ऋतं च सत्यं च

२. वेदेषु विज्ञानं तस्य क्रमिको ह्रासश्च

३. वेदेषु पितरः

एते वेदविज्ञानविषयकास्त्रयो लेखाः संगृहीताः

—संपादकः)



ऋतं च सत्यं च

ऋतम्, सत्यम्—इति शब्दाविमौ पर्यायत्वेनामरसिंहादिभिः कोषकृद्भिः संगृहीतौ, प्रसिद्धौ च व्यवहारेऽपि तथैव। सत्यार्थे ऋतशब्दस्य तद्विपरीतार्थे चानृतशब्दस्य बहुलमुपलम्भात्। वैदिकनिघण्टुष्वपि सत्यनामसु ऋतशब्द आम्नातः, प्रयोगश्चापि सत्यसमानार्थतया मन्त्रब्राह्मणयोर्बहुलमस्य शब्दस्योपलब्धः। मन्त्रस्थ ऋतशब्दः सत्यपरतया शतपथादिषु बहुत्र व्याख्यातोऽपि। यद्यप्यर्थान्तरमपि च्छन्दसि ऋतशब्दस्य दृष्टम्, तथापि तत्रापि प्रायेण सत्यसमानार्थत्वं न व्यभिचरति। तथा हि—जलनामसु ऋतमिति निघण्टुषु पठ्यते, सत्यमित्यपि तत्र पठ्यते। यज्ञार्थतया ऋतशब्दो वहुत्र मन्त्रादिषु श्रीसायणाचार्यैर्व्याख्यातः तथैव सत्यशब्दोऽपि। 'ब्रह्म वा ऋतम्' इति शतपथादिषु श्रुतम्, तत्रापि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यपि न विस्मरणार्हम्। 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इत्यादौ ऋतं कर्मफलमिति भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्, तस्यापि सत्यसमानार्थतैव विचारपथमधिरोहति। किं विस्तरेण, बाहुल्येन शब्दयोरनयोः पर्यायतैव बुद्धावुपारोहति।

अथ क्वचित्तु द्वयोरनयोः सहप्रयोगमुपलभ्य पर्यायता नास्तीत्यप्युन्नीयते। तथा हि—अघमर्षणसूक्ते सुप्रसिद्धे 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इति सहप्रयोगं पश्यामः, नात्र पर्यायतया द्वयं व्याख्यातुं शक्यम्, पुनरुक्तिप्रसङ्गात्। अत्र भाष्यकृतः श्रीसायणाचार्याः 'ऋतं मानसं यथार्थसंकल्पनम् सत्यं वाचिकं यथार्थभाषणम्' इति किंचिद्विशेषं परिकल्प्य व्याचख्युः। किमेवंविधभेदपरिकल्पने बीजमिति न तत्र तैः स्पष्टीकृतम्। किंच—सर्वलोकादिसृष्टिप्रतिपादकेऽस्मिन्मन्त्र उक्तरूपयोर्ऋतसत्ययोः प्रथममुत्पत्तिप्रदर्शनं न विचारसहम्, पृथिव्यादिलोकसृष्टेः प्राङ् मनुष्यादीनां स्थित्यसंभवात्, तानन्तरेण च मानसवाचिकयोर्ऋतसत्ययोर्निराधारायाः सृष्टेरसामञ्जस्यात्। याऽपि ऋतसत्ये सकलधर्मोपलक्षणे, धर्माणां च प्रथमं सृष्टिरित्युपपत्तिराचार्यैः प्रदर्शिता, सापि धर्मिणमन्तरेण धर्माणां निराधारताप्रसङ्गान्न व्यवतिष्ठते। बृहदारण्यके च वर्णसृष्टेरनन्तरं धर्मसृष्टिकथनात्[१] ततो विरुद्धापि प्रतीयते। तस्मादर्थान्तरमत्रानयोः शब्दयोर्मृग्यं स्यात्। सूर्याचन्द्रमोभ्यां पूर्वमहोरात्रसृष्टिः, पृथिव्याः प्रागर्णवस्य सृष्टिरित्याद्यपि तत्र सूक्ते विचार्यमेव। अथ

'सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥'

(श्रीभागवत १० स्क० पू०)

---

१. (१।४।१४)

इति भागवतीयपद्ये श्रीधरस्वामिनस्तु 'ऋतं च सूनृता वाणी सत्यं च समदर्शनम्' इति सायणाचार्यविपरीतमिव व्याचख्युः । श्रीवल्लभाचार्याश्च सुबोधिन्याम् 'ऋतसत्ये नेत्रे प्रापके यस्येति' विगृह्णन्तः 'ऋतं सूनृता वाणी, वेदः सत्यप्रतिपादकः, प्रमाणं वेदः, प्रमेयं भगवद्धर्माः (आद्यं सत्यम् , परमृतम्)' इत्यादि व्याचख्युः । इहापि तु 'सत्यव्रतम्' इत्यनेनैवोक्तस्यार्थस्य पुनरुक्तेरसामञ्जस्यात्पदार्थान्तरमेव ऋतसत्यशब्दाभ्यामभिहितमिति प्रतिभाति । एवमन्यत्रापि—

व्यब्रवीद्वयुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्वाँ ऋतचिद्धि सत्यः ।

(ऋ० १।१४५।५)

इत्यादिषु मन्त्रेषु,

'ऋतमेव पूर्वं आधारः सत्यमुत्तरोऽत्र ह वा ऋतसत्ये रुन्धेऽथो यत्किंचर्तसत्याभ्यां जय्यम् , सर्वं हैव तज्जयति' (शतपथ ब्रा० ११।२।७।९)

इत्यादिषु ब्राह्मणेषु,

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥

(महाभारते आदि प० १।२८२-२८३)

इत्यादिषु पुराणेषु च न शब्दाविमौ पर्यायत्वेन व्याख्यातुं शक्यौ, भेदेन व्यपदेशात् । न चापि केवलं मानसवाचिकधर्मपरतात्र सामञ्जस्यमावहतीति सुसूक्ष्ममालोच्यतां सुधीभिरास्थायान्वेषणप्रवणताम् ।

तत्रास्मद्गुरुप्रवरवेदविज्ञानसमीक्षाचक्रवर्ति— विद्यावाचस्पति — श्रीमधुसूदनशर्मचरणैरिदं तत्त्वं स्वग्रन्थेषु प्रतिपादितम्, यद् द्विविधा भवन्ति वैज्ञानिकप्रक्रियाया पदार्थाः—हृदयरहिताः, सहृदयाश्चेति । आङ्ग्लभाषायां 'सेण्टर' (centre) शब्देन यद् व्यवह्रियते लौकिके संस्कृते च 'केन्द्र'शब्देन यदुच्यते, तदेव वेदे हृदयशब्देन, नाभिशब्देन च व्यपदिष्टं द्रष्टव्यम् । भवन्ति केचन पदार्थाः ये केन्द्रमाश्रित्यैव तिष्ठन्ति, यथा प्रस्तराद्याः, एते सहृदयाः सत्यशब्देन व्यवह्रियन्ते । हृदयाधारेणैवैषामवस्थितिः, हृदय एवैषां विधारणशक्तिः । अङ्गुल्यापि धृते केन्द्रे महामहान्तोऽपि प्रस्तराद्या विधृतास्तिष्ठन्ति, न विचलन्ति, तेन परिचितकेन्द्रः स्वल्पबलोऽपि मनुजो गुरुतमं भारमुद्वोढुमीशीतेति वैज्ञानिकाः प्रतिपादयन्ति । 'शरीरं हृदये (श्रितम्)' (तै० ब्रा० ३।१०।८।७) इत्याद्या श्रुतिरपि चैतमेवार्थमाह ।

तथा—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

इति मन्त्रे प्रजापतिपदेनापीयं केन्द्रशक्तिः प्रतिपादितेत्यास्तामिदमप्रकृतम्। अथापरे पदार्था विशकलिता एव तिष्ठन्ति, न केन्द्रं प्रकल्पयन्ति, यथा जलाद्याः, ते हृदयरहिता ऋतशब्देन व्यपदिश्यन्ते। अत एव ऋतशब्दव्याख्यायां निरुक्तकृद्यास्क आह 'ऋतमित्युदकनाम, प्रत्यृतं भवति' (अ० २ खण्ड २५) इति। प्रत्यृतम् इतस्ततो विकीर्णम्। अकेन्द्रकमित्यर्थः।

अग्नीषोमात्मकं जगत्—इति हि वैदिकं दर्शनम्। तत्र सोमः ऋतम्, अहृदयत्वात्; अग्निस्तु सत्यम्, केन्द्रं प्रकल्प्य तदाधारेणैवावस्थानात्। सृष्टेरारम्भे सर्वमृतं भवति, सर्गात्प्राक् केन्द्रनिबन्धनासंभवात्। अत एव 'ब्रह्म वा ऋतम्.......ब्रह्मो ह्यृतम्' (शत० ब्रा० ४।१।४।१०) इत्यादिषु सर्वप्रथमस्य ब्रह्मण ऋतत्वमाम्नातम्। प्रवृत्ते तु सर्गे केन्द्रशक्तिस्तत्र तत्र प्रतिनियता भवतीति सत्यान्युत्पद्यन्ते। अथापि सोमजातीयाः सोमप्रधानाः पदार्थाः स्वभावेन हृदयरहिता एव तिष्ठन्ति, ते ऋतान्येवोच्यन्ते।

पञ्चसु महाभूतेषु प्रथममाकाशोत्पत्तिः श्रूयते। तच्चाकाशं शब्दघनात्मकम्। शब्दश्च केन्द्रं परिगृह्यैवावतिष्ठत इति आकाशः 'सत्यम्'। तदनन्तरो वायुस्तु 'ऋतम्', नहि वायुः क्वापि केन्द्रं प्रकल्प्य तिष्ठति, इतस्ततो विकीर्ण एव तु भवति। तदनु तेजः 'सत्यम्', तत आपः 'ऋतम्', तदनु पृथिवी च सत्यमिति क्रम उपलभ्यते। तथैव सप्तव्याहृतिप्रतिपाद्येषु सप्तसु लोकेषु भूरियं 'सत्यम्', भुव इत्यन्तरिक्षं च 'ऋतम्' शून्येऽन्तरिक्षे हृदयासंभवात्। 'अन्तरिक्षं वा ऋतस्य विभूमा' (तैत्ति० ३।३।५।४), 'ऋतमसि ऋतसदनमसि' (तैत्ति० सं० १।१।९।३) इत्याद्यासु श्रुतिषु चान्तरिक्षमृतमेव श्रूयते। ततः परं स्वरिति सूर्यमण्डलं 'सत्यम्', मह इति सूर्यात्परतोऽन्तरिक्षं च 'ऋतम्'। ततो जन इति परमेष्ठिमण्डलं 'सत्यम्' तप इति ततः परमन्तरिक्षम् 'ऋतम्'। अथ सत्यमिति स्वयम्भूमण्डलं 'सत्यम्' एवेति तत्रापि क्रमः। एषु हि सप्तसु लोकेषु चत्वारि मण्डलानि, त्रीणि तु मध्यगान्यन्तरिक्षाणीति मण्डलानि सत्यपदेन, अन्तरिक्षाणि तु ऋतपदेन व्यवह्रियन्ते। परमस्मान् परितो वर्तमाने द्यावापृथिव्योरस्मिन्नन्तरिक्षे परिभ्रमता चन्द्रमण्डलेन सार्धं घनिष्ठोऽस्माकं पृथिव्याः संबन्ध इति सोऽपि मण्डलेषु परिगणितः। तेन मण्डलपञ्चकसंपत्त्या 'पञ्चपुण्डीरेयं वल्शा (शाखा)' श्रुतौ व्यवहृता। तान्येतानि मण्डलानि अन्तरिक्षापेक्षया सर्वाण्यपि सत्यानि। परं परस्परं तारतम्यपर्यालोचने (केन्द्रबन्धदार्ढ्यशैथिल्यविवेके) इहापि क्रम आम्नातः—स्वयम्भूमण्डलं सत्यम्, परमेष्ठिमण्डलं त्वप्प्राधान्यादृतम्, तदनु सूर्यः सत्यम्, चन्द्रमास्तु पूर्वोक्तन्यायेनैव ऋतम्, अथ पृथिवीयमग्निप्रधाना सत्यमिति त्रीणि सत्यानि, द्वे च ऋते इहापि द्रष्टव्ये। एतदभिप्रायेणैव—

ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किञ्चन ।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता ॥
(तैत्ति० ब्रा० १।५।५।१)

इति अप्प्रधानस्य परमेष्ठिन ऋतत्वमेवोक्तम् । ऋतस्य च व्यापकत्वमत्र प्रदर्शितम्, तन्मध्य एव भूम्यादीनामवस्थानवर्णनात् । तदिदं युक्तमेव, नहि केन्द्रनिबद्धाः पदार्थाः विभवो भवितुमर्हन्ति, अपरिच्छिन्नस्य केन्द्रकल्पनासंभवात् । ऋतं तु प्रसरणशीलं सर्वमभिव्याप्यापि शक्नोति स्थातुम् । अन्यत्रापि च—

'ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो.......' (ऋ० सं० १।१०५।१२) इत्यादिषु मन्त्रेषु सिन्धूनामृतवाहिता सूर्यस्य च सत्यविस्तारणं स्फुटमुक्तम् । तेन जलस्य ऋतत्वम्, सूर्यकिरणानां च सत्यत्वं स्थिरीभवति । सूर्यकिरणानां केन्द्र-निबद्धत्वाज्जलस्य च तथात्वाभावात् ।

तथैव—'अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः' (ऋ० सं० १।१।५)

'वैश्वानर तव तत्सत्यमस्त्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्'
(ऋ० सं० १।९८।३)

'त्वं देहि सहस्रिणं रयिं नोऽद्रोघेण वचसा सत्यमग्ने'
(ऋ० सं० ३।१४।६)

'तद्यत्तत्सत्यम्, असौ स आदित्यः' (शत० ब्रा० ६।७।१।२)।

'अथास्यां हिरण्यं बध्नीते । द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च, सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । अग्निरेतसं वै हिरण्यम् । सत्येनांशूनुपस्पृशानि, सत्येन सोमं पराहणानीति' (शत० ब्रा० ३।३।२।२)

'सत्यं हैतद् यद्रुक्मः' (शत० ब्रा० ६।७।१।१)

इत्यादिषु मन्त्रब्राह्मणेषु सहृदयानामग्न्यादित्यादीनां तत्संबन्धिनां हिरण्यादीनां च सत्यत्वमाम्नायते । हृदयं हि सर्वेषां वस्तूनां 'प्रतिष्ठा' भवतीत्यवोचाम, तदाधारेणैव सर्वेषां पदार्थानामवस्थानात् । प्रतिष्ठायाश्च सत्यत्वं तत्र तत्र ब्राह्मण-वाक्येषु श्रूयते । तेन हृदयसत्ययोरैक्यमेव प्रसिद्ध्यति । शतपथस्य चतुर्दशे काण्डे च (८ अ० ४-६ ब्राह्मणेषु) 'एष प्रजापतिर्यद् हृदयम्....तदेतत् त्र्यक्षरं हृ-द-यमिति', 'तद्वै तदेतदेव तदास । सत्यमेव सः', 'तदेतत् त्र्यक्षरम् स-ति-यमिति' इत्यादिना प्रपञ्चेन हृदय-सत्ययोरेकत्वमेव द्रढीकृतम् । प्रजापतेश्च केन्द्र-शक्तिरूपस्य पूर्वोक्तस्य हृदयत्वमुक्तमिति सहृदयस्य पदार्थस्य सत्यत्वं स्फुटमुक्तं भवति । 'कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदये इति होवाच' । (बृह० उप० ३।९।२३) इति शाकल्य-याज्ञवल्क्य-संवादेऽपि चायमर्थः स्फुटो भवति । यद्यपि वचनरूपं सत्यमत्र व्याख्यायते, अथापि बह्वभिप्रायगर्भाः श्रुतयो भवन्तीति पदार्थ-गतं सत्यत्वमपि शक्यमनुसन्धातुम् ।

अथ—'वरुणस्य ऋतसदनमासीद' (यजुः सं० ४।३६)

'प्रसीमादित्यो असृजद्विधर्ता ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति'
(ऋ० सं० २।२८।४)

'यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्नृतस्य

मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्तीः सोम वेदः ।' (ऋ० सं० १।४३।९)

'तन्म ऋतं पातु शतशारदाय' (ऋ० सं० ७।१०१।६)

'चारुर्ऋताय पीतये' (ऋ० सं० १।१३७।२)

'वायुरसि प्राणो नाम········ऋतमसि सत्यं नाम'·········

'ऋतस्य त्वा व्योमने, ऋतस्य त्वा विधर्मणे' (तै० सं० ३।३।५)

'ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामीति, वरुण्या वा एषा यद्रज्जुः' (शत० ब्रा० ३।७।४।१) इत्यादिषु च वरुण-वायु-सोम-जलप्रभृतीनामहृदयानामृतत्वमाख्यायते ।

'ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूषुष्यपामेका महिमानं बिभर्ति' (तैत्ति० सं० ४।३।११।५) इति मन्त्रे च उषा 'ऋतस्य गर्भः' इति स्तूयते उषसि प्रत्यृतानां प्रकाशावस्थायादीनामकेन्द्रत्वात्, उषसो जनकानां वा प्रवृत्तानां प्रकाशानामृतत्वात् । तथैव—

"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आ ववृत्रन् सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥"
(ऋ० सं० १।१६४।४७)

इति मन्त्रे उत्तरस्या दिश ऋतसदनत्वमाम्नायते, उत्तरा हि दिक् सोमस्यापां च सदनं भवति, ततश्च अहृदयानामपां सोमस्य च ऋतत्वमत्र स्फुटमाख्यातं भवति । 'प्रत्यृतं भवतीति' निरुक्तव्याख्यया च सोऽयमर्थो द्रढीभवति ।

सर्वमपि सत्यमृतगर्भं भवति, पिण्डस्य केन्द्रबद्धस्यावयवावयवधाराया विश्रान्तावन्ततः सर्वत्र ऋतस्यैवोपलम्भात् । ऋतान्येव हि केन्द्रबद्धानि सन्ति सत्यत्वमाप्नुवन्ति । अत एव शतपथब्राह्मणे (११।१।६।१) "आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति । ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त, तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं संबभूव·········ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्, स प्रजापतिः" इत्यादिना प्रपञ्चेन ऋतास्वप्सु एव सत्यस्य संवत्सराग्नेः प्रजापतेरुत्पत्तिरभिहिता ।

'ऋतचिद्धि सत्यः' (ऋ० सं० १।१४५।५) इति मन्त्रेऽपि च सत्योऽग्निऋतचयनविशिष्टोऽभिहितः । 'ऋताषाड् ऋतधामाग्निः' इति मन्त्रेऽपि चाग्नेर्ऋतगर्भत्वाभिप्रायकमृतधामत्वं श्रूयते । तथैवावयविभूतस्य ऋतस्यावयवाः सत्या भवन्तीत्यपि दृश्यते, यथा जलावयवभूता बिन्दवः केन्द्रबद्धाः सत्या भवन्ति । एतदभिप्रायेणैव श्रुतिराह "ऋतं सत्येऽधायि, सत्यमृतेऽधायि, ऋतं च मे सत्यं

चाभूताम्" इति (तै० ब्रा० ३।७।७।४)। ऋतं सत्यरूपेण परिणमद्भिस्पष्टमवलोक्यते, यथा जलं हिमतां गतं सत्यभावमापद्यते। वायुर्वा व्यजनादिपरिचालितः केन्द्रनिबद्धः सत्यो भवति, सोमोऽपि चाग्नौ हूयमानोऽग्निरूपतां गच्छन् सत्य एव संपद्यते। तथैव सत्यमप्यृततां गच्छति। तथा ह्यग्निर्वा सूर्यतेजो वा यावत्केन्द्रसंबद्धं भवति, भवति तावत् सत्यम्। यदा तु पदार्थान्तरमनुप्रविशति, तदा केन्द्रात्प्रवृक्तमृतं भवति। यथा ग्रीष्मेऽस्तमितेऽप्यादित्ये बहुकालपर्यन्तं प्रस्तरादिषूष्मा प्रतीयते। अग्नौ शृतं चान्नाद्यग्नेः पृथक् कृतमपि चिरमुष्णं तिष्ठति। तत्रेदं तेजः केन्द्रादपवृक्तं पदार्थान्तराङ्गतां गतमिति स्पष्टमेव। इदमेव 'प्रवर्ग्य' इति 'उच्छिष्टमिति' च श्रुतिष्वाख्यायते। तदित्थमृतसत्ययोः परस्पराङ्गतां परस्परं रूपपरिणतिं चाभिलक्ष्यैकत्वमेवानयोः पश्यन्ती श्रुतिः शब्दाविमौ पर्यायेणैव बहुत्र प्रयुङ्क्ते। एतदभिप्रायेणैव चाग्नेरादित्यस्य च क्वचित्सत्यत्वं क्वचिदृतत्वं चाम्नायते "ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामीति सायं परिषिञ्चति, सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामीति प्रातः। अग्निर्वा ऋतम्, असावादित्यः सत्यम्" (तैत्ति० ब्रा० २।१।११।१)। "अयं वा अग्निरृतम्, असावादित्यः सत्यम्। यदि वाऽसावृतमियं सत्यम्। उभयम्वेतदयमग्निः" (शत० प० ११।२।७।९) इत्याद्यासु श्रुतिषु। तदिदं मूलतत्त्वस्यैकत्वाभिप्रायकं द्रष्टव्यम्।

सूर्यमण्डलादपवृक्तं पार्थिवपदार्थाङ्गतां भजत्सौरं तेजो यदाख्यातम्, तदेव 'ऋताग्निः' इति 'संवत्सराग्निः' इति च श्रुतिषु व्यवह्रियते। एतत्तारतम्यादेव पृथिव्यां समय (मौसम)-परिवर्तनं भवतीति ते समया ऋतसंबन्धादेव 'ऋतवः' इत्याख्यायन्ते। पृथिव्यां चितः पृथिवीकेन्द्रनिबद्धश्च पार्थिवोऽग्निः 'सत्यः' इति साधितमेव। सोऽयमपि वस्तुतः सूर्यादेवोत्पन्नः। पृथिवीपिण्डस्य सूर्यपिण्डादेवोत्पत्तेः श्रुतिसम्मतत्वात्, तदग्नेरपि तत एवोत्पन्नत्वात्। इदं तु स्मर्तव्यम्—श्रुतिषु नायमग्निशब्द उष्णस्पर्शवद् द्रव्यस्यैवाभिधायकः, अपि तु सर्वपदार्थमूलभूतमन्नदप्राणमयमाह। उष्णताप्यस्यैवावस्थाविशेष इत्यन्यदेतत्। ततश्च सौराः प्राणाः, पार्थिवाः प्राणाश्च ऋतसत्यपदाभ्याममभिधीयन्ते।

तदिदं द्वयमेव 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'—इत्यघमर्षणसूक्ते प्रक्रान्तम्। अनयोरेव कालविभाजकत्वम्, लोकनिर्मातृत्वं चेति तत्रोपदिष्टम्। एवंविधेषु शब्देष्वेव वैदिकविज्ञानकोषः सुनिहितो वर्तते। यदि विद्वांसो व्यावहारिकसुप्रसिद्धार्थनिदर्शनप्रधानेषु कोषेष्वेव केवलमनालम्ब्य शब्दार्थान्वेषणप्रक्रियामुररीकुर्युः, तर्हि निगूढस्य वैदिकस्य विज्ञानस्य भूयोऽपि प्रकाशेन दिश उज्ज्वलिताः स्युः।

वेदेषु विज्ञानम्, तस्य क्रमिको ह्रासश्च

सिन्दूरपूरारुणिताखिलाङ्गो यज्ञोपवीतीकृतनागराजः ।
उद्दामविघ्नौघविघातदक्षः पायादपायादनिशं गणेशः ॥

किमिदं विज्ञानम्

इह खलु निगूढं जगत्तत्त्वं कारुण्येनोपदिशतां महामहिमभाजां तत्र भवतां भगवतां द्वेधा निरूपणप्रक्रिया भिद्यते । तथा च द्वयमिदं प्राप्यते—ज्ञानं च विज्ञानं चेति । विभिन्नं वस्तुजातमखिलश्चीकृत्य मूलान्वेषणक्रमेणैकतत्त्वपर्यन्तं *गतिर्ज्ञानम् । 'एकं तत्त्वं निरूढं मत्वा क्रमेण तस्यानन्तरूपतापत्तिर्विज्ञानम् । विशिष्य ज्ञानं हि विज्ञानम्, विविधं ज्ञानम्, विभेदेन ज्ञानं वा विज्ञानमिति । तत्रेयं मूलान्वेषण-क्रमेणैकतत्त्वगतिः सूक्ष्मेषु तत्त्वेषु न प्रायेण प्रत्यक्षसाध्या, अनुमानं वा शब्दं वावलम्ब्य विचारेणैवेयं प्रादुर्भवति । बुद्धिमनुसृत्य च निष्पाद्यमाने निर्णये प्रक्रिया-भेदा मतभेदाश्च भृशं विजृम्भन्त एव, बुद्धीनामैकरूप्याभावेन मतैक्यस्य तत्र दुर्लभत्वात् । प्रक्रियाया ऐक्यं तु संभावयितुमप्यशक्यम् । अथैकस्यानेकरूपतायां तु सुस्फुटं प्रत्यक्षं प्रभवत्येवेति परोक्षरूपे प्रतिभासे ज्ञानशब्दः प्रत्यक्षे प्रत्यक्षायिते वा स्फुटे प्रतिभासे तु विज्ञानशब्दः स्थाने प्रवृत्तः । अत एव—'

"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।" (भ. गी. ७।२)
"ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।" (भ. गी. ८।१)

इत्यादिषु "विज्ञानसहितं—स्वानुभवसंयुक्तम्" इति श्रीशङ्कराचार्यप्रभृतिभिर्भा-ष्यकृद्भिर्व्याख्यातम् । एकमूलान्वेषणं केवलं मोक्षोपयोगि । एकस्यानेकरूपता-विचारस्तु व्यवहारोपयोगितामप्यावहतीति क्रमेण व्यवहारोपयोगिनि ज्ञाने विज्ञान-शब्दः, मोक्षोपयोगिनि ज्ञाने तु ज्ञानशब्दो निरूढिं गतः । तदभिप्रायेणैव—

"मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः ।"

इति तत्र भवानमरसिंहो बभाषे । अनेनैव च पथाऽद्यत्वे वस्तुतत्त्वान्वेषणपरं 'साइन्स' इति नाम्ना प्रसिद्धं शास्त्रं विज्ञानशब्देनैव संस्कृतविद्वांसः परिचिन्वन्ति । वस्तुतस्तु मोक्षोपयोगि तत्त्वमपि यदा न केवलं परोक्षविधया, अपि तु अनुभवपर्य-वसायितया प्रतिपद्यते, तदा तदपि विज्ञानपदव्यपदेश्यतामेवावगाहते । तत एव तु भगवद्गीतासु "ज्ञानं विज्ञानसहितम्" इत्याद्यादिष्टम् । न हि शिल्पशास्त्रयोस्तत्र

---

* 'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते । अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् । (भ. गी. १८।२)

कापि कथा। अनुभवावसानमेव च तत्त्वज्ञानमविद्यानिवर्त्तकमाचक्षत आचार्या इति विज्ञानमेव मोक्षौपयिकमपि। किञ्च परोक्षप्रतिभासरूपे ज्ञाने ये मतभेदाः प्रक्रियाभेदा वा विभिन्नदृशां विजृम्भन्ते, ते तत्र दर्शनसमाख्यां लभन्ते। तेषु दर्शनेषु दृष्टिभेदप्रधानेषु पारस्परिकाणां वाक्कलहानामपि भवति संभावना। विज्ञाने त्वनुभवावसाने प्रत्यक्षायिते प्रतिभासे न कापि विचारभेदस्यापि संभावना, दूरे तु विचारभेदमूलकाः कलहा इत्यहो विज्ञानस्य महिमेत्यास्तामप्रकृतविस्तरः।

वेदे का प्रक्रिया !

इदं तु वक्तव्यम्। वेदेष्विमां विज्ञानसारामेव शैलीं प्राधान्येनोपलभामहे। एकस्मादेव मूलात्परस्परात्यन्तविलक्षणपदार्थघटितस्य जगत उत्पत्तिर्वेदेषु। बहुधा प्रपञ्चिता, तत्तद्वस्तुधर्माश्च करतलामलकवद् विस्पष्टं ग्राहिताः। किमन्यत्—तत्र धर्मतत्त्वं मोक्षतत्त्वं च यत् प्राधान्येनोपदिष्टम्, तदपि वस्तुतत्त्वविवेचनप्रधाना-मनुभवपर्यवसायिनीं च विज्ञानशैलीमेव समालम्ब्य समुपदिष्टम्, न तु परोक्षमिव केवलं श्रद्धाप्रधानां शैलीमभिलक्ष्येति विवेचनपरा विद्वांसः सम्यगवगच्छेयुः। तस्माद् वैदिकं सर्वमपि ज्ञानम्—आत्मविज्ञानम्, ब्रह्मविज्ञानम्, धर्मविज्ञानमिति विज्ञानशब्देनैवोपदेष्टुमर्हम्। अत एव कर्मविधिपरेषु ब्राह्मणेषु प्रतिविधि † 'किमर्थमेवमेतत् करोति'-इति जिज्ञासामुत्थाप्य वस्तुतत्त्वावलम्बेन तत्समाधानं तत्र तत्र पश्यामः। तेन च वस्तुशक्तिमवलम्ब्यैव वस्तुविज्ञानाधारोऽस्माकं धर्मोऽपीति सुस्पष्टं भवति।

उपनिषत्स्वपि च दृश्यवस्तुतत्त्वावलम्बिनीं निरूपणप्रक्रियाम्, बहुभिश्च तैस्तै-र्दृष्टान्तैरात्मविद्याया अप्यनुभवावसानताप्रापणप्रयत्नमालोचयामः। छान्दोग्योप-निषत्सु षष्ठः प्रपाठकः, बृहदारण्यकोपनिषत्सु चतुर्थपञ्चमाध्यायौ चात्र विशेषेण निदर्शनार्हाः। धर्मब्रह्माङ्गभावेनैव च सर्वं वस्तुतत्त्वं कार्त्स्न्येन वेदेष्वालोचितं प्रतिजानीमः। अयमेव सर्वातिशायी प्रतिपादनप्रकारः सर्वविद्यादिभूतानां वेदानां किमपि गौरवमुद्भासयति। तत एव च वेदैकशरणानामार्याणां शिरोऽद्यापि जगत्युन्नतम्।

तदिदं सर्वमपि विज्ञानं मन्त्रेषु सुसूक्ष्मतरं सूत्ररूपेण संकेतविधया समुपदिष्टम्। ब्राह्मणादिषु च यथोपयोगं किञ्चिद् विवृतम्। यदा खलु जागर्ति स्म वैदिकं विज्ञानं भारते, तदा संकेतमात्रेणैव तं तमर्थं प्रतिपित्सवः प्रपद्यन्ते स्म। न बहु व्याख्यानमपेक्षितमभूत्। विद्ययाऽन्तःकरणं संस्कार्यमिति चासीत् तत्रभवता-मार्याणां शैली। पुस्तकपरतन्त्रतामपि न ते विषेहिरे। अत एव—

---

† 'तद्यदप उपस्पृशति अमेध्यो वै पुरुषः' (१।१।१) इत्यादि शतपथब्राह्मणं द्रष्टव्यम्।

पुस्तकस्था च या विद्या परहस्ते च यद् धनम्।
कार्यकाले तु सम्प्राप्ते न सा विद्या न तद् धनम्।

इत्याद्यप्यस्माकं नीतिर्जोघुष्यते। ततश्च ग्रन्थगौरवं तदात्वे नेष्टमासीत्। सूत्ररूपेणैव प्रतिपादनशैली प्रवर्त्तते स्म। अतएव वेदेषु तादृशीं विलक्षणां शैलीं पश्यामो यद् देवतास्तुतिपरेष्वेव मन्त्रेषु केनचिद् विशेषणेन तत्संबन्धि गभीरं विज्ञानं विद्योत्यते। स्तुवद्भिरेव चैतिहासिकं विवरणमपि तथैव कक्षीक्रियते। अत्र कानिचिदुदाहरणानि संक्षेपेण दर्श्यन्ते—

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।" (ऋ० १।१।१)।

इति दशतय्या आदिम एव मन्त्रे—

'पुरोहितम्' 'यज्ञस्य देवम्' 'ऋत्विजम्' 'होतारम्' 'रत्नधातमम्' इति पञ्च विशेषणान्यग्नेः श्रूयन्ते। तत्र 'पुरोहितम्' इति-अस्माकं पुरः स्थित एवात्राग्निः प्रस्तुतो न वैद्युतसौरावान्तरिक्ष्यदिव्यादग्नी इति स्तोतव्यस्य व्यावृत्तिं प्रदर्श्य, पुरो दृश्यमानेषु सर्वेष्वपि वस्तुषु अग्नेर्व्यापकत्वमाह। 'यत् किञ्चिद् दार्ष्टिविषयकम्, अग्निकर्मैव तद्' इति निगमयति भगवान् यास्कः (निरुक्ते ७ अध्याये)। मौलिकस्य तत्त्वस्याग्नेरेव चयनेन (ऊर्ध्वाधोभावेन, तिर्यग्भावेन चावस्थानेन) सर्वे पदार्था निष्पद्यन्ते, स एव चित्योऽग्निः। सर्वत्र पुनः प्राणरूपेणानुप्रविष्टश्च चितेनिधेयः—इति वैदिकं दर्शनम्। यत्तु वैज्ञानिका आधुनिका अग्नेर्यौगिकत्वं साधयन्तो मौलिकतां वारयन्ति, सैषा स्थूलाग्निप्रवणा दृष्टिस्तेषाम्। तापदाहजनक एव पदार्थस्तैरग्नित्वेन स्थूलदृष्ट्याऽभिमतः। वैदिके तु सिद्धान्ते प्राणरूपेण सर्वत्रावस्थितः पदार्थोऽग्निरित्याख्यातः। तापदाहौ तस्यैव स्थूलावस्था। अन्यत्रापि मन्त्रेषु सुस्पष्टं व्यापकताग्नेर्निरुक्ता—

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि॥

(यजुः—१२-३७)

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः॥

(ऋक्० मं० १।७०।२)

इत्यादिना। तत् 'पुरोहितम्' अग्निं वदन् मन्त्रोयमादिमः पुरो दृश्यमानान् पार्थिवान् पदार्थान् अग्निरूपानाह। सर्वत्रावस्थितः किमयमग्निः करोति—इति द्वितीयेन 'यज्ञस्य देवम्' इति विशेषणेनोच्यते। सर्वमपि पदार्थजातं दृश्यमानं न कदाप्येकरूपम्, परिवर्तमानमेव खिदं सर्वमुपलभ्यते। परिवर्तमानमपि च

नैकान्तः सत्तां जहाति। तदिदं सर्वं यज्ञकृतम्। स्वीयानां भावानामन्यत्रार्पणम्, अन्यतश्च भावानामादानमितीयमादानप्रदानप्रक्रिया यज्ञः। यथा प्रदीपः प्रकाशं सर्वत्रार्पयति तैलावयवांश्चाजस्रमादत्ते, वृक्षलताः पुष्पफलानि ददति, पृथिव्या अपां च रसमजस्रमाददते। प्राणिन आहारमाददते, मलं बलं च तत्र तत्र प्रयोजयन्तीति सुस्फुटं सर्वत्रानुभूयेत सूक्ष्मया दृशा। सोऽयमादानप्रदानापरपर्यायोऽन्नान्नादभाव एव प्राकृतो यज्ञ उच्यते, स चायमग्निसाध्य इत्यग्निरेव यज्ञस्य देवः। अग्नौ सोमाहुतिरेव यज्ञसंपादिका। अनेनैव यज्ञेन सर्वेषामुत्पत्तिः स्थितिश्च। प्राणिनामङ्गपोषो वृक्षादीनां पर्णपुष्पादिप्रसवश्च सर्वोऽग्नियज्ञसाध्यः। तदेतद्वृक्षादिविषयेऽन्यत्रापि स्फुटीकृतम्—

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः। (ऋक् १०।७९।३)

एतद् व्याख्यातं श्रीमाधवाचार्यैः—"अयमग्निः, मातुः—पृथिव्याः सम्बन्धिनीः, उर्वीः—बह्वीः, वीरुधः—लताः, इच्छन्—कामयमानः प्रसर्पत्—प्रसर्पति—प्रसरति। किमिव, कुमार इव, स यथा स्तन्यं पातुं जानुभ्यां सर्पति, तद्वत्। ससं न पक्वम्—पक्वमन्नमिव, शुचन्तम् दीप्यमानं नीरसं वृक्षम्, रिपः पृथिव्या उपस्थे, अन्तः-उत्सङ्गे, अन्तरविदत्—विन्दति। पुनः कीदृशम्, रिरिह्वांसम्—आकाशमास्वादयन्तम, यद्वा मूलैर्मातरं पृथिवीं रिरिह्वांसम्"। इति। अत्र तृतीयचतुर्थयोः पादयोरेकवाक्यताचार्येण संपादिता। एतदपेक्षया तयोः पृथग् वाक्यत्वं यदि स्यात्—पक्वमन्नमिव शुचन्तम्—नीरसं वृक्षमविदत्, रिप उपस्थे अन्तः—पृथिव्या उत्सङ्गे, /रिरिह्वांसम्—रसमास्वादयन्तं चाविददिति, ततोऽधिकं स्पष्टता स्यात्। वृक्षलतादिषु सिक्तं जलमादित्यरश्मय ऊर्ध्वमाकर्षयन्ति, तेन सहैव तज्जलसंसक्तः पार्थिवोऽग्निरप्यूर्ध्वमाक्रमते, तदेतदग्नेरुत्सर्पणमृचः पूर्वस्मिन्नर्द्धे स्फुटमुक्तम्। तस्यैतस्य चीयमानस्याग्नेरुपरितने भागे वायुसंपर्काच्छुष्कतामापद्यते—अन्तस्तु प्रवहत्येव रसोऽजस्रम्। जले हि सोमस्य प्राधान्यमति स्फुटीकृतं श्रुतौ—

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः
त्वमाततंथोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ।

(ऋ० अष्ट० १ अ० ६ वर्ग २३)

ततश्च पार्थिवेऽग्नौ सोमाहुतिरेव वृक्षाद्युत्पत्तिहेतुरिति यज्ञस्य हेतुता सिद्धा। अनेन यज्ञेनैव वृक्षादीनामूर्ध्वं तिर्यक् च क्रमेण विस्तारः, तिर्यग्रसप्रसार एव शाखापर्णादिजनकः, तस्यैव च रसस्य पर्णपुष्पफलादिरूपेण परिणामः। परं कस्य वृक्षलतादेः कियती प्रसृतिरूर्ध्वं तिर्यग्वेति सर्वमिदं मूले स्थितस्य प्राणस्यायत्तम्। सेयं मूलशक्तिरेवास्याधृत्य 'प्रतरम्' 'गुह्यम्' इति संकेतिता। प्रसरतः पार्थिवस्य रसस्य कृष्णवर्णतया, आदित्यस्य च 'पिशङ्गं द्रापिं प्रतिमुञ्चते कविः' (ऋक् सं०

४।५३।२) इति पीतवर्णतायाः श्रुतत्वेनोभयोः संयोगाद्धरितं रूपं वृक्षपर्णादिषूपलभ्यते। यदा तु यमेन प्रतिबद्धो रसो नोपसर्पति, तदा केवलस्यादित्यस्य पीतमेव रूपं पर्णेषु प्रतिभासते। तदा मूलात् प्रवर्ग्यमाणोऽयमग्निः पृथगवस्थया पर्णादिषु स्थिरो भवति। एवमेव शुष्केष्वन्नेष्वपि भिन्नयैवावस्थयाग्नेरवस्थितिरिति ते उभे अप्यवस्थे पृथगृचि प्रतिपादिते। "अग्निर्वै शर्म्माण्यन्नादीनि प्रयच्छति" (ऐ. ब्रा. २।५।९) इत्यादिना ब्राह्मणेषु च विस्पष्टीकृतं विज्ञानमिदमिति कृतं विस्तरेण।

अथ प्रथमायामृचि तृतीयं विशेषणमृत्विजमिति। ऋतुभिर्यजति—संगच्छत इति वा, ऋतून् यजति—ददातीति वा तस्यार्थः। प्रथमे विग्रहे ऋतस्य सौराग्नेरवयवा एव ऋतुशब्दार्थः। द्वितीये तु तत्तत्फलपुष्पादिजनकत्वेन प्रसिद्धः स स काल एव ऋतुशब्दार्थः।

उभयथापि सौराग्निना सङ्गतोऽयं पार्थिवोऽग्निस्तत्तहतुव्यपदेशप्रयोजक इति सिद्ध्यति। सौरस्य संवत्सररूपतामाप्तस्याग्नेरपेक्षयैव ऋतूनां नामान्यपि क्लृप्तानि। अग्नयोऽत्र वसन्तः—क्रमेण सर्वत्र व्याप्नुवानाः सन्ति, स कालो वसन्त इत्याख्यायते। यदा तु सर्वानर्थान् गृह्णानः—आत्मसात्कुर्वाणोऽस्ति, स कालो ग्रीष्मः, ग्रहधातोः परोक्षवृत्त्या निष्पन्नत्वादस्य शब्दस्य। यदा तेऽग्नयः प्रवृद्धा भवन्ति तदा वर्षाः, वृधधातुनिष्पन्नोऽयं शब्दः। अथ परां वृद्धिं प्राप्य यदा क्षयं गन्तुमारभन्तेऽग्नयः, तदा (शरन्तोऽग्नयो यत्र) शरत्कालः, हीनतायां हेमन्तः, सर्वथा विशीर्णेषु चाग्निषु शिशिर इति 'जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' इति यास्कपरिपठिताः षड्भावविकारा एव ऋताग्निसंबन्धेनेह ऋतुवाचकैः शब्दैः प्रदर्शिताः। ऋत्ववयवभूतानां चैत्रादिमासानां वैदिकानि नामान्यपि—मधुः, माधवः, शुक्रः, शुचिः, नभाः, नभस्यः, इषः, ऊर्जः, सहाः, सहस्यः, तपाः, तपस्यः—इत्येतानि तेषु तेषु मासेषु ऋताग्निसंबन्धाद्यद्यत्पृथिव्यां पार्थिवेषु प्राणिषु वोत्पद्यते तन्मूलकान्येव। यदा हि मधु समुत्पद्यते—स मासो मधुः। मधुप्रकर्षसंबन्धी च माधवः—इत्यादीत्यहो वैज्ञानिकं विजृम्भितं सुरभारत्याः[१]। आस्तामप्रकृतम्। ऋतुविज्ञानमेवेदानीं संक्षेपेण वक्तव्यम्। ऋतः सौरोग्निरेव ऋतूनां प्रधानं कारणम्, परं नैकदशः स विभिन्नप्रकारानृतून् जनयितुमलमिति

---

१. यत्र हि अन्यासु वैज्ञानिकतामानिनीषु भाषासु जूनी-नामकः पुरुषविशेषो यत्रोत्पन्नः स जून इति, जूली च यस्मिन् मासे जातः स जुलाई—इति मनुष्यसंबन्धेन मासनामानि भवन्ति, तत्र संस्कृतभाषायां मासनामश्रवणादेव तन्माससंबन्धि विज्ञानं प्रतीयते इति दृश्यतां सुरभारत्या गौरवं विस्फार्य चक्षुषी भाषान्तरपक्षपातिभिः।

सोमसंबन्धस्तत्र—विभिन्नदशासंपादनायापेक्षणीयः। सोममण्डलं च चन्द्र इति चन्द्रस्याप्यृतुजनकत्वमाम्नातम्।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ
शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे
ऋतूं रन्यो विदधज्जायते पुनः॥
(ऋक् १०।८५।१०)

सूर्याचन्द्रमसावस्मिन् मन्त्रे प्रस्तुतौ, तावेव शिशू इति रूपितौ। तत्रैकः सूर्यो भुवनानि प्रकाशयति, अन्यस्तु चन्द्र ऋतून् विदधत्पुनः पुनर्जायत इति चन्द्रस्यापेक्षाकृतं प्राधान्यमुक्तम्। तदित्थं सूर्याचन्द्रमसावृतूत्पादकौ, किन्तु तत्तदृतुषु या फलपुष्पान्नादि समृद्धिस्तत्र हेतुः पार्थिवोऽग्निरेव। न हि पार्थिवाग्निसंबन्धमन्तरेण पृथिव्यां किमप्युत्पद्येत नाम। सूर्यचन्द्रयोः प्रभावः पार्थिवेऽग्नौ, पार्थिवश्चाग्निस्ताभ्यां संगत्य तत्तदन्नादिजनक इति सर्वमिदम् 'ऋत्विजम्' इति त्रिभिरक्षरैरुक्तम्।

'होतारम्' इति चतुर्थं विशेषणं ह्वेञ् धातोर्होतृशब्दं निष्पाद्य ब्राह्मणेषु व्याख्यातम्। तेनाग्निर्देवानाह्वयति, अग्निद्वारैवास्माकं सौरमण्डलस्थैर्देवैः संबन्ध इति गभीरं तत्त्वं विज्ञायते, यदद्यापि सर्वथा परोक्षं वैज्ञानिकानाम्। अथ पञ्चमम् 'रत्नधातमम्' इति विशेषणम्—अग्निरेव सुवर्णमणिप्रभृतीनां रत्नानामुत्पादयितेति भूगर्भविज्ञानं स्फुटयति। हिरण्योत्पत्तिविज्ञानं ब्राह्मणे स्फुटमप्युपलभ्यते "आपो वै वरुणस्य पत्न्य आसन्, ता अग्निमभ्यध्यायन्त, ताः समभवन्, तस्य रेतः परापतत्, तद्धिरण्यमभवत्" (तैत्तिरीयब्राह्मणे १।१।६) रसेऽग्निवीर्यसंबन्धाद्धिरण्योत्पत्तिरित्यत्र स्फुटं भवति। अत एव चाग्निर्हिरण्यरेता इति संस्कृतभाषायामाख्यायते। तदित्थं परिमिताक्षरैः पञ्चभिर्विशेषणैः कियद्विज्ञानं वयं शिक्षिता इति विचार्यतां मनाङ्महाभागैः।

तथैव यजुःसंहिताया आदिमे मन्त्रे—

"इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु, श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम्"

इत्यादौ—इडित्यन्नम्, ऊर्गिति बलम्, तद्वायोरेवान्नबलसंपादकत्वं वृष्टिद्वारेणेति वायोर्गुणाः, वायौ च गतिः सूर्यप्रेरणयेति विज्ञानसिद्धान्तः स्फुटीभवति। हे वायवः! सविता देवो वः प्रार्पयतु—प्रेरयतु' इति सूर्यप्रेरणया वायौ गतेः सुप्रतिपन्नत्वात्। "सवितृप्रसूत एष पवते" इति शतपथब्राह्मणे तद्व्याख्यानम्। किं च "यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म" 'तस्मै श्रेष्ठतमाय कर्मणे यूयमाप्यायध्वम्—

परिपुष्टा भवत' इति व्याख्यातपूर्वस्य प्राकृतस्य यज्ञस्य वायुपरिपोषाधीनत्वमप्यत्र शिक्षितम्।

सूर्यसंबन्धे तु "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः" "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" इत्यादि बहुतरं श्रुतिषु श्रुतम्। अस्मदधिष्ठितस्यास्य ब्रह्माण्डस्य सूर्य एवाधिनायकः, स एवोपरिष्टाद्वर्तमानानामपि मण्डलानां नियन्ता निवेशयिता चेति सर्वातिशायि माहात्म्यं सूर्यस्य शृण्मः।

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्॥

(ऋ० १।३५।२)

इति हि सौरे मन्त्रे अमृत-मर्त्यनिवेशकत्वं सूर्यादुपरिष्टाद्यत्, तदमृतम्, अवाग्भूतं च मर्त्यमिति ब्राह्मणेषु बहुत्रोपलभ्यमानेयं परिभाषा श्रीगुरुचरणानां ग्रन्थेष्वसकृद् व्याख्याता। तदुभयनिवेशकत्वं मध्यस्थितस्य सूर्यस्यात्र विज्ञातम्। किं च 'कृष्णेन रजसालोकेन, आवर्तमानः' इत्युक्त्या प्राणभूतस्य देवस्यादित्यस्य लोकभूतमिदं मण्डलं कृष्णवर्णमित्यस्मान्मन्त्रात्स्फुटीभवति, यत्रेदानीन्तना अपि वैज्ञानिका हस्तपादं प्रसारयन्ति। ते हि 'सूर्यमण्डले कृष्णवर्णा बहवो भागाः (धब्बा)' इत्यद्यावधि यन्त्रैर्विनिश्चिन्वन्ति, श्रुतौ तु सर्वमपि मण्डलं कृष्णवर्णं श्रूयते, या तु पीतरक्ततास्माभिरनुभूयते, सा रथस्येति 'हिरण्ययेन रथेनायाति' इत्यादिना स्फुटीकृतम्। संसक्तानि स्वभक्तिभूतानि देवान्तराण्येव रथाश्ववाहनादिरूपतया देवानां मन्यन्ते इति व्याख्यातं निरुक्तकृता भगवता यास्केन। तेन संसक्तसविकारिप्राणसंबन्धाद्धिरण्यवर्णता सूर्यमण्डलस्य प्रतीयत इति श्रौतः सिद्धान्तः, सोऽद्यापि दुरवगम एव विफलयन्त्रसहायानामाधुनिकवैज्ञानिकानाम्। यस्त्वयमस्माभिः सौरः प्रकाशोऽनुभूयते, स सौररश्मिसंपर्कात्सर्वत्र व्याप्तस्य सोमस्याभिज्वलनान्निष्पन्न इति श्रूयतेऽन्यत्र—

"सोमेनादित्या बलिनः" (ऋ० सं० १५।८५।२)

"आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि" (ऋ० ८।९।३०) इत्यादौ। प्रत्नं रेतः सोम एव। स एव च दिवः-सूर्यमण्डलात्परस्तादपीध्यते—प्रदीप्यते इति।

अथापरोऽयं सौरो मन्त्रः—

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्। (ऋ० अष्ट० १-४-७)

अत्र केतवः किरणाः, विश्वस्मै दर्शयितुं सूर्यं देवमुद्वहन्ति-ऊर्ध्वं प्रापयन्तीत्यर्थः प्रतीयते, व्यख्यातञ्च तथैव भाष्यकारैः। परं विचारदृशा नेदं सम्यक् प्रतीयते,

ऊर्ध्वस्थितमादित्यमधः स्थितानस्मान् किरणा दर्शयन्ति, तेन उपवहन्तीति वक्तव्यं स्यात्, कुतस्तु उद्वहन्तीति। ऊर्ध्वमपि सूर्यकिरणाः प्रसरन्तीति चेत्, प्रसरन्तु नाम, न तावतास्माकं किमपि सिद्ध्यति। अस्मभ्यं दर्शनन्तु अधःप्रसरणादेव भवति। ततश्च विश्वाय दृशे उद्वहन्तीति अनुपपन्नमित्र। परमिदं तदैवोपपद्यते—यदा वैज्ञानिकानामेष सिद्धान्तोऽधीयते—यद् यावत्सूर्योऽस्मत् क्षितिजादधस्तादेव भवति-नेत्रसूत्रसम्बन्धं नैव गच्छति, तावदेव तत्किरणाः पृथिव्या उपरिष्टाद्वायुमण्डले पतिता वक्रीभूयास्मन्नेत्राणि अनुप्रविष्टाः स्वसंमुखभागे सूर्यं दर्शयन्ति। सूर्यस्य वास्तविकोदयाद् बहुपूर्वमेव सूर्योदयोऽस्माभिरभिमन्यत इति यावत्। किरणानां वक्रीभावोऽयं जलादौ स्फुटमनुभूतचरः। यावदियं घटना, तावदेव सूर्यमण्डलं रक्तं प्रतीयते। ततश्च क्षितिजादधःस्थितमेव सूर्यं केतव उद्वहन्ति—विश्वं दर्शयन्तीति प्रस्फुटं जातम्। एवं वैज्ञानिकविचारेणैव ये सम्यगुपपद्यन्ते, तादृशा बहवः सन्ति मन्त्राः।

अभिद्रवन्त समनेव योषाः। कल्याण्यः स्मयमानास्ते अग्निम्।

(ऋ–अष्ट. ३।८।११)

इति मन्त्रं दैवतकाण्डप्रथमाध्याये व्याचक्षाणस्तत्रभवान् यास्कः—'अभित उदकधाराभिरान्तरिक्ष्योऽग्निर्दीप्यते'—इतिवदन् वैद्युतं विज्ञानं श्रुतिषु स्फुटमभ्युपगच्छति।

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे।
गर्भे सन् जायसे पुनः। (यजुः १२।३६)

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥

(ऋ. मं. १०।३०।४)

इत्यादिषु मन्त्रेष्वपि स्फुटं विद्युद्विज्ञानम्। अपांनपादिति हि अन्तरिक्षाग्निनामसु पठ्यते निघण्टुषु, ततश्च—अग्निवन्धनः अप्सु अन्तर्वर्तमानः, आन्तरिक्ष्योऽग्निः—इत्यतः परं किं विद्युतः परिचयदानं संभवेत्?

अस्य वामस्य पलितस्य होतु-
स्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो
अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।

(ऋ० २।३।१४५)

इति मन्त्रे च वामस्य, पालितस्येति सूर्यमुपक्रम्य मध्यम आन्तरिक्ष्योऽग्निस्तद्भ्राता—तद्भरणीय उक्तः, तेन विद्युतः सूर्यादुत्पन्नतापि स्फुटीकृता। किमन्यद् विद्युत्येवावलम्बमानमाधुनिकं विज्ञानं विद्युतस्तत्त्वमद्यापि न बुध्यति—भूतरूपेयम्,

केवलशक्तिरूपा वेत्यद्यापि विचारयत्येव। श्रुतिस्तु तस्या इन्द्ररूपतां सूर्याह्वरणीयतां स्पष्टैः शब्दैराचष्ट इति किमपि माहात्म्यं श्रुत्या आविर्भवति।

> अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
> अग्निं च विश्वशंभुवम्। (ऋ० १।२३।२०)

इति मन्त्रेण जलेऽन्तरग्निसत्तां ब्रुवाणेन जलस्य यौगिकता स्फुटीकृता, यामद्यत्व आडम्बरेण साधयन्ति वैज्ञानिकाः।

सर्वाणि रूपाणि सूर्यरश्मिभिरेव निर्मीयन्ते, शुक्लं कृष्णं चेति द्वे एव रूपे मुख्ये; तत्सन्धिगतं रक्तम्, मिश्रणजानि चान्यानीत्यस्ति रूपविषये वैज्ञानिकानां दर्शनम्। तदपि—

> इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदच्चरत् [तैत्तिरी. सं०]
>
> शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यद्
> विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
> विश्वा हि माया अवसि स्वधावो
> भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥
> (ऋ० ६।५८।१)

इत्यादिषु स्फुटमाम्नातम्। इह शुक्रम्—शुक्लम्, यजतं च कृष्णमिति व्याख्यातं भाष्यकृता। विस्तरभयात्सर्वेषां मन्त्राणां स्फुटार्था अत्र न निरूपिताः, भाष्यादिषु जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्याः।

अपि च ऋक्, साम, यजुः, छन्दः, स्तोमः, मनोता, अहः, सहस्रम्—इत्याद्याः परश्शताः शब्दा वेदेषु भूयो भूयः समुपलभ्यन्ते, ये वैज्ञानिकेष्वर्थेषु संकेतिताः सन्ति। यथाधुनिकेषु व्याकरणादिशास्त्रेषु परिभाषितशब्दमहिम्नाऽनायासेन भूयानर्थोऽवबुध्यते, तथा वेदेषु संकेतितानामेषां शब्दानां यथार्थं संकेतं ब्राह्मणादिभिर्ज्ञात्वा सुमहद् विज्ञानमनायासेन स्वल्पैरेवाक्षरैः शक्यमवबोद्धुम्। अत्यल्पमिदं निदर्शितम्, अतिगभीराणि विज्ञानानि स्वल्पाक्षरैः पदैरुपदिष्टानि पदे पदे समुपलभ्यमानानि वेदस्य कमपि गरिमाणं ख्यापयन्ति, तानि वेदमहाब्धौ, ससाहसं सोत्साहं च निमज्जद्भिरेव सुलभानि।

स्फुटानि विज्ञानानि—

कानिचित्तु विज्ञानानि तथा विस्पष्टमप्याम्नातानि, यथा आपाततोऽपि तदवलोकनेन वेदेषु विज्ञानमस्ति न वेति संशयलेशोऽपि न प्रभवेत्, परं तान्यपि सूत्ररूपेणैवाम्नातानि पश्यामः। अत्रापि निदर्शनद्वयमुपस्थाप्यते—

'अनवर्णे इमे भूमी इयं चासौ च रोदसी ।
किं स्विदत्रान्तराभूतं येनेमे विधृते उभे ।
विष्णुना विधृते भूमी इति वत्सस्य वेदना ।
इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या ।
व्यस्तभ्नाद् रोदसी विष्णवे ते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ॥

(तैत्तिरीयारण्यके १।८।५।६)

इह पृथिवीमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य च कथं समानान्तरं धारणमिति प्रश्नमुपस्थाप्य विष्णुकर्तृकं धारणं स्फुटैरेवाक्षरैर्व्यवस्थापितम् । तत्र च ऋक्संहितापठितो मन्त्रः (७।९९।३) 'इरावती' त्यादि प्रमाणत्वेनोपन्यस्तः । विष्णुशब्दोऽयमादित्यनामसु निघण्टुषु पठितः, ब्राह्मणेषु पुराणेष्वपि चादित्यस्य विष्णुशब्दाभिधेयता प्रस्फुटा । तेन मण्डलद्वयमिदं सूर्यमण्डलान्तर्गतेनादित्यप्राणेन विधृतं तिष्ठतीति सूर्याकर्षणविज्ञानमत्र प्रस्फुटं भवति । अयमेवादित्यप्राण इन्द्रशब्देनापि श्रुतिष्वाख्यायते "यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इति । इन्द्रस्य न केवलं पृथिवीधारकत्वमपि तु तत्प्रेरणेनैव पृथिव्या दैनन्दिनगतिरित्यपि श्रुत्यन्तरे स्पष्टमुक्तम्—

"यज्ञ इन्द्रमवर्धयत्, स भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥" (ऋ० सं० ६।१।१४)
तथैव "तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक
ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति ।"

(ऋ० १।१६४।१०)

"तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून् ।"

(ऋ० २।२७।८)

इत्यादिष्वपि बहुषु मन्त्रेषु सूर्यकृतं पृथिव्यादिधारणमुपदिशद्भिराकर्षणविज्ञानं स्फुटीकृतम् । तिस्रो भूम्यस्त्रयो दिवश्चात्रोक्ता अग्निव्याहृतिनिरूपणे संक्षेपेण व्याख्यायन्ते । तथैव—

"मनो देवा मनुष्यस्याजानन्तीति, मनसा संकल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातम्, वातो देवेभ्य आचष्टे-यथा पुरुषस्य मनः । तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम्—

'मनसा संकल्पयति तद् वातमपि गच्छति ।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ।"

(शत० ६।५।५)

इति शतपथब्राह्मणे, तत्र प्रमाणीकृते 'अथर्वसंहितामन्त्रे (१२।४।१।५) च विस्पष्टैरक्षरैर्मनोविज्ञानमाम्नातम्, न तत्र मनागपि व्याख्याया अपेक्षा ।

अल्पमात्रं निदर्शितम्। दर्शादिविज्ञानं तु मन्त्रेषु निरुक्तादिष्वपि स्फुटं व्याख्यातमेवेति। अतिगम्भीराणि सर्वाणि विज्ञानानि मन्त्रेषु स्वल्पैरक्षरैः संकेतितानि, ब्राह्मणे च व्याख्यातानि।

वेदेषु हि परिश्रम्य न केवलं भौतिकं विज्ञानं प्राप्यते, अपि तु आधिदैविकम्, आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, अधियज्ञं च विज्ञानमामूलचूडं परिपूर्णतया तत्रोपलभ्यते। यथास्माकमियं पृथ्वी स्वसंबद्धेन चन्द्रमसा सह सूर्येण संबद्धा, सूर्याकर्षणवशगा, तथैव सूर्योऽपि भगवान् परमेष्ठिमण्डलेन संबद्धः, स च परमेष्ठी स्वयम्भूमण्डलवशग—इत्येवं चन्द्रः, पृथिवी, सूर्यः, परमेष्ठी, स्वयंभूरिति पञ्चमण्डलेयमेका वल्शा (शाखा) अस्मदधिष्ठिता, सन्त्यन्या अप्येवंविधा अनन्ताः शाखाः, परं न तद्विज्ञानेनास्माकं किमपि प्रयोजनं सिद्ध्यतीति ता उपेक्ष्यन्ते।

इह सूर्यपृथिव्योरन्तराले यदन्तरिक्षं तत्र प्रधानश्चन्द्रमा मण्डलेषु गृहीतः, एवमेव तु परमेष्ठिसूर्ययोरन्तराले, स्वयम्भूपरमेष्ठिनोरपि चान्तराले विद्यतेऽन्तरिक्षम्, सन्ति च तत्राप्युभयत्र वरुण-ब्रह्मणस्पतीन्द्रप्रमुखानि मण्डलानि—इति संभूय सप्त लोका भवन्ति—ये भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः सत्यमिति वेदेषु पुराणेषु चाख्यायन्ते। अत्रापेक्षाकृता भूम्यन्तरिक्षद्युशब्दव्यवहाराः प्रवर्तन्ते, यथास्मदधिष्ठितभूम्यपेक्षया सूर्यमण्डलं द्यौः, मध्ये चान्तरिक्षम्। सूर्यमण्डलस्थितानान्तु सूर्यः (स्वः) एव भूमिः, जनः द्यौः, महस्त्वन्तरिक्षम्, तथैवाग्रेऽपि द्रष्टव्यम्। संभूय तु भूः, भुवः, स्वः इति तिस्रो भूम्यः, स्वः, महः, जन इति त्रीण्यन्तरिक्षाणि, जनः, तपः, सत्यमिति त्रयो दिवः। द्वयोस्त्वत्रापेक्षाकृत उभयत्र प्रवेशः। एषु यान्यन्तर्गतानि महान्ति, मण्डलानि, यास्ताराः, ये तत्त्वेषां प्राणाः †, ये च तत्र तत्र + देवाद्याः, यश्चैषामस्मासु प्रभावः, तत् सर्वमप्याधिदैविके विज्ञाने समाम्नायते, एतत् सर्वमुपजीव्य तत्सारभूतं क्षुद्रब्रह्माण्डरूपं यदस्मदादिशरीरत्रयं * तदाध्यात्मिके विज्ञाने सम्यङ् निरूप्यते। यच्चेह पृथिव्यां स्थावरजङ्गमात्मकं कार्यकारणपरम्परापतितं तत् सर्वमाधिभौतिके विज्ञानेऽन्तः पतति। इहैव मानुषचरितरूपाणामितिहासानामप्यन्तर्भावः।

अथैषां सर्वेषामध्यात्माधिभूताधिदैवतया व्याख्यातानां यः पारस्परिकः संबन्धः, येन सर्वमिदं जगच्चक्रं परिचलति।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। (कठोपनिषत्)

---

† तेषां सर्वेषां यत् तत्त्वमिह पृथिव्यामागतं वयमनिशमुपजीवामः, तत्त्वेषां प्राणरूपतयैवाख्यायते। अत्रार्थे 'मनोता' शब्दव्यवहारो वेदेषु।

+ देवाः, पितरः, ऋषयः, गन्धर्वाः, असुरा इति प्राणरूपास्तत्र तत्र।

* स्थूलं, सूक्ष्मं, कारणं चेति शरीरत्रयं प्रसिद्धं शास्त्रेषु।

इत्यादिना भूयो भूयः श्रुतिषु यत् समुपदिष्टम्, यच्च वैदिके विज्ञाने मौलिकमद्भुतं रहस्यम्—तदिदमधियज्ञं नाम विज्ञानम्। एतदेव विज्ञाय सर्वं कर्त्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्था अस्माकं पूर्वजा ऋषय आसन्। अस्यैव प्रभावः—

"यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा आसन् वशे।" (यजुः ३१।२१) इत्यादिना भगवता वेदपुरुषेण समुपदिष्टः।

अथैतेषु विज्ञानेषु विज्ञातानां तेषां तेषामर्थानां परस्परं संबन्धोऽपि विज्ञेयः। सन्त्याधिदैवमृषयः, पितरो, देवाश्च, सन्ति चाध्यात्ममधिभूतं च ते तत्र तत्र व्याख्याताः, तेषां कः परस्परं सम्बन्ध इत्यपि निगूढं वेदेषु विज्ञेयम्-यद्विज्ञान-विधुरा अद्यत्वे वेदार्थे परिभ्राम्यामः। एतदनन्तरम्—एतत्सर्वपदार्थमूलभूतं सर्वत्रानुस्यूतं—प्रकृतिः, पुरुषः परं ब्रह्मेति च—यत् क्रमेण सत्यममृतमभयं लोकातीतं च तत्त्वं परिचीयते तज्ज्ञानं नाम। तदपि विज्ञानविधयैव श्रुतिषु परिचार्य्यत इत्युक्तं प्राक्।

पाश्चात्त्येष्वद्य विज्ञानमध्याह्नेऽपि केवलमाधिभौतिकं विज्ञानमुन्नतिं गतम्। तत्राप्यद्यावधि बहवः सिद्धान्ता अस्थिरा एव। भूयो भूयः परिवर्त्तनं तेषां भवति। बहुषु च विषयेष्वद्यावधि सिद्धान्त एव न स्थिरीभूतः। आधिदैविकमाध्यात्मिकं च विज्ञानं तत्राद्यापि शैशवमेवातिवाहयति। अधियज्ञविज्ञानस्य तु कथापि तत्र नास्ति, दूरे तु पुरुषविज्ञानादिकथा।

बहुत्र ब्राह्मणग्रन्थेषु तथाविधविज्ञानानां संकेतो लभ्यते, येषां स्वप्नोऽप्याधुनिकैर्वैज्ञानिकैर्न दृश्यते उदाहरणार्थं दृश्यतां तावच्छतपथे (११ काण्डे ४ अध्याये) स्वैदायनोद्दालकसंवादः-(स्वैदायनस्य प्रश्नः)

"स वै गौतमस्य पुत्र! वृतो जनं धावयेत्, यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्यात्—यस्मादिमाः प्रजा अदन्तका जायन्ते, यस्मा[१]दासां जायन्ते, यस्मादासां प्रभिद्यन्ते, यस्मादासां[२] सन्तिष्ठन्ते, यस्मादासां पुनरुत्तमे वयसि सर्व एव प्रभिद्यन्ते। यस्मादधर एवाग्रे जायन्तेऽथोत्तरे। यस्मा[३] दणीयांस एवाधरे प्रथीयांस उत्तरे, यस्माद् दंष्ट्रा वर्षीयांसो, यस्मात्समा एव जम्भ्याः।५।

स वै गौतमस्यपुत्र! वृतो जनं धावयेत्, यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद्—यस्मादिमाः प्रजा लोमशा जायन्ते, यस्मादासां पुनरिव श्मश्रूण्यौपपक्ष्याणि दुर्वीरिणानि जायन्ते, यस्माच्छीर्षण्येवाग्रे पलितो भवति, अथ पुनरुत्तमे वयसि सर्व एव पलितो भवति।६।" इत्यादि।

---

१. जन्मोत्तरं दन्ता उपपद्यन्त-इत्यर्थः। २. पुनरुत्पद्यन्ते।
३. नीचैर्दन्ता लघवो भवन्ति।

अत्रगर्भे दन्तानामजननस्य, पुनर्जननस्य, तेषां परिमाणादेः, केशश्मश्वादीनां च केवलं वैज्ञानिकानि कारणान्येव न विवेचितानि, अपि तु तेषां यज्ञसंबन्धोऽपि चिन्तितः। तथैव शतपथब्राह्मणस्य चतुर्दशे काण्डे (बृहदारण्यकोपनिषदि) जनकयज्ञवृत्ते (१४ का० अ० ४।९।३३) मनुष्यशरीरस्य वृक्षस्य च साम्यं प्रदर्श्याग्रे भगवतो याज्ञवल्क्यस्य प्रश्नः—

यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः।
मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति।
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते।
जात एव न जायते कोन्वेनं जनयेत्पुनः।
धानारुह उ वै वृक्षोऽन्यतः प्रेत्य संभवः।
यत्समूलमुद्वृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्।
मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति।

अत्र मृतस्य पुनरुद्भवश्चिन्तितः।

उदाहरणमात्रमिदम् बहूनि तथाविधानि विज्ञानानि श्रुतिषु विवेचितानि, येषामद्यत्वे कथापि नास्ति।

एवमेव स्वल्पैरेवाक्षरैस्स्तुत्यादिप्रकरणमध्य एव बहव इतिहासा अपि श्रुतिषु प्रतिपादिताः। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

इति सुप्रसिद्धे पुरुषसूक्तमन्त्रे 'पूर्वं साध्या नाम देवा आसन्, तैर्यज्ञप्रणालीयं प्रवर्तिता, इत्यादीतिहासः संकेतितः'। तथैव 'ब्रह्मणा यज्ञब्रह्मविद्या पूर्वमथर्वणे शिक्षिता, अथर्वणा च यज्ञाः पूर्वं प्रवर्तिताः, इत्यादिः संकेतोऽपि तत्र लभ्यते। 'इति वत्सस्य वेदना' इति निदर्शितपूर्वे अथर्वणविज्ञानमन्त्रे वत्सोऽस्याविष्कर्त्तेति सूचितम्।

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् न ह्यन्ये अशक्नुवन्॥

(ऋ० मं० ५।४०।९)

इति मन्त्रे च सूर्यचन्द्रोपरागविज्ञानमत्रिवंशजैः पूर्वं साधितमिति निर्दिष्टम्।

"यंचिच्चमसमसुरस्य भक्षणमेकं सन्तमकृणुता चतुर्वयम्"

(ऋ० म० १।११०।३)

इति ऋभुदेवताके मन्त्रे ऋभूणामेकस्य चमसस्य चतुर्धाकरणं वैज्ञानिकं शिल्पमिति वृत्ते निर्दिष्टम्। अस्मिन्नेव सूक्ते—

मिश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः ।
सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितराकृणोत न ॥

इति मन्त्रेऽपि ऋभूणां वैज्ञानिकानि कार्याणि निर्दिष्टानि ।

उद्वन्दनमैरतं दंसनाभिरुद्रेभं दस्रा वृषणा शचीभिः ।
निष्टौग्र्यं पारयथः समुद्रात्पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम् ॥
(ऋ० १।११८।६)

इत्यादिषु मन्त्रेषु अश्विनोर्बहूनि चिकित्साकार्याणि दर्शितानि, येषु बहूनि पुराणेषु विवृतानि तत्र तत्रोपलभ्यन्ते ।

एवमितिहासोऽपि तस्य कालस्य वेदेषु प्राप्यते, यस्य प्रकारान्तरेण प्राप्तेरसम्भव एव ।

ततश्च विचार्यतां महाभागाः ! यत् खल्विदमैतिह्यम् यत्रेदानीन्तनं पाश्चात्त्यं भौतिकं विज्ञानं समाप्यते, ततः परं वैदिकं विज्ञानमारभ्यते तथैव 'यत्रेदानीं यावदुपलब्ध इतिहासः समाप्यते, ततः परतर इतिहासारम्भो वैदिकः' इति, तद्वेदपारावारे कृतावगाहानां नात्युक्तिरूपतया भासते ।

विज्ञानस्य भारते ह्रासः

अथ कालक्रमेण ह्रसिमानमुपेयुषि तादृश आर्यजनताया बुद्धिवैभवे वैदिकं गभीरं तत्त्वं व्याख्यातुं विस्तृता ग्रन्थाः प्रादुरभवन् । तदाह निरुक्ते मुनिर्यास्कः—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः— वेदं च वेदाङ्गानि च ।" इति

इमं ग्रन्थम्=तद्व्याख्याविषयीभूतं निघण्टुम् । वेदं समाम्नासिषुरिति— प्रकीर्णान् मन्त्रान् संहितारूपेण संपादयामासुरिति, ब्राह्मणं प्रकटयामासुरिति वाऽर्थः । ते ग्रन्था वेदनाम्ना, विद्यानाम्ना, वेदाङ्गनाम्ना वा यथोचितं प्रख्यायन्ते स्म । तथा हि गोपथब्राह्मणे—

"इमे सर्वे वेदा निर्मिताः १ सकल्पाः, २ सरहस्याः, ३ सब्राह्मणाः, ४ सोपनिषत्काः, ५ सेतिहासाः, ६ सान्वाख्यानाः, ७ सपुराणाः, ८ सस्वराः, ससंस्काराः १० सनिरुक्ताः ११ सानुशासनाः १२ सानुमार्जनाः, १३ सवाकोवाक्याः ।
(पूर्व० प्रपा. २ ख. १०)

इति वेदसहचरितास्त्रयोदश विद्याः श्रूयन्ते । ताण्ड्यमहाब्राह्मणान्तर्गतच्छान्दोग्योपनिषदि नारद–सनत्कुमारसंवादे च—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थं (१) मितिहास (२) पुराणं (३) पञ्चमं वेदानां वेदं (४) पित्र्यं राशिं (५) दैवं निधिं (६) वाकोवाक्य (७) मेकायनं (८) देवविद्यां (९) ब्रह्मविद्यां (१०) भूतविद्यां (११) क्षत्रविद्यां (१२) नक्षत्रविद्यां (१३) सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।" (छान्दो. प्र. ७, खं० १)

इह वेदचतुष्टयीतोऽतिरिक्तास्त्रयोदश विद्या आम्नायन्ते। तथैव शतपथब्राह्मणान्तर्गतायां बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवादे—

"एवं वा अऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।" (बृहदा. अ. ४, ब्रा. ४. ख. १०)

इति बहुविधानि विद्याप्रस्थानानि श्रूयन्ते। तेष्वेतेषु वेदशरीरेषु, वेदाङ्गेषु, विद्यासु च मन्त्रोपदिष्टमेव तत्तद् विषयभेदेन प्रकरणभेदेन च प्रस्फुटीक्रियते स्म। परमत्रापि प्राक्तनी वैदिकी शैली न परित्यक्ताऽभूत्, संकेतरूपेणैव मन्त्रशैल्यैव च तत्तदर्थप्रतिपादनं सर्वत्र प्रस्तुतमभूत्।

अथ विपरीते काले स्वार्थबुद्धौ प्राबल्यमागतायामभिचारादिकर्मसु प्रसारं गतेषु जगद्धितबुद्ध्या क्रियमाणानां यज्ञानां विरलतामापन्ने प्रचारे वैदिकं विज्ञानमपि क्रमेण शैथिल्यमभजत्। महाभारतयुद्धानन्तरं तु चित्रपट इव परिवर्त्तते स्म। देशविप्लवात् खिन्नेषु लोकेषु का नाम विज्ञानोन्नति-कथा? विरलतामापन्न उच्छिन्न इव वैदिको गुरुसंप्रदायः, विरलतामापन्ना अभवन् विद्याः, स्वार्थलिप्सान्यभवन् कर्माणि। अस्मिन् व्यतिकरे प्राक्तनास्तत्सामयिका वा वेदाङ्गप्रवक्तॄणां दर्शनसूत्रकाराणां चैकदेशमवलम्ब्य लोकदृष्टिमाक्रष्टुं कृता अपि प्रयत्ना न साफल्यमभजन्। प्रत्युत अङ्गविस्तारो मतभेदविस्तारश्च वैदिकविज्ञानतिरोधानायैवाऽकल्पत।

ब्रह्मण्ये क्षात्रे च युगपद् विलयं व्रजति तदैव दैवादुपस्थितो बौद्धानां समयः। यस्मिन् काले न केवलं संप्रदाय उच्छिन्नः, अपि तु वेदरहस्यावबोधका निदानरहस्यादिग्रन्था अपि प्रलयं गताः। उच्छिन्नाः शाखाः, व्यलुप्यन्त बहूनि ब्राह्मणानि-नाममात्रायाशिष्यन्त विद्याः। ब्रह्मतेजः-प्रभावेणैव कालेन समुपशान्तः स झञ्झावातः। तदुत्तरमपि बहूनामाचार्याणां महानुभावानां प्रयत्नेन कर्मकाण्डमुपासनाकाण्डं ज्ञानकाण्डं पुनरपि संप्रदायबद्धमभूत्, परं विज्ञानशैली तु विलुप्ता नैव प्रचारमापेदे।

संप्रदायस्य विच्छिन्नप्रायत्वाद्, ग्रन्थानां च विलोपाद् विज्ञानकथाभिरपि शून्ये ऐन्द्रजालिकमायाप्रधाने तस्मिन् काले अधिकारिणां विरहान्न विज्ञानोद्धाराय समय आसादित आचार्यैः। आवश्यकतम-कर्मविधिसंप्रदायरक्षा तैः कृता,

कर्ममूलभूतविज्ञानरक्षा तु न तदात्वे संभवकोटिमप्यारोकते स्म। तत एव मन्त्र-ब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य कर्माद्यवबोधकः सांप्रदायिकोऽर्थः सुरक्षितोऽभूत्। उपपादकं विज्ञानन्त्वर्थवादशब्दवाच्यतामापद्य परित्यक्तममूल्लोकैः। विज्ञानविरहाच्चेयमार्य-विद्या ततः प्रभृत्येव केवलं शब्दप्रधानतां गता। तर्कव्याकरणसाहित्यादयः शब्दा-डम्बरमात्रसारा लोकेभ्योऽरोचन्त। महांस्तत्र तत्र ग्रन्थविस्तरः प्रावर्धत। जल्पप्रक्रिया कवित्वप्रक्रिया च विनोदायालमभूत्। क्रमेण वैदिका *उपहस्यन्ते स्म, यज्ञा निन्द्यन्ते स्म। किमधिकेन जल्पनेन, यत् तत्परिणामभूतं जातं जायते च, तत् सर्वं प्रत्यक्षमेव।

इदं तु सत्यम्—यत् सत्यविद्यायां विद्यत ईश्वरपक्षपातः। तत एव लेशतोऽप्यार्यविद्याया आभासमात्रमनुप्राप्यापि वैदेशिका यवनम्लेच्छाद्या अपि शिरसास्या गौरवं वहन्ति स्म, तत एवेयमद्यावधि रक्षिता। तादृशसत्याकृष्टमानसा एव तस्मिन्नपि घोरे काले बहव आचार्या विद्वांसश्च वैदिकेषु विषयेषु लेखनीमचालयन्। वेदानां भाष्याण्यपि व्यरच्यन्त। परं कर्मोपयोगी संप्रदायप्राप्तोऽर्थस्तत्र विवृतः, वैज्ञानिकानान्तु वैदिकानां संकेतानां तस्या वैज्ञानिकपद्धत्याश्च संप्रदायोच्छेदाद् विलोप इवाभूत्। तत एवार्वाचीनेषु भाष्येषु न वैज्ञानिकीं पद्धतिमुपलभामहे। मानुषयज्ञोपयुक्ततया मन्त्रा व्याख्याता भाष्यकृद्भिः, विज्ञानजीवातुभूता प्राकृत-यज्ञपरता तु समुपेक्षितैव। किञ्चाध्यात्ममधिभूतमधिदैवतं च ये देवपित्राद्याः, तेषां विवेकोऽपि भाष्येषु नोपलभ्यते। तत एवैकस्य धर्मा अपसम्बन्धित्वेन प्रतिसंधीय-माना बुद्धिं विप्लावयन्तीव। तस्मिन् काले तस्याः विद्यायाः सर्वथाऽभाव एवात्रापराध्यति, न तु तत्र भाष्यकृतां कोऽपि दोषः। ग्रन्थकर्तृभिः किल लोक-रुचिरप्यवश्यमनुसरणीया भवति, ग्रन्थप्रचार एवान्यथा न संपद्येतेति। कर्ममात्रे बद्धश्रद्धास्तदा लोका इति कर्मोपयुक्त एवार्थः प्राधान्येन भाष्येषु प्रतिपादितोऽभूत्। उपपत्तिनिरूपणन्तु विस्तरायामन्यत। तदुक्तं भाष्यकृता श्रीसायणमाधवा-चार्येण ऋक् संहितायाः प्रथमे मन्त्रे नैरुक्तादिप्रक्रियां प्रदर्श्य—

वेदाऽवतार आद्याया ऋचोऽर्थश्च प्रपञ्चितः।
विज्ञातं वेदगाम्भीर्यं संक्षेपादधुनोच्यते॥ इति।

वेदार्थस्तु दूरे आस्ताम्, वैदिकीं शैलीमनुरुध्य स्मृतिषु सूत्रेषु पुराणेतिहासे-ष्वपि च यदुपदिष्टम्, तस्यापि मर्मज्ञानं नाभवदेव विदुषामर्वाचीनानाम्। ते शब्दमात्रेणैव परितुष्यन्तो नानुभवपथिकतां तं तमर्थं नेतुमुत्सुका बभूवुः।

किञ्चिन्निदर्शनमत्र समुपस्थाप्यते चेन्मन्ये नाऽनुचितं स्यात्। इदं तु समर्च-

---

* राजमाषनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः। द्वारि तिष्ठन्ति राजेन्द्र च्छान्दसाः श्लोकशत्रवः। (भोजप्रबन्धे) इत्यादि बहुतरम्।

-ध्यम्—यत् परमभान्येषु गुरुतमेषु महानुभावेषु आचार्येषु ग्रन्थकृत्सु च मनागपि कटाक्षनिक्षेपेण नात्मानं पङ्के पातयितुं लेशतोऽप्यभिकाङ्क्षे, केवलं विज्ञानदुरवस्था-मेव बोधयितुमेतानि निदर्शनानि ।

विज्ञानस्य भारते दुरवस्था

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरिति क्रमेण व्यपदिष्टेषु त्रिषु लोकेषु अग्निर्वायुरादित्य इति सन्ति त्रयो देवाः प्रधानभूता इति स्पष्टं निरुक्तविदाम् । तेष्वेकैकं प्रधानीकृत्य देवतान्तरं च तदङ्गभावमानीय वेदत्रयी क्रमेण प्रवर्त्तते । ऋग्वेदे अग्नेः, यजुर्वेदे वायोः, सामवेदे आदित्यस्य चास्ति प्राधान्येन विज्ञानम्, तदङ्गतया चान्येषाम् । अत एव 'अग्निमीळे पुरोहितम्" इति पुरः स्थापितमिममेवाग्निं प्रस्तुवती ऋक्संहिता प्रवर्त्तते, "इषे त्वोर्जेत्वा वायवः स्थ, देवो वः सविता प्रार्पयतु" इति वायुं यजुःसंहितोपक्रम एव कीर्त्तयति, "अग्न आयाहि वीतये" इति आगन्तुकमग्नि-मादित्यं सामवेदसंहिता प्रारम्भ एव प्रस्तौति । इदमेवाभिप्रेत्य "ऋग्वेद एवाग्ने-रजायत, यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्" इति ब्राह्मणश्रुतावग्न्यादिभ्य ऋग्वेदादीनामुत्पत्तिराम्नाता विषयस्य ज्ञानकारणताया निरूढत्वात् । यद्यस्त्यग्निः, तत एव ऋग्वेदो जायते, न भवेच्चेत्, कं वर्णयितुमृग्वेदः प्रवर्त्तेतेति तस्य कारण-त्वमुपपादयन्ति । अयमेवाभिप्रायो—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥
(मनुः अ० १ श्लो० २२)

इति भगवता मनुनाऽपि शब्दान्तरैरुपदिष्टः । परं प्रसिद्धैरशेषशेमुषीसंपन्नैरपि विद्वत्प्रवरै रचितासु सप्तस्वपि टीकासु वा मनुस्मृतेष्टीकासु नैकत्रापि स्पष्टीकरणमस्यार्थ-स्योपलभामहे । पूर्वोक्ता श्रुतिः प्रायेण सर्वैरेव समुद्धृता, अग्न्यादिभ्यश्च कथं वेदानामुत्पत्तिः सम्भवीत्याशङ्कितमपि, परम् 'आगमिकत्वाच्च नातिशङ्क्यमेतत्' (गोविन्दराजः) इत्याद्येव समाहितम् ।

'सारासारवचः प्रपञ्चनविधौ मेधातिथेश्चातुरी' इति बहुधा स्तुतेन सर्वमान्येन मेधातिथिना बहु खल्वत्र विवेचितम् । परं "किं नोपपद्यते, कः शक्तोरदृष्टा असती-र्वक्तुमर्हति । नाख्यातोऽर्थो विकल्पयितुं युक्तः । अग्न्यादयोऽपि देवता ऐश्वर्यभाजो निरतिशयशक्तिश्च प्रजापतिस्तत्र का नामानुपपत्तिः' "अर्थवादाश्चैते" इत्यादिभि-रेव शब्दैः शङ्कमनानां मुखमुद्रणं कृतम् । अग्रे महामतेस्तस्य दृष्टिर्मनागुक्तेऽर्थे प्रसृता, परमृग्वेद आग्नेयसूक्तानामारम्भे दर्शनमेव ऋग्वेदस्याग्निजन्यत्वे तेन हेतूकृतम् । न तु तत्राग्निविज्ञानं प्राधान्येनास्तीति स्पष्टीकर्त्तुं तस्यापि वाक् प्राभवत् । अग्रे वेदद्वये त्वेवंविधोऽपि समन्वयो न प्रदर्शित एवेति । भाष्यकृता

च श्रीमाधवाचार्येण "अग्न्यादिजन्यत्वे वेदानां पौरुषेयत्वं प्रसक्तम्" इति उपोद्घाते पूर्वपक्षीकृत्योत्तरपक्षे न किमपि समाहितम्। वैज्ञानिकपद्धतौ तस्मिन् काले दृष्टिनिक्षेप एव नाभूदित्येवास्य सर्वस्य निदानम्!

एवं चतुर्वर्गचिन्तामणेः श्राद्धखण्डे पृष्ठशतकेन पितृतत्त्वं विवेचयन्नपि तत्र भवान् निबन्धकर्तां मूर्धन्यो हेमाद्रिः श्रुतिषु स्पष्टमभिव्यञ्जितम् 'आग्नेयाः प्राणा देवाः, सौम्याः प्राणाः पितरः' इति देवानां पितॄणां च वैलक्षण्यं न लेशतोऽपि व्याख्याति। मनुस्मृतौ—

'ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः (अ. ३)

इत्यादिना स्पष्टीकृतमपि देवपितृविज्ञानं चतुरो मेधातिथिरर्थवादत्वेनैव दूरे क्षिपति, न तु समुचितं व्याचष्टे। तस्मिन् काले वैज्ञानिकताया विरहो वैदिकवैज्ञानिकार्थसंप्रदायविच्छेद एव चात्र निदानम्।

द्विविधाः पदार्था वैदिके विज्ञान आख्यायन्ते—'अस्थन्वतः, अनस्थाश्च'। येषामस्ति बाह्यसत्ता, ते अस्थन्वन्तः, ये तु केवलं प्रतीयन्त एव, न तु पृथग् बहिरुपलभ्यन्ते ते अनस्था इत्युच्यन्ते। इदमेव भेदद्वयम्—'अस्ति सिद्धम् भाति सिद्धम्' चेति व्यवहृतं लौकिक्यां भाषायाम्। एतदभिप्रायेणैव पदार्थधर्मविवेचको भगवान् कणादो मुनिरपि द्वेधा पदार्थान् व्यभजत्—सदित्याख्यातान् सत्तासिद्धान् द्रव्यगुणकर्माख्यान् प्रथमं न्यरूपयत्, "सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्" इति स्पष्टमाचक्षाणश्च सामान्यादीन् भातिसिद्धानग्रे संन्यवेशयत्। परं तदनुयायिषु द्रव्यादिवदेव जातेः पार्थक्यसाधनपरेषु दर्शनान्तरैः सह महान् कलहोऽस्मिन् विषये प्रवर्त्तते—

"न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः।"

इत्याद्या बौद्धानामाक्षेपाश्च प्रत्येकं घटत्वादिजातेर्विभुत्वमङ्गीकृत्य समाधीयन्त इति कुत्र कोणे विज्ञानं वराकं निलीय तिष्ठतु।

संस्कृतभाषायामचेतनबोधकाः खट्वावृक्षादिशब्दा अपि तत्तल्लिङ्गभाजोऽभ्युपगम्यन्ते। तत्र वैज्ञानिकं हेतुमुपदर्शयन् महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिः—

"संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।"
"संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान्"

इति वार्त्तिकं व्याचक्षाणः 'अधिकरणसाधना लोके स्त्री, स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति, कर्तृसाधनश्च पुमान्-सूते पुमानिति। इह पुनरुभयं भावसाधनम्-संस्त्यानं स्त्री, प्रवृत्तिश्च पुमान्, कस्य पुनः संस्त्यानं स्त्री, प्रवृत्तिर्वा पुमान्। गुणानाम्।

केषाम्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम्। सर्वाश्च पुनर्मूर्तय एवमात्मिकाः संस्त्यान-प्रसवगुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्यः। यत्राल्पीयांसो गुणास्तत्रावरतस्त्रयः शब्दः स्पर्शो रूपमिति, रसगन्धौ न सर्वत्र। प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या, नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यवतिष्ठते, वर्द्धते वा यावदनेन वर्द्धितव्यम्, अपार्थेन वा युज्यते, तच्चोभयं सर्वत्र, यद्युभयं सर्वत्र कुतो व्यवस्था, विवक्षातः,। संस्त्यान-विवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्, उभयविवक्षायां नपुंसकम्" इति। अस्याभिप्रायः प्रस्फुट एव, यत् सर्वत्र पूर्वप्रदर्शितयज्ञप्रक्रियाविधया आदानप्रदाने प्रवर्तेते, तत्रादानविवक्षायां स्त्रीलिङ्गः शब्दस्तत्र प्रवर्त्तते प्रदानविवक्षया पुँल्लिङ्गः शब्दः, ताटस्थ्यविवक्षया तु नपुंसकलिङ्गः शब्द इति, परं कैयटमहाभागो यज्ञ-प्रक्रियामिमामनभिलक्ष्यैव शब्दस्पर्शादिरूपेण स्वकृतमपि भाष्यकृतो विवरणं गौणं मत्वा गुणशब्दस्य सांख्यप्रसिद्धं सत्त्वाद्यर्थमुपगम्य यदुपचयापचयौ च काल्पनिकौ मत्वा सर्वां वैज्ञानिकप्रक्रियां तिरोदधाति, नागेशभट्टाद्याश्च तदेवानुसरन्ति विज्ञान-प्रक्रियादेशे विलोप एवात्रापराध्यतीति न विस्मर्तव्यम्।

एवमेव पौराणिकं भुवनकोशमितिहासं वाऽवलम्ब्य पाश्चात्त्या इदानीं सुबहु साधयन्ति। सुमहत् तेषां तत्र तत्त्वं भासते। परमस्माकं पुराणटीकाकृतः पुराण-पाठकाश्च लेखनीं वाचं वा विश्रमयितुं तानि प्रकरणान्युपयुक्तानि मन्वते। आधु-निकानि विकासवादादीनि विज्ञानानि भूस्तरविद्याप्रभृतयश्च स्पष्टं पुराणेषु निरू-पितानि, परं व्याख्याकृद्भ्यस्तत्र मौनमेव रोचते। वैज्ञानिकसंप्रदायविच्छेद एव सर्वत्र हेतुरिति स्फुटमेव विदुषाम्। इयं तावद् विज्ञानस्य दुरवस्थाऽभूत्।

इतिहासविषये तु इतोऽप्यधिको विप्लवः प्रावर्त्तत। वेदानामपौरुषेयत्वं समर्थयमानेन भगवता जैमिनिना "अनित्यदर्शनाच्च" इति पौरुषेयतापूर्वपक्ष-मुद्भाव्य "परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इति समाधीयते। जैमिनेर्भगवतः क आशय इति तु वेत्ति सर्वान्तर्यामी भगवान्, अनेकधा स विवरीतुं शक्यते विव्रियते च बहुभिः। परं श्रीशबरस्वामिप्रभृतयो मीमांसका इत्थं वर्णयन्ति यन्मानुषं चरितं यदि वेदेषु वर्ण्यते तर्हि वेदास्तन्मनुष्यादुत्तरं प्रादुर्भूता इति अनादित्वमपौ-रुषेयत्वं च वेदानां भज्येतेति शङ्का। न सन्त्येव वेदेषु मानुषाणि चरितानि, नामसादृश्यमूलया तु भ्रान्त्या नित्यपदार्थसम्बन्धिवर्णनं मानुषमित्यभिमन्यते कैश्चित्। यथा "बबरः प्रावाहणिरकामयत" इत्यादिषु 'ब-ब' इति शब्दानु-कृत्या 'बबर' इति वायुरभिधीयते। स च प्रवहणशील इति प्रावाहणिरुक्तः। अत्र प्रवहणपुत्रो बबरनामा कश्चिन्मनुष्योऽपि भवेत्, तदितिहासभ्रान्तिर्लोकानां जायते। वस्तुतस्तु वाय्वादेर्नित्यस्यैवेदं वर्णनमिति तत्समाधानं चेति। एतेनेदं साधितम्—यन्मनुष्येतिहासो वेदेषु नास्त्येवेति। इदं मतं बहुभिरेवेदानीन्तनैरा-दृतमनूदितं च।

इदं तु स्मर्त्तव्यम्। इमां पद्धतिमवलम्ब्य मीमांसकाभिमतस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाणिकी व्याख्या न केनाप्यद्यावधि विरचिता, दुःशकं च कार्यमिदमिति बहवो विद्वांसः स्फुटमभिमन्यन्ते। सर्ववेदव्याख्यातारौ तत्रभवन्तौ सायणमाधवाचार्यौ सादरमुपोद्घाते मीमांसकमतमिदमन्ववदताम्, परं व्याख्याकाले त्विदं सर्वं व्यस्मरतामिव। यतो हि बहवो मन्त्राः, बहूनि च ब्राह्मणप्रकरणानि मानुषेतिवृत्तावलम्बनेनैव तत्रभवद्भ्यां व्याख्यातानि। यथा—

आभोगयं प्र यदिच्छन्त एतनापाकाः
प्राञ्चो मम के चिदापयः।
सौधन्वनासश्चरितस्य भूमना-
गच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम्॥
(ऋ० सं० मं० १।११०।२)

इति मन्त्रं व्याचक्षाणो माधवाचार्य आह—"ऋभवो हि सुधन्वन आङ्गिरसस्य पुत्राः। कुत्सोऽप्याङ्गिरसः, अतस्तेन मदीया ज्ञातय इत्युक्तम्। हे सौधन्वनासः! सुधन्वनः पुत्राः! इत्यादि। तथैव—

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति
तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते।
(ऋ. म. १।१२५।१)

इति मन्त्रं व्याचक्षाणो माधवाचार्यो दीर्घतम=कक्षीवतोः सर्वमितिहासम्, भावयव्यपुत्रेण स्वनयेन तस्मै यद्यद्वृत्तम्—तस्य विवरणं च सर्वमुपनिबध्नाति, तदेव च वृत्तमवलम्ब्य सूक्तमिदं व्याचष्टे। तथैव "युवं च्यवानं चक्रथुर्युवानम्" इति प्रदर्शितपूर्वे मन्त्रेऽपि च्यवनस्य पुराणप्रसिद्धमुपाख्यानम्। एवमेव शतश इतिहासाः सायणमाधवीये भाष्ये मन्त्रार्थरूपेण व्याख्याता उपलभ्यन्ते। ब्राह्मणेष्वपि ऐतरेयादिषु या हरिश्चन्द्रनहुषादिकथाः, ताः सर्वा अपि मनुष्याकारतद्रूपेणैव माधवाचार्येण व्याख्याताः।

एवमुव्वटमहीधरादिभिरपि इतिहास परं व्याख्यानमेवादृतं तत्र तत्र। मीमांसका मन्त्राणामिव ब्राह्मणानां तदेकदेशभूतानामारण्यकोपनिषदादीनामपि च वेदत्वमेव सिद्धान्तयन्ति— "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" "शेषे ब्राह्मणशब्द" इत्यादि। तथैव च सर्वे प्रामाणिका आस्तिका मन्वते। उपनिषत्सूपलभ्यमानाश्चाख्यायिका मनुष्यपरतयैव श्रीशङ्कराचार्यप्रभृतिभिः सर्वैरपि भाष्यकृद्भिस्तत्र तत्र व्याख्याताः। "शुगस्य तदनादरश्रवणात्, तदाद्रवणात्, सूच्यते हि" "क्षत्रियत्वगतेश्चेतरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्" (ब्रह्मसूत्र १ अ० ३ पा० ३४-३५) इत्यपशूद्राधिकरणे च सूत्रकृता भगवता व्यासेनैवोपनिषत्सु मनुष्याख्यानमभिमतम्, तदाधारेणैव चाधिकरणमिदं प्रवृत्तमिति न तिरोहितं सूत्रपरिशीलिनाम्।

मनुष्यचरितं वेदेषु व्याचक्षाणा अपि च मान्यमहानुभावाः—

"भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।"

इति सिद्धान्तमवलम्ब्यापौरुषेयतामनादितां च वेदस्य रक्षन्त्येव।

अपि च "न कदाचिदनीदृशं जगद्" इत्यभिमन्यमानानां मीमांसकानामनया युक्त्या अपौरुषेयत्वरलक्षणं संभवेदपि। अन्येषां तु सर्गप्रलयप्रवाहमुररीकुर्वतां दार्शनिकानां पौराणिकानां चैते वर्त्तमानकल्पसंबन्धिनः पृथिव्यादिपदार्थाः अप्यादिमन्त इति तद्वर्णनेऽपि वेदानामनादित्वभङ्गशङ्कातङ्को दुस्तर एव। प्रवाहरूपेण नित्यतां तु पृथिव्यादीनामिव देवर्षिपितृराजर्षिप्रभृतीनामपि पौराणिका अभ्युपगच्छन्त्येवेति पक्षद्वयसाम्ये नेतिहासविलोपपक्षस्य प्रयोजनं किमपि पश्यामः। ततश्च—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

(मनुस्मृ० १ अ०, २१ श्लो०)

इति भगवन्मनूक्तदिशा 'स भूरिति व्याहरत्, भुवमसृजत' इति श्रुत्यनुगतया यथोत्पत्स्यमानानामपि स्थावरजङ्गमादीनां सामान्येन गुणधर्मादिकं पूर्वपूर्वकल्पानुसारि प्रथमत एव श्रुतिनिबद्धमभूत्, तथैवोत्पत्स्यमानानामप्यृषीणां राजर्षीणां च चरितं भविष्यद्दृष्ट्या, पूर्वकल्पानुसारि वा श्रुतं श्रुतिष्विति कात्रानुपपत्तिः! किमिवापौरुषेयेषु वेदेषु न संभाव्यते, यदा खलु भगवतो वाल्मीकेरपि भविष्यद्रामचरितोपनिबन्धृत्वं श्रद्दधतेऽद्याप्यार्याः। ये खलु वेदानामलौकिकत्वं श्रद्दधते, ते भविष्यदर्थस्य पूर्वमेव तत्र वर्णनमपि विश्वस्युरेव, इतरथा तु कयाऽपि युक्त्या तेषामपौरुषेयत्वविश्वासोऽपि दुःसाध इति मन्दप्रयोजनएवायमितिहासविलोपनप्रयासो दृश्यते। "परं तु श्रुति सामान्यमात्रम्" इति जैमिनीयं सूत्रमपि 'पूर्वकल्पोत्पन्नानामिदानीन्तनानां च श्रुतिसामान्यम् नाम सादृश्यम्, तेन पूर्वकल्पसंबन्धीनि तानि वृत्तानि वेदेषूपात्तानि। ईश्वरज्ञाननिष्ठानां वा पदार्थानामुपलभ्यमानैः पदार्थैः सह श्रुतिसामान्यम्—नामसादृश्यम्- इत्यर्थपरतया व्याख्यातुं शक्य एव। दृश्यते चायमपि मान्यानामार्याणामेव बहूनां पक्षो यज्ज्ञानरूपेण नित्या वेदाः, शब्दरूपेण तु काले काले तत्तदृषिभिरेव दृष्ट्वाविर्भावं नीता इति। यदाह व्याकरणमहाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिमुनिः—

"ननु चोक्तम्, न हि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या, तद्भेदाच्चैतद् भवति—काठकम्, कालापकम्, मोदकम्, पैप्पलादिकमिति।"

(महाभाष्ये अ० ४।३।१०१ 'तेन प्रोक्त'मिति सूत्रे)

न्यायभाष्यकारस्तत्रभवान् वात्स्यायनश्च—

"मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु संप्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेद इति वेदानां नित्यत्त्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम्। लौकिकेषु शब्देषु चैतत् समानमिति।"

(वात्स्यायन भाष्ये, २।१।६८ 'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यम्–इति सूत्रे)

निरुक्तकृत् तत्र भवान् यास्काचार्यश्च—

"त्रितं कूपेऽवहितमेतन् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति।" (निरुक्ते निगमकाण्डे अ. ४)

"अमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति, इतोऽस्यार्चिषः, तयोर्भासोः संसर्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्।" (निरुक्ते दैवतकाण्डे अ॰ १)

इत्यादि तत्र तत्र मन्त्राणामृषिप्रोक्तत्वं व्यनक्ति।

"आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।" इत्यादिमन्त्रव्याख्यायां च (निरुक्ते नैगमका. प्र. २) देवापि-शन्तनुप्रभृतीनां चरितं तत्तन्मन्त्रनिदानत्वेन प्रस्तौति। बृहद्देवताकृच्छौनकोऽपि बहूनामृषीणां चरितानि मन्त्रनिदानत्वेन बृहद्देवतायां स्पष्टं व्याचष्टे।

आस्तामिदं चिरन्तनं मतद्वैधम्। येऽपि तु वेदस्यापौरुषेयत्वपक्षपातिनो न मनुष्यकृतिसंबन्धं मनागपि वेदेषु सहन्ते, तेऽपीतिहासं वेदेष्वङ्गीकुर्वन्तीति भगवत्पादश्रीशङ्कराचार्यश्रीसायणमाधवाचार्यादिनिदर्शनेन साधितपूर्वम्। प्रदर्शितश्च दिङ्मात्रेण पुरुषसंबन्धशङ्कायाः समाधाने तेषां पन्थाः।

वेदेषु सर्वथेतिहासानभ्युपगमे महान् विप्लवः प्रसज्ज्यते। सन्ति किल मन्त्रब्राह्मणात्मकेषु वेदेषूर्वशीपुरूरवःप्रभृतीनां राजर्षिहरिश्चन्द्रप्रभृतीनां च बहव एवेतिहासाः, त एव चोपलभ्यन्ते पुराणेष्वप्युपबृंहिताः। ततश्च वेदेषु यदि तेऽर्थान्तरपरास्तर्हि तथैव संभाव्यन्त इति तद्घटितपौराणिकसर्वराजवंशस्यैतिहासिकं तथ्यं दूरमुत्सारितं स्यात्। ततश्च 'नास्त्येव भारतीयानां कोऽपीतिहासः' 'कल्पनामात्रसाराः पौराणिका इतिहासाः' 'नासीत् कोऽपि रामो वा युधिष्ठिरो वा' 'नैतिहासिकः पुरुषो भगवान् कृष्णोऽपि' इत्याद्याः केषांचित् पाश्चात्यविदुषां तदनुयायिनां भारतीयानां चानर्गला जल्पना एव विजयेरन्, गुहायां दृढदत्तार्गलं च भारतीयसभ्यतायास्तत्त्वं स्यादिति किमितः परमनर्थास्पदं नाम! कुतश्च श्रीशबरस्वामिनोपबृंहितं मतमेव प्रमाणीकुर्वीमहि, न तु शौनक-यास्क-शङ्कर-माधवादिभिः स्वीकृतं वेदेषु स्फुटं भासमानं स्वारसिकं सिद्धान्तम्!

किञ्च "यत् परः शब्दः स शब्दार्थः" इति हि मीमांसाभिमतमेव न्याय-मवलम्ब्य धर्मं एव मीमांसाया इदं प्रामाण्यं शक्यमुररीकर्त्तुम्, इति-हासादिविषये तु पुराणमहाभारतादीनामेव मुख्यं प्रामाण्यम्। धर्मविचारे इतिहासादीनामर्थवादान्तर्भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधनाङ्गतयैव सप्रयोजनत्वमिति जैमिनिसिद्धान्तं शिरसाऽऽद्रियामहे, परं कल्पनाप्रसूता मिथ्याभूता एव त इतिहासा इति न शक्यमभ्युपगन्तुम्। वेदप्रामाण्यसाधनबद्धपरिकरा महतो वेदभागस्यैवं मिथ्याप्रतिपादकत्वलक्षणमप्रामाण्यं शब्दान्तरेण प्रसञ्जयेयुरिति महदिदमुपहासा-स्पदम्। अपि च—

'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥"

इति मीमांसकाभियुक्तोक्त्यनुसारं प्रमाणान्तरविरुद्धानां गुणवादत्वं भवतु नाम, अनुवादभूतार्थवादयोस्त्वैतिहासिकं तत्त्वं कथमपलप्येत? न ब्रूमो वयं वेदेषु पुराणेषु वा न सन्ति कल्पना इति, को हि नाम सचेताः—

"पिप्पल्यः समवदन्त आयतीर्जीवनावधि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुषः॥
ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि॥"

इत्यादीनां संवादत्वेन भासमानानामपि वचोभङ्ग्या तत्तदौषधादिगुणाभि-व्यञ्जकत्वं नानुमन्येत, को वा वेदेषु कृतावगाहोऽगस्त्यमरुत्संवादादिषु क्वचिदा-धिदैविकम्, क्वचिदाध्यात्मिकं तत्त्वमेवोपबृंहितमितिहासशैल्येति न दृढं विश्वस्यात्? पुराणेष्वपि पुरञ्जनोपाख्यानप्रभृतीनि स्वयमेवाध्यात्मिकार्थपरतया व्याख्यातानि। परं नैतावता सर्वाण्येवाख्यानानि तथाभूतानीति भ्रमितव्यम्। न हि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ भवति लक्षणेति 'गङ्गायां प्रमोदते' इत्यादावपि सा नियमेन युक्ता स्यात्।

तेन वेदेषु पुराणेषु वा यान्याध्यात्मिकाधिदैविकाद्यर्थपरतया व्याख्यातानि, तानि भवन्तु तथैव। यानि तु नार्थान्तरपरतया क्वचिदप्युक्तानि, तेषु गुणवादत्व-कल्पना सर्वथानर्थायैवेति सुदृढं भावयन्तु सुधियः। सन्ति च कानिचिदाख्यानानि द्विपराणि, कानिचिच्च त्रिपराणि। अधियज्ञम्, आध्यात्मिकम्, आधिदैविकं चापि तत्त्वं तैर्बोध्यते, ऐतिहासिकं तथ्यमपि चाविष्क्रियते। बहूनि खल्वैतिहासि-कानि तथ्यानि वेदपुराणाद्येकवाक्यतयाविर्भवन्ति, यानि वर्त्तमानैतिहासिक-पद्धत्यापि परीक्ष्यमाणानि दार्ढ्यमेवोपयन्तीति।

तदित्थं वैदिकानि विज्ञानानीतिहासाश्च चिररात्राय विच्छिन्नसम्प्रदायानि न प्रतिभासन्त इति संक्षेपेण प्रत्यपीपदम्। विलुप्तविज्ञानानां च वेदानां केवलं कर्मकाण्डार्थमाध्यात्मिकतत्त्वाबबोधार्थं च महत्त्वं पर्यशिष्यत। परं मूलभूताद् विज्ञानाद् वियोजितस्य कर्मकाण्डस्य कियन्तं कालं स्थितिः संभवेत्? क्रमेण ततोऽप्यार्यजातेः श्रद्धा पृथग् भवितुं प्रवृत्ता। आध्यात्मिकानि तत्त्वान्यपि च मननार्थं प्रवृत्तैर्दर्शनैर्मननोपयोगितत्त्वप्रयोगं बह्वाद्रियमाणैर्वेदपथात् सुदूरमेव नीतानि, विप्रतिषेधेन च ख्यापितानीति तदर्थमपि वेदपर्यालोचनं शिथिलीभूतमिव। ततश्च—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

इति भगवतो मनोरादेशमवहेल्य, वेदानेकान्तत उपेक्ष्य, वेदाङ्गोपाङ्गैकदेशभूता व्याकरण–न्याय–साहित्य ज्यौतिषाद्या एव विद्यात्वेन भारते व्यवहृताः। वैदिकपौराणिकाद्यास्तु शिक्षितत्वेनापि न परिगण्यन्ते। केवलमपमानमपि सोढवद्भिः कैश्चिद्ब्राह्मणैर्वेदसंहितानां कासां चिन्मूलमात्ररक्षा कृतेत्येव हर्षास्पदकमभूत्।

अथ दैवाद् विज्ञानप्रियाया आङ्ग्लजातेरत्रागमने, तया सहार्यजातेः संबन्धे च भारते विलुप्ता विज्ञानचर्चा पुनरपि प्रावर्त्तत। आर्यजातेः पुरातनस्य वाङ्मयस्य क्रमेण परिचयं प्राप्य बहवो यूरोपीया विद्वांसोऽपि तत्तत्त्वान्वेषणे सुबहु पर्यश्राम्यन्, तेषु निबद्धश्रद्धाश्च तन्मुखात् प्रशंसामाकर्ण्य भारतीया अपि बहवो विद्वांसो वेदाद्यन्वेषणे प्रवृत्ताः। परमतिपुरातनेऽपि काले समुन्नत विज्ञानमासीदिति विकासवादनिष्ठाया यूरोपीयजातेर्निसर्गादेव विपरीतम्। इदानीमुपलभ्यमानाश्च पुराणाद्या अत्यन्तमर्वाचीना इति सिद्धान्तितवतां च तेषां वेदपुराणाद्येकवाक्यतायामपि सर्वथैव न जायते दृष्टिपातः। तद्बुद्धिमन्वेव स्वबुद्धिं संचारयन्तो भारतीया अन्वेषकाः केचन पुराणश्रद्धाप्रतिमुखा, केचिद् ब्राह्मणानपि विच्छिद्य पृथक् कृतवन्तः, केचन वेदेषु केवलं सामाजिकसभ्यतादर्शनायैवोत्कण्ठिताः, केचन सभ्यतारम्भसामयिकानेव वेदान् मन्वते—इति विभिन्नदशामेषां प्रयत्नेन वैदिकविज्ञानमन्दिरार्गला पुनरपि चिरमनुद्घारितैव स्थिता। योऽपि कैश्चिन्महानुभावैः सुबहु परिश्रम्य कथञ्चिद् विज्ञानोन्मेष इतिहासोन्मेषो वा कृतः, सोऽपि काल्पितकः कल्पनामात्रविश्रान्त इति न प्रतिष्ठामद्यावधि समासदत्। यावद्धि आमूलचूडं पर्यालोच्यैकोपक्रमेण परिभाषानिरूपणपूर्वकं काचिद् वैदिकविज्ञानपद्धतिरितिहासपद्धतिर्वा नाविष्क्रियेत, तावन्न वैदिकमार्गार्गलोद्घाटनं संभाव्यते। न तु तावान् केनापि श्रमः कृतः, नापि तादृशी सामग्री संनिहिता। ये वेदान्वेषकास्ते दार्शनिकपरिभाषानभिज्ञा अभूवन्, ये च प्राचीनशैलीपण्डितास्तेषामपि प्रवृत्तिरेव नाभूदिति नैव तादृशः सुसमयो दुर्दैवग्रस्तेन भारतेन समासादितः।

यद्यपि विज्ञानेतिहासयोर्मध्याह्नकाल इदानीं जगति गण्यते, प्रत्यहं नवनवा आविष्कारा: पाश्चात्त्येषु भवन्ति; येष्वेकैकेन जगच्चित्रपटः परिवर्त्यते। ईदृशेऽवसरे वाक्प्रपञ्चमात्रसाराणां प्राक्तनानामेषां विज्ञानानामितिहासानां वा किंवदन्ती-प्रायाणां प्रकाशनेन को लाभः संभाव्यते-इति भवेद् बहूनां मनसि वितर्कः, परं विज्ञानप्रणयिनो ये भवन्ति याथार्थ्येन, न ते कदाचिदप्यलंबुद्धिमुपासते। यतः कुतोऽप्यभिनवं किमपि शिक्षणीयमित्येवाजन्म तेषां प्रवृत्तिर्भवति। किञ्च विनैवान्वेषणं 'वेदकाले विज्ञानबाल्यकालः' इति ये स्वमनीषासंतोषायाभिमन्वते, तेषामुदेतु प्राक्तनो वितर्कः, ये तु भारतीयानामृषीणां सर्वज्ञतायां विश्वसन्ति, सर्वविधविज्ञानपारगामितां च तेषां श्रद्दधते, ये वा तटस्थास्तारतम्यपरीक्षण-समुत्सुकाः, तेषां तु प्राक्तनविज्ञानमर्मोद्घाटनं न कदाचिदप्यरुचिकरं संभाव्यते। सोत्कण्ठं ते प्राक्तनविज्ञानप्रकाशाय स्पृहयन्ति।

अथेदमप्यालोच्यतां मनाक्, यद् बहुशः समुन्नतमपि पाश्चात्त्यं विज्ञानं नाद्यापि निष्ठां गतम्। अद्यापि नवनवाः सिद्धान्ता आविर्भवन्ति, प्राक्तनाश्च बहवस्तिरस्क्रियन्ते, अद्यापि च बहवो व्यापारा अज्ञाततत्त्वाः स्थिताः, अद्यापि च बहुत्र विराजते मतभेदो वैज्ञानिकानाम्। किमन्यत्, या विद्युत् सर्वस्याधुनिकस्य विज्ञानस्य मूलस्तम्भायिता, तस्याः किं तत्त्वमिति प्रधानेपि विषयेऽद्यापि विवदन्ते वैज्ञानिकाः।

एवंविधे च व्यतिकरे भारतीयानां प्राक्तनविज्ञानसाहाय्येन केषुचिदंशेषु विज्ञानमाधुनिकमुपकृतं स्यादिति सम्भावना केन हेतुनोपहास्यतां नीयते भवद्भिः? दृष्टं चाद्यावधि बहुषु विषयेषु यद् भारतीयैः प्राक्तनैः सिद्धान्तैर्यत्र नवीनेन विज्ञानेन विरोध उद्भावितः, तत्र कालक्रमेण भारतीयानामेव सिद्धान्तानां विजयो भवतीति। यथा वृक्षादिषु चैतन्यं भारतीयेषु ग्रन्थेषु विस्पष्टमुद्घुष्टम्। नवीनस्य विज्ञानस्यासीत् तत्र विरोधः, परं भारतजनन्या एव सुपुत्रेण श्रीजगदीशचन्द्रवसु-महाभागेन भारतीयानां सिद्धान्तोऽद्य जगति सर्वमान्यतां प्रापित एवेति न परोक्षं विदुषाम्। तथैव रसायनक्रियया ताम्राद्या अपि धातवः सुवर्णतां नेतुं शक्यन्त इति भारतीयेषु चिरन्तनः प्रवादः। नवीनं विज्ञानमद्यावधि गुरुत्वं तत्त्वान्तरमभिमन्यमानं तत्र विप्रतिपन्नं तमुपहसति स्म। इदानीं तु वैज्ञानिका गुरुत्वस्याप्युत्पाद्यताम्, ताम्रादीनां च सुवर्णभावापत्तिं मन्तुं प्रवृत्ताः। एवमेकमूलमिदं सर्वंजगदित्यद्वैतवादो भारतीयानां सर्वत्र प्रसृतः। आधुनिकं विज्ञानं तु त्रिषष्टिमशीतिं द्विनवतिं शताधिकानि वा तत्त्वानि मूलादेव भिन्नानि गणयत् तेषां संख्यावृद्धावेव प्रयतमानमासीत्। परमिदानीं नैतानि मूलतो भिन्नानि तत्त्वानि, परमार्थत एकमेव तत्त्वमिति प्रवृत्ता बहूनां वैज्ञानिकानां दृष्टिः। आरम्भ-वादापरपर्यायः परमाणुवादः प्रथमः, तदनु परिणामवादात्मकः प्रकृतिवादः, अन्ते

चैकतत्त्वनिष्ठोऽद्वैतवादो विवर्त्तवादो वेत्यस्माकं दर्शनानां सुप्रसिद्धः क्रमः पाश्चात्ये विज्ञानेऽपि प्रसरन्नवलोक्यमानः सत्यस्य सर्वत्रैक्यमुद्घोषयति । तत्राप्यादौ परमाणुवाद एव (एटमस् थिउरी) वैज्ञानिकैराहतोऽभूत्, इदानीं तु (एव्हो-ल्यूशन थिउरी) नाम्ना परिणामवाद एव तत्र विजृम्भते। यथा च वैज्ञानिकानां क्रमिकी प्रवृत्तिस्तथाऽचिरादेवाद्वैतवादस्यापि प्रसरस्तेषु संभाव्यत एव।

दूरात् पर्वतादिकं वस्तु केन हेतुना लघु दृश्यते—इति विषयेऽस्मिन्नाद्यापि मनस्तोषकरमुत्तरं वैज्ञानिकानामाधुनिकानां चेतस्सु प्रतिभातम् । वैदिकेन तु विज्ञानेन ऋक्-सामनिरूपणे साम्नि ऋचो विनियोगमाचक्षाणेन तदेतदतिस्पष्टीकृतमिति । मनोविषये, शब्दविषये यावान् विस्तारो वैदिके विज्ञाने दृश्यते, तस्यांशमात्रमपि नाद्यावधि नवीनेन विज्ञानेन विज्ञातम् । यानि च तत्त्वानि वैज्ञानिका आधुनिका अविभाज्यानि मूलतत्त्वानि मन्यन्ते, तानि वैदिके विज्ञाने अतिपश्चाद्भवानि बहुगर्भितानि व्याख्यायन्ते । यदधुना 'आक्सिजन' नाम्ना विदितं तत्त्वम्, तदस्माकं दशविधे सोमेऽन्यतमः पवमानः सोम इत्याख्यायते। 'हाइड्रोजन' नाम्ना विदितं च तत्त्वं वयमम्भः इति वदामः, 'नाइट्रोजन'पदाभिधेयं भृगुष्वन्यतमं 'हंस'वायुम्, 'कार्बन्' इत्युक्तं चाङ्गिरा इति परिचिनुमः । परमेतानि सर्वाणि पारमेष्ठ्ये मण्डले समुत्पद्यन्त इति वैदिकं विज्ञानमाचष्टे । एभ्यः सूक्ष्माणि स्वायम्भुवमण्डलस्य तत्त्वानि । तत्र च सर्वत्र समनुस्यूतं शुक्रम्, शुक्रोपादानं च पञ्चीकृतं पञ्चविधं प्रकृतिपदाभिधेयम्, तन्मूलाः—प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नमिति व्याख्याता ब्रह्मेत्युक्ताः पञ्च प्रकृतयः । तत्राप्यनुस्यूतममृतं षोडशकलम्, तच्चापि दिग्देशकालानवच्छिन्नस्य परात्परस्याधारेण स्थितमिति एतावत्यः कक्षा अद्यापि विज्ञातुमवशिष्यन्त आधुनिकेन विज्ञानेन। तद्यदि वैदिकं विज्ञानं पूर्णतया प्रकाशमासादयेत्, तर्हि शताधिकाब्दगम्योऽध्वा वैज्ञानिकानां तत्साहाय्येन द्रुततरं गम्यः स्यादिति निष्पक्षपातया दृशासर्वैरनुमातुं शक्यम् ।

तथैवेतिहासस्यापि या सीमाऽद्यावधि निर्णीताऽभूत्, सा भूस्तरेषु नवनववस्तुप्राप्त्या प्रवर्धमानैवावलोक्यते। भूगर्भविज्ञानेन च भारतीयेषु प्रसिद्धं जगतो द्व्यब्जपरिमितमेवायुः क्रमेणानुमोदयितुमुपक्रान्तमित्यतिपुरातनमितिहासमन्वेष्टुं कस्य वा नौत्सुक्यमावहति मतिः। स चातिपुरातन इतिहासो वैदिकेनैवान्वेषणेन शक्यो विज्ञातुमिति तस्यापि मार्गस्य प्रकाश आवश्यक एव।

तदिदानीमुपसंहरन्निदं ब्रवीमि—यत्संस्कृतविदुषामेतद्विज्ञानपरिशीलने प्रवृत्तिरत्यावश्यकतमा। एतेनैव संस्कृतज्ञानामस्मिन् काले उपयोगिता सिध्येत ।

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः'

इति भगवद्दर्षिवचनानुपालनेनाभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिश्च भवेदिति ।

वेदेषु पितरः

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वता यस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदतु ॥

तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रसादात् प्रलीयन्ते मोहान्धतमसच्छटाः ॥

त्रिविधा हि जगति दृश्यन्ते भावाः—ज्ञानम्, क्रिया, अर्थाश्च । एषां त्रयाणामपि मूलानि मनः, प्राणः, वाक् चेति त्रितयमेव श्रुतिषु समाम्नातम् । शतपथब्राह्मणे हि "सोऽयमात्मा मनोमयः, प्राणमयः, वाङ्मयश्च" इति बहुश एभिरेव पदैः प्रकारान्तरेण वा श्रूयते । यत्र च कस्यचिदभिनवपदार्थस्योत्पत्तिः प्रस्तोतव्या भवति तत्र "स ऐक्षत, स तपोऽतप्यत्, सोऽश्राम्यत्" इत्यनेनैव क्रमेण किञ्चित्परिवर्तनेन वा बहुशः श्रूयते । तत्रेक्षणं नाम मनसो धर्मः, तपःपदबोध्या क्रिया च प्राणधर्मः, श्रमश्च सर्वभूतादिभूताया वाचो धर्म इति आत्मभूते त्रयेऽपि क्षोभरूपा स्वस्वव्यापाराः प्रतिपाद्यन्ते । आत्मभूतस्य त्रितयस्य क्षोभादेवाभिनवपदार्थोत्पत्तिर्भवतीति । आत्मभूते त्रितये च मनो ज्ञानस्य मूलम्, क्रिया प्राणस्य, वाक् चार्थानां मूलमिति प्रत्येतव्यम् । वाच एव विवर्तभूतानि सर्वाणि भूतानीति "वाचीमा विश्वा भुवनानि तस्थुः" इत्यादिशब्दैर्बहुधा श्रूयते । भवतु नाम, प्राणो गतेर्मूलम्, गतिरेव च जगदुत्पादयतीति प्राणमेव मुख्यतया आधारीकरोति श्रुतिः । गतिः क्रिया चेति पर्यायशब्दौ । क्रियाशक्तिरेव च माया-बलादिशब्दव्यवहार्या ब्रह्मणि जगत् प्रदर्शयतीति श्रुतेः सिद्धान्तः । गतिश्चेयं द्विविधा भवति । केन्द्रादारभ्य परिधिपर्यन्तं गतिरित्युच्यते । परिधेरारभ्य केन्द्राभिमुखी गतिस्त्वागतिपदेन व्यवह्रियते । तत्र गतिरग्निपदेनागतिश्च सोमपदेन श्रुतिषु परिभाष्यते । एतावेवाग्नीषोमौ जगत उत्पादकावित्युक्तम्—"अग्नीषोमात्मकं जगत्" इत्यादि श्रुतिषु । अग्नीषोमपदवाच्ये गत्यागती प्राणजन्ये एवेति निष्कर्षः ।

सोऽयं प्राणः प्रथमम् ऋषिरूपेण, तदनु पितृरूपेण, अनन्तरञ्च देवासुररूपेण कयाचित् प्रक्रियया गन्धर्वरूपेण च श्रुतिषु व्याख्यायते । शतपथब्राह्मणे हि षष्ठं काण्डमारभ्य पूर्वमृषीणां विवरणं दृश्यते । "प्राणा वा ऋषयः" इति च स्पष्टं श्रूयते । एते एव पञ्चर्षयः पितरः, देवाः, असुराः, गन्धर्वाश्चेति मिलित्वा

सूक्ष्मं जगदित्याख्यायते। तत्रपितृणामुत्पत्तिर्भगवता मनुना श्राद्धप्रकरणे पितृनिरूपणावसरे स्पष्टीकृता—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणामाद्यानां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः॥
ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥

जाबालोपनिषदि च स्पष्टमग्नीषोमयोरेतन्मूलभूतयोर्गत्यागतिक्रिययोश्च स्फुटं वर्णनमुपलभ्यते—

अग्निराख्यायते रौद्री घोरा या तैजसी तनूः।
शक्तिः सोमोऽमृतमयो रसशक्तिकरी तनूः॥
अमृतं यत्प्रतिष्ठा सा तेजोविद्या कला स्वयम्।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसी॥
द्विविधा चेतसो वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका।
तथैव रक्तशक्तिश्च सोमात्मा च जलात्मिका॥

अन्यच्च—

ऊर्ध्वशक्तिमयः सोमः, अधःशक्तिमयोऽनलः।
ताभ्यां सम्पुटितं तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत्॥ इत्यादि।

अत्राग्निरधःशक्तिमय उक्तः, तस्येदं तात्पर्यं यदग्निर्दक्षिणस्यां दिश उत्तरां दिशं गच्छति। उत्तरा दिगेव जगत ऊर्ध्वभागत्वेनाख्यायत इति तन्नाम्नैव स्फुटीभवति। अग्निर्दक्षिणस्यां दिशि स्थितस्तत ऊर्ध्वमुत्तरां गच्छति। सोमश्चोत्तरस्यां स्थितस्ततोऽधो दक्षिणस्यामागच्छति। अत एव सोमस्य स्थूलावस्थारूपा आपोऽपि नदीरूपेणोत्तरस्या एव दिशो दक्षिणस्यामागच्छन्त्यः सर्वैरस्माभिरनुभूयन्ते। उत्तरस्यां दिशि ऊर्ध्वगतोऽग्निरेव परिधिं प्राप्य सोमरूपेण परिणमति। दक्षिणस्यामागतश्च पुनरग्निर्भूत्वोर्ध्वं गच्छतीत्यन्योन्यपरिवर्तनादेकस्यैव तत्त्वस्यावस्थारूपे इमे अग्नीसोमाविति स्फुटं सिद्ध्यति।

इमां जाबालश्रुतिमेवानुसृत्य शक्त्युपासनायां शक्तिः शिवस्य हृदयोपरि स्थिता। तत्र शिवो रुद्रपदवाच्योऽग्निरूपः तदुपर्यागच्छन्ती सोमधारा तु शक्तिरूपेति। अन्यथापि चैतद्व्याख्यातुं शक्यते। पुरुष एव शिवरूपेण स्थितः, स च शक्त्या विना निर्विचेष्ट इति शवरूपेणैव स्थितः। तदुपरि क्रीडन्तीयं शक्तिः स्थितेति। आस्तामियमप्रकृतकथा।

यौ त्वग्नीषोमौ गत्यागतिक्रियारूपौ प्रागुक्तौ, तत्र विशुद्धाः प्राणा अग्निरूपा एव ऋषिपदेनाख्यायन्ते। तत्र तु सोमसम्बन्धे जाते सौम्याः प्राणा उद्भवन्ति।

त एव सौम्याः प्राणाः पितर उच्यन्ते। ऋषीणां प्रथमं स्वयम्भूमण्डल एवोद्गमः, तदनु परमेष्ठिमण्डले सौम्ये सोमसम्बन्धात् पितृणामुद्गमः। अथ तृतीये सूर्यमण्डले देवानां प्रादुर्भाव इत्ययमेव क्रमो भगवता मनुनाऽभिहितः। इमे चाग्नीषोमपदाभ्यामाख्याते गत्यागती सर्वेष्वपि पदार्थेष्वनवरतं प्रवर्तेते। वेदबाह्या अपि जैनबौद्धाद्यास्तत्त्वमेतदभ्युपगच्छन्ति। तथा हि—जैनदर्शने "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति सतो लक्षणमुच्यते। सर्वेष्वपि पदार्थेष्वागतिरूपेण सोमेन नवनवावयवोत्पादः, गतिरूपेणाग्निना च व्ययः, सतोरप्युत्पादव्यययोस्तदेवेदमिति वस्तुनि या प्रत्यभिज्ञा तदाश्रय एव ध्रौव्यम्। तानीमानि उत्पादव्ययध्रौव्याण्येव सत्तापदेनोच्यन्ते, तदाश्रयाश्च सर्वे पदार्थाः सन्त इति व्यवह्रियन्त इति जैनसूत्राशयः। बौद्धाश्चापि अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वमभ्युपगच्छन्ति। प्रत्येकं हि वस्तु यं कमप्यर्थमुत्पादयति यां कां वा क्रियामपि कुर्वद् दृश्यते तदेवार्थक्रियाकारित्वं सत्तापदेन व्यवह्रियते। तादृशसत्तावन्तश्च पदार्थाः सन्त इत्युच्यन्ते। गत्यागतिरूपा क्रिया चेयं प्रतिक्षणं परिवर्तत इति क्षणिकमेव सर्वं जगत् तैर्मन्यते। क्रियैकाद्वयवादग्रहणादेव ते श्रमणा इत्युच्यन्ते।

सोमपदवाच्या आगतिरेवेयं सदार्थान् पाति नवनवानुत्पादयति चेति पितृपदेनाख्यायते। जनक एव च पितृपदेन लोके व्यवह्रियत इति रक्षणस्योत्पादनस्य च सम्बन्धात् सौम्यानां प्राणानां पितृत्वं स्थान एवोच्यते।

त इमे पितरस्त्रिविधाः श्रुतिषु व्याख्यायन्ते। १—दिव्यपितरः, २—ऋतुपितरः, ३—प्रेतपितरश्चेति। तत्र पूर्वोक्तमनुवचनरीत्या ऋषिभ्य उत्पन्ना देवासुराणामुत्पादकाश्च प्राणविशेषा दिव्याः पितरः। त इमे त्रिष्वपि लोकेषु परिव्याप्य तिष्ठन्ति। तदेतद् ऋग्वेदश्रुत्या समाम्नातम्—"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः" (ऋ० अष्ट० ७।६।१७) इति। अवरे परे मध्यमाश्चेति त्रिविधाः पितर आम्नाताः। अत्र सोमसम्बन्धात् त्रीण्यन्तरिक्षाण्येव ग्राह्याणीति बहवो विद्वांसो मन्यन्ते। अस्माकं भूमेः सूर्यमण्डलस्य च मध्ये चन्द्रेणाधिष्ठित प्रथममन्तरिक्षम्। सूर्यमण्डलादुपरिष्टात् परमेष्ठिमण्डलादधस्ताच्च महर्लोकाख्यं द्वितीयमन्तरिक्षम्। सूर्यमण्डलादुत्पन्नायास्त्रिलोक्याः सूर्येण सह लये तत्रैवर्षयस्तिष्ठन्तीति पुराणेष्वभिहितम्। तेभ्य ऋषिभ्य एव सोमसम्बन्धात् पितरो जायन्ते। परमेष्ठिमण्डल उत्पन्नाश्च पितरो महर्लोक एव परिपुष्टा भवन्ति। अथ परमेष्ठिमण्डलादुपरिष्टात् स्वयम्भूमण्डलादधस्ताच्च तपःपदवाच्यं तृतीयमन्तरिक्षम्। तत्रापि चैषां व्याप्तिः पूर्वोक्तश्रुत्या ज्ञायते। ते परे पितर उच्यन्ते। अथर्वश्रुतावपि—

> उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
> तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥
>
> (अथर्व० कां० १८ अ० २ सू० २)

इति त्रीण्यन्तरिक्षाण्येव द्युपदेनोक्तान्यनुसन्धेयानि। एत एव च त्रयो नान्दीमुखाः, पार्वणाः (अश्रुमुखाः), प्रेताश्चोच्यन्ते। नान्दी नाम समृद्धिः। सर्वोपरिष्टाद् विराजमानास्तृतीयलोकस्थाः पितरः समृद्धिशालित्वाद् नान्दीमुखा आख्यायन्ते। मध्यमलोकस्थास्तु तदपेक्षयाऽवरकक्षाका इत्यश्रुमुखा उच्यन्ते। इतः प्रेत्य ये जीवा गच्छन्ति तेऽन्तरिक्षे दिव्यपितृभिः संगता भवन्तीति तत्साहचर्यादवरान्तरिक्षस्था दिव्यपितरोऽपि प्रेता इत्याख्यायन्ते, यद्वा तृतीयस्मिन्नन्तरिक्षे स्थिताः पितर ऊर्ध्वमुखा भवन्तीति नान्दीमुखा उच्यन्ते। मध्यमस्थास्तु जलस्योत्पादनेऽपि कारणीभूता भवन्तीत्यश्रुमुखा उच्यन्ते, अश्रूणां जलरूपत्वात्।

ते चेमे दिव्याः पितरः पुनः प्रत्येकं त्रिविधाः—अन्नरूपाः, अन्नादरूपाः, तटस्थाश्च। ये स्वयं परेषामन्नरूपा भूत्वा परान् पुष्यन्ति तेऽन्नरूपा आख्यायन्ते। ये तु परत्रोपसंक्रान्ता अन्नं भुञ्जते तेऽन्नादरूपाः। ये तु नान्नं भुञ्जते न परैर्भुज्यन्ते ते तटस्थाः। तत्रान्नरूपा अग्निष्वात्ताः, बर्हिषदः सोमसदश्चेति त्रिविधाः। ये अग्निनैवाद्यन्ते "अग्निरेव यान् दहन् स्वदयति ते अग्निष्वात्ताः"। ये च बर्हिषि कठिनद्रव्येऽन्नरूपे तिष्ठन्ति ते बर्हिषदः। ये च तरले द्रव्ये स्थिताः परैरद्यन्ते ते सोमपाः। एवमन्नादा अपि त्रिविधाः—हविर्भुजः, आज्यपाः, सोमपाश्चेति। कठिनं द्रव्यं ये भुञ्जते ते हविर्भुजः। तरलं तु द्रव्यं द्विविधं श्रुतिषु परिभाष्यते। यदग्निसम्बन्धात् प्रज्वलितमग्निरूपतामेव गच्छति तदाज्यमित्युच्यते, यथा घृतं तैलं चेत्यादि। यत्तु नाग्निना प्रज्वलति, किन्त्वग्नौ प्रक्षिप्तमग्निं शमयति तत् सोमपदेनोच्यते। तत्राद्यं ये भुञ्जते, अर्थादात्मसात्कुर्वन्ति त आज्यपाः। तटस्थास्तु सुकालिन उच्यन्त इति सप्तविधा दिव्याः पितरः। पुराणेषु त्वष्टौ पितर आख्यायन्ते—

> कव्यवालोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा।
> अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सोमपाः पितृदेवताः॥

तत्र हविर्भुज एव 'कव्यवाट्' पदेन, सोमसदश्च सोमपदेन, बर्हिषदश्चाग्निसहचरा इति साहचर्यादग्निवाचकेनानलपदेनोक्ताः। यमश्च पितृसहचरत्वेनाग्रे व्याख्यास्यमानः पितृष्वेव परिगणित इति प्रक्रियाभेदमात्रं द्रष्टव्यम्। त्रिषु लोकेषु स्थितानां पितॄणां सहचरास्त्रयो देवा भवन्ति—अग्निर्वायुरादित्यश्चेति। तत्राग्निरष्टविधोऽष्टवसुरूपेण व्याख्यायते। वायुश्चैकादशरुद्ररूपेण। आदित्यो द्वादशरूपेण च श्रुतिष्वाम्नातः। त इमे पितृसहचराः पितृभिरुत्पादिता वा पितॄननुवाभक्ता इति भगवता याज्ञवल्क्येन भगवता मनुना च पितृपदेनैवाख्याताः—

> वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
> प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄनाज्येन तर्पिताः॥

इत्यादिना याज्ञवल्क्यस्मृतौ ।

वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथाऽऽदित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥

अथ पितृसहचरा अपि देवास्त्रिधा भिद्यन्ते—अग्निः सोमः, यमश्चेति । अग्नौ या निरन्तरं सोमाहुतिः पतति तस्या विच्छेदको यम आख्यायते । सोमाहुति-विच्छेदे तत्तत्पदार्थानां मृत्युर्नाम नाशो भवतीति यमो मृत्युरप्याख्यायते । त इमे पितृसहचरास्त्रयो देवाः श्राद्धकर्मण्यादौ हूयन्ते "अग्नये कव्यवाहनाय सोमाय पितृमते स्वाहा यमायाङ्गिरस्वते स्वाहा" इति । तदनु पितरः पूज्यन्ते । विच्छेद-कत्वात् क्वचिच्छाखायां यमो न हूयते । इत्थं दिव्यपितरः संक्षेपेण व्याख्याताः ।

अथ ऋतुपितर आख्यायन्ते । अग्नौ सोमाहुतितारतम्याद् ऋतवो भिद्यन्ते । उत्तरस्यां दिश्यागते सूर्ये ऋतं नाम संवत्सराग्नेर्भाग उत्पद्यते । दक्षिणस्यां तु सूर्यं आगते सोम उत्पद्यते । सोमः पिण्डजनकत्वात् सत्यपदेनाख्यायते । तदेतत् "ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत" इत्यघमर्षणमन्त्रे समाम्नातम् । मासषट्कमग्नेर्वृद्धिः सोमस्य च ह्रासः, तदनन्तरं मासषट्कं सोमस्य वृद्धिः, अग्नेश्च क्रमेण ह्रासः । अग्नेस्तारतम्यादेवर्तूनां नामान्यपि संस्कृतभाषायामाख्यायन्ते । तथा हि—उत्पन्नमात्रोऽग्निर्यदा तेषु तेषु पदार्थेषु वस्तुमारभते तदा 'वसन्त' इति ऋतुनामोच्यते । "वसन्तोऽत्राग्नय" इति ऋतुरपि वसन्तः । यदा च वृद्धिं गतः स सर्वान् पदार्थान् गृह्णाति तदा ग्रीष्म इत्युच्यते, 'ग्रह' धातोरेव परोक्षया वृत्त्या ग्रीष्मशब्दनिष्पत्तेः । अनन्तरञ्चाभिवृद्धिं गतेऽग्नौ 'वर्षा' इत्यृतुनाम, वृद्धिशब्दस्यैव वर्षीयानित्यादौ व्याकरणे वर्षादेशदर्शनाद् । तदिदं षण्मासात्मकमृतुत्रयमग्नेर्वृद्धि-कालः, तदनु सोम उत्पन्ने तत्तारतम्यादग्निर्ह्रसति । यदा ह्रास आरभ्यते तदा शरदित्युच्यते । शीर्णो भवितुमारब्धोऽग्निरिति । यदा च विशेषेण ह्रासस्तदा 'हेमन्त' इत्युच्यते । हीनार्थबोधकाद् 'हि'धातोरेव हेमन्तशब्दनिष्पत्तेः । यदा चात्यन्तं शीर्णस्तदा यङ्लुगन्ताच्छिशिरपदात् तद्व्यवहारः क्रियते ।

न केवलम् ऋतूनाम् , अपि तु मासानामपि नामानि तत्तत्पदार्थोत्पत्तिसम्बन्धे-नैव संस्कृतभाषायां दृश्यन्ते । तथा हि—यस्मिन् मासे पुष्पफलादिषु मधूत्पद्यते स चैत्रो मधुनाम्नाऽऽख्यायते । यदा च मधोर्वृद्धिः स वैशाखो 'माधव' नाम्ना । अग्नेर्वृद्धिदशायां शुक्र इति ज्येष्ठः शुचिरिति चाषाढः । अथ यदा मेघेन प्रावरणात् सूर्यनक्षत्रादयो न दृश्यन्ते तौ श्रावणभाद्रपदौ 'नभ' इति, 'नभस्य' इति चाख्यायेते । यदा च प्राणिषु 'अर्क' नामौजः प्रादुर्भवति तदाऽऽश्विनकार्तिकौ 'इष' इति, 'ऊर्ज' इति च; यदा च तदेवौजो बलरूपेण परिणमति तदा मार्गशीर्ष-पौषमासौ 'सह' इति, 'सहस्य' इति चाख्यायेते । अथ यदा पूर्वोक्त ऋतना-

माग्निराविर्भवति तदा माघ-फाल्गुनौ 'तप' इति, 'तपस्य' इति च। संस्कृताध्येतारः पश्यन्तु संस्कृतभाषाया महत्त्वं यत् तत्र मासर्तुनामश्रवणादेव तन्मासर्तुप्रभृतिषु जातानां पदार्थानां परिचयोऽपि जायत इति।

नाम्नैव ज्ञायन्ते यदेत ऋतवो न कालमात्रस्य संज्ञा अपि तु तत्तत्कालप्रादुर्भूतानामग्नीषोमादीनामिति। ते चैते अग्नीषोमाद्याः सर्वेषां पदार्थानां जनका इति पितर उच्यन्ते। तत एव "ऋतवः पितरः" इति तत्र तत्र श्रुतिषु समाम्नायते। स्मृतिष्वपि च श्राद्धप्रकरणे उक्तम्—"षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात् पितॄनेव च धर्मवित्" इति। तदित्थं द्वितीयपितृरूपा ऋतवः संक्षेपेण व्याख्याताः।

अथ तृतीयविधाः प्रेताः पितर उच्यन्ते। येऽस्माल्लोकाल्लोकान्तरं गतास्ते प्रेताः पितरः। त एतेऽपि श्रुतिषु बहुधा श्रूयन्ते। तथा हि—मुमूर्षुपुरुषविधे उच्चारणीय एको मन्त्रः—

संगच्छस्व पितृभिः संयमेन इष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वा यावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥

अत्र स्पष्टं मृतस्य दिव्यपितृभिः संगमनमाम्नातम्। यत्तु केचन पुत्रो जीवन्तमेव पितरं सम्बोधयतीति मन्त्रमिमं व्याचक्षते तदनुचितमेव, अवद्यं हित्वा इत्युपदेशस्य पुत्रकृतस्य पितरं प्रत्यनुचितत्वात्, अस्तमेहीति कथनस्य नितान्तमयोग्यत्वाच्च। तस्माद् मुमूर्षुविधे एव प्रार्थनापरत्वेन मन्त्रोऽयं युज्यते।

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वान् अनष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥

अत्रापि पृथिव्या अधिष्ठाताग्निर्मृतस्य पितृलोकनयनाय प्रार्थ्यते।

यद्वोऽग्निरजहादेकमङ्गं पितृभ्यो गमयन् जातवेदाः।
तद्व एतत्पुनराप्याययामि साङ्गाः पितरः स्वर्गे मादयध्वम्॥

अत्राग्निना प्रज्वालितस्याङ्गस्य पुनराप्यायनं स्पष्टं श्रुतम्, यदधुनापि दशाहाभ्यन्तरे गात्रनिर्मापकपिण्डप्रधानरूपेण सर्वैरनुष्ठीयते। कियदुदाहरामि। शतशो मन्त्रेष्वेवं मृतानां पितृलोकगतिराम्नायते। "ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इति कौषीतकिब्राह्मणे मृतानां स्पष्टं चन्द्रलोकगतिराम्नाता। चन्द्रलोक एव च पितृलोकपदेनाख्यायत इति, 'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति" इति सिद्धान्तशिरोमण्यादिषु स्पष्टमुक्तत्वात्। छान्दोग्योपनिषत्स्वपि च देवयानपितृयणमार्गौ स्फुटतरं विवृतौ। तत्रापि चन्द्रलोकगतिः पितृयाणमार्गे स्पष्टं श्रूयते। सजातीयाकर्षणसिद्धान्तमनुरुध्य चोपपत्त्यापीदं सिद्ध्यति। सर्वं हि वस्तु स्वसजातीयेन घनेन स्वाभिमुखमाकृष्यत इत्येव सजातीयाकर्षणसिद्धान्तः। स

चाऽयं महाभाष्ये "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्रे स्पष्टं विवृतः। यत्तु केचन पाश्चात्या विद्वांसो वदन्ति यदाकर्षणसिद्धान्तं न कोऽपि जानाति स्मेति तत्तेषां देशे न्यूटने-नैवाविष्कृतो भवतु नाम। अस्माकं तु श्रुतिषु तदनुगामिषु शास्त्रेषु च स्फुटमाकर्षण-सिद्धान्तो विवृतो दृष्यते। ज्योतिर्विदामग्रेसरैः श्रीभास्कराचार्यैश्च सुस्पष्टैरक्षरै-र्भूम्यामाकर्षणमस्तीति प्रतिपादितम्। बौद्धा हि मन्यन्ते स्म यद् भूमिरियं प्रति-क्षणमनेकयोजनानि नीचैः पततीति। वयं स्फुटं पश्यामो यदस्माभिरुत्क्षिप्तो मृत्पिण्ड एकोऽस्माभिर्यावती शक्तिस्तत्र निहिता तस्याऽपगमे नीचैः पततीति तयैतावद्भारवती पृथिवी कथं निरालम्बा तिष्ठेदिति। यत्तु शेषकूर्मवराहादिकान् अवलम्बान् कल्पयन्ति तत्तु तैर्न मन्यते। अस्माकमपि च पुराणादिषु वैज्ञानिक-रीत्याऽभिप्रायान्तरमेव तस्य वर्णनस्य व्याख्यायते। भवतु नामैतस्य बौद्धसिद्धान्तस्य खण्डनाय प्रवृत्तः श्रीभास्कराचार्य इदमुक्तवान्—

> आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत्
> खस्थं गुरुस्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
> आकृष्यते तत् पततीव भाति
> समे समन्तात् क्व पतेदियं खे॥

अस्यायमभिप्रायो यत् पतनं नाम कस्यचिद्वस्तुनो न स्वाभाविको धर्मः, अपि त्वाकर्षणपरिणतिभूत एव। अस्माभिः प्रहितं मृत्पिण्डादिकं भूमिरेव स्वाभिमुखमा-कर्षति, तत्फलभूतमेव तस्य पतनं दृश्यते। भूमेस्त्वाकर्षकं किमपि पिण्डान्तरं नास्ति, अपि त्वियमभितस्समे आकाशमण्डले स्थिता। आकाशे चाकर्षणशक्ति-र्नास्तीति क्वेयं पततु। अत्र स्फुटैरक्षरैर्भूम्याकर्षणसिद्धान्तो न्यूटनाद् बहुपूर्वजेन भास्कराचार्येण विवृतः। महाभाष्यकृता च सजातीयाकर्षणसिद्धान्तो विवृत इति पूर्वमुक्तमेव।

वेदेषु पितरः

आस्तामियमप्रकृतकथा। अनेन सजातीयाकर्षणसिद्धान्तेनापि इतः प्रस्थितस्य जीवस्य चन्द्रलोकगमनमेव सिद्ध्यति। मृतस्य सूक्ष्मं शरीरं स्थूलशरीरं विहाय निष्क्राम्यति। तत्र च मन एव प्रधानं भवति, मनश्चेदं चन्द्रमण्डलस्यैवांश इति श्रुतिस्मृत्यादिषु स्फुटीकृतम्। ततश्च चन्द्रमण्डलांशस्य मनसश्चन्द्राभिमुखी गतिः स्फुटं प्रसिद्ध्यत्येव। यैस्तु तपोब्रह्मचर्यादिना स्वस्य प्राणशक्तिः प्रवर्द्धिता ते चन्द्रमसं न गच्छन्ति, अपि तु जगतां प्राणभूतस्य सूर्यस्याकर्षणात् सूर्यमण्डल-मेव यान्तीत्यपि छान्दोग्योपनिषत्सु स्पष्टमाख्यातम्। येषाञ्च धनभूम्यादि-वासनावशीकृतानां भूम्यामेव विशेषेण सम्बन्धस्तेऽत्रैव पुनः पुनर्जायन्ते म्रियन्ते

चेति "जायस्व म्रियस्व" इत्येतत् तृतीयस्थानमिति छान्दोग्ये समाम्नातम्। एषाञ्च त्रिविधानामपि श्राद्धेन तृप्तिः स्मृतिषु स्फुटमुक्ता—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥ इत्यादिना।

एते च मृता जीवा द्वादशभिर्मासैश्चन्द्रलोकं प्राप्नुवन्तीति तावत् प्रतिमासं श्राद्धानि क्रियन्ते। दिव्यपितृभिः सङ्गतानां तु वर्षान्ते सपिण्डनं क्रियते। तदनु प्रत्यब्दं श्राद्धम्। श्राद्धे च या प्रक्रिया सा सर्वाऽपि वैज्ञानिकरीत्या व्याख्यातुं शक्यते। ये च भेदा नान्दीमुखाश्रुमुखादयस्ते मृतपितॄणामपि स्मृतिपुराणादिषु प्रतिपादिताः—

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
त्रयोऽप्यश्रुमुखा ह्येते पितरः परिकीर्तिताः ॥
तेभ्यः पूर्वतरा ये च प्रज्ञावन्तः सुखोचिताः।
ते तु नान्दीमुखा नान्दीसमृद्धिरिति कथ्यते ॥ इत्यादिना।
(ब्रह्मपुराणे)

एवं ये सोमपानं कृतवन्तस्ते सोमपा इत्याद्यपि च तत्र तत्र विवृतम्।

पुराणखण्डः

(अस्मिन् खण्डे—

१. पुराणेषु विकासवादः

२. कूर्मपुराणविषयाणां समालोचनम्

३. मुद्गलपुराणविषयसमालोचनम्

४. वेदेषु पुराणमहत्त्वम्

५. पुराणलक्षणानि

एते पञ्चलेखाः संगृहीताः

—संपादकः)



पुराणेषु विकासवादः

विदितमेवैतत्प्रायेण सर्वेषामपि समयविदां विदुषां यत्पाश्चात्या विद्वांसो विकासवादमाददते। सर्वेषामपि प्राणिनामप्राणिनां वा क्रमेणोन्नतिरिति तन्मतम्। तेन खलु वर्षशतात्पूर्वमासीद्यादृशं जगत्, तदपेक्षयाद्य वर्तते बहुतरमुन्नतम्। अद्य च यादृशं तदपेक्षयेदं भाविनि समयान्तरे भविष्यत्युन्नतमेव, सेयं क्रमिकोन्नतिधारेति फलति। वयन्तु (भारतीयाः) तद्विपरीतवादिन इवेति प्रसिद्धिः। अस्त्ययं संस्कार आबालवृद्धमस्मद्देशे, यज्जडचेतनोभयात्मकपीदं जगद्यथाऽभवद्वर्षशतात्पूर्वम्, तदपेक्षयाद्यावनतम्। न वृक्षास्तादृशाः, न वा तथा प्रसवित्री सस्यानां विश्वम्भरा। न वान्नादिष्वेव तादृशी शक्तिः, का तु कथा मनुष्याणाम्, ते खलु नक्तंदिवमायुषा वीर्येण धर्मेण बुद्ध्या समृद्ध्या वा ह्रसन्त्येव। सोऽयमास्माकीनो ह्रासवादः। फलमपि किलानुभूयते स्वस्ववादानुकूलमेव, ते खलु प्रत्यहमुन्नमन्त्येव, वयन्तु प्रत्यहं वा प्रतिक्षणमवनतिमेवाश्लिष्यामः। आस्तामिदम्, कस्त्वस्माकं शास्त्रकाराणामस्मिन् विषयेऽभिप्रायः, को वा वादस्तथ्यकोटिं स्पृशतीति संक्षेपतोऽत्र निदर्शयितुमिच्छामः।

क्रमिकोन्नतिवादापरपर्यायोऽयं विकासवादः प्राणिविषये संक्षेपतः खलु द्वेधा विभज्य द्रष्टव्यः—जगति प्राणिनामुत्पत्तिविषये च, मनुष्याणां सामाजिकव्यवस्थाविषये च। पूर्वत्र तावदेषु विकासवादसिद्धान्तः, न खलु भूम्यां परिदृश्यमाना इमे सर्वेऽपि प्राणिनो युगपदेवोदपद्यन्त, अपि तु क्रमेणैषामुत्पत्तिः। सा चाप्युत्तरोत्तरमुन्नतैव, तथा च पूर्वं तिरश्चां तत्रापि प्रथममनेकेन्द्रियाणां ततो द्वीन्द्रियाणामनन्तरं त्रिचतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां च तदनु क्रमेण समनस्कानां मनुष्याणामुत्पत्तिरिति तत्सिद्धान्तः [१]फलति। सोऽयं सिद्धान्तः कथंचित् पौराणिकं सृष्टिक्रममनुसरतीव। तथा हि—सर्वेष्वपि पुराणेषु नवविधसृष्टिप्रतिपादनावसरे पूर्वं वृक्षाणां तदनु तिरश्चां ततो देवानां मनुष्याणां सृष्टिरभिहिता। यथा विष्णुपुराणे (१ अंश ५ अध्याय)।

सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा।
अबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुर्भूतस्तमोमयः॥ ४॥
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥ ५॥

---

१. वानरा एव पुच्छघर्षणेन मनुष्यतया परिणता इति डार्विन्-मतमप्येतत्सिद्धान्तमनुसृत्यैव प्रवृत्तम्।

पञ्चधावस्थितः सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान् ।
[१]बहिरन्तोऽप्रकाशश्च संवृतात्मा [२]नगात्मकः ॥ ६ ॥
मुख्या नगा यतः प्रोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम् ।
तं दृष्ट्वाऽसाधकं[३] सर्गममन्यदपरं पुनः ॥ ७ ॥

तस्याभिध्यायतः सर्गस्तिर्यक्स्रोतोऽभ्यवर्तत ।
यस्मात्तिर्यक् प्रवृत्तिः स तिर्यक्स्रोतास्ततः स्मृतः ॥ ८ ॥
पश्वादयस्ते विख्यातास्तमःप्राया ह्यवेदिनः ।
उत्पथग्राहिणश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः ॥ ९ ॥
अहंकृता अहंमाना अष्टाविंशद्वधात्मकाः[४] ।
[५]अन्तःप्रकाशास्ते सर्वे आवृताश्च[६] परस्परम् ॥ १० ॥
तमप्यसाधकं मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततोऽभवत् ।
ऊर्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु सात्त्विकोद्‌र्ध्वमवर्तत ॥ ११ ॥
ते सुखप्रीतिबहुला बहिरन्तश्च नावृताः ।
प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्ध्वस्रोतोद्भवाः स्मृताः ॥ १२ ॥
तुष्टात्मानस्तृतीयस्तु देवसर्गस्तु स स्मृतः ।
तस्मिन् सर्गेऽभवत्प्रीतिर्निष्पन्ने ब्रह्मणस्तदा ॥ १३ ॥
ततोऽन्यं स तदा दध्यौ साधकं सर्गमुत्तमम् ।
[७]असाधकांस्तु तान् ज्ञात्वा मुख्यसर्गादिसम्भवान् ॥ १४ ॥
तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः ।
प्रादुर्बभूव चाव्यक्तादर्वाक्स्रोतास्तु साधकः ॥ १५ ॥
यस्मादर्वाग्व्यवर्तन्त ततोऽर्वाक्स्रोतसस्तु ते ।
ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्रिक्ता रजोऽधिकाः ॥ १६ ॥
तस्मात्ते दुःखबहुला भूयो भूयश्च कारिणः ।
प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः [८]साधकास्तु ते ॥ १७ ॥

तदत्र सृष्टिक्रमे संक्षेपतो विकासवादसिद्धान्त एव प्रख्यापितः—इति स्फुटमेव समीक्षादक्षाणाम् । इयांस्तु विशेषः, नास्माकमयं विकासवादोऽन्येषां (युरोपी-

१. बहिः शब्दादिषु, अन्तः सुखादिषु च प्रकृष्टज्ञानरहितः । २. वृक्षरूपः । ३. संसाराप्रवर्त्तकम् । ४. ज्ञान-तुष्टि-विपर्ययात्मका एते वधाः सांख्यदर्शने प्रसिद्धाः । ५. सुखदुःखाद्यनुभववन्तः । ६. पितृ-पुत्रादिसम्बन्धज्ञानशून्याः । ७. केवलं भोगप्रसक्ता इति कर्मणामनारम्भेण संसारस्याप्रवर्तका. देवा अपि । ८. कर्मस्वधिकृताः संसारप्रवर्तकाः ।

यादीनां) विकासवाद इव निरीश्वरवादः, क्रमिके विकासेऽप्यत्र तत्तच्छक्त्याविर्भावस्य कारणसामग्र्याः संनिधापयिता कश्चिदीश्वरपदवाच्योऽभ्युपगम्यत एव। किं वा सन्निधापयिता, ईश्वर एव तत्तच्छक्त्यावेशेन भिन्नाभिन्नैः स्वरूपैरवभासते—इति।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'
'तमेकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'

इत्यादि पदे पदे समुद्घोषयतामार्याणां स्फुटोऽभिमानः। तत एवात्र ईश्वरस्यैव क्रमेण सर्वविधप्राणिजनकत्वमाख्यातम्। निखिलसिद्धितुष्टिविशिष्टानां देवानां सर्गो यद्यपि विकासवादे मानुषसर्गादनन्तरं प्रतिपादयितुमुचितस्तथापि कर्मभिः सर्गप्रवर्तकत्वमत्र सृष्टिप्रकरणे मुख्यं विवक्षितम्। सा च यज्ञादिकर्मणां शक्तिरुत्तरोत्तरं सर्गप्रतननशक्तिश्च मानुषेष्वेव मुख्यतया प्रादुर्भवतीति त एव सर्वानन्तरजाताः सर्वेभ्यो मुख्यतया विवक्षिता इहाख्याताः। क्वचित्तु ज्ञानोन्नतिक्रमविवक्षया देवानां मुख्यत्वमाख्यायते। सृष्टिविषयोऽयमतिगभीरार्थगर्भितः।[१]

सोऽयं द्वितीयो विकासवादस्य सिद्धान्तः—यद् न मनुष्यजातिरुत्पत्तिदशायामेव सर्वशक्तिविशिष्टा सर्वकार्यकुशला वाऽभूत् उत्पन्नमात्रेयमासीत्पशुप्राया। पशव इवादिमा मनुष्या अपि वन्यैः फलादिभिराहारं वर्तयन्ति स्म, अरण्ये वृक्षाणामधो गिरिगुहादिषु च वसतिमाश्रयन्ति स्म। पूर्वमिमेऽभवन्नग्नाः, तदुत्तरं तु वल्कलधारकाः। विद्यायाः सभ्यतायाः वा नासीत्कथापि। अथ क्रमेणोन्नतमस्या जातेर्ज्ञानम्। कृषिपद्धतिः, गृहग्रामनगरादिनिर्माणं, वस्त्रादिविरचनं, शस्त्रादिधारणं च क्रमेणैव बुद्धौ मनुष्याणामुपारूढम्। सर्वाऽपि विद्या क्रमेणैव विकासमलभत, लभते, लप्स्यते च। तेनाद्यावधि अनाविष्कृता अपि बह्व्यः कलाः काले प्रादुर्भवेयुरेव। अद्यपर्यन्तमनुशीलिता अपि बह्व्यः शक्तयः क्रमेणानुशीलनं प्राप्नुयुः। अननुशीलितास्तु काश्चन शक्तयो विनाशमप्युपगच्छन्ति, तेन संभाव्यते कस्मिंश्चिद्विषयेऽवनतिरपीत्यादि। सोऽयं सिद्धान्तः कस्मिंश्चिदंशे प्रकारभेदेन पुराणेष्वपि

---

१. केचित्तु मत्स्य—कूर्म—वराह—नृसिंह—वामन—परशुराम—राम-कृष्ण—बुध—कल्कीति दशावतारक्रमेणापि पूर्वं जलचरा जीवाः, ततो जल—स्थलोभयचराः, ततोऽरण्यचराः, ततोऽर्धग्राम्याः, ततो लघवः पुरुषाः, ततः केवलबलशालिनः, ततश्च राज्यादिप्रबन्धकुशला बलवन्तः, ततश्च राजनीतौ ज्ञाने बले च सर्वत्र मानुष्यस्य पूर्णतामुपगताः, ततोऽनन्तरं विरक्ताः, ततश्च समाजोद्धारकाः पुरुषा उत्पद्यन्त इत्येवं विकासवादं स्फोरयन्ति न तु तदतीव मनोरममिति विस्तरभिया समुपेक्षितप्रायम्।

स्फुटं निबद्धः। तथा हि—मार्कण्डेयपुराणे सृष्टिप्रकरणे (४५–४६ अध्याययोः) नवविधभूतसर्गादिविवरणानन्तरं मानुषसर्गविस्तरे प्रकृते ब्रह्मणो ब्राह्मणादीनां बहुविधानां मनुष्याणामुत्पत्तिमभिधाय तदनन्तरं स्त्रीष्वार्तवप्रवृत्त्या स्त्रीपुंससंयोगादायुषोऽन्ते सन्तानप्रवृत्तिरित्युपवर्ण्य तस्मिन् काले प्रजानां का स्थितिरित्युपनिबद्धुमारब्धम्। (विस्तरभिया सर्वान् श्लोकाननुपन्यस्य तदाशय एवानूद्यते।

कृतयुगे तासां प्रजानां ध्यानेनैव शब्दाद्या इन्द्रियविषया उपनमन्ति स्म। ते जनाः सरित्सरःसमुद्रपर्वतानुपसेवन्ते स्म, शीतोष्णभयमल्पमभूत्। इच्छा–द्वेष, सुख–दुःख, प्रियाप्रियादिद्वन्द्वरहिता अमत्सरास्ते स्वाभाविकीं तृप्तिमधिगच्छन्ति[1] स्म। अनिकेताः–गृहादिरहिताः पर्वतसमुद्रादिषु तत्र तत्र विचेरुः। पिशाचोरगरक्षःपशुपक्षिसरीसृपनक्रमत्स्याद्यास्तस्कराद्याश्च तेभ्यो भयं न प्रायच्छन्। ऋतुजन्यानि मूलफलपुष्पाणि तदा न बभूवुः। सर्वदैव नात्युष्णशीतः सुखः कालोऽभूत्। कालपरिवर्तन नित्यतृप्तानां तेषां पूर्वाह्णे मध्याह्ने च वितृप्तता आविर्भवति स्म, परमिच्छतामेवानायासेन तृप्तिरुदभूत्।

'इच्छतां च तथायासो मनसः समजायत।
अपां सौक्ष्म्ये ततस्तासां सिद्धिर्नाम्ना रसोल्लसा॥ २०॥
[2]समजायत चैवान्याः सर्वकामप्रदायिनी।
असंस्कार्यैः शरीरैश्च प्रजास्ताः स्थिरयौवनाः॥ २१॥

---

१. 'पृथ्वी रसवती नाम आहारं व्याहरन्ति च'
इति तु ब्रह्माण्डपुराणे। (७ अ. ४२ श्लो)
'तुल्यमायुः सुखं रूपम्' 'धर्माधर्मौ तदा न स्तः'
समूलफलपुष्पाणि वर्तनाय त्वशेषतः'
'उत्तिष्ठन्ति पृथिव्यां वै तेषां ध्याने रसातलात्।
बलवर्णकरी तेषां जरारोगप्रणाशिनी'
'असंस्कार्यैः शरीरैस्तु प्रजास्ताः स्थिरयौवनाः'
इत्याद्यपि तत्र।

२. ब्रह्माण्डे–'कल्पादौ मानसी ह्येका सिद्धिर्भवति सा कृते'
'तस्यां सिद्धौ प्रणष्टायामन्या सिद्धिरजायत।
अपां सौक्ष्म्ये प्रतिगते तदा मेघात्मना तु वै।
मेघेभ्यः स्तनयित्नुभ्यः प्रवृत्तं वृष्टिसर्जनम्।
सकृदेव तया वृष्ट्या संसिद्धे पृथिवीतले।
प्रजा आसंस्ततस्तासां वृक्षाश्च गृहसंज्ञिताः' इत्यादि।

तासां विना तु संकल्पं जायन्ते मिथुनाः प्रजाः ।
समं जन्म च रूपं च म्रियन्ते चैव ताः समम् ॥ २२ ॥
अनिच्छाद्वेषसंयुक्ता वर्तन्ते तु परस्परम् ।
तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमतां विना ॥ २३ ॥
क्वचित्क्वचित्पुनः साभूत् क्षितिर्भाग्येन सर्वशः ।

अथ क्रमेण कालपर्ययात्तासां सिद्धीनां नाशे आकाशात्प्रच्युता रसाः (पयसः) कल्पवृक्षा भूत्वा तद्गृहस्थिता अभूवन् । त्रेतायुगमुखे च तेभ्य एव वृक्षेभ्यस्तासां प्रजानां सर्वविधाः प्रत्युपयोगाः (आहार–परिधान–शीतोष्णनिवारणाद्याः) समाजायन्त । ते वृक्षा एव तज्जीवनान्यभूवन् । सर्वेषां साधारण्येन भोग्यास्त वृक्षा आसन् । कालपर्ययेण तु तेषां जनानां मनसि राग उद्बभूव । स्त्रीषु च मासि मास्यार्त्तवं भूयो भूयश्च गर्भोत्पत्तिः प्रवृत्ता, तदैव ते वृक्षा विलयं गताः ।

अथापरे चतुःशाखा वृक्षाः पृथिव्यां प्रादुरभूवन्—

वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च ॥ ३० ॥
तेष्वेव जायते तेषां गन्धवर्णरसान्वितम् ।
अमाक्षिकं महावीर्यं पुटके पुटके मधु ॥ ३१ ॥
तेन ता वर्तयन्ति स्म मुखे त्रेतायुगस्य वै ।

एवं साधारण्येन वृक्षैर्वर्तयतां तेषां मनसि रागो लोभात्मना परिणतः, ततश्च ममेदं ममेदमिति वृक्षान् परिगृहीतवन्तः स्वत्वमभिमन्यन्ते स्म । तेनापचारेण तेऽपि वृक्षा [1]नष्टप्रायाः । ततश्च शीतोष्णक्षुत्पिपासादीनि द्वन्द्वानि प्रजाः पीडयामासुः । ततो द्वन्द्वोपघाताय पुराणि तैः क्रियन्ते स्म ।

मरुधन्वसु दुर्गेषु पर्वतेषु दरीषु च ।
संश्रयन्ति च दुर्गाणि वार्क्षं पार्वतमौदकम् ॥
कृत्रिमं च तथा दुर्गं मित्वा मित्वात्मनोऽङ्गुलैः ।
मानार्थानि प्रमाणानि तास्तु पूर्वं प्रचक्रिरे ॥ ३६ ॥

अत्र वितस्ति–हस्तानीनि भूम्यादिमानानि सर्वाण्याख्यातानि, पुराणां च पुर–खेटक–द्रोणीमुखशाखानगरखर्वटकग्रामघोषादिभेदास्तत्प्रमाणानि लक्षणानि च विस्तरेणाभिहितानि । एवं ताः प्रजाः पुरग्रामादि कृत्वा अथ शीतोष्णादिशान्तये गृहाणि निर्ममुः । पूर्वं हि ता वृक्षाश्रया आसन्, तत्र

---

१. प्रणष्टा प्रभुणा सार्द्धं कल्पवृक्षाः क्वचित् क्वचित् । इति ब्रह्माण्डादिषु ।

वृक्षशाखापर्वतदरीणां यादृशा आकारा हृदयंगमा बभूवुस्तत्सादृश्येनैव गृहाणि विरचयितुमारब्धानि । जायन्ते किलाद्यापि बहुत्र वृक्षाणां गृहकाराः प्राकृताः संनिवेशाः, पर्वतदरीषु तु स्फुटमेव भवति बहुत्र प्रासादादिसाम्यम् ।

वृक्षस्यैवं गता शाखास्तथैवं चापरा गताः ।
नताश्चैवोन्नताश्चैव तद्वच्छाखाः प्रचक्रिरे ॥ ५३ ॥

याः शाखाः कल्पवृक्षाणां पूर्वमासन् द्विजोत्तम ।
ता एव शाखा गेहानां शालात्वं तेन तासु तत् ॥ ४४ ॥

(शालासादृश्याद् गृहभागा अपि शालेत्याख्याता इति भावः)। एवं द्वन्द्वोपघातं (शीतोष्णादिनिवारणं) कृत्वा ततस्ते जना वृक्षमधूनां नष्टत्वाद् वार्तोपायं (जीवननिर्वाहयत्नं) चिन्तयामासुः । तेषु क्षुत्तृडाद्यर्दितेषु विषाद-व्याकुलेषु (त्रेतायुगमुखे) वृष्टिरुदभूत् । वृष्टेरुदकानि च यानि निम्नगतानि तान्यवरोधात् स्रोतःखातादिरूपाणि परिणतानि, नद्यश्च प्रवृत्ताः, ततो भूमेरपां च संयोगादफालकृष्टा ग्राम्यारण्याश्चतुर्दशौषधयः प्रादुर्भूताः ।

ऋतुपुष्पफलाश्चैव वृक्षा गुल्माश्च जज्ञिरे ।
प्रादुर्भावस्तु त्रेतायामाद्योऽयमौषधस्य तु ॥ ६० ॥

तेनौषधेन वर्तन्ते प्रजास्त्रेतायुगे मुने ।

अथ रागलोभाभिभूतैर्जनैर्नदीक्षेत्रपर्वतादीनां वृक्षगुल्मौषधादीनां च ममत्वेन परिग्रह आरब्धः, तेनापचारेण भूमिस्तान्यौषधान्यप्यग्रसत् । नष्टास्वोषधीषु विभ्रान्ता क्षुधाकुलाः प्रजा ब्रह्माणं शरणं प्रापुः । स च तासां पीडानिवारणाय सुमेरुं वत्सं कृत्वा वसुधां दुदोह, तदा सस्यान्युत्पन्नानि ।

जज्ञिरे तानि बीजानि ग्राम्यारण्यास्तु ताः पुनः ॥ ६६ ॥

औषध्यः फलपाकान्ता गणाः सप्तदश स्मृताः ।
व्रीहयश्च यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिलाः ॥ ६७ ॥

प्रियङ्गवः कोविदाराः कोरदूषाः सतीनकाः ।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः सकुलत्थकाः ॥ ६८ ॥

आढक्यश्चणकाश्चैव शणाः सप्तदश स्मृताः ।

अग्रे आरण्या यज्ञियाश्चौषधस्य आख्याताः, यदा ताः पुनर्न प्रारोहन्त तदा ब्रह्मा कर्मजां हस्तसिद्धिमाविरभावयत् । ततः प्रभृति कृतपच्या औषधयो जज्ञिरे । एवं वार्तायां सिद्धायां चातुर्वर्ण्यमर्यादा स्थापिताऽभूत् । धर्मानुवर्तिनां तत्तद्वर्णानामाश्रमाणां च ऐन्द्रमारुतप्राजापत्यादीनि स्थानानि ब्रह्मणा नियमितानि ।

[१]ततो दण्डनिर्माणं राजप्रजाव्यवस्था च प्रावर्तत। सरीसृपादिभ्यो भयं चापि प्रजासु प्रवृत्तम्। इत्येवमेषा युगाख्यायिका मार्कण्डेयेनाभिहिता। वायुप्रोक्ते ब्रह्माण्डपुराणे द्वितीयेऽनुषङ्गपादे सप्तमाध्याये चाप्येतत्प्रायेणैवमेवोक्तम्। वायुपुराणे चादितोऽष्टमेऽध्याय इत्थमेव सर्वमभिहितम्। अग्रे वायवीयेऽष्टपञ्चाशेऽध्यायेऽपि विस्तरेण युगाख्यानमित्थं प्रायमेव। त्रेतायां त्रयीविद्यालाभः यज्ञादिकर्मप्रवृत्तिश्च बहुधा तत्र तत्राभिहिता। अथास्य विस्तृतमभिप्रायं तत्र स्वाभिप्रायमाधुनिकाद्विकासवादादत्र विशेषं च समयान्तरे पाठकेभ्य उपहरिष्यामः।

---

१. वर्णधर्मैश्च जीवन्त्यो व्यरुद्ध्यन्त परस्परम्।
ब्रह्मा बुद्ध्वा तु तत्सर्वं याथातथ्येन स प्रभुः।
क्षत्रियाणां बलं दण्डं युद्धमाजीव्यमादिशत्, इत्यादि ब्रह्माण्डे वायौ च।

कूर्मपुराणविषयाणां समालोचनम्

कूर्मपुराणस्य पूर्वार्धस्यारम्भे रोमहर्षणसूतस्य नैमिषक्षेत्रे शौनकादीनां समीपे गमनं, शौनकादीनां च पुराणकथाविषयकः प्रश्नः, ततः सूतस्य कूर्मरूपधरं हरिं प्रणम्य अष्टादशानां पुराणानां नामधेयकथनम्। एषु नामसु भागवतानन्तरं पूर्वं भविष्यमेवोक्तं, तदनन्तरं नारदादीनां क्रमस्तु सुव्यवस्थित एव, चतुर्थे च स्थाने शैवं पुराणमेव गणितमित्येव विशेषः। अत्र च पुराणानामनन्तरम् अष्टादशाना-मुपपुराणानामपि नामधेयानि सन्तीति विशेषः। तदनु कथाप्रसङ्गारम्भे पूर्वं समुद्र-मन्थनप्रसङ्गः, मन्दराख्यस्य पर्वतस्य स्वपीठे धारणार्थं भगवता विष्णुना कूर्मरूपं धृतं स च सर्वैर्देवैर्ऋषिभिश्च स्तुत इति वर्णनम्। ततश्च यदा समुद्राद् भगवती श्रीराविर्भूता, भगवता विष्णुना च सा गृहीता, तदा सर्वैर्देवैर्ऋषिभिश्च 'भगवन् केयं देवी?' इति पृष्टः कूर्मरूपधरो भगवान् विष्णुरिदमाह—'इयं मे परमा शक्तिर्मायाख्या मद्रूपैव, अनयैव जगद् धार्यते। इयञ्च जगन्मोहयति। अनयैवाहं जगत उत्पत्तिं प्रलयं च करोमि। इयञ्च सर्वजगत्सूतिः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिर्मत्तः प्रागेव संजाता। देवपितृमनुष्याद्या एतां न विदन्ति' इति।

अस्यायमेवाशयः, यद् शक्तिः शक्तिमांश्च अभिन्नावेव भवतः। यथाऽग्नेर्दाह-कत्वशक्तिर्नाग्नेर्भिन्ना भवति तथैव सर्वत्र बोद्धव्यम्। वेदान्तिनश्चैतां मायाशक्तिं भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्यां वदन्ति। अनिर्वाच्येन च पदार्थेन न द्वैतं भवति, इत्यद्वैत-मेव ते मन्यन्ते। अतएव अभिन्नत्वमेवानुसंधाय मत्तः पूर्वमियं जातेति भगवतो-क्तम्। शक्तिशक्तिमतोः पौर्वापर्यं नास्तीत्येवात्राभिप्रायः। अथवा आगमशास्त्रे शाक्ताः पूर्वं शक्तिमेव वदन्ति। सा शक्तिरेव स्वाश्रयं स्वभर्त्तारं कल्पयति।

अनन्तरञ्च विस्तरं पृष्टेन भगवता कूर्मेण इन्द्रद्युम्नकथा वर्णिता। इन्द्रद्युम्नो हि भगवन्तमाराधयाञ्चक्रे। तस्य सम्मुखे श्रीः प्रादुर्बभूव तेन पृष्टा च स्वतत्त्वं बोधयामास। पुनश्च केनोपायेन भगवान् ज्ञातुं शक्य इति पृष्टा, भगवन्तमेवा-राधयेत्युक्तवती। तेनाराधितश्च भगवानपि दर्शनं ददौ, कल्याणोपायान् पृष्टश्च वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण भगवान्महेश्वरः समाराध्यः, तेन कल्याणं प्राप्यते इत्याद्युक्तवान्। तथाकुर्वंश्चेन्द्रद्युम्नः कल्याणं प्राप्तः।

अनन्तरं ऋषिदेवादिभिः पृष्टेन भगवता कूर्मेण पूर्वमाश्रमाचारा विवृताः। इहैव च भगवता कूर्मेण सृष्टिं विवृण्वता प्रसादाद् ब्रह्मण उत्पत्तिः कथिता, ब्रह्मणा च श्रियं दृष्ट्वा 'अनया जगन्मोहय' तत एव मया सृष्टिः कर्तुं शक्येत इति प्रार्थितो देवीं श्रियं जगन्मोहयेति कथयामास। ये तु नारायणस्य महेश्वरस्य च

भक्तिपरायणा वर्णाश्रमाचाररताश्च तान्नमोहयेत्याद्यप्युक्तम्। अनन्तरञ्च वर्णधर्मा भगवता कूर्मेणोपदिष्टाः। तदनु सृष्टिविषयं ब्रूहीति पृष्टेन सृष्टिरुक्ता तत्र चतुर्व्यूहो महेश्वरः सर्वनियन्ता सर्वतोमुखः सनातनोऽस्ति तत्प्रेरितञ्च त्रिगुणमव्यक्तं सृष्टिं करोतीत्यादिविवरणम्। तत्र च प्रथमं ब्रह्मा समवर्तत तस्य ब्रह्मणो दिनमेव सृष्टिः, रात्रिश्च प्रलयः। अयं नैमित्तिकः प्रलयः।

अत्रायमाशयः, ये प्राणिनो यावत्सूर्यं पश्यन्ति तावत्तेषां दिनं, यावच्च सूर्यो यैर्न दृश्यते तावत्येव तेषां रात्रिरिति सम्प्रदायः। अस्मासु मनुष्येषु तु स्पष्टमेवैतन्न विवरणापेक्षम्। पितरश्च विधूर्ध्वभागे स्थिताः कृष्णाष्टमीमारभ्य शुक्लाष्टमीपर्यन्तं सूर्यं पश्यन्ति। अमावास्यायां सूर्यश्चन्द्रश्च सहैवोदयमस्तञ्च प्रयात इति चन्द्रस्यापरभागगतानां शिरस्येव सूर्य इति अमावास्या तेषां मध्याह्नकालो भवति। अस्मदभिमुखस्तु चन्द्रभागस्तस्मिन् दिने न प्रकाशते इत्यस्माभिश्चन्द्रोऽमायां न दृश्यते। भवतु नाम एवं रीत्या पञ्चदशदिनानि पितॄणां सूर्यदर्शनं शुक्लाष्टमीमारभ्य कृष्णाष्टमीपर्यन्तन्तु तेषां सूर्यस्यादर्शनमिति रात्रिः। पूर्णिमायां यदास्मदभिमुखो भागश्चन्द्रस्य पूर्णः प्रकाशते तदोर्ध्वभागस्थितानां न प्रकाशलेशसम्बन्ध इति पूर्णिमा तेषां मध्यरात्रकालः। एवं रीत्याऽस्माकं मासेन पितॄणामेकमहोरात्रं भवति। अनयैव रीत्या ये देवाः सुमेरुपर्वते ध्रुवस्याधस्तान्निवसन्ति तैरुत्तरगोलस्थितः सूर्यो निरीक्ष्यते, दक्षिणगोलस्थस्तु न निरीक्ष्यते। स्वस्य-स्वस्तिकान्नवत्यंशपरिमितमेव द्युमण्डलं सर्वैर्दृश्यत इति ध्रुवाच्च नवत्यंशा विषुवद्वृत्तपर्यन्तमेव पूर्णा भवन्तीति। सूर्यो हि भगवान् मासषट्कं विषुवतो दक्षिणे, मासषट्कञ्च विषुवत उत्तरे परिभ्राम्यति। ततश्च मासषट्कपर्यन्तं सूर्यस्यानवरतं दर्शनान्मासषट्कमितन्देवानां दिनम्। मासषट्कमिता च सूर्यस्यादर्शनाद्रात्रिरित्यस्माकं संवत्सर एव देवानामहोरात्रम्। अनयैव रीत्या ब्रह्मणा यावत्सूर्यो दृश्यते तावत्तस्य दिनम्, अदर्शने च रात्रिरिति फलति। ब्रह्मणश्च क्वावस्थितिरिति विचारे भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इति प्रत्यहं जप्यमानव्याहृत्यर्थभूताः ये सप्त लोका अधऊर्ध्वभावेन सन्ति सन्निविष्टाः, तेषां सर्वेषामुपरि योऽयं सत्यलोकः स्वयंभूलोकापरपर्यायश्श्रुतः स एव ब्रह्मणः स्थानमिति पुराणप्रसिद्धिः। स च सर्वेषामुपरि व्याप्त इति तत्कुक्षावेव सर्वे लोकाः स्थिताः। तृतीये लोके स्वरित्याख्ये च स्थितः सूर्यो न कदापि कुत्राप्यवस्थितो ब्रह्मणोऽदृश्यो भवति। स खलु तदैव ब्रह्मणोऽदृश्यः स्याद्यदा स्वयं विशीर्णो भूत्वा प्रलयं यायात्। तदित्थमेकस्य सूर्यस्य यावदवस्थितिः तावद् ब्रह्मणो दिनम्, यावत्तु ब्रह्मा स्वपिति अपरः सूर्यो नोत्पाद्यते तावती ब्रह्मणो रात्रिः। इयमेव ब्रह्मणो रात्रिर्नैमित्तिकप्रलय इत्युच्यते। अस्मिन् प्रलये भूः, भुवः, स्वरिति ख्यातानां त्रयाणां लोकानां सूर्यसम्बद्धानां विनाशो भवति। महरित्याद्या ऊर्ध्वलोकास्तु तथैवावतिष्ठन्ते। अस्यैव

ब्रह्मणो दिनस्य कल्पशब्देनाभिधानम्, तत्र चतुर्दशानां मनूनां गणना च पुराणेषु कृता। अस्माकं सहस्रयुगपर्यन्तमेतद्दिनम्, तावत्येव च रात्रिरित्यहोरात्राणां गणनया मासवर्षादिक्रमेण यदा शतवर्षात्मकं ब्रह्मण आयुः पूर्णं भवति तदा एको ब्रह्मापि लयं यातीति तदात्वे प्राकृतप्रलय उच्यते। तदा च सर्वे लोकाद्याः प्रकृतौ प्रलीय तिष्ठन्ति। पुनश्च महारात्र्यन्ते तेषां सृष्टिर्जायते इति पौराणिकी परिभाषा। सैवात्र निरुक्ता। प्राकृतप्रलयान्ते च महेश्वरस्यापि रात्रिरित्युच्यते। यद्यपि सदैवैकरसस्याविकृतस्य महेश्वरस्य न दिनं न वा रात्रिरिति वक्तुं शक्यं तथापि लोकदृष्ट्या तत्राप्येवं व्यवहारः क्रियते।

अथ प्राप्तपरिपाकानां प्राणिकर्मणामुद्बोधवशेन महेश्वरस्य सिसृक्षा जायते। तदा स भगवान् योगेन प्रकृतिं पुरुषं च प्रविश्य क्षोभयति। अत्र च दृष्टान्तोऽस्मिन् पुराणेऽभिहितः—

> यथा मदो नरस्त्रीणां यथा वा माधवोऽनिलः।
> अनुप्रविष्टः क्षोभाय तथाऽसौ योगमूर्तिमान्॥ (१।४।१४)

यद्यपि प्रकृतिपुरुषावपि भगवतो न भिन्नौ पुराणेषु अद्वैतवादस्यैवाभ्युपगमात्, तथापि "स एव क्षोभको विप्राः क्षोभ्यश्च परमेश्वरः। स संकोचविकासाभ्यां प्रधानत्वे व्यवस्थितः"॥ ततश्च क्षोभ्यमानात् प्रधानात् प्रधानपुरुषात्मकं महत्प्रादुरभूत्। तदेव जगद्बीजम्, तदेव च महान् आत्मा, मतिः, ब्रह्मा, प्रबुद्धिः, ख्यातिः, ईश्वरः इत्यादिभिः शब्दैरुच्यते। तस्माच्च महतः त्रिविधोऽहंकारः प्रादुरभूत्। वैकारिकः, तैजसः, भूतादिश्चेति तस्य तिस्रो विधाः। अयञ्चाहंकारः अभिमानकर्ता, मन्ता, आत्मा जीवश्चेत्यादि पदैराख्यायते। अथ सत्त्वप्रधानाद्वैकारिकादहंकारात् वैकारिका दश देवा इन्द्रियाधिष्ठातारः मनश्चैकादशं प्रादुरभूत्, तैजसाच्च इन्द्रियाणि। भूतादेस्त्वहंकारात् तमःप्रधानात् पूर्वं शब्दतन्मात्रं, शब्दतन्मात्राच्चाकाशः, आकाशाद्विकुर्वाणात् स्पर्शतन्मात्रम्। ततश्च स्पर्शगुणको वायुः, वायोः रूपतन्मात्रम् ततस्तद्गुणकं तेजः, तेजसो रसतन्मात्रम्। ततश्च रसाधाराणि अम्भांसि, ततः गन्धतन्मात्रं, ततो संघातरूपा गन्धगुणा पृथिवी। अथ पूर्वस्य पूर्वस्य महाभूतस्य उत्तरोत्तरस्मिन् अनुप्रवेशात् आकाश एकगुणः, वायुर्द्विगुणः, तेजस्त्रिगुणम्, जलं चतुर्गुणम्, पृथिवी च पञ्चगुणा जायते। एतानि सर्वाण्यपि भूतानि त्रिगुणात्मकानि परस्परानुप्रवेशात् परस्परधारकाणि च। एतानि च महदादीनि सप्त पृथग्भूतानि यदा किमपि कर्तुं न शक्नुवन्ति तदा सप्तापि संभूय अण्डमुत्पादयन्ति। जलबुद्बुदवत् तदण्डमुदकेशयमेवाभवत्। अस्मिंश्च प्रवृद्धे अण्डे क्षेत्रज्ञो नाम हिरण्यगर्भः प्रादुर्भवति। स एष प्रथमश्शरीरी पुरुषश्चाख्यायते। अयमेव सर्वेषां भूतानामादिकर्ता। य एव प्रधानादपि परः पुरुष आख्यातः स एव हिरण्यगर्भरूपेण प्रादुर्भवति।

मेरुरुल्बमभूत्तस्य जरायुश्चापि पर्वताः ।
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् परमात्मनः ॥ (१।४।४०)

अस्मिन्नेवाण्डे सूर्यचन्द्रादिकसनक्षत्रं सदेवासुरमानुषं जगत् स्थितम् । अत्र च पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि दशदशगुणैरुत्तरोत्तरैर्भूतैरावृतानि । सर्वाणि च भूतानि अहंकारेण तदपि च महता तदपि चाव्यक्तेनावृतानि । अत्र च एतदभिमानिनो योगज्ञाः पुरुषास्तिष्ठन्ति । इदं ब्रह्माण्डं प्रजापतेर्द्वितीया मूर्तिरिति वैदिकी श्रुतिराह हिरण्यगर्भश्च तृतीयं भगवद्रूपम् । अथ तस्मादेव हिरण्यगर्भात् चतुर्मुखो ब्रह्मा प्रादुरभूत् । स एव रज आश्रित्य सृजति । सत्त्वमाश्रित्य पालयति, तम आश्रित्य च रुद्रस्वरूपेण सर्वं संहरति । यादृच्छया च नानारूपाणि करोति । एतानि रूपाणि तस्य गुणविशिष्टानि, वस्तुतः स एक एव । अयमेव च नानाकार्यकरणात् बहुशक्तित्वाच्च आदिदेवः, प्रजापतिः, महादेवः, ब्रह्मा, ऋषिः, नारायणः हरिरित्यादिनामभिरुच्यते । एतावत्पर्यन्तं भगवतोऽबुद्धिपूर्विका सृष्टिः ।

इदमत्राकूतम्—रसो बलञ्चेति सर्वस्यापि जगतो द्वे मूलतत्त्वे । तत्र रसो निर्विकारः सदैकरूपो मुख्यो विभुश्च न तद्विनाकृतं किञ्चिदपि स्थानमस्ति । बलन्तु क्षणावस्थायि अल्पाल्पमात्रञ्च परं संख्यया तदनन्तम् । ततः सर्वत्रैव रसं तदव्यभिव्याप्नोति । तद्धि प्रवाहरूपेण नित्यम्, स्वरूपेण तु क्षणावस्थायि । यथा गङ्गातटे स्थितः पुरुषः प्रतिक्षणमेव जलं स्वचक्षुषोऽग्रे पश्यति परं यज्जलं पूर्वस्मिन् क्षणे दृष्टं तदुत्तरक्षणे नास्ति । नवं नवं जलं प्रतिक्षणं गच्छत्यागच्छति च । इयमेव प्रवाहनित्यता उच्यते । तद्रीत्यैव बलमपि रसाश्रितं बोद्धव्यम् । अस्य च जलस्य न स्वतन्त्रा सत्ता किन्तु रसाश्रितं तत्सत्तयैव सत्तावत्प्रतीयते । इदञ्च रसापेक्षया भिन्नमभिन्नं वेति न निर्वक्तुं शक्यते । तस्मादनिर्वचनीयम् । अनिर्वचनीयत्वादेव च न द्वैतं भवति मिलितं तद्द्वयमेकमेवाख्यायते । अतो जगतो मूलमेकमेवोच्यते । इदञ्च बलं यावत्सुप्तं तावद्रसादभिन्नरूपमेव, जागरितेन तु तेन अपरिच्छिन्नोऽपि रसः स्वस्य परिच्छिन्नत्वात् परिच्छिन्न इव दृश्यते । यथा हि तरङ्गाः समुद्रजलं स्वपरिच्छिन्नमेव दर्शयन्ति तद्वत् । एवं—परिच्छेदेन दृश्यमानो रसः पुरुषरूपो भवति । स एव रसप्राधान्ये पुरुषः, बलप्राधान्ये तु प्रकृतिरित्याख्यायते । तत एवात्र प्रकृतिरपि महेश्वरान्न भिन्नेत्युक्तम् । अत्र पुरुषरूपत्वे तस्य त्रयो भेदाः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति—अव्ययः, अक्षरः, क्षरश्चेति । यदा बलं सीमानं करोति परं तत्र चितिर्ग्रन्थिर्वा न जायते सोऽव्ययपुरुष इत्युच्यते । यदा तु यथा गृहनिर्माणे इष्टकोपरि क्रमेणान्या इष्टकाश्चीयन्ते तथा बलोपरि बलान्तराणि यदा चीयन्ते तदा तया चित्या अक्षरपुरुषः प्रादुर्भवति । यद्यपि बलं क्षणिकमिति चितिस्तत्र न संभवति तथापि रसाश्रितं

तत्प्रवाहरूपं भवतीति तरङ्गोपरि तरङ्गाणामिव तत्र चितिस्संभवति। एवं प्रवृद्धया चित्या यदा बलानां परस्परं ग्रन्थिर्जायते तदा क्षरपुरुषप्रादुर्भावः। यथा च रसप्राधान्ये अव्ययः, अक्षरः, क्षर इति त्रयो भेदा भवन्ति तथैव बलप्राधान्ये महानहंकारः तन्मात्राश्चेति भवन्ति भेदाः। एषाञ्च परस्परं सम्मेलनात् सर्वोऽपि सर्गः प्रजायते। अत्रोक्तस्याव्ययपुरुषस्य परिच्छिन्नत्वात् सति परिच्छेदे कलाप्रादुर्भावाच्च भवन्ति पञ्चकलाः—आनन्दः, विज्ञानम्, मनः, प्राणः, वागिति। तत्र मनः प्राणो वागिति सृष्टिसाक्षिण्यः। आनन्दो विज्ञानं मन इति तु मुक्तिसाक्षिण्यः। अत्र प्राणमाधारीकृत्याक्षरस्य प्रादुर्भावः वाचमाधारीकृत्य तु क्षरस्येति अव्ययः सर्वेषामालम्बनम्। अक्षरपुरुषस्यापि सन्ति पञ्चकलाः—ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः, अग्निः, सोमश्चेति। प्राणमाधारीकृत्याक्षरस्य प्रादुर्भाव इत्युक्तं प्राक्। प्राणे च प्रतिक्षणं गत्यागती प्रवर्तेते। सर्वे हि पदार्थाः प्रतिक्षणं परेभ्यः किञ्चन ददति परेभ्यश्च किञ्चिदाददते। यथा दीपः स्वप्रकाशं सर्वत्र प्रवेशयति तैलञ्चोपादत्ते तथैव सर्वत्र बोद्धव्यम्। तत्र यया शक्त्या आगमनञ्जायते सा विष्णुरित्युच्यते। यया तु निर्गमनं सा इन्द्र इत्युच्यते। अनुक्षणं प्रवर्तमानयोरपि गत्यागत्योः तदेवेदं वस्तु इति प्रत्यभिज्ञायते तदिदं प्रतिष्ठाप्राणरूपेण ब्रह्मणा क्रियते त एते त्रयो हृद्याः। अग्नीषोमौ तु पृष्ठ्याविति ताभ्यामेव जगदुत्पद्यते। अथ क्षरपुरुषस्यापि सन्ति पञ्च कलाः, प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः अन्नमिति। एवमेव बलप्रधानानां महदादीनामपि भेदा जायन्ते इतीयं संक्षिप्ता वैदिकी सृष्टिप्रक्रिया। तामेवाधारीकृत्य पुराणान्यपि प्रवर्तन्ते। अत्र महेश्वरो य आख्यातः स परात्परः पुरुषः तत एव प्रकृतिपुरुषप्रादुर्भाव उक्तः। अक्षरपुरुषस्य च भेदाः ब्रह्मा, विष्णुर्महादेव इत्याद्याः स्थाने स्थाने निरूप्यन्ते तत्तत्रैव व्याख्यास्यामः। अत्र इन्द्रः, अग्निः, सोमः, इति त्रीनेकीकृत्य पौराणिक-भाषायां महादेव इत्युच्यत इति स्मर्तव्यम्। स एव महादेवोऽत्र प्रक्रियायां व्याख्यातः, पुराणानि च सांख्यसमादृतां प्रकृत्यादिप्रक्रियामेव प्रायेणाधारीकुर्वन्तीति सैव प्रक्रिया अत्रोक्ता। केवलं प्रसिद्धसांख्यदर्शनादयमेव भेदः यदत्र प्रकृतिस्वातन्त्र्यं न मन्यते। महेश्वरादेव प्रकृतिरुत्पन्ना तेनैव च क्षोभ्यमाणा जगत्सृजतीति। तिस्रो मूर्तयश्च भगवतो या आख्याताः तत्रायं भावः, त्रिधा तावदस्मच्छास्त्रेषु ब्रह्मोपासनं विधीयते विश्वरूपेण, विश्वचररूपेण विश्वातीतरूपेण च। ता एव तिस्रो मूर्तयोऽत्राख्याताः। एकंविधं स्पष्टमेव, विश्वचरश्च हिरण्यगर्भः, स एव विश्वं व्याप्य तत्परिचालयति। भगवान् महेश्वरश्च विश्वातीत इति। यश्चायमण्डे ब्रह्मप्रादुर्भाव उक्तः स क्षर पुरुष एव स्वावयवैर्जगत्सृजतीत्यग्रे व्याख्यातव्यं तदप्यत्रानुसन्धेयम्।

अथात्र सृष्ट्यादौ कालकल्पना उक्ता सा पूर्वमेवास्माभिर्व्याख्याता। तत्र त्वयं विशेषः परार्धमिति सर्वतः परा परमा संख्या संस्कृतभाषायां गण्यते। परार्धद्वितयञ्च

ब्रह्मण आयुर्भवति । अस्मद्वर्षापेक्षया ब्रह्मण आयुषो गणनायां द्विपरार्धपरिमितान्येव दिनान्यायान्तीति गणितक्रमेणानुसन्धेयम् । अथात ऊर्ध्वं महीप्रादुर्भावः कथमिति वर्ण्यते । तदेतद् वराहप्रादुर्भावप्रकरणम् । वराहोऽयं यज्ञरूपेण वायुरूपेण च तत्र तत्र व्याख्यातः । यदा हि जले आपः, फेनः, मृत्स्ना, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयो, हिरण्यमिति क्रमेणाष्टविधा जायन्ते तदा तासां विधानां संग्रह्य पिण्डीकरणार्थे सर्वतोमुखो विलक्षणो वायुः प्रचलति । स एव सर्वानवयवान् संहृत्य पिण्डरूपतां नयति । अयमेव वायुः वृणोति च अह्नोति चेति वराह आख्यायते इत्युक्तं ब्राह्मणेषु ।

अतएव वराहदंष्ट्रायां पृथिवी स्थितेति व्याख्यायते शास्त्रेषु । तेनैव सर्वतः प्रसृत्वरेण वायुनाऽद्यापि पृथिवीपिण्डं ध्रियत इति । अयमेव वराहो यज्ञरूपेण भागवतादिषु व्याख्यातः । इह तु ऋषिभिर्व्यापकरूपेणैव संस्तुतः ।

अथ सृष्टिं वितन्वतो भगवतो पूर्वमबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुरभूत् । तमो मोहः, महामोहः, तामिस्रः अन्धतामिस्रश्चेति । इमे एव योगदर्शने अविद्या, अस्मिता, रागः, द्वेषः, अभिनिवेश इति पञ्चक्लेशा आख्यायन्ते । इमानि बुद्धेस्तामसानि रूपाण्येव इति एषां सृष्टौ बुद्धेर्नोपयोगः इतीयमबुद्धिपूर्विका सृष्टिरुक्ता । एतैः पञ्चभिः क्लेशैरेव वेष्टिताः सर्वेऽपि प्राणिनो जायन्ते, इत्येषां सर्ग आवश्यकः । तदनु चतुर्दशविधः प्राणिनां सर्गः प्रतिपादितः । पूर्वं नगानां वृक्षलतादीनां सर्गः, मुखे जातत्वादिमे मुख्या उच्यन्ते, तदनु तिर्यग्-योनीनां चतुर्विधः सर्गः । सरीसृपाः, पक्षिणः, मृगाः (आरण्यकाः) पशवः (ग्राम्याः) चेति । एतं सर्गमसाधकं मत्वा ऊर्ध्वस्रोतसां देवानां सात्त्विकः सर्गः प्रवर्तितः । तेषामष्टविधत्वमन्यत्राख्यातम् । अनन्तरञ्च अर्वाक्स्रोताः मनुष्यसर्गः प्रादुरभूत् । इमे मनुष्याः रजोबहुलाः प्रायेण दुःखिनो जायन्ते । इत्येवं महदाद्या अष्टौ सर्गाः कथिताः । मनुष्याणामग्रे भूतादीनां सर्गोऽत्र पुराणे विशेषेणोक्तः । स तमःप्रधानः पिशाचादीनां सर्गो विज्ञेयः ।

अथ मनुष्येषु पूर्वं सनकादीनां कुमाराणां मानससर्गो ब्रह्मणा कृतः । इमे च पश्चापि योगिनो वैराग्यपरमाः सृष्टिं कर्तुं न प्रवृत्ताः । इमांश्च सर्गेऽप्रवृत्तान् विलोक्य ब्रह्मणः दुःखं क्रोधश्च उद्भूतः । क्रोधाविष्टस्य तस्य ललाटान्नील-लोहितो भगवान् महादेवः प्रादुरभूत् । स्वयमेव परमेश्वर इदानीं प्रादुर्भूतः । ब्रह्मा प्रणम्य तं प्रजासर्गार्थमाह । तदा भगवान् महादेव आत्मसदृशान् रुद्रान् ससर्ज । ये जरामृत्युविवर्जिताः सदैकरूपा आसन् । तान्दृष्ट्वा ब्रह्मणा जरामृत्युयुतान् प्राणिनस्सृजेति प्रार्थितो भगवान् नाहं जरामृत्युयुतान् स्रक्ष्यामीति प्रोवाच । तदा ब्रह्मणा स सर्गान्निवारितः । ततश्च ब्रह्मा स्थानाभिमानिनः कालाभि-मानिनश्च नदीसमुद्राधिष्ठातॄन् कलाकाष्ठाद्यधिष्ठात्रींश्च पूर्वं ससर्ज, तदनु च स्वशिरोऽवयवेभ्यः सप्तर्षीन् ससर्ज । त एते गृहस्थाः सृष्टौ प्रवृत्ताः सर्वान् ससृजुः ।

अनन्तरञ्चात्र देवादीनां सर्गः पुनर्विस्तरेणोक्तः । पूर्वं जघनादसुरा सृष्टाः । असुरान् सृष्ट्वा च सा तनुस्तेन त्यक्ता रात्रिर्बभूव । इयं रात्रिस्तमोबहुला अस्याञ्चा-

सुराणां प्राधान्यञ्जायते। ततश्च ब्रह्मा सत्त्वबहुलां तनुमास्थाय मुखतो देवानसृजत्। दीव्यत इमे जाता इति देवा उच्यन्ते। ततः देवान्सृष्ट्वा सापि तनुस्तेन त्यक्ता, दिनं बभूव। तत्सत्त्वबहुलं तत्रैव च देवाः प्रभवन्ति। ततश्च पुनः सत्त्वमात्रात्मिकां तनुं गृहीत्वाऽऽत्मानं पितृवन्मत्वा तेन पितरः सृष्टाः। सापि च तनुस्तेन त्यक्ता, सन्ध्याऽभवत्। तत एव सन्ध्यापि सत्त्वप्रधाना पितॄणाञ्च तत्र बलाधिक्यम्, ततश्च रजोमात्रात्मिकां तनुं गृहीत्वा मनुष्यास्तेन सृष्टाः सा च तनुस्त्यक्ता, ज्योत्स्ना बभूव। तस्मान्मनुष्याः ज्योत्स्नायां हृष्यन्ति। एवमेव स्वावयवेभ्यः सर्वे प्राणिनः सृष्टाः।

अत्रायमाशयः—यथास्माभिः पूर्वमुक्तं क्षरः पुरुषः तन्मात्रारूपाम् प्रकृतिमुपादाय स्वावयवेभ्यः सर्वान्प्राणिनः सृजतीति तथैवात्र क्षरः पुरुषो ब्रह्मा तत्तद्गुणबहुलास्तास्तास्तनूरुपादाय देवादीन् ससर्ज प्रकृतिश्च परिवर्तनशीला स्वत एव निवर्तते इत्येव तनुपरित्यागस्याशयः। तेषु तेषु कालावयवेषु चापि तमःसत्त्वादिप्राधान्यं बोधयितुं तत्तत्तनुरूपत्वं कालावयवानामुक्तम्। मनुना हि भगवता "ऋषिभ्यः पितरो जाताः; पितृभ्यो देवदानवाः। देवेभ्यश्च जगत्सर्वं" इत्याद्युक्तम्। ते ऋषिपितृदेवाः प्राणरूपाः। इमे त्वत्रोक्ताः प्राणिरूपास्तत्तल्लोकनिवासिन इत्येवं विरोधोऽयं समाधेयः।

अग्रे ऋषिप्रश्नं समाधातुं भगवतो रुद्रस्य ब्रह्मणः सकाशात् प्रादुर्भावो विस्तरेण विवृतः। तदग्रे च सूर्यचन्द्रवंश्यानां राज्ञां चरितेषु चन्द्रवंशे भगवतः कृष्णस्य प्रादुर्भावः, तत्कृतं महेश्वरतपश्च विवृतम्।

उत्तरार्धारम्भे ऋषिभिः परमं ज्ञानं पृष्टो रोमहर्षणो यावद् वक्तुमुपक्रमते तावदेव तत्रैव भगवान् व्यासः समागतः। रोमहर्षणेन दण्डवत् प्रणिपत्य मुनीन् प्रत्युक्तं यदेष साक्षात् भगवान् समायातः इत एव शुश्रूषध्वम्। स्वयञ्च व्यासं प्रत्युक्तं "एते मुनयः परमं ब्रह्मज्ञानं श्रोतुमिच्छन्ति कृपया भवता बोध्यन्ताम्।" तदा व्यासेनोक्तं "एकदा सनत्कुमाराद्या अन्येऽपि च कणादकपिलाद्या बहव ऋषयः पूज्ये बदरिकाश्रमे नारायणमिदमेव ज्ञानं पृष्टवन्तः। एषां संवादकाले एव तत्र भगवान् शिवः तत्रैवाविर्भूतः। किञ्च भवन्तो विचारयन्तीति तान् पृष्टवान्। ततश्च तैः प्रार्थितः स्वयमेव ब्रह्मतत्त्वं सर्वान् बोधयितुं प्रवृत्तः। इदमीश्वरगीते त्युच्यते। सैव च मया भवद्भ्यश्श्राव्यते" इत्युक्त्वा भगवान् व्यासः ईश्वरगीतां श्रावयामास। तत्र हि भगवता यदुपदिष्टं तस्यायं सारः—ज्ञानमेव परं संसारे व्याप्तम्। तच्च विमूढा अर्थरूपेण पश्यन्ति योऽस्माज्जगतः परोऽस्ति स सर्वान्तरः साक्षाच्चिन्मात्ररूपः। स एवान्तर्यामी पुरुषः, प्राणः, महेश्वरः काल इत्यादिशब्दैरुच्यते। स एव च मायया विविधास्तनूः करोति। वस्तुतः स पाणिपादादिभिरिन्द्रियैर्विहीनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मैश्च हीनः। यथा हि प्रकाशतमसोः

परस्परं सम्बन्धः सर्वथा असम्भाव्यः तथैव तस्य मायया मायिकेन जगता चैक्यं सर्वथा असम्भाव्यमेव। यथा च छाया मलिना तथा जीवात्मापि स्वभावतो मलिनो विकारी च। एवं मलिनस्य मुक्तिः कदापि न सम्भवति। यदा तु मुनयो विकारहीनं निर्द्वन्द्वमानन्दरूपमात्मानं पश्यन्ति तदा मुक्ता भवन्ति। कर्तृत्वसुख-दुःखाद्यभिमानोऽहंकारजन्यः। स च जनैरात्मन्यारोपितः। योगिनस्तु प्रकृतेः परं शुद्धमात्मानं पश्यन्ति। यद्यप्यात्मा स्वयंज्योतिः परमहंकारेण सहाविविक्तं सदसदात्मकं जनाः पश्यन्ति। प्रधानं पुरुषं च पृथक् पृथक् बुद्ध्वा कूटस्थं निरञ्जन-मात्मानमक्षररूपं योगिनः पश्यन्ति। अस्य रागद्वेषादयो दोषाश्च केवलं भ्रान्ति-निबन्धनाः। इत्याद्यात्मोपदेशोऽत्र कृतः। अग्रे च भगवद्गीतायामिव सांख्य-योगविभागोऽपि दर्शितः। भगवद्गीताया अर्थतः क्वचिच्छब्दतोऽपि च छायाऽत्र लक्ष्यते, यथा—

> "यतो गुह्यतमं देहं सर्वगं तत्त्वदर्शिनः।
> प्रविष्टा मम सायुज्यं लभन्ते योगिनोऽव्ययम्॥
> ये हि मायामतिक्रान्ता मम या विश्वरूपिणी।
> लभन्ते परमं शुद्धं निर्वाणं ते मया सह॥" इत्यादि :
>
> (२।२।५३-५४)

अग्रे च सृष्टिं विवृण्ववता भगवता अव्यक्तात् कालः, प्रधानं, पुरुषश्चाभू-वनिति कथितम्, तेभ्यश्च सर्वमिदमुत्पन्नं तस्मात् ब्रह्ममयमेव सर्वं जगदिति। प्रकृतेश्च महान् ततश्चाहंकारो जायते। एक एव महानात्मा अहंकार इति, जीव इति, अन्तरात्मेति च कथ्यते। तेनैव सर्वं सुखं दुःखञ्च वेद्यते। तस्य विज्ञाना-त्मकस्य मन उपकारकं भवति। मनस एव साचिव्यात् पुरुषस्य संसारः। प्रकृत्या-दिसंगश्च पुरुस्य कालेन जायते, उक्तं हि—

> कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
> सर्वे कालस्य वशगा न कालः कस्यचिद्वशे॥
> सोऽन्तरा सर्वमेवेदं नियच्छति सनातनः। (२।३।१६-१७)

स एव भगवान् नारायणः सर्वज्ञः पुरुषोत्तम इत्यादिशब्दैरुच्यते। सोऽहमेव ब्रह्माव्यय इति भगवतोपदिष्टम्।

इत्यादि सर्वमुपदिश्य च भगवान् महेश्वरो स्वमैश्वरं भावं दर्शयन् ननर्त। देवा ऋषयश्च तं महादेवं विष्णुना सह नृत्यन्तं ददृशुः। क्रमेण च सहस्रबाहुं सहस्रशिरसं चन्द्रार्धशेखरम्, जटामण्डितं चर्मवसनं शूलपाणिनं स्वेन तेजसा सर्वं ब्रह्माण्डमावृत्य स्थितं ददृशुः। दर्शकानाञ्च नामान्यप्यत्रोक्तानि, यथा—

> सनत्कुमारः सनको भृगुश्च सनातनश्चैव सनन्दनश्च।
> रैभ्योऽङ्गिरा वामदेवोऽथ शुक्रो महर्षिरत्रिः कपिलो मरीचिः॥ (२।५।१८)

एते च सर्वे जगदीश्वरं रुद्रं तथाविधं दृष्ट्वा स्वं कृतार्थं मन्यमाना मूर्ध्ना प्रणम्य स्तोतुं प्रवृत्ताः। स्तुतौ च सर्वात्मकत्वमेव भगवतो विवृतम्। ब्रह्मविष्णुरुद्राणाञ्चैक्यमेवोद्घोषितम्। एवं सर्वात्मा सर्वरूपो भगवान् नृत्यं दर्शयित्वा पुनः परमं रूपं संहृत्य प्रकृतिस्थोऽभवत्। पुनश्च ऋषयः तद्रूपदर्शनेन कृतार्थतां घोषयन्तः पुनर्माहात्म्यं पप्रच्छुः। तदा भगवता पुनः स्वीयं माहात्म्यं बहुधा बोधितम्। अग्रे च स्वीया विभूतयोऽपि बोधिताः। अग्रे च सरस्वती, पार्वती सावित्र्याद्या ममैव वशगा इत्याद्यप्युक्तम्। प्रकृतेः सृष्टिवर्णनञ्च मध्ये मध्ये कृतम्। अग्रे च ऋषिभिः पृष्टम्—

निष्कलो निर्मलो नित्यो निष्क्रियः परमेश्वरः।
तन्नो वद महादेव विश्वरूपः कथं भवान्॥ (२।९।१)

अत्रोत्तरमीश्वरस्य—

नाऽहं विश्वो न विश्वञ्च मामृते विद्यते द्विजाः।
मायानिमित्तमत्रास्ति सा चात्मनि मयाश्रिता॥
अनादिनिधना शक्तिर्माया व्यक्तिसमाश्रया।
तन्निमित्तः प्रपञ्चोऽयमव्यक्ताज्जायते खलु॥
अव्यक्तं कारणं प्राहुरानन्दं ज्योतिरक्षरम्।
अहमेव परं ब्रह्म मत्तोह्यन्यन्न विद्यते॥
तस्मान्मे विश्वरूपत्वं निश्चितं ब्रह्मवादिभिः।
एकत्वे च पृथक्त्वे च प्रोक्तमेतन्निदर्शनम्॥ (२।९।२-५)

अग्रे चोपनिषच्छ्रुतीः प्रदर्श्य माहात्म्यं ख्यापितम्। एकादशाध्यायमारभ्य च योग उपदिष्टः। तत्र योगो द्विविधः—शून्ययोगो ब्रह्मयोगश्च। मनसो विलयो यो निर्विकल्पकसमाधिरूपेण योगदर्शने उक्तः स शून्ययोगः महेश्वरैकाग्रता तु ब्रह्मयोगः सर्वतः श्रेष्ठः। अग्रे योगस्याष्टानामङ्गानां विवरणम्। अन्ते च योग्येभ्यः शिष्येभ्य इदं प्रदातव्यमिति नारायणाय देवेभ्यश्च समुपदिश्य भगवतोऽन्तर्धानम्। अत्रैवेश्वरगीतासमाप्तिः।

अग्रे च भगवतो व्यासस्य स्वतन्त्र उपदेशो व्यासगीतानाम्नाऽत्र संग्रहीतः। तत्र प्रतिज्ञावाक्ये "कर्मयोगं शृणुतेति प्रतिज्ञा" अत्र च कर्मयोगो न भगवद्गीतास्विव निष्कामकर्मानुष्ठानरूपः अपितु शास्त्रोक्तः सर्वोऽपि कर्मकलापः कर्मयोगपदेन संग्रहीतः। तत्र पूर्वं विस्तरेण ब्रह्मचारिणो धर्माः स्मृत्याद्युक्ता इव व्याख्याताः। यज्ञोपवीतं कथं परिधार्यं गुरुशुश्रूषा कथं कार्या इत्यादि सर्वं विवृतम्। अभिवादनादिप्रकारोऽपि सर्वोऽभिहितः। आचमनं कुत्र कुत्र कार्यम् इत्याद्यपि विवृतम्।

चतुर्दशाध्याये गुरुपरिचर्याविधिः, अग्रे तर्पणादिविधिरपि पञ्चदशाध्यायमारभ्य स्नात्वा गृहाश्रमप्रवेशः तत्र च दण्डस्थाने वैणव्या यष्टेर्धारणं शोधकं कमण्डलुं छत्रोष्णीषपादुकादिधारणं यथा शक्त्या भूषणादिधारणञ्च विवृतम् ।

अन्यत्र काञ्चनाद् विप्रो न रक्तां विभृयात्स्रजम् ।
शुक्लाम्बरधरो नित्यं सुगन्धः प्रियदर्शनः ॥
न जीर्णमलवद्वासा भवेद्वै वैभवे सति ।
न रक्तमुल्वणं चान्यधृतं वासो न कुण्डिकाम् ॥
नोपानहौ स्रजं वाथ पादुके न प्रयोजयेत् । (२।१५।५-७)

इत्याद्या आचारा अपि सम्यग्विवृताः । ततो विवाहविधिः । अन्या गृहस्थोचिता चर्या सर्वात्र विवृता । षोडशेऽध्याये चापि गृहस्थचर्यैव विस्तरेण प्रतिपादिता ।

नाधार्मिकैर्वृते ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।
न शूद्रराज्ये निवसेद् न पाखण्डजनैर्वृते ॥
हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये पूर्वपश्चिमयोः शुभम् ।
मुक्त्वा समुद्रयोर्देशं नान्यत्र निवसेद् द्विजः ॥ (२।१६।२३-२४)

इत्यादीनि निवासस्थानान्यपि विवृतानि ।

नोच्छिष्टः संविशेन्नित्यं न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न गच्छन् पठेद्वापि न चैव स्वशिरः स्पृशेत् ॥ (२।१६।६८)

इत्याद्या आचारा अपि विस्तरेणविवृताः । सप्तदशेऽध्याये च भोज्यान्नानाम् पुरुषाणाम् , अभोज्यान्नानाञ्च विवरणम् । तदनु च भक्ष्याभक्ष्य-व्यवस्था विवृता । अष्टादशेऽध्याये च कैः कर्मभिः ब्राह्मणाद्या मुक्ता भवेयुरिति ऋषीणां प्रश्नः । तत्र च भगवतो व्यासस्योत्तरे प्रातःस्नानस्य विशेषतः प्रशंसा अन्येषामपि स्नानानां विवरणम् । अग्रे च सूर्योपासनायाः शङ्करोपासनायाश्च विवरणम् । अन्येऽप्याचाराः स्मृत्याद्युक्ताः । देवपूजादीनामत्र विशेषेण विवरणम् ।

यो मोहादथवाऽज्ञानादकृत्वा देवतार्चनम् ।
भुङ्क्ते स याति नरकं शूकरं नात्र संशयः ॥ (२।१८।११८)

इत्यादिना देवपूजाया नित्यत्वमपि व्यवस्थापितम् ।

ऊनविंशाध्याये च भोजनविधिविवरणम् शयनविधिविवरणमपि चात्रैव । अथ विंशाध्यायमारभ्य श्राद्धकल्पः । पूर्वं श्राद्धकालदेशादिविवरणम् , अग्रे च निमन्त्रणीयानां ब्राह्मणानां लक्षणाद्याख्यानम् ; तत्र च कश्चिद्विशेषोऽपि,

यथा—

भोजयेद्योगिनं शान्तं तत्त्वज्ञानरतं यतः।
अभावे नैष्ठिकं दान्तमुपकुर्वाणकं तथा॥
तदलाभे गृहस्थन्तु मुमुक्षुं सङ्गवर्जितम्।
सर्वालाभे साधकं वा गृहस्थमपि भोजयेत्॥ (२।२१।१५-१६)

किञ्च—

अपि विद्याकुलैर्युक्ता हीनवृत्ता नराधमाः।
यत्रैते भुञ्जते हव्यं तद्भवेदासुरं द्विजाः॥ (२।२१।२६)

इत्यादिना वृत्तप्रशंसापि श्रूयते। अग्रे च निमन्त्रितानां ब्राह्मणानां निमन्त्रणस्य श्राद्धकर्तुश्च धर्मा विवृताः। तत्रैतद्विशेषतो द्रष्टव्यम्—

आमन्त्रितो ब्राह्मणो वै योऽन्यस्मै कुरुते क्षणम्।
स याति नरकं घोरं शूकरत्वं प्रयाति च॥
आमन्त्रयित्वा यो मोहादन्यं चामन्त्रयेद् द्विजः।'
स तस्मादधिकः पापी विष्ठाकीटोऽभिजायते॥ (२।२२।७-८)

द्वाविंशमध्यायमारभ्य च कल्पोक्तः सर्वोऽपि श्राद्धविधिर्मन्त्रप्रतीकनिर्देशपूर्वकं निर्दिष्टः। तत्र चायमारम्भः—

ततो निवृत्ते मध्याह्ने लुप्तरोमनखान्द्विजान्।
अवगम्य यथामार्गं प्रयच्छेद्दन्तधावनम्॥
तैलमभ्यञ्जनं स्नानं स्नानीयञ्च पृथग्विधम्।
पात्रैरौदुम्बरैर्दद्याद्वैश्वदैवत्यपूर्वकम्॥ (२।२२।२०-२१)

अग्रे च भोजनप्रसङ्गे—

भिक्षुको ब्रह्मचारी वा भोजनार्थमुपस्थितः।
उपविष्टस्तु यः श्राद्धे कामं तमपि भोजयेत्॥
अतिथिर्यस्य नाश्नाति न तच्छ्राद्धं प्रशस्यते।
तस्मात्प्रयत्नाच्छ्राद्धेषु पूज्या ह्यतिथयो द्विजैः॥ (२।२२।३१-३२)

एवं सर्वोऽपि विधिरत्र विवृतः। भोजनेषु च मांसानामपि संग्रहोऽत्र कृतः।

त्रयोविंशेऽध्याये च अशौचविवरणम्। तत्र जननाशौचे अयं विशेष उक्तः—

दशाहं निर्गुणे प्रोक्तमाशौचं वातिनिर्गुणे।
एकद्वित्रिगुणैर्युक्तश्चतुस्त्र्येकदिनैः शुचिः॥ (२।२३।७)

जननाशौचे सपिण्डानां स्पर्शनिषेधो नास्ति मरणाशौचेऽपि चतुर्थेऽह्नि स्पर्श इति स्पष्टमुक्तम्। अग्रेऽपि बालादीनामाशौचे स्मृत्युक्तमाशौचं निर्गुणानामेवेति

भूयो भूय उक्तम् । वैतान उपासनाश्च परद्वारेण फलादिभिः कारयितव्या इत्यपि स्पष्टमुक्तम् ।

अथ किञ्चित्प्रमादेन म्रियतेऽग्निविषादिभिः ।
तस्याशौचं विधातव्यं कार्यञ्चैवोदकादिकम् ॥ इति च
(२।२३।६४)

किञ्चायमपि विशेष उक्तः—

जाते कुमारे तदहः कामं कुर्यात्प्रतिग्रहम् ।
हिरण्यधान्यगोवासस्तिलांश्च गुडसर्पिषा ॥
फलानि पुष्पं शाकञ्च लवणं काष्ठमेव च ।
तक्रं दधि घृतं तैलमौषधं क्षीरमेव च ॥ (२।२३।६५।६६)
आशौचिनो गृहाद् ग्राह्यं शुष्कान्नञ्चैव नित्यशः ।
आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः ॥ (२।२३।६७)

अग्रेऽपि मृताशौचेऽयं विशेषः—

पिण्डं प्रतिदिनं दद्युः सायं प्रातर्यथाविधि ।
प्रेताय च गृहद्वारि चतुर्थे भोजयेद् द्विजान् ॥ (२।२३।७०)
पञ्चमे नवमे चेव तथैवैकादशेऽहनि ।
युग्मांश्च भोजयेद्विप्रान्नवश्राद्धन्तु तद् द्विजाः ॥ (२।२३।७२)

सर्वोऽपि च प्रेतकल्पोऽत्र संक्षेपेणोक्तः । अग्रे चतुर्विंशेऽध्याये श्रौतस्मार्ताग्निहोत्रविवरणम् । अग्रे दानधर्माद्या गृहस्थवृत्तय एव विवृताः । सप्तविंशेऽध्याये च वानप्रस्थाश्रमधर्माः । तत्र नानाविधानि तपांसि वर्णितानि । अथाष्टाविंशे यतिधर्माः, तत्र संन्यासस्य बहवो भेदा उक्ताः, यथा—

ज्ञानसंन्यासिनः केचिद् वेदसंन्यासिनः परे ।
कर्मसंन्यासिनस्त्वन्ये विविधाः परिकीर्तिताः ॥
यः सर्वसङ्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भयः ।
प्रोच्यते ज्ञानसंन्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थितः ॥
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यन्निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
प्रोच्यते वेदसंन्यासी मुमुक्षुर्विजितेन्द्रियः ॥
यस्त्वग्नीनात्मसात्कृत्वा ब्रह्मार्पणपरो द्विजः ।
स ज्ञेयः कर्मसंन्यासी महायज्ञपरायणः ॥ (२।२८।५-८)

संन्यासिनाञ्च धर्मेषु उक्तम्—

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यन्नैकान्नादी भवेत् क्वचित् ॥
यस्तु मोहेन वाऽन्यस्मादेकान्नादी भवेद् यतिः ।
न तस्य निष्कृतिः काचिद्धर्मशास्त्रेषु कथ्यते ॥ (२।२८।१७-१८)

इदमपि चोक्तम्—

एकवासा द्विवासा वा शिखी यज्ञोपवीतवान् ।
कमण्डलुधरो विद्वान् त्रिदण्डी याति तत्परम् ॥ २।२८।३१)

अत्र च ध्येयमुक्तम्—

महान्तं पुरुषं ब्रह्म ब्रह्माणं सत्यमव्ययम् ।
सितं सितेतराकारं महेशं विश्वरूपिणम् ॥
ओङ्कारेणाथ चात्मानं संस्थाप्य परमात्मनि ।
आकाशे देवमीशानं ध्यायीताकाशमध्यगम् ॥ (२।२९।१४-१५)

अग्रे च धर्मातिक्रमे यतीनां प्रायश्चित्तान्युक्तानि । इतः परं त्रिंशमध्यायमारभ्य चतुस्त्रिंशदध्यायान्तं प्रायश्चित्तानां विवरणम् । तत्रैव च व्यासगीतासमाप्तिः । ततः परं ऋषिभिः सूतस्तीर्थविस्तरः पृष्टः । स च नानाविधानि तीर्थान्याह । तत्र शैवतीर्थानामाधिक्यम् , नर्मदामाहात्म्यञ्चातिविस्तृतम् । ग्रन्थसमाप्तिपर्यन्तं (चतुश्चत्वारिंशाध्यायपर्यन्तं) तीर्थानामेव वर्णनम् ।

मध्ये च देवदारुवनवृत्तान्तः । तत्र हि भगवान् शङ्करः स्वलीलयाऽतिसुन्दरं रूपं कृत्वा दिगम्बरः (नग्नः) ऋषीणामाश्रमेषु प्रविष्टः । विष्णुञ्च स्त्रीरूपधारिणं सह निनाय । सापि स्त्री बहुसुन्दरी वस्त्राभरणभूषिता तमनुगच्छति स्म । एवंभूतं शङ्करं दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यः पतिव्रता अपि मोहात्तमनुजग्मुः ऋषिबालकाश्च विष्णुरूपायां स्त्रियामासक्ताः नानोपहासान् चक्रुः । तेन च कुपिता ऋषयः शिवमायाविमोहितास्तं लोष्टलगुडादिप्रहारैस्ताडयामासुः । केवलं वशिष्ठाश्रमे पतिव्रताशिरोमणिभूतया अरुन्धत्या स पूजितः चिकित्सितश्च । पुनश्च ऋषिभिर्बहुधा भर्त्सितस्तदुक्त्या स स्वीयं लिङ्गं छित्त्वा तत्रैव पातयामास । स्वयञ्च विष्णुना सहान्तर्दधे । तदा च देवदारुवने महान्त उत्पाताः प्रादुरभूवन् । तदा अत्रिपत्न्या अनसूयया "अयं देवो महादेव आसीत् भवद्भिश्चाज्ञानेन तडित इति भवतां भयमुपस्थितम्" इत्येवं ऋषयो बोधिताः । सर्वे च ते ब्रह्मणः समीपे गत्वा सर्वं वृत्तमाचख्युः । तदा ब्रह्मणापि बह्वनुशोचिताश्च तदाज्ञया तत्रैव देवदारुवन आगत्य तं लिङ्गं वैदिकेन विधानेन पूजयामासुः । पुनश्च शङ्करस्य दर्शनमवाप्य कृतार्था बभूवुरित्यादि । अनन्तरञ्च पञ्चचत्वारिंशेऽध्याये प्रतिसर्गं निरूप्य ग्रन्थसमाप्तिः कृता । देवदारुवनकथायाश्चेदमेव तात्पर्यम् यल्लिंगं प्रकृतिः । तामेव प्रकृतिं प्रधानीकृत्य भगवांस्तत्र गतः । त्रिगुणया प्रकृत्या मोहिताश्च ऋषयस्तन्न जज्ञिरे । यदा तेन प्रकृतिर्विसृष्टा ब्रह्मणा च प्रकृतावेव भगवान् पूज्य इत्यादिष्टं तदा तत्पूजनेन पुनःप्रकृतिरहितो भगवांस्तैर्दृष्ट इति । अन्ते च फलश्रुत्या ग्रन्थसमाप्तिः ।

मुद्गलपुराणविषयसमालोचनम्

मुद्गलपुराणमुपपुराणेषु क्वचिद् गणितम्। क्वचित्तु उपपुराणेभ्योऽप्य-वरकक्षाकेष्वौपपुराणेषु गण्यते। औपपुराणानि चातिपुराण नाम्नापि केचिदाहुः। एषां नामानि च बृहद्विवेके स्मर्यन्ते—

आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं बृहच्च यत्।
आदित्यं मानवं प्रोक्तं नन्दिकेश्वरमेव च॥
कौर्मं भागवतं ज्ञेयं वाशिष्ठं भार्गवं तथा।
मुद्गरं कल्कि-देव्यौ च महाभागवतं तथा॥
बृहद्धर्म्मं परानन्दं वह्निं पशुपतिं तथा।
हरिवंशं ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम्॥

अत्र पठितानि सनत्कुमारादीनि कानिचिदुपपुराणेष्वपि पठ्यन्ते—

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथापरम्।
तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम्॥
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम्।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमतः परम्॥
कपिलं वामनं चैव तथैवोशनसेरितम्।
ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च॥
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसंचयम्।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम्॥

एतत्सर्वमालोच्य विद्वद्भिः प्रतीयेत यत् यानि कैश्चिदुपपुराणत्वेनोक्तानि तान्येव विभज्य कैश्चिदौपपुराणत्वेन पृथग् गणितानि। वस्तुतः सर्वेषामेषामुप-पुराणत्वेन गणनं युक्तं प्रतिभाति।

उपपुराणेषु प्रायेणैकैकां काञ्चिद् देवतामुद्दिश्य तन्माहात्म्यमेव विवृतं दृश्यते। यद्यपि महापुराणेष्वपीयं प्रक्रियोपलभ्यते, तत्रापि शैवपुराणेषु भगवतः शिवस्य, वैष्णवेषु पुराणेषु च भगवतो विष्णोर्माहात्म्यातिशयः ख्यापित इति, तथापि उपपुराणेषु तु प्रक्रियेयमतिशयेन विजृम्भिता विलोक्यते। अत्र च परस्परं विरोधो नाशङ्कनीयः। यतो हि सर्वस्यापि चराचरात्मकस्य मूलभूतमेकं परब्रह्मैव मुख्यत-योपास्यं सर्वत्र विवक्षितम्। तत्तु न स्वरूपेणोपासितुं शक्यम्—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्"

"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इत्यादिभिः श्रुतिभिः तस्य वाङ्मनसाविषयतायाः स्पष्टमुद्घुष्टत्वात्। तस्मिन् मनोनिवेशो हि तदुपासनं भवति, यच्च मनोविषयतामेव नावगाहते तत्र मनोनिवेशः कथं कर्तुं शक्यः स्यात्। कथं वा स्तुतिः तस्य संभवति, वागतीतत्वात्। तथा च तदुपासना न संभवतीति जीवनस्यैव निष्फलत्वमापतति, तद्वारणाय सगुणसाधाररूपाण्याधारीकृत्य तस्मिन्मनो निवेश्यमिति श्रुतिस्मृत्यादिषु मार्ग उपदिष्टः। तानि च सगुणसाकाररूपाणि अधिकारिभेदेन पञ्चशास्त्रेषु निर्दिष्टानि यथा विष्णुः, शिवः, शक्तिः गणेशः, सूर्यश्चेति। ते हि देवाः स्वस्वाधिकारे नियुक्ताः स्वस्वकार्यं निर्वहन्ति। एषु कस्मिंश्चिदेकस्मिन् स्वरुचिमनुसृत्य ब्रह्मबुद्धिरुपासकेन कर्तव्या, तद्रूपं तेनोपासकेन परब्रह्मतया भावनीयम्, अन्यानि तु रूपाणि यथायथं स्वस्वाधिकारविशिष्टान्येव भावनीयानि।

तदित्थं येन यद्रूपं परब्रह्मतया भावितं तदेव तद्दृष्टौ सर्वतः प्रधानं स्यात्। अन्यानि तु रूपाणि यथास्थितानि तदनुगामीन्येव स्युः। अनेकेषु रूपेषु परब्रह्मतया भावितेषु तूपासनैव न सिध्येत्। चित्तस्यैकाग्रता हि उपासनायाः फलम्, अनेकेषु ब्रह्मतया भावितेषु तु इतस्ततः प्रचलच्चित्तं कथमेकाग्रं भवेत्। तस्माद् ब्रह्मबुद्धिरेकस्मिन्नेव कस्मिंश्चिद्रूपे कर्तव्या। इतरेषु तु न विद्वेषः कार्यः। अपितु यस्मिन् अधिकारे ते स्थिताः तादृशाधिकारविशिष्टत्वमेव तेषां मन्तव्यम्। तथा च परब्रह्मतया भावितस्य रूपस्याङ्गप्रत्यङ्गान्येव तेऽन्ये देवा भवेयुः। परब्रह्मतया भावितं तु रूपं सर्वतः प्रधानमित्येव पुराणेषूपपुराणेषु च कस्यचिदेकस्य प्राधान्यं तत्र तत्र ख्यापितम्। रुचिभेदकृतोऽधिकारभेद एवात्र निदानम्, न तु परस्परं कोऽपि विरोधः।

तदेतत् पातञ्जले योगसूत्रेऽप्युक्तम् "यथाभिमतध्यानाद्वा" इति। यस्याधिकारिणः स्वभावाद् यत्र रुचिः, तदेव रूपं तेन ध्यातव्यमिति तदर्थः। तदेव रूपं द्वारीकृत्य निर्विकल्पकसमाधिना तस्य ब्रह्मणि प्रवेशः स्यादिति योगसूत्राशयः।

तदित्थं विभिन्नतया मनोनिवेशार्थं स्वीकृतेषु रूपेषु भगवान् गणपतिरेवात्र पुराणे परब्रह्मरूपेण ध्यातुमुपदिष्टः। किञ्चिद्रूपं द्वारीकृत्य प्रवेशोऽपि मायाशबलिते ब्रह्मण्येव संभवति। निष्कलं तु ब्रह्म केवलमुपलक्षणतया निषेधमुखेनैव ज्ञेयं भवेत्। तदर्थं च निर्विकल्प एव समाधिरुपयुक्तः स्यादिति न तद् वाचा वर्णयितुं कथमपि शक्यम्, ततश्च मायाशबलितं ब्रह्मैव गणपतिरिति पुराणेऽस्मिन्नुपदिष्टम्।

माया च तस्य बुद्धिः सिद्धिरिति द्विविधा ख्यापिता। तत्र बुद्धिः चित्तशब्देन पर्यायेणात्रोक्ता, पञ्चविधा सा चोक्ता। पञ्चविधत्वं च क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तम्, एकाग्रं, निरुद्धमिति चित्तस्य टीकाकृता व्याख्यातम्। क्षिप्तं संसारिणां, मूढं

भ्रान्तानां विक्षिप्तं मुमुक्षूणां, विशेषेण ब्रह्मणि क्षिप्तमित्यर्थः एकाग्रं योगे प्रयतमानानां, निरुद्धं च योगिनामिति। एते भेदाः प्रायेण योगदर्शनादेव गृहीताः स्युः। चित्तपदं चेदं शास्त्रेषु बहुधा व्याख्यायते। सांख्यदर्शने मनोबुद्धिरहङ्कार इति त्रिविधमेवान्तःकरणमुक्तम्। योगदर्शने तु चित्तपदमनेकसूत्रेषु व्यवहृतं दृश्यते। परं तदन्तःकरणपर्यायत्वेनैवोक्तमिति प्रतीयते। वेदान्तिनश्च मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति चतुर्धान्तःकरणं व्याचक्षते। "संकल्पं, व्यवसायम्, अहंभावं स्मृतिञ्चेति" एतादृशीं च वृत्तिं तेषामभिदधति।

अथागमशास्त्रे तु "चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्" (प्रत्यभिज्ञाहृदये, सू॰ ५) इति चित्तं व्याख्यातम्। तथा च चितिशक्तेः प्रथमः संकोचो बुद्ध्यपेक्षयापि सन्निकृष्टतरश्चित्तमिति प्रतीयते। इह तु बुद्धिपर्यायत्वेन चित्तशब्द उपात्तः। एभिश्च बुद्धिवृत्तिभेदैश्चित्तपदवाच्यैः यद् यत्प्राप्यते तत्सर्वं सिद्धिपदेनोच्यते। एता बुद्धिवृत्तयस्तत्फलानि चेत्युभयमपि संसारेऽन्तर्भूतमिति मायारूपमेवात्र निर्दिष्टम्। यद्यपि निरुद्धेन चित्तेन प्राप्तव्यो मोक्षो न मायायामन्तर्भावयितुं युक्तः। तथापि स मोक्षश्चरमवृत्त्यैव लभ्यः, ततः पूर्वं निरुद्धेनापि चित्तेन प्राप्या अणिमादिसिद्धयो मायायामेवान्तर्भवन्ति। वृत्तयस्तु सर्वा अपि मायान्तर्भूताः सन्त्येवेति बुद्धिः सिद्धिरिति भगवतो गणेशस्य द्वे माये अत्र व्याख्याते। गणपतेश्चापि रूपं जगद्विशिष्टब्रह्मतयैवात्र ख्यापितम्। शिरो ब्रह्म तदवरमङ्गन्तु जगदित्येकत्रोक्तम्। अपरत्र तु योगरूपेण गणपतिरुक्त इति कायः सविकल्पकसमाधिरूपेण, शिरश्च निर्विकल्पसमाधिरूपेण निर्दिष्टः। यदा गजः शुण्डादण्डं मुखे निवेश्य निमीलितनेत्रो भवति तदा मण्डलाकारं तन्मुखमेकरूपमेव प्रतीयते, न च तत्रावयवभेदः प्रतीयते इति निर्विकल्पकसाम्यं तत्राभिसंहितम्। केवलवेद्यविषयैकाकारैव तत्र वृत्तिर्भवतीत्येकदन्तरूपेण तदेव सूचितम्। काये तु विभिन्ना अवयवाः प्रतीयन्त एवेति तस्य संसाररूपता प्रस्फुटैव। चतुर्भिश्च भुजैश्चतुर्दिग्व्याप्तिः सूच्यते। करेषु चिह्नानि च चतुर्विधपुरुषार्थसूचकानि। तत्र पाशोऽर्थरूपः, अर्थरूपेण पाशेनैव जीवानां विशेषतो बन्धनदर्शनात्। मोदकन्तु कामरूपम् तात्कालिकसुखरूपमोदहेतुत्वात्। अंकुशश्च धर्मरूपः नियन्तृत्वेन चर्मस्याङ्कुशशासनात्येनैव प्रवृत्तिदर्शनात्। अथ कमलं जलस्थितमपि जलेन मनागपि न लिप्यते इति मोक्षरूपं तद्भगवतो हस्ते स्थितम्। एतांश्चतुरोऽपि पुरुषार्थान् यथाधिकारं सेवमानो भगवान् गणपतिः संसारिभ्यो ददातीति त एते तद्भुजस्थतया निर्दिश्यन्ते।

अस्मिंश्च ग्रन्थे एकैकस्मिन् खण्डे गणपतेः एकैकन्नामाधिकृत्य तद् व्याख्या विशेषेण दर्शिता, यथा प्रथमखण्डे वक्रतुण्डनाम व्याख्या। द्वितीयखण्डे एकदन्तनामव्याख्या, तृतीये लम्बोदरनामव्याख्या चतुर्थे गजानननामव्याख्येत्यादि।

तत्र तृतीये लम्बोदरपदमित्थं व्याख्यातम्—गणपतेः कायः संसाररूप इत्युक्तं प्राक्। संसारिणाञ्चोदरं दुष्पूरं भवति। बहुतरभोगेऽपि तत्र शान्तेरदर्शनात्। अतएव गणपतेः बहुविस्तृतमुदरं मूर्तिषु दृश्यते। ब्रह्मरूपश्च गणपतिः संसारिणामुदरं प्रविश्य भुंक्ते।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

इति भगवद्गीतायां गणपत्यभिन्नेन भगवता कृष्णेनाभिधानात्। तस्मात् परेषामुदरं प्रविश्य भोगकरणादपि तस्य महदुदरं ख्याप्यत इति। एवमत्र भगवतो गणेशस्य स्वरूपं स्थाने स्थाने निरूपितम्।

तत्र तत्र कथाभिश्च भगवतो गणेशस्यैव पञ्चसु देवतासु प्राधान्यं ख्यापितम्। तथा हि सूर्यमण्डलमभितो निविष्टाः सूर्येण सहैव भ्राम्यन्तो वालखिल्या एकदा सूर्यं पृष्टवन्तः यत् "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" इत्याद्याभिः श्रुतिभिस्त्वमेव सर्वजगत्कारणं सर्वस्यात्मा चाम्नायसे। भवन्तमपि च ध्याननिरतं पश्यामः। तद्भवान् कमभिध्यायतीति नो मनसि जिज्ञासा समुदेति तां कृपया शमय इति।

तदा सूर्यः "गणपतिरस्माकं सर्वेषामधिष्ठाता स एव च परं ब्रह्म, तदाज्ञयैव वयं सर्वे तत्तत्कर्मसु प्रवर्तामहे। तमेवाहं सततमभिध्यायामि" इति तान् प्रबोधितवान्। निर्दिष्टवांश्च गणपतितत्त्वं प्रागुक्तम्। भूयश्च तन्माहात्म्यं सुस्पष्टं व्याचक्ष्व कृपयेति पृष्टः सन् स्वीयां कथां कथितवान् यत् कश्यपो मन्मन्त्रं जपन् मां सुचिरमाराधितवान्। तत्तपसा सुप्रसन्नश्चाहं यदा वरं प्रदातुं तत्समीपे गतः तदा स मां बहुतरं स्तुत्वा "त्वमेव मत्पुत्रतां याहि" इति वरं प्रार्थितवान्। अहञ्च प्रसन्नस्तस्मै तादृशमेव वरं दत्तवान्। एवमदित्यापि बहुतरं तपस्यन्त्या स एव वरो मत्सकाशाल्लब्धः। विश्वकर्मा च मत्पत्नीं संज्ञानाम्नीं तपसा समाराध्य "त्वं मे पुत्री भूयाः" इति वरं प्रार्थितवान् प्राप्तवांश्च। तथाहं कश्यपाददित्यां द्वादशभी रूपैरवतीर्णः। मत्पत्नी संज्ञा च विश्वकर्मणः पुत्रीत्वमगात्। तथापि विश्वकर्मणा सा मह्यं प्रदत्तेति आवयोः सम्बन्धो जातः। तया विहरंश्चाहं श्रुतिवाक्यैः स्वमेव सर्वश्रेष्ठतया मन्वानो गणपतिं व्यस्मार्षम्। तदा गणपतिना विघ्नः समुत्पादितः। स चेत्थंरूपो यन्माली सुमाली चेति द्वौ भ्रातरौ दैत्यकुले समुत्पन्नौ। ताभ्यां च तपसा शिवमाराध्य मत्तोऽप्यधिकप्रकाशं विमानमेकं प्राप्तम्। प्रकाशयन्तौ तौ रात्रिमेव व्यलोपयताम्। दिवा मत्प्रकाशः रात्रौ च तदीयविमानप्रकाशः इति सदैवैकविधप्रकाशसद्भावाद् रात्रिः केनापि न प्राज्ञायत।

तदा च प्रातर्मध्याह्नादिकालस्याप्यज्ञानात्तत्कालविहितानि यज्ञादिकर्माण्यपि बिलोपमेव गतानि। अहमेव च यज्ञाहुतिभिराप्यायितो भवामीति मदाप्यायनमपि

यज्ञविलोपान्निवृत्तम् । एवंविधं व्यतिकरमालोक्य मया स्वतेजसा विमानेन सहैव तौ दैत्यावपि दग्धौ । तदा च स्वभक्तानां दाहात्कुपितेन शिवेन त्रिशूलेन मदीयं शिरश्छिन्नम् । तदा सर्वथैव वैदिकानां कर्मणां लोपो जातः । सर्वा अपि च प्रजा मत्सम्बद्धा इति तासामपि विनाश आपतितः । तदा च सर्वैर्ऋषिभिः संभूय भगवान् शिवः प्रार्थितो यत् किमिदं भवता कृतम् । सूर्यं विना कथं प्रजानां स्थितिः संभवेत् । न चायं प्रलयकाल इत्यकाण्ड एव सर्वप्रलयः कथं भवता प्रारब्ध इति । तदा च शिवेन विचार्योक्तम्—गणपतिना समुत्पादितोऽयं विघ्न इति गणपतिमेवाराध्याहं सूर्यं जीवयिष्यामीति । अनन्तरञ्च भगवन्तं गणपतिं प्रसाध्य शिवेनोक्तम् यत्सूर्यं जीवय अन्यथाहमपि स्वकीयं शिरश्छेत्स्यामीति, इत्थं विज्ञापितेन श्रीगणपतिना स्वीयं विघ्नमुपसंहृत्याहं जीवितं प्रापितः मदीयं शिरः पुनः कायेन योजितम् । पूर्वं छिन्नं मदीयं शिरश्च काश्यां लोलार्के निपतितमभूत् । तत्रैव चाहं जीवितः । पुनर्जीवितेन च मया चिन्तितं यत् श्रुतिर्मां सर्वस्यात्मानमाह आत्मनश्च कथं मृत्युः संभवेत् । तस्मान्नाहं सर्वस्यात्मेत्येवानुमीयते । न च मया सर्वे जनाः प्रसूताः । तस्माद् व्यर्थप्रायोऽहमरण्यमेव गत्वा तपश्चरिष्यामीति । अरण्यं गन्तुं प्रवृत्ते च मयि ब्रह्मा समेत्य मां प्रबोधयाञ्चकार—

यच्छ्रुतिः सत्यमेवाह-अवश्यं भवान् सर्वस्य जगतः आत्मा भवतैव च सर्वा अपि प्रजाः पाल्यन्ते । परं सर्वेऽपि वयं ब्रह्मणः शासने तिष्ठामः । तच्छक्त्या च सर्वे वयं तच्छक्तिमन्तः । स ब्रह्मरूपो भगवान् गणपतिः सर्वैरस्माभिः समुपास्यः सेवनीयश्च । भवता गणपतिस्मरणं विस्मृतमिति तत एवायं विघ्नः समुत्पन्नः । इदानीं स्वाधिकारं सम्यङ्निर्वाहयता भवता सर्वाधिपतिर्गणपतिः सदा स्मरणीयः सेव्यश्चेति ।

अस्यां कथायामिदं रहस्यं यत् कश्यपो नाम ऋषिरेकः, ऋषयश्च मौलिकाः प्राणाः, सर्वाधिभूता इति श्रुतिषु ख्याप्यते । तदुक्तं शतपथब्राह्मणे—"असद्वा इदमग्र आसीत्, तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषयः" इति । तेभ्य एव चाग्रे सर्वोत्पत्तिः समाम्नाता । भगवता मनुना चाप्युक्तम्—

> ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः ।
> देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरन् स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ इति ।

ततश्च ऋषिभ्य एव पितरो देवाश्च जायन्त इति फलितम् । तत एव च "काश्यपाः सकलाः प्रजाः" इति कश्यपस्य सर्वप्रजानिर्मातृत्वं पुराणादिषु ख्याप्यते । कश्यपश्चायं "कश्यपः पश्यको भवति" इति ब्राह्मणेषु निरुक्तः ।

कूर्मोऽपि च जन्तुविशेषः कश्यप-शब्देनाख्यायते। स च यथाङ्गानि संकोचयति विकासयति च, तथैव कश्यपनामा ऋषिरपि स्वाङ्गभूताः प्रजा बहिर्निःसारयति, समये संकोचयति चेति उभयोः साहश्यम्। कूर्मस्य च पृष्ठभागः सुदृढो भवति, अधोभागश्चातिकोमलो भवति। तथैव ब्रह्माण्डस्याप्येको भागः सूर्यातपान्निष्ठुरो भवति, अपरश्च मृदुरिति ब्रह्माण्डप्रतिकृतिरयं कूर्मः।

तदेतत्सर्वमालोच्याधोमुखोऽत एव सर्वमधःस्थितं पश्यन्नयं प्राणविशेषः कश्यप इत्याख्यातः। ऊर्ध्वमध इति द्वेधा विभक्तस्याकाशस्योर्ध्वभागोऽदितिर्नाम अधोभागश्च दितिर्नाम। ते उभे अपि कश्यपस्य पत्न्यौ समाख्याते। तत्र प्रकाशमाने ऊर्ध्वभागे देवा उत्पद्यन्ते। अन्धकारितेऽधोभागे चासुराः। तदित्थं सर्वदैव घनभूतोऽत एव "चित्रं देवानामुदगादनीकम्" इति श्रुत्या देवानामनीकरूपत्वेनाम्नातः सूर्योऽपि कश्यपाददित्यां जात इति स्पष्टीभवति। स च द्वादशसु मासेषु पृथग्विधकार्यकरणाद् द्वादशरूप आख्यायते। सूर्यस्योदय एव सर्वेषां प्राणिनां चेष्टाः प्रवर्त्तन्ते इति चेष्टापरनाम्नी संज्ञा तत्पत्नीत्वेन पुराणेषूक्ता। अन्यत्र पुराणेषु सुरेणुरित्यपि तस्या नाम स्मर्यते सूर्यस्योदयकाले गवाक्षादिषु रेणव इव चलन्तः प्रतीयन्ते याः 'जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणूरजस्स्मृतम्' इत्यादिस्मृतिषु त्रसरेणुत्वेनाख्यायन्ते, एतदेवाभिप्रेत्य सुरेणोरपि सूर्यपत्नीत्वमाख्यातं द्रष्टव्यम्। तस्या अपसरणे च छायानाम्नी परापि स्त्री सूर्यपुराणेषूक्ता। प्रभाया अपसरणे छाया जायते इति तदभिप्रायोऽपि स्फुटः। सा चेयं विश्वकर्मणः पुत्री इत्याख्याता। अत्र विश्वकर्मेति सर्वकरणशीलं सर्वशक्तिमत् पारमेश्वरमेवैकं रूपं द्रष्टव्यम्। तत एव च सर्वेषां प्राणिनां चेष्टाः प्रादुर्भवन्ति। व्यष्टिभूतानां जीवानां चेष्टायाः समष्टिरूपपरमात्माधीनत्वात्। सूर्यशिरश्छेदस्य चायमभिप्रायो यत् प्रत्येकस्मात्पदार्थाद् ये किरणा बहिर्गच्छन्ति ते सूचीमुखा भवन्ति, ते च मध्ये मध्ये संगत्य पुनस्तिर्यग् गच्छन्ति। तत एव दूरस्थं वस्तु शनैर्लघु प्रतीयते इति "छन्दोवेदनिरूपणे" गुरुवरैः श्रीविद्यावाचस्पतिमहोदयैः स्पष्टं व्याख्यातम्। इदमेव श्रुतिषु क्वचिद् गायत्र्याः शिरश्छेदरूपेणाम्नायते। इह तु सूर्यशिरश्छेदरूपेणैवोक्तम्। किरणानां परस्परं संघर्षेण शिरश्छेद एव सूर्यशिरश्छेदत्वेनोक्तः, सूर्यकिरणानां सूर्याभिन्नत्वात्। सर्वं चेदं रुद्ररूपेण वायुना क्रियते इति रुद्ररूपशिवकृतत्वं शिरश्छेदस्योक्तम्। एवंविधैरागतैः किरणैरेव चन्द्रमसो दीप्तिर्जायते, स च रात्रावपि प्रकाशते इति रात्रावपि प्रकाशः कथायामुक्तः। सूर्यस्य शिवस्यापि च गणपत्याराधने हेतुस्तु पूर्वं विवृत एव गणपत्याराधकैर्गणपतेरेव परब्रह्मत्वेन विवक्षणादिति सर्वं यथायथं योज्यम्। काश्यां शिरःपतनादि तु लोलार्कतीर्थमहिमख्यापनार्थमेव द्रष्टव्यमिति। अग्रे च मोहस्योत्पत्तिवृत्तान्तं वालखिल्यैः पृष्टः सूर्यस्तान् बोधया-

मास—यदेकदा शिवो भगवान् वने एव तपश्चरन्नास्ते स्म। तदैव तारकासुरेण स्वस्वस्थानेभ्यः परिभ्रंशिता देवाः शिवस्य वीर्यादुत्पन्नेन हन्तव्य एष तारकासुर इति विज्ञाय कैलासे पार्वतीसविधे गताः। सर्वञ्च वृत्तान्तं तस्यै न्यवेदयन्। तदा पार्वती भिल्लीरूपं विधाय वने शिवसन्निधौ गता। अतिसुन्दरेण च तत्रैव वने पुष्पवच्चयादि कुर्वती विचरति स्म। समाधेर्व्युत्थानकाले च शिवस्तद्रूपं दृष्ट्वा मोहितो भूत्वा तां ग्रहीतुमधावत्। सा च ततो दूरीभवन्त्येव ततस्ततो विचरति स्म, न तद् हस्तगा बभूव। भूयोभूयस्तद्ग्रहणायोत्सुकः शिवस्तामन्वधावत्। एवमनुधावत एव शिवस्य वीर्यं चस्कन्द। तदेव च वीर्यं मोहरूपतामापद्यत। ततश्च परावृत्तेन शङ्करेण ध्यानं कृत्वा पार्वत्येवेयमासीदिति प्रत्यभिज्ञातम्। ततश्च स पार्वतीसविधे गत्वा देवानां च प्रार्थनां श्रुत्वा तया सह रन्तुमारेभे। मध्य एव कामस्यापि कथाऽत्र वर्णिता। एवं भिल्ल्यां कामवशगेन शङ्करेण क्रोधात्कामो भस्मीकृतः। पश्चाच्च यदा स पार्वतीसमीपमाजगाम, तदा कामं सस्मार "मह्यमङ्गं देहि यत्त्वया भस्मीकृतम्" इति तत्प्रार्थितश्च "गणपतिमाराधय स एव तुभ्यमङ्गं दास्यति" इत्युपदिश्य गणपतेरेकाक्षरं मन्त्रं तस्मै ददौ। तेन मन्त्रेण समाराधितश्च भगवान् गणपतिः प्रत्यक्षीभूय तस्य कानिचित्स्थानानि निर्दिष्टवान्। एवंविधेषु स्थानेषु त्वं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार। अङ्गन्तु तव विष्णोरवतारभूतेन कृष्णेन दास्यते। स एव रुक्मिण्यां त्वामुत्पादयिष्यति। तत्रापि च तवेयं रतिरेव भार्या भविष्यतीत्यादिः कामकथा मध्ये एवात्र वर्णिता। तदनु कार्तिकेयजन्मकथापि प्रक्रान्ता बहुकालं पार्वत्या रममाणोऽपि भगवान् शङ्करो यदा न तृप्तिमगात् तदा देवैः प्रेरितो वह्निर्भिक्षुकवेषेण रममाणयोस्तयोः प्रदेशं गत्वा दूरस्थित एव भिक्षामयाचत तदा कश्चित् पुरुष आयात इति विज्ञाय पार्वतीपरमेश्वरावुत्थितावभूताम्। उत्थितमात्रस्य च शम्भोः वीर्यं भूमौ चस्कन्द।

तदादाय च पार्वती भिक्षारूपेण भिक्षुरूपाय वह्नये प्रददौ। वह्निस्तदशित्वा दुर्जरत्वात् तदसहमानश्च गङ्गां गत्वा तत्रोद्गीर्णेन तच्चिक्षेप। तत्र स्नानार्थमागताश्च कृत्तिका जलेन सह तत्पपुः। ता अप्यसहमानाश्च शरस्तम्बे तदुद्गिरन्ति स्म। तत्रैव कुमारो जातः। कृत्तिकाभ्यो जातत्वादयं कार्तिकेय उच्यते। शरस्तम्भे च जातत्वात् शरजन्मा। तं नारदो ददर्श। स च कैलासं गत्वा पार्वतीं प्रति कुमारजन्माख्यातवान्। पार्वती तत्रागत्य तं पयः पाययामास। कृतसंस्कारश्च स सेनापतिर्भूत्वा देवैः सह तारकं हन्तुं जगाम। बहु युध्वापि हन्तुं न शशाक। तदा कथं हन्तुं शक्नुयामिति शम्भुं पप्रच्छ। शम्भुनोपदिष्टश्च गणपतिमाराधयाञ्चक्रे। आराधितश्च गणपतिः प्रत्यक्षीबभूव। कार्तिकेयेन सह बहुधा स्तुतः। अत्रैव स्तुतौ मूषकवाहनस्यापि रहस्यमुक्तम्—यथा मूषकः पृथिव्यां प्रच्छन्न एव निवसति, प्रच्छन्न एव च वन्धनानि छिनत्ति, तदा त्वमपि सर्वेष्वन्तर्निगढो निवससि। अविज्ञात एव

भक्तानां बन्धनानि छिनत्सि' इति मूषकवाहनस्त्वमुच्यसे इत्यादि। गणपतिना दत्तवरश्च स पुनर्देवानां सेनापतिर्भूत्वा युद्धाय यातः तारकासुरं जघान चेति मध्य एव तारकासुरकथा पुराणान्तरसंवादिनी कथिता। केवलं गणपतितपश्चरणमेवात्र विशेष उक्तः। अथाग्रे पुनर्मोहचरितमुपक्रान्तम्, शिववीर्यादुत्पन्नो मोहः दैत्यगुरुं शुक्रं शरणं गतः। तेनैव तस्य संस्काराः कृताः, सूर्याराधनोपदेशश्च दत्तः, तेनाराधितश्च सूर्यस्तस्मै वरान् ददौ, सूर्यात्प्राप्तवरश्च स दैत्यानामधिपतिर्बभूव। प्रमादस्य सुतां मदिराख्योपयेमे। तस्यां तस्य तद्वय उग्रः क्रूरः मेधावी शोचनो हरणश्चेति पञ्चसुता बभूवुः। विषयावास-नगरञ्च सूर्येणास्मै दत्तम्। क्रमेणायं सर्वेषां दैत्यानामधिपो भूत्वा स्वसुतान् तत्रतत्राधिपत्ये प्रतिष्ठापयामास। देवाश्च देवनिकायेभ्यो विवास्य तन्निकायेष्वपि स्वाधिकारमेवाकरोत्, अथ देवाः पराजिताः शम्भुसमीपे विष्णुसमीपे च गताः। सर्वे च सम्भूय गणपतिमेव शरणं याताः। तैः प्रार्थितश्च गणपतिस्तं योद्धुं चलितः। नारदश्च पुरैव दौत्येन तत्समीपे प्रस्थापयामास। स्वसमीपमागतं नारदमसौ संस्कारेण जग्राह। "त्वं सर्वत्र विचरसि। लोकस्य वार्तां ब्रूहि", इति तेन पृष्टश्च नारदः "गणपतिस्त्वां योद्धुमभियाति, त्वन्नगरात् कियद्दूरे अभिस्थितः। तत्परब्रह्मणा गणपतिना सह तव योधनमनुचितम्। त्वं तं शरणं प्रयाहि" इत्यादि जगौ। तेन पृष्टश्च गणपतेर्महिमानं तं प्रति व्याख्यातवान्। एवं प्रबोधितश्च मोहासुरो गणपतिं ययौ, तेनाज्ञप्तश्च देवेभ्यः स्थानानि दत्वा दैत्यैः सह पातालं विवेश इति मोहकथासंक्षेपः।

अस्यास्याः कथायाः निगूढाभिप्रायः प्रकटीक्रियते। अन्तरिक्षस्थाने रुद्रः द्वेधा श्रुतौ व्याख्यातः 'तस्य द्वे तनू घोरास्या च शिवास्या च' तत्र शिवतनुर्भगवान् सर्वैरुपास्यते, घोरतनुस्तु मुञ्जवतोऽपि पर्वतात् परतो गन्तुं तत्र तत्र प्रार्थ्यते। तत्रेदं चरितं घोरतनोर्भगवतो रुद्रस्यैव। अतएव तस्य वने विचरणमेवात्र निर्दिष्टम्। अन्येषु पुराणेष्वपि च ब्रह्मणा यदा क्रुद्धेन रुद्र उत्पादितः, प्रजाः सृजेति चादिष्टः, यदा तेन स्वसदृशी भयङ्करी प्रजा स्रष्टुमारब्धा, तदा ब्रह्मणा स्वसृष्टिकरणान्निवर्तितः इति तत्र तत्राख्यायते। एवं विधस्यैव रुद्रस्य वीर्येण मोहोत्पत्तिश्च वर्णिता। मोहस्य च प्रसर आसुरीष्वेव सृष्टिषु भवति, इति असुराचार्यस्यैव समीपे तस्य गमनमुपदिष्टम्। तस्य यादृशः परिवारो वर्णितः तेन स्वल्पबुद्धीनामपि आध्यात्मिकस्यैव मोहस्येयं रूपकविधया कल्पना कृतेति स्पष्टं भासेत। तथाहि प्रमादस्तस्य श्वशुर उक्तः। तत्कन्या च मदिरा मोहस्य पत्नीत्वेनोक्ता। मदिरयेव मोहः प्रवर्तते। मोहेन च मदिरापाये प्रवृत्तिरित्यन्योन्यसाहचर्यात् पत्नीत्वाख्यानं युक्तमेव। सुताश्च तस्य ये उक्तास्ते ते मोहजनितावस्थाविशेषा एव। उग्रत्वं क्रूरत्वञ्च मोहेन मदिरया च जायते। 'मेधावी' इति पाठस्तु मोहपुत्रेषु भ्रमजनितोऽशुद्ध एव प्रतीयते, टीका-

कृता तु नानाविधविषयस्मरणादसन्मेधाविशिष्ट इति व्याख्यातम्। अस्मन्मते तु "अमेध्याशी" इति मोहपुत्रेषु गणनं युक्तं प्रतिभाति। मोहेनैव अमेध्याशने प्रवृत्तिदर्शनात्। अन्ते च शोकमेवोत्पादयति मोहः, शोकार्तस्य च तत्तत्पदार्थ-हरणरूपं चौर्यमप्युत्पादयतीति पञ्चैते मोहपुत्राः स्थाने व्याख्याताः।

तस्य नगरं च विषयावासरूपं यन्निर्दिष्टं तदप्युचितमेव, मोहाक्रान्तानां विषयेष्वासक्तिदर्शनात् प्रवृद्धश्च मोहोऽन्तःकरणे दैवीवृत्तीर्दानधर्मपरोपकाराद्या उत्सादयतीति देवान् स्वस्थानात् प्रच्याव्य दैत्यानां तत्र निवेशः सम्यगेव प्रतिपादितः। कामक्रोधहिंसादीनां वृत्तीनामेव मोहेन जननात्। एवंविधानां दैवीनामासुरीणाञ्च वृत्तीनां संघर्ष एव देवासुरयुद्धत्वेन श्रीशङ्कराचार्यैर्व्याख्यात उपनिषद्भाष्ये। एवञ्चिरं मोहराज्ये प्रवृत्ते सत्कर्म परिपाकवशात्पुनरपि दैवीनां वृत्तीनां कदाचिदुदयो भवत्येव। देवैः प्रार्थितश्च ज्ञानरूपो गणपतिर्यदा मोहमाक्रमितुं प्रवृत्तः तदा मोहः स्वयमपसृत इति युक्तमत्र प्रतिपादितम्। पातालगमनञ्च यदसुराणामत्रोक्तम्, तदाधिभौतिकदृष्ट्या, अधिभूतं हि देवानां त्रिलोक्यामावासः असुराणां च पाताले इत्येव पूर्वं ब्रह्मणा व्यवस्था कृतासीत्। तदेतन्मार्कण्डेय-पुराणे सप्तशतीपाठेऽपि देव्या उक्तम्—

> त्रैलोक्यमिन्द्रो लभतां देवाः सन्तु हविर्भुजः।
> यूयं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ॥

इति मोहकथाया आध्यात्मिकं रहस्यम्।

मध्ये कार्तिकेयजन्मकथा च याऽत्रोक्ता तस्या अपीदं तात्पर्यमवसेयम्—यद् वह्नी रुद्रवीर्यत्वेनैव तत्र तत्र ख्याप्यते। कृशानुरेता इति रुद्रनामसु कोशेष्वपि पठ्यते। अन्तरिक्षस्थो विकृतो वायुरेव वह्निमुत्पादयति। "अग्नीषोमात्मकं जगदिति" जगन्मूलत्वेन परिभाषितयोरग्नीषोमयोर्मध्ये शुष्क-पदार्थानामग्नित्वेन आर्द्राणां च सोमत्वेन परिभाषणं द्रष्टव्यम्।

तदेवात्र वह्निपदेनोक्तम्। यद्—'आक्सिजन' नाम्ना परिभाषन्ते पाश्चात्या वैज्ञानिकाः, तस्यैव रुद्रवीर्यस्य वह्निना धारणमस्यां कथायामाख्यायते। जलेऽपि च तत्सम्बन्धादेव द्रवत्वमुत्पद्यते इति। जलेऽपि तद्भानरूपेण प्रविष्टं भवतीति वह्निना गङ्गायां तन्न्यसनमत्रोपवर्ण्यते। तारासु च कृत्तिकायां, तत्सम्बन्धः, अतएव कृत्तिका आग्नेयं नक्षत्रं व्याख्यायते।

अग्रे च सूर्यवंशश्चन्द्रवंशश्चाप्यत्र महापुराणवत् संक्षेपेणोक्तः। तत्र च रामकृष्णयुधिष्ठिरादीनामपि गणपत्युपासनं तत्र तत्र निर्दिष्टम्।

———

वेदेषु पुराणमहत्त्वम्

भगवती श्रुतिः पुराणानां पञ्चमवेदत्वं स्वयमाचष्टे । तत्र प्रथममथर्वसंहितायाः पञ्चदशं काण्डमेवालोच्यताम् । तद्धि व्रात्यमहिमप्रतिपादकमखिलमपि काण्डम् । काण्डारम्भादेव प्रथमेऽनुवाके प्रथमे पर्यायसूक्ते व्रात्यस्य प्रजापतिप्रेरकत्वं चाम्नाय, व्रात्यस्य नीललोहितत्वम्, ईशानमहादेवपदाभिलप्यतां च प्रतिपाद्य, द्वितीये पर्यायसूक्ते तस्य व्रात्यपदाभिधेयस्य महादेवस्य उत्थाय प्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु चलनम्, बृहद्रथन्तरादीनां साम्नाम्, आदित्यविश्वदेववरुणादीनां देवानाम्, ऋषीणाम्, यज्ञयजमानादीनां च तत्तद्दिक्षु तदनुगमनमभिधाय, अन्यदपि बहुतरं तस्य परिकरमुक्त्वा तद्विनिन्दकस्य हानिम्, स्तोतुश्च तत्तत्पदार्थसम्पत्तिमभिष्टुत्य, तृतीये पर्यायसूक्ते देवसमर्पितायमासन्द्यां तस्य महादेवस्यारोहणम्, ऋग्यजुरादीनां वेदानाम्, साम्नाम् ग्रीष्मवसन्तादीनामृतूनां चासन्द्या अङ्गत्वं प्रख्याप्य, चतुर्थे पर्यायसूक्ते वसन्तादीनामृतूनां बृहद्रथन्तरादीनां साम्नां च पृथक् पृथक् प्राच्यादिषु दिक्षु तद्गोप्तृत्वं व्याख्याय, पञ्चमे भव-शर्व-रुद्राद्या अष्टौ प्रसिद्धा रुद्रमूर्तयः पृथक् पृथक् दिक्षु तस्य इष्वासाः (शरप्रक्षेप्तारः) इति निरूप्य, तत्रैव प्राच्यादिभिश्चतसृभिर्दिग्भिः सह ध्रुवा-ऊर्ध्वा-अन्तर्देश इत्यपि दिश उक्त्वा, षष्ठे पर्यायसूक्ते (अथ० १५ का०, १ अनु०, ६ सूक्त) तस्य व्रात्यापरपर्यायस्य महतो देवस्य ध्रुवायां दिशि चलनम्, तत्र भूम्यग्न्यादीनां तदनुगमनम्, ऊर्ध्वायां दिशि चलनम्, तत्र ऋतसत्यसूर्यचन्द्रनक्षत्रादीनां तदनुगमनं च निरूप्य तदनन्तरमाम्नातम्—

स उत्तमां दिशमनुव्यचलत् ॥ ७ ॥

तमृचश्च सामानि च यजूँषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥ ८ ॥

ऋचां च वै ससाम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद ॥ ९ ॥

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ॥ १० ॥

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥

इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद ॥ १२ ॥ इति ।

अग्रेऽपि परमाद्यासु दिक्षु चलनमनुचलनं च सुदूरपर्यन्तमाम्नातम् । इह व्रात्यस्य वैदिकं रहस्यमतिविस्तृतत्वादप्रकृतत्वाच्च न व्याख्यायते । न चात्र

सायणमाधवादीनामाप्तानां भाष्यमप्युपलभ्यते। केवलमत्रैतावदेव प्रतिपाद्यं यद् ऋग्यजुःसाम्नां ब्रह्मपदप्रतिपाद्यस्याथर्ववेदस्य च यथात्र व्रात्यानुगमनं श्रुतं तथैवेतिहासपुराणयोरपीति वेदैः सह परिगणनात् पञ्चमवेदत्वं तयोर्भगवत्या श्रुत्यैव व्यञ्जितम्। व्रात्यपदेनात्र रुद्रावतारः परमात्मा विवक्षित इति तु स्फुटमेव। 'व्रात्यो वा इदमग्र असीत्' इति हि पैप्पलादसंहितायां सर्वेभ्यः पूर्वभावित्वं निर्दिष्टम्। रुद्रस्य नीललोहितकुमारत्वञ्च पुराणेषु ख्यापितमेव। "नमो व्रात्याय" इति रुद्राध्यायेऽपि श्रूयते। ततश्च अत्रोपनिबद्धदेवादीनां वेदपुराणादीनां च तदनुगमनं युक्तमेवेति॥

छान्दोग्योपनिषदि च (७ प्रपा०, १ ख०) नारदसनत्कुमारसंवादे स्पष्टं श्रूयते—'अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः, तँ होवाच, यद्वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि' इति॥ १॥

'स होवाच—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्, इतिहासपुराणं पञ्चमम्, वेदानां वेदम्, पित्र्यं राशिम्, दैवं निधिम्, वाकोवाक्यम्, एकायनम्, देवविद्याम्, ब्रह्मविद्याम्, भूतविद्याम्, क्षत्रविद्याम्, नक्षत्रविद्याम्, सर्पदेवयजनविद्याम् एतद् भगवोऽध्येमि॥ २॥ सोहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवित्' इत्यादि॥

अत्र हि स्पष्टमितिहासपुराणयोः पञ्चमत्वम्—अर्थात् पञ्चमवेदत्वमभिहितम्। अग्रेऽप्यस्मिन्नेव प्रकरणे—

'नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद आथर्वणश्चतुर्थः इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः' इत्यादि॥ ७-१-१४॥

तदग्रेऽपि—

'वाग्वाव नाम्नो भूयसी, वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्, इतिहासपुराणम् पञ्चमम्, वेदानां वेदम्' इत्यादि (७-२-१)। एवमभ्यासेनेतिहासपुराणानां वेदेषु पञ्चमत्वमत्र श्रुतम्॥

इह केचिद् वेदानां मध्ये पञ्चमं वेदम्—इति वा, वेदानां चतुर्णामपि वा वेदम्—ज्ञानसाधनम्—प्रकाशकम्—इति चेतिहासपुराणस्यैव विशेषणम् 'वेदानां वेदम्' इति व्याचक्षते। अन्ये तु महान्तो 'वेदानां वेदम्' इति व्याकरणं गृह्णन्ति। यथा तथा वाऽस्तु—पञ्चमत्वं त्विह स्पष्टं भूयसा श्रुतं नापलपनीयमेव। तच्च पञ्चमत्वं वेदेष्वेव, उपस्थितत्वादिति पञ्चमवेदत्वं स्फुटं ख्यापयति श्रुतिः। अश्वमेधप्रकरणे च शतपथब्राह्मणे (१३ का०, ४ अध्या०, ३ ब्राह्म०) पारिप्लवाख्याने प्रथमादिदिनेषु ऋग्यजुरादिवेदानाम्, सर्पदेवयजनविद्यानां च

व्याख्यानं विधाय अष्टमेऽहि इतिहासव्याख्यानम्, नवमेऽहि पुराणाख्यानं च विहितम्, तत्र चेतिहासपुराणविशेषणत्वेन वेदशब्दः स्पष्टमुपात्तः—

'अथाष्टमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितासु एषैवाऽवृद-अध्वर्यविति ह वै, होतरित्येवाध्वर्युः, मत्स्यः सामवेदो राजेत्याह, तस्योदकेचरा विशस्त इह आसत इति मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चापि समेता भवन्ति, तानुपदिशति इतिहासो वेदः सोऽयमिति कश्चिदितिहासमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति, न प्रक्रमान् जुहोति। (१२ क०) ॥

अथ नवमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितासु एषैवावृद-अध्वर्यविति ह वै होतरित्येवाध्वर्युः, तार्क्ष्यो वै पश्यतो राजेत्याह, तस्य वयांसि विशस्तानीमान्यासत इति वयांसि च वयोविधिकाश्चोपसमेता भवन्ति, तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति, न प्रक्रमान् जुहोति (१३ क०) ॥

एतदग्रे च साम्नां प्रवचनमुक्तम्। अयमत्र क्रमः—पूर्वं सावित्रीस्तिस्र इष्टीः कृत्वा यदाश्वमेधे अश्वो विमुक्तः, तदनन्तरं यज्ञमण्डपे देवसदनाख्ये यत्कर्तव्यं भवति—तत् शतपथे त्रयोदशस्य काण्डस्य चतुर्थाध्याये तृतीये ब्राह्मणे समाम्नातम्। तदुक्तमध्यायारम्भ एव—"प्रमुच्याश्वं दक्षिणेन वेदिं हिरण्मयं कशिपूपस्तृणाति (कशिपुः मृदु आसनम्) तस्मिन् होता उपविशति, दक्षिणेन होतारं हिरण्मये कूर्चे यजमानः, (कूर्चः सपादमासनम् पीठभूतम्) दक्षिणतः ब्रह्मा च उद्गाता च। हिरण्मय्याः कशिप्वाः पुरस्तात् प्रत्यङ् अध्वर्युः—हिरण्मये वा कूर्चे हिरण्मये वा फलके (पादरहितमासनम् फलकम्) समुपविष्टेषु अध्वर्युः—संप्रेष्यति (होतारं प्रेरयतीत्यर्थः) इत्यादि। एतत्सर्वं भगवता कात्यायनेनापि विवृतं श्रौतसूत्रेषु (अश्वमेधप्रकरणे) दक्षिणतो वेदेर्हिरण्ययेषूपविशन्ति ॥ १८ ॥ अध्वर्युयजमानौ कूर्चयोः ॥ १९ ॥ फलकयोर्वा ॥ २० ॥ होतृब्राह्मणोद्गातारः कशिपुषु ॥ २१ ॥ होतर्भूतान्याचक्ष्व, भूतेष्विमं यजमानमध्यूहेति पारिप्लवं प्रेष्यति ॥ २२ ॥ ह वै होतरिति प्रतिगृणाति" इत्यादिना। अत्र अध्वर्युणा प्रैषे कृते होता सर्वान् तत्तद्वेदादि व्याख्यानं श्रावयति। इदमेव पारिप्लवाख्यानमुच्यते। दश दिनानीदं व्याख्यानं प्रत्यहं प्रचलति। प्रत्यहं तिस्रः सावित्र्य इष्टयः क्रियन्ते। तत्र षट्सु दिवसेषु व्याख्यानानन्तरं प्रक्रमहोमोऽपि विधीयते, सप्तमादिषु चतुर्षु दिनेषु तु प्रक्रमहोमो न क्रियते। एवं दशसु दिवसेषु पूर्णेषु पुनरावृत्तिः पुनरावृत्तिः इति संवत्सरपर्यन्तं षट्त्रिंशदावृत्तयः क्रियन्ते। तदुक्तम्—'एतदेव समानमाख्यानम् पुनः पुनः संवत्सरं परिप्लवते। तद्यत् पुनः पुनः परिप्लवते तस्मात् पारिप्लवम् षट्त्रिंशतम् दशाहानाचष्टे' इत्यादि (शतपथ० १३ का०, ४ अ०, ३ ब्रा०, १५ क) प्रत्यहं च ऋत्विग्-

यजमानातिरिक्ता विभिन्नाः श्रोतारो यज्ञमण्डप आहूयन्ते। यस्याख्यानस्य यो राजा आम्नातस्तत्प्रजाभूताः तदुपयुक्ता एव श्रोतारः तस्मिन् दिने सन्निधाप्यन्ते॥

तत्र प्रथमे दिने मनुर्वैवस्वतो राजा, तत्प्रजानां मनुष्याणां प्रतिनिधिभूताः अश्रोत्रिया गृहस्थाः श्रोतारः ऋचां व्याख्यानम्। द्वितीये दिने यमो वैवस्वतो राजा तत्प्रजानां पितॄणां प्रतिनिधिभूताः स्थविराः (वृद्धाः) श्रोतारः यजुषां व्याख्यानम्। तृतीये दिने वरुण आदित्यो राजा, तत्प्रजानां गन्धर्वाणां प्रतिनिधिभूताः शोभना युवानः श्रोतारः अथर्ववेदस्य व्याख्यानम्। पञ्चमे दिने अर्बुदः काद्रवेयः (सर्पः) राजा, तत्प्रजानां सर्पाणां प्रतिनिधिभूताः सर्पविदः (सर्पपालकाः 'सपेरा' इति प्रसिद्धाः) सर्पैः सहिताः श्रोतारः सर्पविद्यायाः व्याख्यानम्। षष्ठे दिने कुवेरो वैश्रवणो राजा, तत्प्रजानां रक्षसां प्रतिनिधिभूताः पापकृतः सेलगाः (सेलं गायन्ति ये) श्रोतारः, देवयजनविद्याया व्याख्यानम्। सप्तमे दिने असितो धान्वो राजा, तत्प्रजानाम् असुराणां प्रतिनिधिभूताः, कुसीदिनः (कुसीदम्—ऋणरूपेण दत्तानां रूप्यकादीनां वृद्धिं 'व्याज', इति 'सूद' इति च प्रसिद्धं ये उपजीवन्ति) श्रोतारः मायाप्रतिपादकस्य वेदस्य व्याख्यानम्। अथाष्टमे दिने मत्स्यः सामदो राजा, तत्प्रजानामुदकेचराणां मत्स्यानां प्रतिनिधिभूता मत्स्याश्च मत्स्यघातकाश्च श्रोतारः इतिहासस्य व्याख्यानम्। नवमे दिने तार्क्ष्यो (गरुडः) वैपश्यतो राजा, तत्प्रजानां पक्षिणां प्रतिनिधिभूताः पक्षिणश्च पक्षिविद्यावेत्तारश्च श्रोतारः पुराणस्य व्याख्यानम्। दशमे तु दिने धर्म इन्द्रो राजा, तत्प्रजानां देवानां प्रतिनिधिभूताः प्रतिग्रहवर्जिताः श्रोत्रियाः श्रोतारः साम्नां व्याख्यानमिति। एवं वेदमध्ये व्याख्यानविधानात् "वेदः सोऽयम्" इति स्पष्टं श्रवणाच्च वेदत्वमितिहासपुराणयोरत्र स्पष्टमुक्तम्। उभे चेतिहासपुराणे अशिक्षितप्रायाणामवरजातीयानामवरकर्मरतानामपि चोद्धारके इत्यपि श्रोतृविवरणेन व्यञ्जितम्। अनेनैव श्रोतृविवरणेन न प्रसिद्धवेदभागावितिहासपुराणे-अपि तु ततः पृथगेव वेदपदबोधनीये वेदवदभ्यर्हणीये चेत्यपि स्फुटं व्यञ्जितम्। तत एव वेदानधिकृतानामपि श्रोतृतया इहोपस्थापनम्। वेदज्ञानामृत्विग्यजमानादीनामपि च तच्छ्रवणविधानमित्युभयोपकारकत्वमनयोरितिहासपुराणयोर्व्याख्यातं भवति॥

तदित्थं ब्राह्मणेषु बहुत्र पञ्चमवेदत्वमितिहासपुराणयोः स्फुटमाम्नातमिति प्रदर्शितम्। न हि ब्राह्मणानि चतुर्णामेव वेदानामन्तर्भूतानि स्वस्यैव पञ्चमत्वमाचक्षीरन्निति ब्राह्मणेभ्यः पृथगेवेतिहासपुराणयोः सत्त्वमेभिः प्रमाणैः साधितं भवति, वेदवदभ्यर्हितत्वञ्च पुराणेतिहासयोः॥

मन्त्रे च पुराणेतिहासयोरपि वेदैः सहैव परमात्मन उद्भव आम्नायते—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ॥ (अथर्व० ११।७।२४)

अत्र उद्-ऊर्ध्वम्-अर्थात् सर्वेषां भूतभौतिकानामवसाने, शिष्टः उर्वरितः परमात्मा, तस्मादुच्छिष्टात्-परमात्मन ऋगाद्याः सर्वेऽप्युत्पद्यन्ते—इति श्रीमाधवाचार्यप्रभृतयो व्याचक्षते । वैज्ञानिकास्त्वन्वेषणशीला इत्थं वदन्ति—यत्किञ्चिदपि पदार्थः परेण भुक्तः पराङ्गतां गतः—परस्मिन्ननुप्रविष्ट इति यावत्—स्वकीयाद् घनाद्यदा विच्छिद्यते तदा स "उच्छिष्ट" इत्युच्यते । यथा ग्रीष्मे सूर्यातपः स्वसंयोगिषु प्रस्तरादिष्वनुप्रविष्टोऽस्तङ्गतेऽपि सूर्ये स्वघनाद्विच्छिन्नस्तस्मिन् प्रस्तरादावेव स्थितो भवति, तत एव अस्तङ्गतेऽपि सूर्ये तस्मिन् प्रस्तरादावूष्माऽनुभूयते । यदि तु सोऽयमातपः सूर्यकेन्द्राद्विच्छिन्नो न स्यात् तदा सूर्येण सहैव गच्छेदिति कथं प्रस्तरादावूष्मानुभवसंभवः ? सोऽयं भाग ऋग्वेदपरिभाषायां 'प्रवर्ग्य' इत्युच्यते, आथर्वणे च 'उच्छिष्ट' इति परिभाषितः । ततश्चेत्थमत्र संगतिः—रसबलाख्ये द्वे जगतो मूलतत्त्वे—ब्रह्ममायाऽपरपदाभिधेये । तत्र रसो विभुर्नित्यः, बलं तु परिच्छिन्नमपि विनश्वरमपि च संख्यानन्त्याद् व्याप्तिमत् प्रवाहनित्यं च, तत्संबन्धाद्रसोऽपि परिच्छिन्न इवाभाति । तत एव च मितिसाधनाद् बलं मायेत्युच्यते । तस्मिन् परिच्छिन्ने मायाख्ये महाबले यावान् रसभागोऽनुप्रविष्टो भवति—गृहादिष्विवाकाशभागः, स पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रवर्ग्यभूतश्च उच्छिष्टश्च परिभाष्यते । स एव च भवति सर्वजगदुपादानम्—इति तस्मादेव सर्वा सृष्टिराथर्वणे समाम्नाता । अत्र पुरुषसूक्तसंवादोऽपि—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ इति ॥

अलमनेनाप्रकृतविचारेण । पुराणानां वेदैः सह तस्मादेव सर्वजगन्मूलादुत्पत्तिरिति स्पष्टमेव मन्त्रे । अत्र च नान्यविशेषणत्वेनोक्तः स्वतन्त्रः पुराणशब्दः पुराणविद्याया एवाभिधायक इति नात्र सन्देहावसरः । बृहदारण्यकोपनिषत्स्वपि—

"स यथार्द्रेन्धनाग्नेरभ्याहितस्यात् पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ।" (बृह० २।४।१०) इति महतो भूतस्य परमात्मनो निःश्वासरूपाण्येव वेदाः पुराणानि चाख्यातानि । अयमत्राभिप्रायः—अस्मदादिशरीरे द्विविधास्तावत्क्रियाः समुपलभ्यन्ते—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।

कृतिजन्यं भवेत्कर्म—

इति न्यायशास्त्रोक्तप्रक्रियया जायमानाः प्रथमाः । पुरुषः प्रथममिन्द्रियादिभिः स्वप्रतिकूलं दंशं वा मशकं वा पुरुषान्तरमेव वा प्रहरन्तं जानाति, ततश्च निवारयेयमेनमिति वा पलायेयम् इति वा इच्छति, इच्छयाऽऽत्मनि यत्नः प्रादुर्भवति, प्रयत्नवदात्मप्रेरणाच्च हस्ते पादे वा क्रिया भवति, यथा दंशादिकं पुरुषान्तरं वा निवारयति ततः पलायितोऽन्यत्र वा गच्छतीति क्रमः सर्वत्रानुभूयते । अपरास्तु क्रिया अनिच्छाकृता एव भवन्ति—यथा हृत्कम्पः, नेत्रनिमीलनम् , श्वासनिर्गमश्चेत्याद्याः । न हि वयं स्वेच्छया प्रयत्नमुत्पाद्य श्वासादिकं प्रेरयामः, अबुद्धिपूर्वकमेव तु सततं क्रमेण ताः क्रियाः स्वभावात् प्रवर्तन्ते । तथैव परमात्मनोऽपि स्वभावादेव वेदपुराणादिकं प्रादुर्भवति—न तु बुद्धिपूर्वकं तदुत्पाद्यत इति निःश्वाससादृश्येन प्रयत्नाजन्यत्वरूपापौरुषेयत्वं च वेदपुराणादीनामभिव्यञ्जितम् । नहीश्वरस्यापि वेदपुराणाद्युत्पादने स्वातन्त्र्यम्, अपि तु नित्यान्येव तानि स्वभावतस्तस्मात्प्रादुर्भवन्ति इति । यथा च निःश्वासैरेव शरीरस्यात्माधिष्ठितत्वपरिचयः, सर्वथा निःश्वासनिरोधे हि मृत इत्येवोच्यतेऽखिलैः, तथैव ब्रह्माण्डस्येश्वरशरीरभूतस्य वेदपुराणादिभिरेवेश्वराधिष्ठितत्वनिश्चयः । यदि नाभविष्यन् वेदाः पुराणानि वा, न तर्हि केनाप्येतदधिष्ठाता परमेश्वरः प्रत्यभ्यज्ञास्यत । वेदपुराणादिभिरेवेश्वरः प्रत्याय्यते । तदुक्तं भगवता व्यासेन ब्रह्मसूत्रेषु—'शास्त्रयोनित्वात्' । (१।१।३) इति ॥

जगज्जन्मादिकर्तृ ब्रह्मेति शास्त्रेणैव प्रत्याय्यतेऽयमर्थः ।

यत्तु केचिदाक्षिपन्ति—उपात्तेयं श्रुतिर्बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवादे समुपलभ्यते, तत्र च जीवात्मैवोपक्रान्तः 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादिना । ततश्चात्र महतो भूतस्येति प्रक्रान्तो जीवात्मैव ग्रहीतव्य इति नैतया श्रुत्या परमात्मनः सकाशाद् उत्पत्तिर्वेदपुराणादीनां सिध्यति इति । तदेतद्वाक्यान्वयाधिकरणेन भगवता व्यासेनैव ब्रह्मसूत्रेषु समाहितम् । जीवात्माभेदेनैवात्र परमात्मानं ग्राहयितुं प्रवृत्तो भगवान् याज्ञवल्क्यः प्रथमं सौकर्याय जीवात्मानमेव प्रियतास्पदत्वेन ग्राहयित्वा तदभिन्नतयैव परमात्मनो दर्शनं विधत्ते । तत एव 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इति । 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञामुपनिषत्प्रसिद्धामन्ववदत् । तेन च सर्वजगन्मूलभूतस्य परमात्मन एवात्र ज्ञेयत्वेनोपत्तेप इति स्फुटीभवति । मूलतत्त्वस्य विज्ञानेनैव सर्वविज्ञानसंभवात् । इदं सर्वं यदयमात्मा इति च वदन्

सर्वात्मभूतः परमात्मैवात्र वेद्यतयोपदिष्ट इति स्फुटीचकार । तदग्रे महद्-भूतपदाभ्यां तमेव स्मारयित्वा तस्मात् सर्वस्याप्युत्पत्तिमभिदधे—इति सुस्फुटोऽयमर्थः । ये तु जीवात्मनः परमात्मना सहाद्वैतभावं न सहन्ते, तेषां दुरभिलप्येयं श्रुतिरित्यन्यदेतत् ।

यदपि केचिदाहुः—"इतिहास पुराण-विद्योपनिषत्-श्लोक-सूत्रव्याख्यानादिकं सर्वमिदं ब्राह्मणभागस्यान्तर्गतमिह ग्राह्यम्, जगतः प्रागवस्थाप्रतिपादकः 'नैव वा किञ्चिदग्र आसीत्' इत्यादि ब्राह्मणभाग एव पुराणम् । 'देवासुराः संयत्ता आसन्' इत्यादयश्चेतिहासाः" इत्यादि, तदपीदं न विवेकबुद्धिग्राह्यम् । इह हि उपदर्शितायां बृहदारण्यकश्रुतौ 'ऋचः' 'यजूंषि' 'सामानि' इति नोपात्तम् अपि तु 'ऋग्वेदः' 'यजुर्वेदः' सामवेदः' इत्युपात्तम् । 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (मी० सू० २ । १ । ३५) इत्यादिजैमिनिवचोनुऽसृत्य ऋक्पदेन पद्यान्येव ग्रहीतुमुचितानि । सामपदेन गीतय एव, यजुःपदेन गद्यान्येव । ऋग्वेदपदेन तु ऋक्प्रधानः सर्वोऽपि संहिताब्राह्मणात्मक ऋग्वेद इति प्रसिद्धः संग्रहो ग्राह्यः । तथैव च सामवेदयजुर्वेदपदाभ्यामित्यस्ति शिष्टपरम्परागता शब्दार्थव्यवस्थितिः ॥

तथा च ब्राह्मणानामृग्वेदादिपदेनैव संगृहीतत्वात् पुनरितिहासपुराणग्रहणम-पार्थकमेव । तथैव च उदाहृतपूर्वायां छान्दोग्यश्रुतावपि ऋग्वेदादिपदानि संकीर्त्य इतिहासपुराणमित्यस्य विशेषणं पञ्चमम् इत्यपि श्रूयते । यदि नाम ब्राह्मणानामेव कतिचन भागा इतिहासपुराणशब्दाभ्यां विवक्षिताः स्युः, तर्हि पञ्चमपदेन ते भागाः कथं संगृह्येरन् ? तत्र हि विद्यागणना वा प्रस्तुता, ग्रन्थगणना वेति तावद्विचार्यम् । तत्रादित एव विद्यागणना चेन्मन्येत, ऋग्वेदाद्युपादानं तर्हि नान्वियात्; न हि ऋग्वेद इति यजुर्वेद इति वा क्वापि विद्या प्रसिध्यति । बह्वीनां विद्यानां तत्र तत्रान्तर्भावात् । तस्मात् 'पञ्चमम्' इति पर्यन्तम् ग्रन्थगणनैवाभिप्रेतेत्यकामेनाप्यवशं स्वीकर्तुमुचितं स्यात् । तत एव च अथर्ववेदस्य चतुर्थत्वेन पृथग्गणनापि युक्तिमती । ऋचः, यजूंषि इत्यादिरूपेण चेत्परिगण्यते, न तर्हि आथर्वणं चतुर्थमिति वक्तव्यं स्यात् । ऋगादिपदेन तद्भागानामपि संगृहीतत्वात् । अनन्तरन्तु भवतु विद्यागणना-भ्युपगमः, तत्र सङ्ख्यावाचकपदाश्रवणात्, विद्याशब्दस्य स्पष्टं श्रवणाच्च । ततश्च ग्रन्थगणनायामितिहासपुराणमिति पुराणविद्याप्रतिपादको ग्रन्थ एवोक्तः न तु ब्राह्मणेषु तत्र तत्रोपलभ्यमानास्ते भागा इत्येव युक्तमभ्युपगन्तुम् , बृहदा-रण्यकश्रुतावपि तुल्यन्यायात्तथैव । यथा चेतिहासपुराणमिति शब्दौ विद्यावाचकौ ग्रन्थेऽपि प्रवर्तेते, तथाग्रिमेषु प्रकरणेषु सुस्फुटं स्यात् । श्रीशङ्कराचार्या अपि ब्रह्मसूत्रभाष्यदेवताधिकरणे "ज्योतिषभावाच्च" इति सूत्रस्य भाष्ये "इतिहास-

पुराणमपि पौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरं मूलमाकाङ्क्षते" इति पूर्वपक्षे इतिहासपुराणयो-र्वेदातिरिक्ततां स्पष्टमुक्त्वा तत्प्रामाण्ये च संशयं प्रदर्श्य सिद्धान्तपक्षे "भावं तु बादरायणेऽस्ति हि" इति सूत्रभाष्ये ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं शक्यम्। तस्मात् समूलमितिहासपुराणम्" इत्युक्तम्। तेनेतिहासपुराणानां वेदातिरिक्तत्वेऽपि आर्षत्वं प्रामाण्यं च स्पष्टमुक्तम्। तदेवमितिहासपुराणानां वेदातिरिक्तत्वे सिद्धे तन्मूलभूतमितिहासपुराणं वेदेभ्यः पृथगेव सिध्यति। किं च ब्राह्मणभागा एव यदि विशकलय्य तैस्तैः पदैः श्रुतिषु विभिन्ननामभिः परिगृहीताः तर्हि, ब्राह्मणानां मुख्यो भागः कर्मविधिर्नाम केन शब्देन गृहीत इति विमृश्यं स्यात्। किं सर्वा विद्या अधिगतवतापि नारदेन कर्मभागो नाधीतः। बृहदारण्यके वा तस्य परमात्मनः उत्पत्तिर्नाम्नाता। अन्ये पुराणाद्या ब्राह्मणभागा महतो भूतान्निश्वसितरूपेणोत्पन्नाः मुख्यो ब्राह्मणभागः कर्मविधिरूपश्च न महतो भूतादुत्पन्न इति श्रुत्याशयमनुन्मत्तः कः श्रद्दधीत? विद्यासूत्रव्याख्यानादिपदैस्तु तत्संग्रहमिति ब्रूयुश्चेत्, ननु विलक्षणेयं पद्धतिर्यद् ब्राह्मणेष्वप्राधान्येन यत्र कुत्रचिदुपलभ्यमानाः पुराणादिभागाः स्वशब्दैरुच्चार्यन्ते। मुख्यतमो विधिभागस्तु कथञ्चिद्गौणरूपेण केनचिच्छब्देन, एतावान् प्रद्वेषस्तत्रभवतां नारदयाज्ञवल्क्यादीनाम् यत्ते तं शब्दं नोच्चारयन्ति इति तस्मादृग्वेदादिपदैरेव मन्त्रब्राह्मणात्मकास्ते ते वेदा इह गृहीताः। अग्रे चाम्नाता इतिहासपुराणाद्या ब्राह्मणेभ्यः पृथगेवेत्यर्थः, स्फुटस्तत्र स्वीकार्यः। यत्तु केचन वेदमन्त्रभागस्यानादितामुद्घोषयन्तोऽपि 'यज्ञप्रक्रियापरो मन्त्राणामर्थः पश्चात् प्रवृत्त' इति साधयितुं सन्नह्यन्ति तेषां मते—

"ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः॥ (ऋ० १०।७१।११)

इत्यादिना स्पष्टं यज्ञे ऋत्विक्कार्यविभागप्रतिपादकानां निरुक्ते च तथैव व्याख्यातानां मन्त्राणां कः प्रामाणिकोऽर्थः स्यात्? यजुस्संहितापूर्वविंशतिकायाश्च यज्ञविनियोगक्रमेणैव सङ्घटितायाः का सङ्गतिश्च? किं च 'मन्त्रात्मकान् वेदान् समुपदिश्य तदर्थग्रहणेऽशक्तान् जनान् ईश्वर एव तदर्थं ग्राहयामास, तानि मन्त्रव्याख्यारूपाणि ब्राह्मणानि' इति स्वनिबन्धे श्रीस्वामिदयानन्देनाप्युक्तम्। ब्राह्मणेषु च कर्मबोधपराण्येव व्याख्यानानि मन्त्राणामुपलभ्यन्त इतीश्वरबोधितादप्यर्थात् प्राक् का व्याख्या संभवेद्? ननु भोः श्लोकाः सूत्राणि व्याख्यानानि अनुव्याख्यानानि इत्याद्यपि तर्हि परमात्मन आविर्भूतमनादिस्वीकर्तुमापतेदिति चेत्

बाढम् । अनतिशङ्कनीया भगवती श्रुतिरिति श्लोकसूत्रव्याख्यानादिकमपि मूलभूत-मनाद्यभ्युपगन्तव्यमेव । यथा स्वद्यत्वे पुराणेतिहासा व्यासेन स्वरूपान्तरीकृता एव अस्माभिरुपलभ्यन्ते, तथा श्लोकसूत्रादिकमपि मूलभूतमनादि नोपलभ्यते, तैस्तैर्मुनिभी रूपान्तरतां प्रापितमेव तु लभ्यत इत्येव स्वारसिकः सिद्धान्तः स्वीकरणीयः स्यात्, गत्यन्तराभावात् । अत एव च "इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः, सरहस्याः, सब्राह्मणाः, सोपनिषत्काः, सेतिहासाः, सव्याख्यानाः, सपुराणाः, ससंस्काराः, सनिरुक्ताः, सानुशासनाः, सानुमार्जनाः, सवाकोवाक्या"; इति (गोपथ० पूर्वभाग० प्रपा० २-१ का० १) इति गोपथश्रुतिरप्युपपद्यते । इह हि स्फुटमेव ब्राह्मणेभ्यः पृथक्कृत्य पुराणेतिहासादीनि कल्पाभ्याख्यानादीनि चोपात्तानि । ब्राह्मण-वसिष्ठन्यायाश्रयणं स्वगतिकगतिः । तस्मात् सर्वाण्येतानि वेदवदनादीन्यासन् पूर्वयुगे, इदानीं तु मन्त्रब्राह्मणोपनिषदात्मका वेदा एव स्वस्वरूपे सुरक्षिता अध्ययनपरम्परया द्विजैः । अन्यानि तु कालपर्ययेण रूपान्तरतामेवापद्याद्यत्वे उपलभ्यन्ते, न तु अनादिरूपे इत्येव स्पष्टं फलति—इत्यलं विस्तरेण । तदित्थं पुराणानां पञ्चमवेदत्वमीश्वरनिःश्वसितत्वमनादित्वं च श्रुतिभिरेव प्रतिपाद्यत इति किमतः परं तन्महत्त्वमनुकीर्तनीयं स्यात् ॥

पुराण-लक्षणानि

अथ पुराणविद्यायां प्राधान्येन के के विषया अन्तर्भवन्ति, के वा तत्रा-प्राधान्येन संगृह्यन्त इत्यादि पुराणाधारेणैव निरूपणीयम्। तत्र प्रायेण सर्वेषु पुराणेषु पञ्चलक्षणानि पुराणस्य व्याख्यातानि, पञ्चविषयाः प्राधान्येन पुराण-विद्यायामन्तर्भवन्तीति तत्तात्पर्यम्। तैरेव विधेयं लक्ष्यते-विज्ञायते-इति तानि लक्षणानि। तानि च विद्यास्वरूपान्तर्गतानीति स्वरूपलक्षणानि बोद्धव्यानि।

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

लक्षणमिदं किञ्चित्पाठभेदेन ऐक्यरूप्येण वा विष्णुपुराणे (३ अंशे, ६ अ०, श्लो० २४), मार्कण्डेयपुराणे (अ० १३४ श्लो० १३), अग्निपुराणे (अ० १, श्लो० १४), भविष्यपुराणे (अ० २, श्लो० ५), ब्रह्मवैवर्तपुराणे (अ० १३३, श्लो० ६), वराहपुराणे (अ० २, श्लो० ४), स्कन्दपुराणे (प्रभासखण्डे अ० २, श्लो० ८४), कूर्मपुराणे (पूर्व०, अ० १, श्लो० १२), मत्स्यपुराणे (अ० ५३, श्लो० ६४), गरुडपुराणे (आचारकाण्डे अ० २, श्लो० २८), ब्रह्माण्डपुराणे (पूर्वभागे अ० १, श्लो० ३८), शिवपुराणे (वायवीय सं०, अ० १, श्लो० ४१), देवीभागवते तथा अन्यत्रान्यत्रापि च लभ्यते। सर्गो नाम सृष्टिः, जगत उत्पत्तिः; प्रतिसर्गो नाम दृश्यमानस्यास्य सर्वस्य समये समये प्रलयः; वंशः—उपादानभूतानां तत्त्वानाम्, देवादीनाम्, मनुष्याणां च उत्पत्तिपरम्परा; वंश्यानुचरितम्—तत्तद्वंशभवानां तत्तेषां विषये यद्विशिष्य वक्तव्यं तद्विवरणम् (अत्रैव तत्तन्मनुष्यवंशप्रसूतानां महर्षीणां राज्ञां च चरितान्यपि समाविष्टानि); मन्वन्तरम्—सृष्ट्यादीनां कालव्यवस्थापनम्—इति सामान्येन शब्दानामेषां विवरणमपि तत्र तत्र प्राप्यते। क्वचित् प्रतिसर्गपदेन आदिसृष्टेरनन्तरं जायमाना अवान्तरसृष्टिरपि व्याख्यायते, प्रलयस्तु सृष्टिप्रातिलोम्येन व्यवस्थापनीय इति तदाशयः। अत्रार्थे प्रतिसर्गपदस्थाने विसर्गपदं केचिन्निवेशयन्ति। वंश्यानुचरितस्थाने वंशानुचरितमिति बहुत्र पाठः। तत्र वंशभवानामनुचरितमिति मध्यमपदलोपी समास आश्रयणीयः, वंशे भवानां चरितं वंश एव समारोप्य वा व्याख्येयम्।

अत्र लक्षणे कुत्र कुत्र कस्य कस्य विषयस्य समावेश इत्यपि तत्र तत्र विवृतम्, यथा विष्णुपुराणे आरम्भ एव प्रश्नमुखेन विवरणम्—

सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत् ।
बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति ॥
यन्मयं च जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम् ।
लीनमासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च ॥
यत्प्रमाणानि भूतानि देवादीनां च सम्भवम् ।
समुद्रपर्वतानां च संस्थानं च यथा भुवः ॥
सूर्यादीनां च संस्थानं प्रमाणं मुनिसत्तम ।
देवादीनां तथा वंशान्मनून् मन्वन्तराणि च ॥
कल्पान् कल्पविभागांश्च चातुर्युगविकल्पितान् ।
कल्पान्तस्य स्वरूपं च युगधर्मांश्च कृत्स्नशः ॥
देवर्षिपार्थिवानां च चरितं यन्महामुने ।
वेदशाखाप्रणयनं यथावद् व्यासकर्तृकम् ॥
धर्मांश्च ब्राह्मणादीनां तथा चाश्रमवासिनाम् ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं त्वत्तो वासिष्ठनन्दन ॥

(विष्णुपुराणं १ अं०, १ अ०, ४–१० श्लो०)

अत्र "यत्प्रमाणानि भूतानि, देवादीनां सम्भवः, समुद्रपर्वतानां भुवश्च संस्थानम्, सूर्यादीनां संस्थानमिति सर्वं सर्गेऽन्तर्भवति । देवादीनां वंशाः, वंशे; कल्पान्, कल्पविभागानित्यादि सर्वं, युगधर्मांश्च मन्वन्तरप्रकरणे, देवर्षिपार्थिवादीनां चरितं वंश्यानुचरिते; वेदशाखाविभागकरणाद्यपि च तत्रैवान्तर्भाव्यम् । वायुपुराणे चापि—

पुराणवेदो ह्यखिलस्तस्मिन् सम्यक् प्रतिष्ठितः ।
भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी ॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थाः कथा यस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।
सूक्ताः सुपरिभाषाश्च भूमावोषधयो यथा ॥ (अ० १।१८,१९)

एवमादि विस्ताररूपेणैवोक्तम् । श्रीमद्भागवते ब्रह्मवैवर्ते च पुराणानां दशलक्षणानि वर्ण्यन्ते । तत्र श्रीमद्भागवते यथा—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥
भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥

(द्वितीयस्कन्धे १० अ०, १–७)

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥
अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥
आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥

श्रीमद्भागवत एव द्वादशे स्कन्धे सप्तमेऽध्याये अष्टमं श्लोकमारभ्य किंचिद्भेदेन दशलक्षणाणि परिगण्यन्ते—

पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् ।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः ॥
सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षाऽन्तराणि च ।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥

दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया ॥
अव्याकृतगुणक्षोभान् महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां संभवः सर्ग उच्यते ॥

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम् ॥
वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥
रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः ।
ऋषयोंशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥
राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।
वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ॥

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धास्य स्वभावतः ॥
हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः ।
यं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥

व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥
एवंलक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः ।
मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च ॥

ब्रह्मवैवर्तेऽप्येतानि दशलक्षणानि शब्दान्तरैरुच्यन्ते —

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं विप्र पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥
एतदुपपुराणानां लक्षणं च विदुर्बुधाः ।
महतां च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते ॥
सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषां च पालनम् ।
कर्मणां वासना वार्ता मनूनां चाक्रमेण च ॥
वर्णनं प्रलयानां च मोक्षस्य च निरूपणम् ।
तत्कीर्तनं हरेरेव वेदानां च पृथक् पृथक् ॥
दशाधिकं लक्षणं च महतां परिकीर्तितम् ।
(कृष्णखण्डे १२ अ०, ६–११ श्लोक)

तत्रैतस्मिन् विचार्यमाणे त्रिषु स्थानेषु दशानां लक्षणानामुक्तौ शब्दभेद एव, नाभिप्रायभेदः । श्रीमद्भागवते द्वादशे स्कन्धे, सर्गः १, विसर्गः २, वृत्तिः ३, रक्षा ४, अन्तराणि ५, वंशः ६, वंशानुचरितम् ७, संस्था ८, हेतुः ९, अपाश्रयः १०, इति लक्षणान्युक्तानि । द्वितीये स्कन्धे तु सर्गः, विसर्गः, इति द्वौ समानौ शब्दौ, अन्तराणीत्यस्य स्थाने स्पष्टीकृत्य 'मन्वन्तर' इति पदं निवेशितम्, अपाश्रयस्थाने च आश्रय एवोक्तः । हेतुः—जीवस्य संसारप्राप्तिहेतुः अविद्याकर्मादिकं यत्, यत् स्थाने तत्र ऊतिपदं निवेशितम्; 'ऊतयः कर्मवासनाः' इति स्पष्टीकृतमेव । एवं पञ्चानां साम्यम् । अनन्तरं वंश-वंशानुचरिते ईशानुकथापदेन गृहीते 'हरेः, अस्यानुवर्तिनां च कथा—इति ऋषिराजादिचरितानामपि संग्रहस्य तत्र स्पष्टमुक्तत्वात्, वंशमन्तरेण वंचानुचरितकथनस्यासामञ्जस्येन वंशस्य वंशानुचरित एवान्तर्भावः । संस्थापदेन चतुर्विधः प्रलयो द्वादशे स्कन्धे संगृहीतः, तत्र वैलक्षण्यं बोधयितुमात्यन्तिकलयरूपा मुक्तिर्द्वितीये पृथगुपात्ता, निरोधश्च नैमित्तिकप्राकृतिकप्रलयरूपः पृथग् बोधितः । द्वादशे रक्षापदेन अवतारकथाबोधकेन अनुग्रहरूपं पोषणमपि संगृहीतमासीत्, द्वितीये तु ईशानुकथा, पोषणं चेति पृथक्कृत्योक्तम् । एवं द्वयस्यान्तर्भावः, द्वयस्य पृथक्करणमिति नव लक्षणानि सम्पन्नानि । द्वादशे च वृत्तिशब्देन भूतानां परस्परोपमर्दनं जीवनरूपा या स्थितिरुक्ता, सा द्वितीये स्थानपदेन समुपात्ता । स्थानं स्थितिः-"वैकुण्ठविजयः" इति यदुक्तम् तस्यायमेवाशयो यत्पालकस्य विष्णोर्वैकुण्ठपदाभिधेयस्यायमेव

विजयः—स्वकार्यसाधकता यद्भूतानि परस्परमन्नान्नादभावेन जीवन्तीति। एवं भागवतोक्तानां दशानां लक्षणानां सामञ्जस्यम्। ब्रह्मवैवर्तेऽपि सृष्टिः १, विसृष्टिः २, स्थितिः ३, कर्मणां वासना ४, मनूनां वार्ताः ५, प्रलयानां वर्णनम् ६, मोक्षस्य निरूपणम् ७, इति सप्त लक्षणानि समान्येन। हरेः कीर्तनम्—इति आश्रयः, पोषणं च तत्रैव संगृहीतम्। वेदानां च पृथक्पृथगिति ईशानुकथा बोधिता क्रमेण-अक्रमेण वा वार्तेति वंशानुचरितं पृथक्कृत्योक्तमिति शब्दान्तरेण तान्येवं दशलक्षणान्युपात्तानि।

वस्तुतस्तु इमानि दश पञ्चानामेव विस्तारमात्रम्। सर्गः, प्रतिसर्गः (प्रलयः-संस्था), वंशः, वंशानुचरितम्, मन्वन्तराणीति पञ्च लक्षणानि श्रीमद्भागवतस्य द्वादशे स्कन्धे स्वशब्देनैवोपात्तानि। अन्यत्र यथा संगृह्यन्ते तथोक्तान्येव। अवशिष्टेषु पञ्चसु विसर्गः खलु सर्गस्यैवावान्तरो भेदः, आश्रयशब्देनोपात्त ईश्वरश्च सर्गकर्तृत्वेन, हेतुरित्यूतिरिति वा समाख्याता कर्मवासना च सर्गहेतुत्वेन सर्ग एवान्तर्भावमर्हतः। वृत्तिरिति स्थानमिति वाभिसंहितः परस्परमुपमर्दोपमर्दकभावः वंशानुचरिते स्फुटमन्तर्भवत्येव। ईशानुकथा पोषणं च रक्षा वापि वंशानुचरित एवान्तर्भवन्ति, अवताराणां क्वचिद्वंश एव प्रादुर्भावात्, वंशानुचरितपदेन अवतारचरितानामपि संगृहीतत्वात्। तस्मात् पञ्चानां प्रपञ्च एव दशलक्षणानीति नात्र परस्परं कोऽपि विरोधः। केवलमीश्वरसततप्राधान्यबोधनाय पृथक्कृत्य भागवतादौ तानि प्रोक्तानि।

प्रत्येकं हि शास्त्राणां मुख्यप्रतिपाद्याः प्रातिस्विका विषयाः पृथक् पृथक् भवन्ति। बहवस्तु प्रसङ्गिका अन्यदीया विषया अपि तत्रापतन्ति। यथा धर्मशास्त्रे मनुस्मृत्यादावपि सृष्टिप्रक्रिया, आध्यात्मिका दार्शनिकाश्चापि विषयाः प्रसङ्गेन सन्ति निरूपिताः। दर्शनेष्वपि चास्ति धर्मविषयः प्रासङ्गिकः। तत्तच्छास्त्रलक्षणे क्रियमाणे तु यस्तस्य प्रातिस्विको विषयः स एव लक्षणत्वेन निरूपणीयो भवति। सर्गादयः पञ्चैव च पुराणानां प्रातिस्विका विषयाः, एषामन्यत्र स्पष्टमनुपलम्भात्, कर्म, वासना, ईश्वरः इत्याद्यास्तु विषया न पुराणानां प्रातिस्विकाः, तेषां वेदेषु दर्शनेषु उपासनाग्रन्थेषु धर्मशास्त्रेष्वपि च विस्तरेण प्रतिपादनात्। एवन्तु नास्ति विद्यासु स कोपि विषयः; यः पुराणेषु न संगृहीतो भवेत्, परं सर्वेऽपि ते विषयाः पुराणानां लक्षणानि न भवन्ति। प्रातिस्विका एव तु सृष्ट्याद्या विषया लक्षणत्वेन निरूपयितुमुचिता इति त एव सर्वत्र पुराणलक्षणत्वेन निरूप्यन्ते। श्रीमद्भागवतस्य तु प्रादुर्भावे एव भागवतान् धर्मान् व्याख्यातुमिति तदुपक्रम एव स्पष्टम्। तस्माज्जगदीश्वरो भगवानेव

तत्र मुख्य-प्रतिपाद्यः, अन्येषां निरूपणं तु केवलमीश्वरस्वरूपपरिज्ञानायेति—

'दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्'

इति तत्र स्पष्टमुक्तम्। मुक्तिरेव तत्र मुख्यतया साध्या, सा च जगदीश्वरानुग्रहमन्तरेण नावाप्येति मुक्तिपोषणादीनामपि मुख्यतया कथनं तत्र युज्यत एव। न तु सर्वेषु पुराणेष्वेषां मुख्यता, तथा सति—

"त्वया भागवता धर्माः प्रायेण न निरूपिताः"

इति नारदस्य व्यासं प्रति कथनमसमञ्जसं स्यात्। यद्यपि ईश्वरस्य ईश्वरभक्त्यादेश्च निरूपणमन्यत्रापि पुराणेषु सुविशदं प्राप्यत एव, विशिष्टं च महाभारते, तथापि पुराणान्तरेषु मुख्यप्रतिपाद्यं सृष्ट्यादिकमेव, महाभारते च भरतवंश्यानामितिहास एव मुख्यः प्रतिपाद्य इतीश्वरस्य तद्भक्तेस्तद्धर्माणां च निरूपणं तत्र तत्राप्राधान्येन, भागवते तु प्राधान्येनेति भागवते स्फुटमभिमन्यते। तत एव तत्रेश्वरप्रधानानां दशानां लक्षणानां विवरणं कृतम्।

दशलक्षणरहस्यम्

तत्रापि दशलक्षणकथने रहस्यमिदं प्रतीयते—

"जन्माद्यस्य यतः"

इत्यादिना जगतो जन्मस्थितिसंहारकर्तृत्वमीश्वरलक्षणमभिहितम्—आम्नातं च तदेव श्रुतिषु—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यत्र जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति।

आगमिके प्रत्यभिज्ञादर्शने तु परमशिवपदाभिधेयस्य परमेश्वरस्य पञ्चकृत्यकारित्वं प्रतिपादितम्, तानि च पञ्चकृत्यानि, सृष्टिः, स्थितिः, संहारः, विलयनम्-(निग्रहः), अनुग्रह इति। अत्र त्रीणि कृत्यानि पूर्वोक्तानि श्रौतान्येव, जीवस्य बन्धप्रापणम्, अनुग्रहेण मोचनं चेति द्वयमधिकमुक्तम्। तान्येतानि पञ्च भगवतः कृत्यानि लक्षणरूपेण श्रीमद्भागवते द्वितीये स्कन्धे सर्गः, स्थानम्, निरोधः, विसर्गः, पोषणम्,-इति शब्दैरभिहितानि। विसर्गपदेन पौरुषसर्गस्योक्ततया निग्रहेण जीवभावप्रापणस्यैवाभिसंहितत्वात्। पोषणपदेनानुग्रहस्तु स्पष्टं तत्रोक्त एव। अथास्य पञ्चकृत्यकारिणः परमेश्वरस्य द्वे रूपे—तत्र उपास्यमनुग्राहकं रूपम् आश्रयपदेन, जगत्परिचालकं तु कालरूपम् मन्वन्तरपदेन संगृहीतम्। तदित्थमीश्वरसम्बन्धे सप्त लक्षणानि व्याख्यातानि। निगृहीतस्य जीवभावं गमितस्य तु सम्बन्धेन संसारगर्तपातिका ऊतिः (कर्मवासना) विमोचनसाधिका ईशानुकथा, पोषणफलभूता मुक्तिश्चेति त्रीणि लक्षणान्युक्तानीति दशैतानि जीवेश्वरसम्बन्धेनैव पर्यवस्यन्ति।

तान्येतानि प्राधान्येन भगवन्तमीश्वरम् तदाराधनाधिकारिणं जीवं च प्रकृत्य तन्निरूपणप्रवृत्तस्य श्रीभागवतस्यैव लक्षणानि भवितुमर्हन्ति, न तु पुराणसामान्य-लक्षणानि । तत एव भागवत एवैतानि निरूपितानि, न पुराणान्तरेषु । यत्तु द्वादशे स्कन्धे अष्टादशानां महतां पुराणानामिमानि लक्षणानीत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गेन कथंचित् सर्वत्रैव तन्निरूपणमभिप्रेत्य, पञ्चानामेव विवृतिरूपाणि दशेत्यभिप्रेत्य वेति सम्यगव-धार्यम् । ब्रह्मवैवर्तेऽप्येकत्र पञ्चलक्षणान्युक्त्वा परत्र स्वस्य भागवतानुसारित्वम-भिव्यङ्क्तुं दशलक्षणान्यपि तदनुसारीण्युपात्तानि इति कृतं विस्तरेण । एवं देवीभागवतेऽपि पुराणान्तरवत् पुराणानां पञ्चलक्षणान्युक्त्वा सर्गप्रतिसर्गयोः किञ्चिद्वैलक्षण्येन विवरणं कृतम्—

तस्यास्तु सात्त्विकी शक्ती राजसी तामसी तथा ।
महालक्ष्मीः सरस्वती महाकालीति ताः स्त्रियः ॥ २० ॥
तासां तिसृणां शक्तीनां देहाङ्गीकारलक्षणः ।
सृष्ट्यर्थं च समाख्यातः सर्गः शास्त्रविशारदैः ॥ २१ ॥
हरिद्रुहिणरुद्राणां समुत्पत्तिस्ततः स्मृता ।
पालनोत्पत्तिनाशार्थं प्रतिसर्गः स्मृतो हि सः ॥ २२ ॥
सोमसूर्योद्भवानां च राज्ञां वंशप्रकीर्तनम् ।
हिरण्यकशिप्वादीनां वंशास्ते परिकीर्तिताः ॥ २३ ॥
स्वायम्भुवमुखानां च मनूनां परिवर्णनम् ।
कालसंख्या तथा तेषां तत्तन्मन्वन्तराणि च ॥ २४ ॥
तेषां वंशानुकथनं वंशानुचरितं स्मृतम् ।
पञ्चलक्षणयुक्तानि भवन्ति मुनिसत्तमाः ॥ २५ ॥

(१ स्कन्ध १।१८)

अत्र प्रधानरूपा शिवरूपैव या चिच्छक्तिः, तस्याः वंशानां महालक्ष्म्या-दीनामाविर्भावः सर्गपदेन, ताभिः शक्तिभिः शक्तिमतां ब्रह्मविष्णुरुद्राणामाविर्भावनं च प्रतिसर्गपदेनोक्तम् । तदपि तस्य प्रातिस्विकमेव लक्षणं विज्ञेयम् । सर्वेषु पुराणेषु तस्याः प्रक्रियाया अनुपलम्भादिति । तथैव—

ब्रह्मविष्णवर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च ।
संहारश्च प्रदृश्येत पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

(इति स्कन्दपुराणे प्रभासखण्डे २।९४।९५ । मात्स्ये च ५३।६४, ६५) यदन्यथाविवरणं दृश्यते तदप्येकदेशिभूतम् । एषामपि पञ्चानां पूर्वोक्तेषु पञ्चसु समावेश इति बोधनपरं वा । पूर्वं सर्गादीनि पञ्चलक्षणान्युक्त्वानन्तरमेव कथनादिति ।

तदित्थं पुराणसामान्यलक्षणानि सर्गादीनि पञ्चेति स्पष्टीकृतम्। तत्रापि च सर्ग एव मुख्यः, अन्यानि तु तत्स्वरूपप्रतिपादकानि तच्छेषभूतानि मन्तव्यानि। तत एव बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पुराणपदं व्याचक्षाणैः श्रीशङ्करभगवत्पादैः 'पुराणमसद्वा इदमग्र आसीदि'त्यादि (२ अ०, ४ ब्रा०, १० कं०), इति सर्ग एव पुराणानां मुख्यं लक्षणमुक्तम्, वेदभाष्यकृद्भिः श्रीमाधवाचार्यप्रभृतिभिश्चोपोद्घाते तदेवानुसृतम्।

पञ्चसु लक्षणेषु प्रत्येकं पञ्च-विधाः

अथ गुरुप्रवरविद्यावाचस्पतिश्रीमधुसूदनझामहाभागचरणैस्तु पुराणोत्पत्तिप्रसंगनामके निबन्धे पुराणलक्षणेषु पञ्चसु प्रत्येकं पञ्चविधत्वमाख्यातम्। तथा हि—

सृष्टिक्रमो भिन्नमतान्यवतारोप्यथायतिः।
ब्रह्माण्डमिति सृष्ट्यंशे पुराणं पञ्चलक्षणम्।

१—सृष्टिःप्रथमा षट्पर्वा, २—सृष्टिर्मध्यमा चतुर्विधा, ३—सृष्टिरुत्तरा षड्विधा, ४—संपरायसृष्टिः, ५—सृष्टीनामायतनमितिपञ्चविधा सृष्टिः।

शास्त्रावतरणं कल्पशुद्धिः सृष्ट्युपसंहृतिः।
ज्योतिश्चक्रं भुवः कोशः पञ्चैताः प्रतिसृष्टयः॥

अत्र अनुसृष्टिः प्रलयः (सृष्ट्युपसंहृतिः) इति द्वयमपि प्रतिसृष्टिपदेन गृहीतम्। अनुसृष्टेश्च विस्तारश्चतुर्धा कृतः। तत्राख्यानोपाख्यानगाथाकल्पशुद्धिरपि च तस्मिन्नेव लक्षणे संगृहीतानि। तच्चैतदग्रे तैरेव विवृतम्—

त्रैलोक्यविश्वविद्या ज्योतिश्चक्रं च भुवनकोशश्च।
प्रासङ्गिकं च वंशावली पुराणं तु पञ्चविधम्॥
आख्यानोपाख्याने गाथा अथ कल्पशुद्धिश्च।
प्रासङ्गिकं चतुर्धा प्रश्नसमाधिप्रसङ्गतोऽधीतम्॥
श्रौतः स्मार्तः समयश्चाचारो धर्मभेदास्ते।
नानोपासनभेदा दर्शनभेदाश्च कल्पशुद्धिरिह॥

तदेवं ज्योतिश्चक्रम्, भुवनकोशः, शास्त्रानुव्यूहः (शास्त्रभेदविवरणम्), कल्पशुद्धिः, सृष्ट्युपसंहारश्चेति पञ्चपर्वा प्रतिसृष्टिः, तत्र कल्पशुद्धेर्महान् विस्तारः।

अथ वंशवंशानुचरिते अपि पञ्चविधे उक्ते—

ऋषिवंशः पितृवंशः सूर्यचन्द्राग्निवंशकाः।
इत्थं वंशविभागोऽपि पुराणं पञ्चलक्षणम्॥
ऋषीणां देवयोनीनां राज्ञां सूर्यादिवंशिनाम्।
देवासुराणामन्येषां चेहानुचरितं स्तुतम्॥

ऋषिचरितम्, देवयोनिचरितम्, सूर्यवंशचरितम्, चन्द्रवंशचरितम्, अग्निवंशचरितम्, इति पञ्चधा वंशानुचरितम्। देवचरितम् असुरचरितं च देवयोनिचरित एव समावेश्यमिति तद्भावः। एवम्—

युगं दिव्ययुगं नित्यकल्पः कल्पाश्च सप्त ये।
त्रिंशत्कल्पाश्च कल्पन्ते मन्वन्तरनिरूपणे॥

इति पुराणेषु लभ्यमानाः कल्पभेदा मन्वन्तरप्रकरणे संगृहीताः। तदित्थं पुराणोक्ता विषयाः पञ्चसु लक्षणेष्वेव संगृहीताः, विस्तारश्च पुराणविद्याया इह प्रदर्शितः।

पुराणेष्वतिरिक्ताश्चत्वारो विषयाः

अथ लोकोपयोगितया चत्वारो विषयाः पुराणेषु प्रासङ्गिकतया विशिष्य संगृहीता इत्यपि पुराणेष्वेव प्रतिपाद्यते—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥ इति॥

(विष्णुपु० ३।६।१५, ब्रह्माण्डपु०, पू० भा० ३४।२१)

एतच्च विवृतं विष्णुपुराणस्य श्रीधरीयायां टीकायाम्—

स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥ इति॥

वंशानुक्रमेण यानि चरितान्याख्यायन्ते तानि वंशानुचरिताभिधे गृह्यन्ते, यानि तु तत्र तत्रोपदेशाद्यर्थं वंशक्रममनपेक्ष्यैव दृष्टान्तरूपेण पूर्वचरितानि संगृह्यन्ते तानि आख्यानोपाख्यानशब्दाभ्यामत्र संगृहीतानि, यथा महाभारते नलोपाख्यानम्, सावित्र्युपाख्यानम्, मार्कण्डेये मदालसोपाख्यानम्,—इत्यादीनि बहूनि तत्र तत्र द्रष्टव्यानि। तत्रापि वक्त्रा यत्स्वयं दृष्टम् तदाख्यानशब्देन, यत्तु परम्परया श्रुतम् तदुपाख्यानशब्देन ग्राह्यमित्युक्तं श्लोके। केचित्तु वेदोक्तानामाख्यायिकानामनुवादरूपाणि आख्यानानि, स्वसंकलितानि नलादीनां राज्ञां चरितानि तु उपाख्यानानि इत्याहुः। अथापरे एवमाहुः—वंशो वंशानुचरितं चेति द्वयं पुराणलक्षणं सर्ववस्तुवृत्तापेक्षया वैज्ञानिकमेव बोद्धव्यम्। मनुष्यविशेषाणां राज्ञां चरितानि तु आख्यानान्येव, प्रसङ्गात् संगृहीतानि चोपाख्यानानीति। गाथास्त्विमा अतिप्राचीन्यः। वेदस्य ब्राह्मणभागेऽपि बह्व्यः समुपलभ्यन्ते गाथाः, प्रथमप्रकरणोक्तासु पुराणप्रतिपादिकासु श्रुतिषु च गाथा अपि पृथगुक्ता एव। येन केनचिन्महामहिमभाजा

अद्ययुगजातेन युगान्तरजातेन वा स्वानुभवो यादृशैः शब्दैरुपनिबध्यते, ता एव भवन्ति गाथाः। यथा पारस्करगृह्यसूत्रे विवाहप्रकरणे वरो वदति—

सरस्वति प्रदेमव सुभगे वाजिनीवति।
मां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्यातः॥
यस्यां भूतं समभवत् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥

यथा वा महाभारते पुत्रस्य यौवनं गृहीत्वाप्यतृप्तेन ययातिना स्वानुभवः प्रदर्शितः—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ इति॥

उपदेशार्थमत्युपयोगिन्य इमा गाथाः—इति पुराणेषु स्थाने स्थाने संग्रहस्तासाम्। एतासां संगृह्य पृथक् संकलनम् प्रकाशनं चात्युपयोगि भवेल्लोकानाम्।

कल्पशुद्धिः कल्पानां परिगणनादीनीति केचित्। वयं तु ब्रूमो यत् सा कल्पशुद्धिर्मुख्यलक्षणे मन्वतर एवान्तर्भूता, इह तु कल्पशुद्धिर्धर्मशास्त्रप्रकरणम्, तदपि पुराणेषु बहुतरं संगृहीतम्। तत्र कल्पो नाम वेदाङ्गेषु परिगणितः कर्मकाण्डप्रतिपादकः श्रौतगृह्यसामयाचारिकसूत्र-समुच्चयः, तदुक्ता अष्टचत्वारिंशत् संस्काराः, शिष्टपरिगृहीताः सदाचाराश्चात्र कल्पशब्देन गृह्यन्ते। तदुक्तं स्मृतिकृता गौतमेन—गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं जातकर्म नामकरणान्नप्राशने चौलोपनयने चत्वारि वेदव्रतानि स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानम्, एतेषां चाष्टकान्वष्टका पार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः, अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यमाग्रायणं निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः, अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमयज्ञसंस्थाः इत्येते चत्वारिंशत् संस्काराः, अथाष्टावात्मगुणाः दया सर्वभूतेषु, क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति। एते श्रौताः स्मार्ताः सामान्यधर्मरूपाश्च सर्वेपि संस्काराः पुराणेष प्रसंगेन तत्र तत्र प्रतिपाद्यन्ते एतदुपयुक्ताश्च शिष्टपरिगृहीताः सदाचाराः।

संस्कारो नाम त्रिविधः स्मर्यते शास्त्रेषु—दोषमार्जनम्-अतिशयाधानम्-हीनाङ्गपूर्तिश्चेति। द्विविधाः खलु दृश्यन्ते पदार्था जगति—प्राकृताः-संस्कृताश्च। ये प्रकृत्योत्पादितास्तस्मिन्नेव रूपे स्थिताः शिलोच्चय-नदी-महीरुहादयस्ते प्राकृताः। ये तु मनुष्यैः संस्कृत्य स्वोपयोगाय धृताः, ते भवन्ति संस्कृताः। प्राकृताः पदार्थाः स्वस्वरूपे स्थिताः संस्काराननवाप्य प्रायेण मनुष्योपयोगिनो नैव भवन्ति,

अल्पमेव वोपयोगं साधयन्ति। तस्मान्मनुष्यास्तान् संस्कृत्य स्वयमुपयुञ्जते। यथान्नं वस्त्रं वा यथा प्रकृतिरुत्पादयति, न तत्तथास्मदुपयोगि भवति। प्रकृत्योत्पादितं शालिगोधूमादिकं स्वोपयोगाय वयं संस्कुर्महे। तत्र प्रथमं तत्सहचरमस्मदनुपयोगि तृणतुषापकरादिकमपनयामः, धूलीबहुले क्षेत्रे समुत्पन्नस्य निसर्गसहचरीं धूलीं च दूरीकुर्मः तदेतद्दोषमार्जनम्। अथ स्वच्छीकृतं पेषण्या निष्पिष्टं वह्निना परिपक्वं कुर्मस्तदेतदतिशयाधानम्। रुच्युत्पादनाय लवणशाकादिभिश्च संयोजयामः-सेयं हीनाङ्गपूर्तिः। तथैव यथाविधं वस्त्रं परिदध्मस्तथा प्रकृत्या नोत्पादितमिति जानन्ति सर्वेऽपि। प्रकृत्या कार्पास उत्पादितः दोषमार्जनेन संस्कारेण तदन्तःस्थानि बीजानि विशोध्य धूलीकणांश्च दूरीकृत्य अतिशयाधानात्मकेन च संस्कारेण तूलं तन्तुरूपतां वयनेन वसनरूपतां सेवनेन परिधानीयरूपतां च प्राप्य हीनाङ्गपूर्त्यै पिधायकवर्तना (बटन) दिभिः संयोज्य तस्योपयोगो मनुष्यसमाजेन क्रियते। एवमेव लोह–पित्तल–सुवर्णादिषु धातुषु गृहनिर्माणादिष्वपि च संस्कारत्रयमनुसन्धेयम्। जडवस्तुषु संस्कारानेतान् सर्वेऽपि मानवाः परिचिन्वन्ति, तत्र कौशलमुपदर्शयन्तश्च महद्यशो धनराशिं चार्जयन्ति। परं चेतनानां मानवानामप्येते भवन्ति संस्काराः, तेऽपि चैतैः संस्कारैः क्रमप्युत्कर्षं जगदुपयोगितां चावहन्तीति विशिष्य भारतीयैर्महर्षिभिरेव विज्ञातम्। तैरेव महर्षिभिर्मनुष्याणां त्रिविधाः संस्कारा आविष्कृताः। त एवेमेऽष्टचत्वारिंशत्संकारा धर्मशास्त्रेषु विवृताः पुराणेष्वपि विस्तर एषां बहुतरं प्राप्यते।

शुद्धिपदेन गृहीतं धर्मशास्त्रस्य द्वितीयं शुद्धिप्रकरणम्। सा च शुद्धिः षोढा व्याख्यायते। मलशुद्धिः, स्पर्शशुद्धि, अघशुद्धिः, एनःशुद्धिः, मनःशुद्धिश्चेति। आत्मनः प्रतिकूलं यदागन्तुकमापतति तद्दोषशब्देन अशुद्धिशब्देन च व्यवह्रियते। तदपनय एव च दोषमार्जनशब्देन शुद्धिशब्देन चाख्यायते। तत्र स्वरूपसंसक्ताः स्वरूपे संसर्गमाप्तुमुपक्रान्ताः ये दोषाः तेषामपनयो दोषमार्जनसंस्काररूपेण प्राग्व्याख्यातः। ये तु आगन्तुका दोषाः स्वरूपे अप्रविष्टा अपि संसर्गमात्रेण परम्परया वा स्वरूपं दूषयितुमुपक्राम्यन्ति, अनपनीतानां कालक्रमेण स्वरूपेऽनुप्रवेशश्च येषां संभाव्यते तदपनयोऽत्र शुद्धिप्रकरणेऽधिक्रियते। यद्यपि सांख्यवेदान्तयोर्यादृशमात्मस्वरूपं विवृतं, तत्र न कापि दोषसंसर्गसंभावना, तथापि व्यावहारिक आत्मा कर्त्ता भोक्ता चात्रात्मपदेन विवक्षितो द्रष्टव्यः। सोऽयं व्यावहारिक आत्मा सत्त्वप्रधान इति सत्त्वगुणविरोधिनस्तम उद्रेचयन्तो भावा अशुद्धिपदेन सर्वत्र निर्दिश्यन्ते। ते च येन येन मार्गेणात्मना संबध्यात्मानं दूषयितुं सन्नह्यन्ति, तेन तेन मार्गेण तेषामपनयः स्मृतिषु व्याख्यातः पुराणेषु च संगृहीतः।

त एते सर्वेऽपि संस्काराः शुद्धयश्च धर्मशास्त्रविषया अपि पुराणेषु सविस्तरं संगृहीताः। अत्रैव शुद्धौ कथंचित्संस्कारेष्वपि वा तीर्थानि व्रतान्यपि चान्तर्भवन्ति,

येषां श्रुतिस्मृत्यादिषु संक्षेपेण संकेतमात्रं पुराणेषु च तद्विस्तरः। व्रतोपवासादिकमन्तर्मलशोधकं सत्त्वविशेषोत्कर्षकं चेति शुद्ध्यर्थं संस्कारार्थं चाप्युपादीयते। एषां व्रतोपवासादीनामपि मूलमात्रं श्रुतिस्मृत्योरित्युपदर्शितं प्राक्। विस्तरस्त्वेषां पुराणेष्वेव दृश्यते। एवमुपासनाविषयोऽपि पुराणेष्वतिविस्तृतः। पूजाविधिप्रकारादिकं तदीयं विज्ञानमपि च तत्र तत्र विवृतम्। त इमे विषयाः कल्पशुद्धावेवान्तर्भाव्याः।

शब्दशास्त्र-खण्डः

[मुनित्रयस्यान्येषां च पुरातनानां शब्दशास्त्रनिर्मातॄणामैतिहासिकी समालोचनाऽत्र खण्डे सविस्तरं द्रष्टव्या-संपादकः]



पुरातनानि व्याकरणानि वैयाकरणाश्च

सुप्रथितमिदम् , यद् व्यवहारातीता भाषा व्याकरणसाहाय्यमन्तरेण न शक्या प्रतिपत्तुमिति ।

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
> वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

इत्यभियुक्तोक्तेषु शक्तिग्राहकेषु व्यवहारस्तावच्छक्तिग्राहकशिरोमणिरिति सर्वेषामैकमत्येनाभ्युपगमः । कमपि शब्दमजानानः शिशुर्नान्यैरुपायैः शक्यो बोधयितुम् ऋते व्यवहारात् । तत्तच्छब्दैस्तेषु तेषु पदार्थेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती वयोवृद्धानामनवरतं पश्यन् स भाषायां व्युत्पद्यत इति सततं प्रत्यक्षीकुर्मः । अत एव येषां बालानामग्रे मातापित्रादयः सर्वेऽपि वयोवृद्धाः संस्कृतेनैव व्यवहरन्ति, ते विनाप्यध्ययनं संस्कृत एव व्युत्पन्नाः संस्कृतमेव भाषमाणा अवलोक्यन्ते, येषां तु समक्षं सर्वेऽप्याङ्गलभाषामेव सततमुच्चारयन्ति, ते विनाप्यध्ययनम् आङ्गलभाषां बुध्यन्ते चोच्चारयन्ति च तामेवेति सुप्रत्यक्षम् । स एष व्यवहारः संस्कृतभाषया एवंविधोऽद्यत्वे न दृश्यते, कैश्चिदेवातिविरलैर्बालव्युत्पत्त्यर्थमेवावलम्ब्यत इति तादृशमपवादं विहाय संस्कृतभाषा शिक्षणेनैवाधिगन्तव्या कालेऽस्मिन् । व्यवहारातिरिक्ता अन्ये उपमानाप्तवाक्य–वाक्यशेषविवृतिसिद्धपदसान्निध्याख्याः शक्तिग्रहोपायाः क्वचित्पदविशेष एवोपयुक्ता इति भाषाज्ञाने न पूर्णं साहाय्यमावहन्ति । ततश्च व्यवहारपदात् प्रच्युताया भाषायाः परिज्ञानाय कोशो व्याकरणञ्चेति द्वावेव मुख्योपायौ । तत्रापि कोशो नाम्नां शक्तिग्रहमात्र उपयुज्यते, भाषायाः स्वरूपसंघटनं तु व्याकरण एव सर्वात्मना आयतत इति निश्चप्रचम् ।

व्याकरणानि च यद्यप्यनेकानि स्मर्यन्ते—

> इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
> पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्याष्टौ व्याकरणान्येभिः प्रणीतानीति बहवो विश्वसन्ति । क्वचित्पद्यमिदमित्थमपि पठ्यते—

> ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् ।
> सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम् ॥

तद्रीत्या अन्यान्यपि व्याकरणानि कौमारसारस्वतशाकलानि सिद्ध्यन्ति ।

परमिदानीं समुपलभ्यमानेषु व्याकरणेषु पाणिनीयमेव व्याकरणं सर्वतः प्राचीनमिति बहुभिरभ्युपगतो युक्तिसिद्धोऽर्थः।

श्रीसत्यव्रतसामश्रमिप्रभृतीनां विचारदक्षाणां तु मतमिदम्—यत्पाणिनितः प्राचीनमेवंविधं सर्वतोमुखं व्याकरणं नासीदेवेति। 'इन्द्रश्चन्द्रः' इत्यादिपद्ये हि अष्टावादिशाब्दिका इत्येवोक्तम्—न त्वेते व्याकरणकर्तार इति। शाब्दिकत्वं तु शब्दशास्त्रप्रौढत्वम्, शब्दशास्त्रपारङ्गतत्वम्, शब्दशास्त्रप्रचारकत्वमित्यादिभिरनेकैः प्रकारैः शक्यं व्यवहर्तुम्। शब्दशास्त्रपदेन च न केवलं व्याकरणमेव, अपि तु कोश–मीमांसादिकमपि शक्यते ग्रहीतुम्। 'पदवाक्यप्रमाणपारावारीणः' इति महत्सु चिरात्प्रयुज्यमाने विशेषणे 'पद' शब्देन व्याकरणम्, 'वाक्य' शब्देन मीमांसा, 'प्रमाण' शब्देन च न्यायं व्यपदिशन्ति शिष्टाः। शब्दपदेन च पदं वाक्यं चोभयमपि शक्यते संग्रहीतुमिति वाक्यार्थनिर्णायिका मीमांसापि शब्दशास्त्रम्। ये चैतेऽष्टौ शाब्दिकाः परिगणिताः, तेषु विभिन्नप्रकारकमेव शाब्दिकत्वं प्रमाणान्तरैः प्रसिद्ध्यति। तथा हि—इन्द्रोऽत्र प्रथमः शाब्दिकः पठितः, तद्विषये दृश्यते पस्पशाह्निके महाभाष्य एवैकमाभाणकम्—'एवं हि श्रूयते–बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे—यः सर्वथा चिरं जीवति, स वर्षशतं जीवति' इत्यादि। तेन इन्द्रस्य बृहस्पतिसकाशे प्रतिपदोक्तानां शब्दानां पारायणरूपेणाध्ययनं प्रसिद्ध्यति। यथा चाधीतम्—तथैव तेन व्याकरणं निर्मितं स्यादिति शब्दकोशरूपव्याकरणनिर्मातृत्वमेव तत्र सिद्ध्यतीति श्रीसामश्रमी निरुक्तालोचने प्राह स्म। वस्तुतस्तु इन्द्रोऽयमनेकविधः। श्रुतिषु हि अनेकविधा देवाश्च देवविशेषा इन्द्राद्याश्च श्रूयन्ते—सन्ति अविग्रहाः प्राणविशेषा जगन्निर्मातारो देवा इन्द्राद्याः, सन्ति च तारामण्डलेऽपि इन्द्रादिपदभाजो नक्षत्रविशेषा देवाः, यथा चित्रानक्षत्रस्याधिपतिस्तद्योगताराूप इन्द्रः, रेवतीनक्षत्रस्याधिपतिः पूषा, पुष्यस्याधिपतिस्तद्योगतारारूपो बृहस्पतिरित्यादि। अथ द्युलोकवासिनः शरीरधारिणोऽपि सन्ति देवाः, ये "अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति। मानुषश्चैकविधः" इति चतुर्दशविधे सर्गे सांख्यकारिकायां सत्त्वबहुलसर्गे परिगणिताः—'ब्रह्मा, प्रजापतिः, इन्द्रः' इत्याद्याः। पुनश्च देवलोकतया क्लृप्ते हिमालयादुत्तरप्रदेशे भूभागेऽप्यासन् तद्भूभागाधिष्ठातारो देवा इन्द्राद्याः, यत्सकाशं गत्वाऽर्जुनस्य विद्याग्रहणं पुराणेषु आख्यायते, दशरथदुष्यन्तादीनां च युद्धे तत्साहाय्यार्थं गमनमनुवर्ण्यते। तत्रास्य मनुष्यविधस्य भूखण्डवासिन इन्द्रस्य बृहस्पतिसकाशेऽध्ययनं महाभाष्ये भवेन्निबद्धम्। प्राणविधस्यापि तु अशरीरिण इन्द्रस्य व्याकरणकर्तृत्वं श्रुतिष्वाम्नायते—

'वाग्वै पराच्यव्याकृता अवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुरु इति। सोऽब्रवीद्—वरं वृणे, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्यातामिति। तस्मादैन्द्र-

वायवः सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' इति । (तैत्तिरीये षष्ठकाण्डे)

अस्यायमाशयः—यथा पश्वादीनां वागसंस्कृता अव्याकृता—अविभक्ता भवति, न हि तत्र पदवाक्यादिविभागः कथमप्युन्नीयते, तथैव प्रकृत्या मनुष्याणामपि वाक् पदवाक्यादिविभागविरहितैवोत्पद्यते । इन्द्रस्तु ज्ञानस्याधिष्ठाता प्राणरूपो देवः, तां वाचं मध्यत आक्रम्य व्याकरोति—पदवाक्यादिरूपेण प्रविभक्तां करोति । वाचि योऽयं पदवाक्यादिप्रविभागः, स खलु ज्ञानकृतः । पश्वादीनां तादृशज्ञाना-भावात्स न जायते इति । तेन मनुष्याणां वाक् पश्वाद्यपेक्षया संस्कृता परिष्कृतेति सुस्पष्टमेव । तत एवोक्तं हरिणा—

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते ।
कैश्चिद्दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितः ॥

(वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे १०८)

इह ज्ञानस्य शब्दरूपेण या परिणतिरुक्ता, सैवेन्द्रकृता वाक्संस्काररूपा विज्ञेया । तत एव च मनुष्याणां वाग्व्यवहारे परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति भेदचतुष्टयं निरूपयन्ति शास्त्राणि । इह परा वाक् तु परशक्तिरूपा वाङ्मन-सातीता केवलं योगिभिर्निर्विकल्पसमाधौ शक्या विज्ञातुम् । तज्जन्यायां पश्यन्त्या-मपि न शब्दार्थयोः प्रविभाग इति सापि सम्मुग्धज्ञानरूपा न साक्षात्प्रत्येतव्या भवत्यर्वाग्दृशाम् । तदनु मध्यमायां तु शब्दार्थप्रविभागो भवति, किन्तु केवलं मानसः । सापि परेण पुरुषेण न प्रतिपत्तुं शक्या । चतुर्थी वैखरी तु शब्दरूपतया सर्वैर्विज्ञायते । तदेवोक्तं श्रुत्या—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥' इति ।

निगमरूपोऽयं मन्त्रोऽनेकधा मुनिभिराचार्यैश्च व्याख्यायते, नामाख्यातोप-सर्गनिपातेति भेदचतुष्टयमुपक्रम्य महाभाष्ये व्याख्यातः, पशुषु वाच एको भागः, पक्षिषु एकः, सरीसृपेष्वेकः, तुरीयस्तु मनुष्येष्वित्यपि क्वचिद् व्याख्यायते, परं परापश्यन्तीत्यादिभेदचतुष्टयानुवादेन तु समनुगतार्थमिदं सुस्पष्टतया भवति 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' इति । तथा च सम्मुग्धज्ञानरूपया पश्यन्त्या, स्फुटज्ञानरूपया च मध्यमया वैखरी वागियमर्थावबोधक्षमा भवतीति न कोऽप्यत्र विवादावसरः । ज्ञानस्य च मूलमिन्द्रप्राण इति एतेनैव वैज्ञानिकेन रहस्येन इन्द्रः प्रथमो व्याकरणकर्ताऽभिधीयते । तदेतदन्यादृगेव व्याकरणकर्तृत्वमिन्द्रस्य सिद्ध्यति, न तु ग्रन्थनिर्मातृत्वमिति पाणिनेः पूर्वमेवंविधव्याकरणसत्ता न सुस्पष्टं सिद्ध्यति ।

ग्रन्थरूपमपि व्याकरणं केनचिदिन्द्रनामकेन विदुषा विरचितं भवेदिति सन्देह-दोलाधिरूढमेव ।

चान्द्रं तु व्याकरणं किञ्चिदासीदिति स्वीक्रियत ऐतिहासिकैः । तदुक्तं राज-तरङ्गिण्याम्—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशं तस्मात्तदागमम् ।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम् ॥
(राजतरङ्गिणी १–१७६)

चान्द्रदौर्गादिनाम्ना ये ख्याता वैयाकरणेषु प्राक्तना महान्तो विद्वांसः, तैरेव चन्द्राचार्यपदाभिधेयैर्महाभाष्यस्य जीर्णं पुस्तकं दाक्षिणात्येषु क्वचिदुपलभ्य काश्मीर-देशे अभिमन्युराज्यकाले नीतम्, तैरेव महाभाष्यस्य विलुप्तप्रायस्य प्रचारः कृतः, स्वीयं चाभिनवं व्याकरणं विरचय्य प्रचारितमिति पद्येनोक्तेन सिद्ध्यति । तेन काश्मीरमण्डले प्रचरितमपि व्याकरणमिदं भगवतः पाणिनेर्बह्वर्वाचीनमिति न कोऽपि तत्र संशयीत । पाणिनिसूत्रभाष्यकृतः पतञ्जलेरपि बहुतरपरभवत्वात्तेषाम् । ततश्च चान्द्रं व्याकरणं किमपि पाणिनेः पूर्वमपि भवेदिति नात्र प्रमाणं किमपि समुप-तिष्ठते । एवं काशकृत्स्नेः काशकृत्स्नस्य वा व्याकरणकर्तृत्वे न किमपि प्रमाणमुप-लभ्यते, मीमांसकत्वं तु तस्य 'काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी' (४ अ. १ पा. १ आ. १४ सूत्रे) इति भाष्योदाहरणादेव सुप्रतिपन्नम् । मीमांसकानामपि शाब्दिकत्वं प्रथत एवेत्युक्तं प्राक् । आपिशलेस्तु पाणिनिसूत्रेषु दृश्यते नामोल्लेखः, 'वा सुप्यापिशलेः' (६।१।९२) इति, तस्माद्वैयाकरणेषु तन्मतमादृतमासीदिति शक्यतेऽभ्युपगन्तुम्— तत एव अष्टसु आदिशाब्दिकेषु तद्गणनापि सुयोजैव, परं व्याकरणं किमपि विशिष्टं तेन निर्मितमिति सन्देहा-स्पदम्—तथाविधेंऽशे प्रमाणानुपलब्धेः । न हि पाणिनिसूत्रेषु येषां नामोल्लेखः, ते सर्वेऽपि व्याकरणनिर्मातार इत्यभ्युपगमो न्याय्यः । 'ते एव एवं भाषन्ते' 'प्रयोगविशेषे तेषामेवंविधाभिरुचिः' इत्येवं बोधनेनापि नामोल्लेखस्योपपन्नत्वात् । शाकल्यः, काश्यपः, स्फोटायनः, चाक्रवर्मणः, गालवः, भारद्वाजः, गार्ग्यः च सेनकः इत्येवं पाणिनिसूत्रेषु बहूनि नामानि स्मर्यन्ते, सर्वेऽप्येते व्याकरणप्रणेतार इति न क्वापि दृष्टं श्रुतं वा । कस्यचिदेकत्र कस्यचिद् द्विवारम्— कस्य-चिच्च त्रिवारमपि नाम स्मृतम्—तेनापि प्रयोगविशेष एव तत्तेषामभिरुचिर्बो-धितेति शक्यमनुमातुम् । व्याकरणं तु तत्प्रणीतं यदि स्यात्, तर्हि बहुवारं तन्मतप्रदर्शनाय नाम स्मर्येत । शाकल्यः, गालवः, गार्ग्यश्च बहुधा पाणिनिना स्मृताः :—

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (१।१।१६) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च (६।१।१२७) लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) सर्वत्र शाकल्यस्य (८।४।५१) इति शाकल्यः ।

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६।३।६१) तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य (७।१।७४) अङ् गार्ग्यगालवयोः (७।३।९९) नोदात्तस्वरितोदय-मगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् (८।४।३७) इति गालवः ।

ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०) (पूर्वोक्ते) (७।३।९९) (८।४।६७) इति गार्ग्यः ।

तेषु शाकल्य ऋक्संहितायाः पदपाठकर्तृतया प्रसिद्ध इति प्रातिशाख्यमपि किञ्चित्तेन निर्मितं भवेत्, तत एव प्रातिशाख्येष्वपि 'शाकल्यः' 'शाकल्यपिता' इत्यपि च स्मर्यते । तेन प्रातिशाख्यप्रणेतैव स संभाव्यते, सन्धिविषये तस्य क्वचित् क्वचिद्विभिन्ना विचारा एव प्रसिद्धाः स्युः, व्याकरणं न तेन निबद्धं भवेदित्यपि शक्यते कल्पयितुम् । गार्ग्यस्तु निरुक्तकृता भगवता यास्केनापि अनेकधा स्मृतः ।

तत्र "सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके" [निरुक्त, १ अ.] इत्युक्तिस्वारस्येन तस्य नैरुक्तेषु गणनाऽऽसीत्, न तु वैयाकरणेष्विति प्रतीयते । 'वैयाकरणानां चैके' इत्यतः पृथग् गार्ग्यनामस्मरणात् । यदि नाम गार्ग्योऽपि वैयाकरणोऽभविष्यत्, 'वैयाकरणानां चैके' इत्यनेनैव तर्हि तस्यापि गृहीतत्वाद् 'गार्ग्यः' इति पृथङ् नाभ्यधास्यत । यदि अन्यस्यापि कस्यचिद् वैयाकरणस्य विशिष्यात्र नामनिर्देशः स्यात्, तर्हि गार्ग्यस्यापि पृथङ् नामनिर्देशः समञ्जसो भवेत्, 'वैयाकरणानां चैके' इति सामान्योक्त्या तु ये वैयाकरणा निरूढान्यपि नामानि स्वीकुर्वन्ति, ते सर्वं एवोपात्ता इति गार्ग्यस्य पृथङ् नामग्रहणं न कथमपि सामञ्जस्य-मावहति—वैयाकरणेभ्यः पृथक् शाकटायनस्यापि नामात्र गृहीतमिति शाकटा-यनोऽपि न वैयाकरणत्वेन यास्कस्याभिमत इति सत्यव्रतसामश्रमिमहाशया मन्वते । मन्मते त्विदं तेषां मतं न सम्यक् प्रतिभासते—पक्षान्तरे शाकटायनस्य नामग्रहणेनऽताहशकल्पनानुदयात् । 'सर्वाणि नामानि धातुजानि न सन्ति, कानि-चिद्रूढान्यपि सन्ति' इति मतं केषांचिद्वैयाकरणानां प्रदर्शितम् 'वैयाकरणानां चैके' इति । शाकटायनस्तु वैयाकरणोऽपि सन् सिद्धान्तेऽस्मिन्नन्येभ्यो वैयाकरणेभ्यो विप्रतिपन्नः, स हि सर्वाणि नामानि धातुजान्यभ्युपगच्छतीति तस्य नामोल्लेखः पक्षान्तरबोधनायावश्यक एव । प्रत्युत यदि शाकटायनो वैयाकरणो नाभविष्यत्, तत्तर्हि पक्षान्तरे 'वैयाकरणानां चैके' इति नाभ्यधास्यत । शाकटायनातिरिक्तानां वैयाकरणानां धातुजव्यतिरिक्तनिरूढनामस्वीकारे सहमतत्वात् । शाकटायन एव तत्र विमतः, सोऽपि च वैयाकरण इति तत एव सर्वेषां वैयाकरणानामैकमत्यं नास्तीति सूचयितुं 'वैयाकरणानां चैके' इत्युक्तम् । अन्यवर्गोऽपि यदि स्वेन सहमतो भवति, तस्य तर्हि प्राधान्येन नामोल्लिखन्ति पक्षाभिनिविष्टा इति सर्वजनीनोऽयं प्रत्ययः ।

तत एव वैयाकरणैः सहः वादं कुर्वता भगवता यास्केन वैयाकरणस्य स्वपक्ष्यस्य नाम प्रथमं गृहीतम्, 'सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति शाकटायनः' इति। तदनु च स्वपक्ष्याणां नाम सामान्येन निर्दिष्टम्—'नैरुक्तसमयश्च' इति। समयः—संकेतः सिद्धान्त इति यावत्। अस्माकं नैरुक्तानां तु नामान्याख्यातजानीति सिद्धान्त एवास्तीति तत्राभिनिवेशः सूचितः। परं नैरुक्तपक्ष्योऽपि गार्ग्यः सिद्धान्तेऽस्मिन् नैरुक्तेभ्यो विप्रतिपन्नो वैयाकरणमतानुयायीति तस्य नाम पक्षान्तरे निर्दिष्टम्—'न सर्वाणीति गार्ग्यः' इति। तस्य च सिद्धान्तस्य लघुत्वख्यापनाय 'वैयाकरणानां चैके' इत्युपात्तमिति लेखसामञ्जस्यं सुष्ठु सम्पद्यते। शाकटायनो हि वैयाकरणोऽपि सन् सर्वेषां नाम्नां धातुजत्वसिद्धान्ते तेभ्यो विप्रतिपन्न इति तस्य नामोल्लेखः पृथग् युज्यते। गार्ग्यस्तु वैयाकरणानेवानुसरत्यस्मिन् पक्ष इति यदि स वैयाकरणेष्वेव प्रसिद्धः स्यात्—तर्हि वैयाकरणसामान्यात् पृथक् तन्नामोल्लेखो न समञ्जसः स्यादिति सारः। ब्राह्मणवशिष्ठन्यायाश्रयणं त्वगतिकगतिः। गोबलीवर्दन्यायाश्रयणं चापि तथैव। न च ब्राह्मणेषु वशिष्ठस्येव गोषु बलीवर्दस्येव वा वैयाकरणेषु विशिष्य प्रसिद्धिरस्ति गार्ग्यस्येति न तादृशन्यायावतारणमत्र युज्यते। अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या। गार्ग्यस्य नैरुक्तत्वमेव यास्कनिरुक्तेन सिद्ध्यतीति व्याकरणनिर्मातृता न शोभनकल्पनास्पदम्। पाणिनिसूत्रेषु तत्साहचर्येणोपात्तस्य गालवस्यापि विषये तथैव कल्पनं न्याय्यं स्यात्। तस्मात्पाणिनिसूत्रेषु समुल्लिखितनामानः सर्वेऽपि भिन्नभिन्नव्याकरणप्रवर्तका इति लघुत्रिमुनिकल्पतरुकृतां कल्पना न विचाररमणीया। इदमपि चात्र विवेच्यम्—पाणिनीयेषु सूत्रेषु मतभेदप्रदर्शनाय तत्तन्नामोल्लेखोऽयमाधिक्येन सन्धिविषये स्वरविषये वा, सुबन्तसाधने केवलम् 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इति पुंवद्भावविधानार्थं गालवनामोल्लेखो दृश्यते। तिङन्तसाधने च 'अड् गार्ग्यगालवयोः' 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति अडागमे इडागमे च नामोल्लेखः, सोऽपि वर्णोपजनरूपत्वात् सन्धिप्रक्रियाविषय एव नैरुक्तप्रक्रियाविषय एव वा शक्यते वक्तुम्। तथैव 'तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य' इति क्त्वाप्रत्ययस्येडागमविषयेऽपि च तथैव। ततः केवलम् 'लङः शाकटायनस्यैव' इति तिङादेशविषये नामोल्लेखः परिशिष्यते। अन्येषु विभक्त्यर्थसमासतद्धितस्त्रीप्रत्ययकृत्प्रत्ययादिविषयेषु सुमहत्स्वपि प्रकरणेषु, सत्स्वपि च तत्र बहुषु विकल्पेषु न कस्याप्याचार्यस्य नामोल्लेखः। तेनेदमपि शक्यतेऽनुमातुम्—यत्पाणिनिनिर्दिष्टनामानोऽमी महान्त आचार्याः प्रातिशाख्यप्रणेतारः, तत्प्रवक्तारो वा भवेयुः। प्रातिशाख्यानि हि सन्धिविषयं स्वरविषयं च केवलं विचारयन्ति समुपलभ्यन्ते, न तत्र सुबन्ततिङन्तकृत्तद्धितसमासादिसाधनप्रक्रिया काऽप्युपलभ्यते। तस्मात्सन्ध्यादिविषय एव तेषां मतभेदः पाणिनिना प्रदर्शितः। पुंवद्भावविषये जुसादेशविषये च तादृशप्रयोगाभिरुचिरेव तेषां बोधिता स्यात्—न स्वेतावन्मात्रेण तुच्छेन मतभेदेन

पृथग् व्याकरणनिर्मातृत्वं कश्चिद्विचारप्रवीणः परिकल्पयेत् । तदेवमापिशलिरपि कस्यचित्प्रातिशाख्यस्य प्रवक्ता निर्माता वा सम्भवेत्, शब्दप्रयोगविषये परिगणनीयः शिष्टो वा भवेत्, व्याकरणनिर्मातृत्वं तु तस्य संशयविषयतां नातिक्रामति, दृढतरप्रमाणानुपलब्धेरिति ।

शाकटायनो यद्यपि सुप्रसिद्धो वैयाकरण एवेति प्रत्यपीपदाम पूर्वम्, तथापि तद्रचितं व्याकरणं कीदृशमासीदिति न शक्यते कथमप्यनुमातुम् । प्रमाणानुपलब्धेः । यत्तु इदानीं जैनसमुदाये शाकटायननाम्ना प्रसिद्धमेकं व्याकरणं प्रचलति, मुद्रितमपि प्राप्यते, तत्तु न कथमपि पाणिनेः प्राक्तनं भवितुमर्हतीति तद्रचनापरीक्षणेनैव स्पष्टं सिद्ध्यति । तद्धि सर्वरूपेण पाणिनीयं व्याकरणमनुकरोति, न केवलं सूत्रकारस्य पाणिनेः, अपि तु वार्तिककारस्य भाष्यकारस्यापि च सिद्धान्ताननुवदन्ति तदीयानि सूत्राणि । एतद्विषये मनाग् विवेचयामः ।

प्रचलितशाकटायनव्याकरणविचारः ।

पाणिनीये व्याकरण इवात्र शाकटायनव्याकरणेऽपि 'अइउण्' इत्यादिसूत्राणि उपजीव्यत्वेनाश्रितानि, तदाधारेण प्रत्याहारप्रक्रिया च सूत्रेषु निबद्धा । केवलं चतुर्दशसूत्राणि त्रयोदशत्वं प्रापितानि, भेदं प्रख्यापयितुं किञ्चिद् व्यत्यासश्च कृतः, तत्र कारणमनुपदं चिन्तयिष्यामः । इमान्यक्षरसमाम्नायरूपाणि चतुर्दश सूत्राणि पाणिनये महेश्वरेणोपदिष्टानीति सर्वजनीना चिरन्तनी प्रसिद्धिः । नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायां च तथैव विस्पष्टं प्रतिपादितम् । भारते प्रसिद्धासु अनेकविधासु वर्णमातृकासु इयमन्यतमा माहेश्वरी वर्णमातृका पृथगेव परिगण्यते । सोऽयं माहेश्वरोपदेशः साक्षाद्वा डमरुनादद्वारेण वा भवतु, 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' इति प्रक्रियया बुद्धौ प्रादुर्भावनेन वा भवतु, पाणिनेः पूर्वमयमक्षरसमाम्नायक्रमो नासीदिति, तदाधारेण प्रवृत्ता चेयं प्रत्याहारप्रक्रिया पाणिन्युपज्ञमेवेति च तस्याः प्रसिद्धेर्मूलमभ्युपगन्तव्यमेव । 'न ह्यमूला जनश्रुतिः', ततश्च पाणिनेः पूर्वकालभवेन शाकटायनेन कथमेवंविधो वर्णसमाम्नाय उपजीव्यत्वेनाश्रीयताम्, कथं वा प्रत्याहारप्रक्रिया स्वसूत्रेष्वनूद्यताम् ? अथ यत्परिवर्तनं सूत्रेष्वेषु दृश्यते— तस्यापि मूलमन्विष्यताम्—'ऋलृक्' इति सूत्रे लृकारग्रहणं वार्तिककारेण प्रत्याख्यातम् (महाभाष्यस्य द्वितीयाह्निके विचारोऽयं द्रष्टव्यः) तदत्रापि परित्यक्तम् । तेन सूत्रकारात् पाणिनेः का कथा, वार्तिककाराद् वररुचेरपि परभवत्वमस्य शाकटायनस्य स्पष्टं सिद्ध्यति । तथैव 'अइउण्' 'लण्' इत्युभयत्र णकारोपादानमपि भाष्यकृता चिन्तितम् 'किं पुनर्वर्णोत्पत्ताविवार्यं णकारो द्विरनुबध्यते' इत्यादिना, साधिता च तेन 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति परिभाषा, इह तु सर्वमिमं विवादं परिहर्तुं 'लण्' सूत्रस्थो णकारः परित्यक्तः, लकारश्च

पूर्वसूत्र एव 'हयवरलण्' इति निवेशितः। तथैव 'अनुस्वारविसर्गाद्ययोगवाहानामपि अकारोपरि शर्षु च पाठः कर्तव्य' इति भाष्यकृता साधितम्, इहापि 'शषसर्' इति सूत्रे सकारात्परतोऽयोगवाहानां पाठो दृश्यते, तेन महाभाष्यकृतः पतञ्जलेरपि परभवत्त्वमस्य शाकटायनस्य सिद्ध्यति। पाणिनिर्हि भगवान् स्वपूर्वजं शाकटायनमादरेण स्वीयेषु सूत्रेषु स्मरति, यदि तेन शाकटायनस्येदृशानि प्रत्याहारसूत्राणि दृष्टान्यभविष्यन्, कुतस्तर्हि तत्र संदेहोत्पादकमेव परिवर्तनं व्यधास्यत। तस्मादस्य शाकटायनस्य पाणिनिपूर्वभवत्वं न कथमपि कल्पयितुं शक्यम्। तथा 'शश्छोऽटि' इति पाणिनेः सूत्रम्, वार्तिककारेण च तत्र 'तच्छ्लोकेन' इत्यादि प्रयोगाणां सिद्धये 'अटि' स्थाने 'अमि' इत्युपसंख्यातम्। इह तु इदानीं प्रकाशिते शाकटायनव्याकरणे 'शश्छोऽमि' इत्येव सूत्रं दृश्यते। यदि हि पाणिनेः पूर्वमपि 'तच्छ्लोकेन' इत्याद्याः प्रयोगाः प्राचलिष्यन्, तदन्वाख्यानपरं च 'शश्छोऽमि' इति स्पष्टं सूत्रं पाणिनिना अद्रक्ष्यत, तर्हि कथं स तान् प्रयोगानुपेक्ष्य 'अटि' इति स्वसूत्रे अवक्ष्यत्। तस्मात्स्पष्टमिदं सिद्ध्यति, यत्पाणिनिना अडतिरिक्ते वर्णे परे छकारादेशो न दृष्टः, पूर्वमप्रचलितत्वाद्वा अनवधानाद्वेत्यन्यदेतत्, तत एव तेन अटि पर एव छकारादेशो विहितः, वार्तिककारेण तु लकारादावपि परे छकारादेशं पश्यता तन्न्यूनतापूरणं कृतम्। ततोऽपि परभवेन शाकटायनेनानेन वार्तिकमतमेव प्रमाणीकृत्य 'शश्छोऽमि' (१।१।१४४) इत्येव सूत्रं पठितम्। तदिदमेव 'शश्छोऽमि' इति सूत्रमस्य शाकटायनस्य पाणिनेः कात्यायनाच्च परभवत्वं साधयितुं ज्वलद्भास्करसन्निभं प्रमाणं न केनाप्यैतिहासिकदृष्टिमताऽपलपितुं शक्यम्। तथैव 'प्रौहः, प्रौढः, प्रैषः, स्वैरः' इत्यादिप्रयोगाणां सिद्धये वृद्धिविधानं पाणिनिसूत्रेषु न दृश्यते, वार्तिककृता 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु' 'स्वादीरेरिणोः' इत्याद्युपसंख्यातम्। इह तु शाकटायनीये तत्साधनार्थं 'भस्योढोणयूहैषैष्ये' (१।१।८४) 'स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम्' (१।१।८५) इत्यादि सूत्राणि दृश्यन्ते। यदि भगवता पाणिनिना सूत्राणीमानि दृष्टानि अभविष्यन्, कथं तर्हि स तत्समानार्थकं सूत्रं स्वव्याकरणे न प्राणेष्यत। कियदुदाहरामः, वार्तिककृता यत्र यत्रोपसंख्यानं कृतम्—तत्सर्वमत्र सूत्रेष्वनूदितं दृश्यते, तच्च सर्वं वार्तिककारात् परभवत्वमस्य साधयितुं सुपर्याप्तम्। किंच 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति पाणिनिना रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वित्वं विहितम्, एवं सति 'मद्रह्रदः' इत्यादौ हकारोत्तरवर्त्तिनो रेफस्यापि द्वित्वं प्राप्नोतीति तत्र 'नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विर्वचनस्य' इत्यादि माठरपरिवेषणन्यायेन स्वीकृत्य भाष्यकृता तत्र द्वित्वप्रतिषेधः साधितः। इह तु सूत्र एव स्फुटम् 'अचो ह्रो ह्वः' (१।१।११७) इति रेफहकारयोर्द्वित्वप्रतिषेध उपलभ्यत इति भाष्यकृतोऽपि परभवत्वमस्य शाकटायनस्य सुस्पष्टम्।

प्राचीनः खलु शाकटायनो निरुक्तकृतो यास्कादपि पूर्वभवः, यास्केन

तन्मतस्य तन्नाम्नाऽनेकत्रानूदितत्वात्। एतत्सूत्रकृच्छाकटायनस्तु न निरुक्तपूर्वभवः सिद्ध्यति। निरुक्तकृता हि 'अरण्यानी' इति पदं निर्ब्रुवता 'अरण्यानी—अरण्यस्य पत्नी (निरुक्त ९।३।८) इत्युक्तम् (९।२९) पत्नी—पालयित्री—देवतेति तद्व्याख्याता दुर्गाचार्यः। पाणिनिना भगवता पुंयोग एव तत्रानुकं ङीषं च विदधता तदेवानुसृतम्। वार्तिककृता तत्र 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' इति विशेषं ब्रुवता 'महदरण्यमरण्यानी' इति विग्रहो व्यञ्जितः। इह च शाकटायनव्याकरणे 'हिमारण्याद् गुरौ' (१।३।५७) इति वार्तिकानुसार्येव सूत्रं दृश्यते। तेन स्पष्टमिदं सिद्ध्यति, यत्पूर्वं निरुक्तकाले पाणिनिकाले च जडयोरपि हिमारण्ययोः पत्नीत्वमारोप्य तदधिष्ठातृदेवताभिप्रायेण वा 'हिमानी' अरण्यानी'–प्रयोगौ प्राचलताम्, परतस्तु महत्त्वार्थस्तत्र प्रसिद्धो जात इति महत्त्वार्थ एव वार्तिककृता अनेन शाकटायनेन च प्रयोगाविमौ साधितौ। तदित्थमयं शाकटायनो न पाणिनेर्नापि वा निरुक्तकारात् प्राक्तनः कथमपि सिद्ध्यति। ताभ्यां पूर्वं आसीत् कश्चन शाकटायन इति सत्यम्, परं तेन किञ्चिद् व्याकरणं निर्मितं न वेति सन्दिग्धमेव। तथैव निरुक्तकृता 'सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति शाकटायनः' इति या शाकटायनस्य प्रतिज्ञाऽनूदिता, यच्च 'पदेन पदेतरार्द्धान् सञ्चस्कार शाकटायनः, एतेः कारितं च यकारादिं च, अस्तेः शुद्धं च सकारादि च' इदिना या 'सन्तमर्थमाययतीति सत्यम्' इति सत्यशब्दव्युत्पत्तिः प्रदर्शिता शाकटायनमतेन, न तादृशं किमप्यत्रोपलभ्यते। तस्मादपि निरुक्तकृतः परिचितो नायं शाकटायन इति स्फुटीभवति। एवं शौनकेनापि ऋक्प्रातिशाख्ये 'प्रथमं शाकटायनः' (प० १ सू० १६) इति सूत्रे शाकटायनोऽवसाने वा प्रथममेव व्यञ्जनं ककारादि मन्यते, गार्ग्यस्तु अवसाने द्वितीयं व्यञ्जनमाहेत्युक्तम्। परमत्र शाकटायनव्याकरणे तु 'चर्जशः' (१।१।६४) इति विकल्पेनैवावसाने चर्त्वं ब्रुवता उभयमप्यनुज्ञातम्। तस्माच्छौनकपरिचितो नायं शाकटायन इति सिद्ध्यति। तथैव कात्यायनप्रातिशाख्येऽपि 'परिण इति शाकटायनः' (३।८७) इत्यादिना 'युष्मदादेशस्य नः' इति पदस्य णत्वं यच्छाकटायनमतेनोक्तम्, तदपि नेह प्राप्यते इति कात्यायनस्यापि परिचितोऽयं शाकटायनो न भवति। किमन्यत् प्रातिशाख्ये बहुत्र शाकटायननाम गृहीतमिति वैदिकशब्दसाधनमपि शाकटायनेन पूर्वेण कृतमिति स्फुटीभवति। तस्मात् केवललौकिकव्याकरणप्रणेताऽयं शाकटायनः न पूर्वभवः। किञ्च छान्दसस्यैव लिटः स्थाने क्वसुकानचौ पाणिनिना विहितौ। परतस्तु कविभिर्लोकेऽपि तेषां प्रयोग आरब्ध इति दृष्ट्वा लौकिकमेव व्याकरणं केवलमुपनिबध्नता अनेन शाकटायनेनापि क्वसुकानचौ विहिताविति पाणिन्यपेक्षया बह्वर्वाचीनत्वमस्य सुस्पष्टीभवति।

निबन्धशैल्यप्यस्य शाकटायनस्यार्वाचीना स्फुटं प्रतीयते प्रेक्षावताम्। तथा-

हि—'पञ्चकृत्वः' 'दशकृत्वः' इत्यादिप्रयोगान् साधयितुं पाणिनिः अभ्यावृत्ति-गणनायाम् कृत्वसुच्प्रत्ययं विधत्ते। इह तु शाकटायने 'वारे कृत्वस्' (३।४।३२) इति समुपलभ्यते। 'अभ्यावृत्तिगणना' स्थाने 'वार' शब्दप्रयोगः कियदर्वाचीन इति, विवेचका एवात्र प्रमाणम्। तथैव पाणिनिना अभूततद्भावे च्विप्रत्ययोऽन्वाख्यातः, अनेन शायटायनेन तु तत्र 'कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्तत्त्वे (३।४।५५) इति च्विविधानं सूचितम्। 'प्राग् अतस्य तत्त्वम्' इति अभूततद्भावशब्दापेक्षया शब्दोऽयं कियतीं प्राञ्जलतां गाहते, ऋषेर्मुनेर्वा किमीदृशी भाषा भवितुमर्हतीति सुधिय एव विवेचयन्तु। अथ तिङन्तप्रकरणे पाणिनिना 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः' 'अस्मद्युत्तमः' इति युष्मदस्मच्छब्दयोः कर्तृत्वे कर्मत्वे वा मध्यमोत्तमपुरुषौ विधाय ततः 'शेषे प्रथमः' इति तदतिरिक्ते सामान्येन प्रथमपुरुषो विहितः। इह तु 'लोऽन्ययुष्मदस्मासु तिप् तस्झि' (१।४।१) इत्यादिना सूत्रेण युगपदेव सर्वे प्रथमाद्याः पुरुषा विहिताः। तत्र युष्मदस्मच्छब्दाभ्यां प्रागुपात्तोऽन्यशब्दः कथं तदपेक्षयाऽन्यं शब्दं बोधयेदिति जानाति सूत्रकृदेव। किञ्च 'सामानाधिकरण्यबोधनाय न कश्चिच्छब्दोऽत्रोपात्तः, न वा कुतश्चिदनुवृत्तः, ततश्च 'अन्य-युष्मद्-अस्मद्-शब्देषु सन्निहितेषु प्रथमाद्याः पुरुषाः स्युरिति 'देवदत्तः त्वया गच्छतु' इत्यादौ युष्मच्छब्दसान्निध्येऽपि कुतो न मध्यम इति मृग्यमत्र समाधानम्। 'अन्ययुष्मदस्मदर्थे प्रत्येकमेकद्विबहुषु वर्तमानाद्धातोर्लस्य यथासंख्यं तिप्-तस्-झि इत्यादेशा भवन्ति' इति प्रक्रियासंग्रहकृतोक्तोऽर्थस्तु न कथमपि बुद्ध्यावुपारोहति, न हि 'त्वं करोषि' इत्यादौ कृधातुर्युष्मच्छब्दार्थे वर्तते इति केनापि शेमुषीजुषा शक्यं वक्तुम्। 'युष्मदाद्यर्थेषु वर्तमाना या क्रिया, तद्वाचकाद्धातोः' इत्याद्यर्थकरणेऽपि न निर्वाहः, इह हि क्रियाशब्देन व्यापारो वा विवक्ष्येत, फलं वा? आद्ये 'त्वं सत् क्रियसे' इत्यादौ कथं मध्यमः, व्यापारस्य युष्मदर्थेऽभावात्। अन्त्ये च 'त्वां सत्करोति' इत्यादौ कुतो न मध्यमः, फलस्य युष्मदर्थगामित्वात्! तस्मात् 'सामानाधिकरण्ये' इत्येव पाणिनेर्भगवत उक्तिः सूपपादा भवति, न तां परित्यज्य सम्भवेदुपपत्तिः। किञ्च 'त्वं चाहं च ते च गच्छामः' इत्यादौ कुतो न मध्यमपुरुषः प्रथमपुरुषो वा? युष्मदर्थस्य अन्यार्थस्य च क्रियाश्रयत्वात्। पाणिनेस्तु युष्मदस्मच्छब्दसामानाधिकरण्ये जाग्रति शेषपदार्थस्यासम्भवान्न तत्र प्रथमपुरुषप्राप्तिः, मध्यमपुरुषन्तु परत्वादुत्तमपुरुषो बाधत इति न काप्यनुपपत्तिः। एवमेव बहुधैतानि सूत्राणि न क्षोदक्षमाणि न तद्ग्रन्थशैली आर्षीति कृतं विस्तरेण।

यत्तु 'त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य' इति पाणिनिसूत्रे यच्छाकटायनमतमुपात्तम्, तदत्र 'न संयोगे' (१।१।११९) इति सूत्रे दृश्यते, यच्च 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' इत्युक्तम्, तदत्र 'अच्यस्पष्टश्रुतिश्च' 'वानुजात्' (१।१।१५४, ५५) इति सूत्र-

योर्दृश्यते, तथा 'लङः शाकटायनस्यैव' इति यत्पाणिनिना जुसादेश उक्तः, सोऽप्यत्र 'आद् द्विषो मेर्जुस् वा' (१।४।१०६) इति दृश्यते—तेन अयमेव शाकटायनः पाणिनेः परिचितः—इति साधयन्ति, तन्न क्षोदक्षमम्। प्रायेण पाणिनेः सर्वाण्येव सूत्राण्यत्र शाकटायनेऽनूदितानि शब्दान्तरैर्दृश्यन्ते, तथैवैतान्यपि पाणिनिसूत्राण्यत्रानूदितानीत्यपि शक्यते वक्तुम्। यतो हि शाकटायनो 'द्विषः परस्य लङो मेर्जुसं मन्यते' इति पाणिनिनोक्तम्। अर्थादन्ये न मन्यन्त इति सूचनाद्विकल्पः सिद्ध्यति। न तु शाकटायनोऽपि विकल्पेन मन्यत इति पाणिनेरुक्तिः। इह तु सूत्रे शाकटायनोक्तेऽपि विकल्प एव विहित इति पाणिनेरनुवाद एवाऽयं सिद्ध्यति, पाणिनिना यन्नाम गृहीतम्—स तु शाकटायनो भिन्न एवेति दृढाभिर्युक्तिभिः प्रत्यपीपदाम। मतभेदोऽपि च दृश्यते, पाणिनिना शाकटायनमतेन लघुप्रयत्नतरौ यकारवकारौ दर्शितौ, इह तु अस्पष्टश्रुती तौ विहितौ। यदि पाणिनिना एतत्सूत्रमतमुद्धृतं स्यात् तर्हि 'अस्पष्टश्रुती' इत्येवोक्तं स्यात्। न हि पाणिनिः शब्दान्तरैर्गोपायितं परमतमनुवदितुमिच्छति, स्पष्टं शाकटायननामग्रहणात्। तस्मादनेनैव शाकटायनव्याकरणकृता पाणिनिमतमनूदितम्, लघुप्रयत्नतरशब्दं स्पष्टीकर्तुं च तत्र 'अस्पष्टश्रुती' इति निवेशितम्। सोऽयमस्पष्टश्रुतिशब्दो लघुप्रयत्नतरतां स्पष्टमावेदयितुं शक्नोति न वेत्यन्यदेतत्। किंच शाकटायनमते लघुप्रयत्नतरौ यकारवकारौ भवतः। अन्यमते तु न भवतः इति पाणिन्युक्त्या विकल्पः फलति, न तु शाकटायनोऽपि विकल्पमिच्छतीति पणिनिसूत्रात् प्रतीयते। इह तु लघुप्रयत्नतरौ स्वयमपि विकल्पेन विहिताविति पाणिनिसूत्रानुवाद एवात्र फलतीति भाव्यं सुधीभिः। अन्यदपि विचार्यताम्—जैनमहाभागा उणादिसूत्राण्यपि शाकटायनकृतानि मन्यन्ते, न चोपलभ्यमानानामुणादिसूत्राणामेभिः शाकटायनसूत्रैरेककर्तृत्वं सम्भवति। अयं हि प्रसिद्धशाकटायनव्याकरणप्रणेता केवलं लौकिकं व्याकरणमन्वाचष्टे, न तु वैदिकशब्दसाधनेऽस्य प्रयत्नो दृश्यते। अत एव वैदिकशब्देषु इष्टस्वरसिद्धये येऽनुबन्धाः पाणिनिना प्रत्ययागमादिष्वासञ्जिताः, तेऽनेन परित्यक्ताः। तथाहि—स्वरार्थमेव स्त्रीप्रत्यये ङीपूङीषोर्भेदः पाणिनिना कृतः, अत्र शाकटायने तु 'ङी' इत्येक एव प्रत्यय उभयोः स्थाने दृश्यते, 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति पाणिनिः, श्य एव तत्र शाकटायने। 'चिण्' स्थाने (ञिः) इत्येवात्र शाकटायने दृश्यते। तेन स्वरार्थो अनुबन्धा नेह समादृता इति स्फुटमेव। उणादिसूत्रेषु तु स्वरार्थमनुबन्धासञ्जनं स्फुटं दृश्यते—उप्रत्ययप्रकरणे हि 'धान्ये नित्' इति पठितमुणादिषु 'अणु' शब्दसिद्ध्यर्थम्। तत्र नित्त्वं केवलं स्वरार्थमेव विहितम्, नान्यत्किमपि प्रयोजनं नित्त्वस्य। तथा चास्मिन् शाकटायनीये न स्वरसिद्ध्यर्थं यत्नः, उणादिषु तु स स्फुट इति कथमुभयोरेककर्तृकतास्तु। तथैवात्र शाकटायने गुणवृद्धिसम्प्रसारणादिसंज्ञा न दृश्यन्ते—उणादिषु तु ता एता 'रुहेर्वृद्धिश्च' रौहिषो

मृगविशेषः, 'स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च' सिन्धुः, इत्यादिसूत्रेषु बहुशो व्यवहृताः। एवं टिसंज्ञापि शाकटायने न दृश्यते, उणादौ तु 'मृजेष्टिलोपश्च मलम्, इत्यादौ सापि व्यवहृता। षित्त्वप्रयुक्तो ङीप्रत्ययोऽस्मिन् शाकटायने न विहितः, उणादिषु तु ङीप्रत्ययार्थे षित्त्वं 'कॄ शॄ वृञ् चतिभ्यः ष्वरच्' इत्यादौ दृश्यते, शर्वरीत्याद्याः प्रयोगाश्च तत एव सिद्ध्यन्ति। कियदुदाहरामः, उणादिसूत्राणामेतस्य शाकटायनव्याकरणस्य चैककर्तृकत्वं न केनापि सम्भावयितुमपि शक्यम्। तस्मान्नेदं शाकटायनव्याकरणं प्राचीनशाकटायनमुनिकृतम्, नापि वा इमानि उणादिसूत्राणि पाणिनिपूर्वभवेन शाकटायनेन रचितानि। उपलभ्यमानेषु उणादिसूत्रेषु सर्वापि प्रक्रिया पाणिन्यनुसारिणी प्रतीयत इति पाणिनेः 'उणादयो बहुलम्, इति सूत्रं दृष्ट्वा परभवेन केनचित् तद्विस्तारार्थमिमानि उणादिसूत्राणि रचितानीत्युणादौ पठिती कश्चिदपि जानीयात्। भवेयुः कदाचित् पाणिनेः पूर्वमपि कानिचिदुणादिविधायकानि सूत्राणि, उपलभ्यमानानि तु न सम्भवन्ति पाणिनेः पूर्वभवानि। एवं च पाणिनेः पूर्वं शाकटायनव्याकरणं न प्रमाणैः प्रसिद्ध्यति। संस्कृतव्याकरणशास्त्रेतिहासलेखकेन श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकमहाशयेन तु एतच्छाकटायनव्याकरणरचयितुर्नामापि 'पाल्यकीर्ति' इति जैनग्रन्थप्रमाणैरेव साधितम्। समयस्तस्य नवमी दशमी वा विक्रमशताब्दी निर्दिष्ट इति नात्रेदानीं विस्तरावश्यकता। आसीच्छाकटायनो वैयाकरणः, अतिप्राक्तनः, तेन व्याकरणं रचितमिति तु सन्दिग्धम्।

अथामरजैनेन्द्रयोस्तु पाणिनिपरभवत्वं सुप्रसिद्धमेव। तथैव पश्चान्तरे प्रोक्तानां सारस्वतादीनामाधुनिकत्वेऽपि न कस्यापि विवादः। तदित्थं पाणिनेः पूर्वं कस्यापि व्याकरणस्य सत्तामनुमातुं नास्ति दृढतरं प्रमाणमिति श्रीमान् पाणिनिरेव प्रथमो व्याकरणकर्ता स्वीकार्यः—इति श्रीमतः सत्यव्रतसामश्रममहाशयस्य मतं निरुक्तालोचने विवृतं दृश्यते—तदेवात्रोपबृंहितमस्माभिः।

पाणिनेः पूर्वमपि व्याकरणसत्तासाधनम्।

वयं त्वत्र ब्रूमः। इदानीं पाणिनेः पूर्वभवं किमपि व्याकरणं सर्वाङ्गपूर्णं नोपलभ्यत इति सत्यम्, किन्तु पाणिनेः पूर्वं किमपि व्याकरणं नासीदेवेति न शक्यमभ्युपगन्तुम्। पूर्वमपि व्याकरणसत्ताया बहुभिः साक्षिभिः साध्यमानत्वात्। तथाहि—पाणिनिरेव भगवान् 'आङि चापः' इति तृतीयाविभक्तेरेकवचनमाङ्शब्देनाह, न च तृतीयैकवचनं तेन 'आङ्' इति पठितम् किन्तु 'टा' इति। तत्र 'आङिति टासंज्ञा प्राचाम्' इत्येन व्याख्यातारो ब्रुवते। तेनेदमेव सिद्ध्यति—यत्प्राचीनेषु व्याकरणेषु तृतीयैकवचनम् 'आङ्' इत्येव श्रुतमासीत्, तत्स्वपरिभाषायां ङित्त्वप्रयुक्तानि कार्याणि परिहर्तुं पाणिनिना 'टा'रूपतां प्रापितम्, परं पूर्वभवव्याकरणसंस्कारवशात्—तस्यापि स्मरणसंरक्षणार्थं वा सूत्रे 'आङ्' अपि निर्दिष्टः।

तथैव 'औङ आपः' इत्यपि। न हि प्रथमाद्वितीययोर्द्विवचने 'औङ्' प्रत्ययः पाणिनिना स्वव्याकरणे स्वीकृतः, अपि तु 'औ' 'औट्' इति। प्राक्तनव्याकरणसंस्कारवशात्तु सूत्रे 'औङः' इत्यप्युच्चारितम्। किमन्यत्—'कर्मणि द्वितीया' 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यादिषु द्वितीयातृतीयादिनाम्ना विभक्तयः पाणिनिना विहिताः, न तु द्वितीयातृतीयादिसंज्ञाः स्वशास्त्रे कृताः तत्रापि प्राक्तनव्याकरणदृष्टसंज्ञाभिरेवात्र व्यवहार इति व्याचक्षते व्याख्यातारः। न च 'सु-औ-जस्' इत्यादीनां क्रमेण गणनयैव प्रथम-द्वितीयत्वादिसिद्धेस्तदर्थं संज्ञाप्रयासो न कृत इति शक्यं समाधातुम्। तिङ्प्रत्ययेषु प्रथम-मध्यमोत्तमताया अपि संनिवेशेनैव सिद्धतया तदर्थं सूत्रप्रणयनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। प्रसिद्धो ह्यन्त्यार्थबोधक उत्तमशब्दः संस्कृतवाङ्मये। तस्मात्स्पष्टप्रतिपत्तये संज्ञाः कर्तव्या एवेति पाणिनेः शैली, न च सा सुप्सु समादृतेति तत्र व्याकरणान्तरसंज्ञासमाश्रयणमेव युक्तमापतति। तथैव 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' इति दशसु कृत्प्रत्ययेषु इण्निषेधः पाणिनिना पठितः। न चैतेषु बहवः प्रत्ययाः पाणिनिशास्त्रे कृत्प्रत्ययेषु पठ्यन्ते—तस्माद् व्याकरणान्तरस्था अप्यत्रानूदिता इत्येव वक्तव्यं स्यात्। उणादिष्वेते पठिता इति चेत्, तदपि व्याकरणान्तरमेव, न पाणिनीयमित्यनुपदमेव साधितमस्माभिः। ऋतधातुः, स्तम्भु-स्तम्भुप्रभृतयश्च न पाणिनीये धातुपाठे दृश्यन्ते, सूत्रेषु तु पठ्यन्ते। यान् सौत्रान् धातूनाहुर्व्याख्यातारः। त एतेऽपि पूर्वव्याकरणसंस्कारेणैव पाणिनिना स्वसूत्रेषु निबद्धा इत्येव स्वीकर्तुमापतति। एवं 'चर्करीतं च' इत्यदादिगणे पठितं पाणिनिनाचार्येण, यङ्लुगन्तं तेन गृह्यत इति व्याख्यातार आहुः। न च पाणिनीये व्याकरणे यङ्लुगन्तं चर्करीतमिति परिभाष्यते, प्राक्तनेष्वेव व्याकरणेषु कारितमिति णिजन्तम्, चिकीर्षितमिति सन्नन्तम्, चेक्रीतमिति यङन्तं, चर्करीतमिति यङ्लुगन्तं व्यवहृतमासीत्, निरुक्तेऽपि दृश्यते तथा व्यवहारः। तस्मात्प्राचीनव्याकरणसंस्कारेणैव पाणिनिना चर्करीतं च इत्यदादौ निवेशितम्। किंच 'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्'। 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' (१।२।५७) इत्यत्र प्रत्ययार्थस्य प्राधान्याय अनद्यतनादिकालविवरणाय च वचनं न कर्तव्यमिति पाणिनिना तादृशवचनं खण्डितम्, तद्वचनं केषांचिद्यदा भवेत्, तदैव तत्खण्डनमुपयुज्येत, निरवलम्बस्य खण्डनस्यायुक्तत्वात्, तच्च वचनं पूर्वेषां वैयाकरणानामेव भवेदित्यतोऽपि पूर्वव्याकरणसत्ता स्फुटं सिद्ध्यति। किं चात्रैव पूर्वे 'लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने' इति स्वयं लिङ्गवचनं विधाय 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' (१।२।५३) इति पाणिनिना तदर्थं सूत्रकरणानावश्यकता या प्रकटिता, तत्रापीदमेव शक्यं वक्तुम्—यत्पूर्वव्याकरणान्यनुसृत्य पूर्वं विधानं कृतम्, तदनु च स्वमतेन तत्खण्डितमिति। तस्माद्भगवान् पाणिनिरेव स्वपूर्वभवव्याकरणसत्तायां मुख्यः साक्षी। अथ भाष्यस्यापि साक्ष्यं दृश्यताम्। 'अत एकहल्मध्ये' इत्यादिसूत्रे

'देभतुः' इत्युदाहरति पतञ्जलिः। 'सदेः परस्य लिटि' इति सूत्रे च 'सस्वजे' इति। तावेतौ प्रयोगौ पाणिनिसूत्रैर्न सिद्ध्यतः, दम्भधातोरुपधाभूतस्य मकारस्य, स्वञ्जधातोरुपधाभूतस्य ञकारस्य च लिटि लोपार्थं पाणिनिना प्रयत्नाकरणात्। संयोगात्परस्य लिटः पाणिनिपरिभाषायां कित्त्वाभावात्। तस्मात् 'श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा' इति व्याकरणान्तरमनयोरुदाहरणयोर्भाष्यकृतानुसृतमिति भट्टोजिदीक्षित आह। 'न दुह्स्नुनमां यक्चिणौ' इति सूत्रे च भारद्वाजीयाः पठन्ति—'णिश्रन्थिग्रन्थि' इत्यादि महाभाष्यकृतोक्तम्, त इमे भारद्वजीया व्याकरणान्तराचार्या एव शक्या उररीकर्तुम्। 'औङ आपः' इति सूत्रे च द्विवचने ङित्त्वप्रयुक्तं कार्यं याडादि कुतो नेत्याशङ्क्य 'अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम्, पूर्वसूत्रेषु च येऽनुबन्धा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते' इति स्पष्टं भाष्यकारः पूर्वसूत्रसत्तां स्वीकरोति। वार्तिकमपीह तदर्थप्रतिपादकं पठितमिति वार्तिकभाष्याभ्यामुभाभ्यामपि पाणिनेः पूर्वं व्याकरणान्तरसत्तायां स्पष्टं साक्ष्यं दत्तम्। इदमेव भाष्यं व्याचक्षाणेन कैयटेनोक्तम् 'पूर्वाचार्यैर्द्वे अपि द्विवचने ङितौ पठिते, न चेह (पाणिनीये व्याकरणे) क्वचिदपि औङ्प्रत्ययोऽस्ति, सामान्यग्रहणार्थं पूर्वसूत्रनिर्देशः' इति। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्', इति सूत्रे च वार्तिककृता तद्व्याख्यायां भाष्यकृता च 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शटकस्य च तोकम्' इति स्फुटाक्षरैरेव शाकटायनव्याकरणसत्ता स्वीकृता। शकटस्य तोकम्—शाकटायनो व्याकरणे नाम धातुजमाह—इत्युक्त्या तदीयव्याकरणसत्ता स्पष्टं प्रतीयते—न तु तस्य मतमात्रम्। यद्यपि उपलभ्यमानं शाकटायनव्याकरणं न पाणिनितः प्राचीनं भवितुमर्हतीति विस्तरेण प्रत्यपीपदाम, तथापि आसीत् किमपि शाकटायनं व्याकरणं पाणिनेः पूर्वमित्यत्र तु न संशयलेशः। पाणिनिना तन्नामग्रहणात्—निरुक्तवार्त्तिकभाष्यादिषु तद्व्याकरणनामोल्लेखाच्च। 'शताच्च ठन्यतावशते' (५।१।२१) इति सूत्रभाष्यव्याख्यायां च स्फुटं कैयट आह 'आपिशलिकाशकृत्स्नयोस्तु' 'अग्रन्थे' इति वचनाद् अन्यत्र प्रतिषेधाभावः। नियतकालश्च स्मृतयो व्यवस्थहेतवः इति मुनित्रयवचनेनाद्यत्वे साध्वसाधुप्रविभागः' इति। अनेन लेखेन स्पष्टं प्रतीयते—यत् कैयटेन स्वयमापिशलिकाशकृत्स्नयोर्व्याकरणं दृष्टम्। तत एव च तन्मते पाणिनिसूत्राद्वैषम्यं स्पष्टं निर्दिष्टम्। अस्मिन् युगे च वैषम्ये पाणिनीयव्याकरणमेव प्रमाणत्वेन मन्तव्यमित्यपि स्वमतमुपन्यस्तम्। ततः पूर्वं भर्तृहरिणा च भाष्यस्य त्रिपादीव्याख्यायां 'सर्वादिगणपाठस्य आपिशलिव्याकरणे क्रमो भिन्न इत्युक्तम्' तेन च सोऽप्यापिशलिव्याकरणं दृष्टवानिति स्फुटं प्रतीयते। अत्रोभयत्र तद्धितविषयकः सुबन्तविषयकश्च निर्देश इति आपिशलिकाशकृत्स्नयोः प्रातिशाख्यं ताभ्यां दृष्टं स्यादित्यपि न वक्तुं शक्यम्, प्रातिशाख्ये हि केवलं स्वरविषयः सन्धिविषयश्च भवतीति तद्धितसुबन्तादिविचारस्य तत्र न संभवः। प्राचीनानि

प्रातिशाख्यानि सुबन्त-तिङन्त-तद्धितादीनपि व्याख्यान्ति स्मेति चेत्—व्याकरणान्येव तर्हि तानि, इति नाममात्रेऽयं विवादः पर्यवस्यति। माधवोऽपि धातुवृत्तौ तनादिगणे 'क्षिणु हिंसायाम्' इति धातुं प्रकृत्याह—'अत्र सर्वत्र पिद्वचनेषु विकरणापेक्षो गुणः 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति न भवतीत्यात्रेयमैत्रेयौ। तथा चापिशलिः शब्दविकरणेषु धातुगुणमभिधाय करोतेश्च मृदेश्चेत्यसूत्रयत्। पुगन्तलघूपधस्य च इत्यत्र रक्षितेन चोक्तम्।......शाकटायनक्षीरस्वामिभ्यामयं धातुर्न पठ्यते।' इत्यादि। तेन स्पष्टमिदं सिध्यति—यन्माधवेनाप्यापिशलं शाकटायनं च व्याकरणं दृष्टम्, तयोरुद्धरणं वा आत्मग्रन्थे क्वचन दृष्टमिति। भट्टारकहरिश्चन्द्रादिभिश्च ऐन्द्रव्याकरणस्यापि सूत्रमुद्धृतमिति तदपि बहुकालपर्यन्तं प्रचलितमासीदिति प्रसिद्ध्यति। किं च या एताः 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इत्याद्याः परिभाषा भाष्यकृता पाणिन्यक्षरैः साधिताः, याभिर्विना पाणिनीये व्याकरणे न भवति निर्वाहः, ता अपि व्याकरणान्तरेषु वाचनिक्य इत्येव नागेशाद्या अभिमन्वते। तस्मात्सर्वेऽपि वैयाकरणाः पाणिनेः पूर्वं व्याकरणान्तरसत्तायां दृढं साक्षिणः। अथ शास्त्रान्तराणामपि साक्ष्यं गृह्यताम्। भगवता पाणिनिना 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' इति सूत्रयता पाराशर्यपर्यायव्यासविरचितशारीरकसूत्राणां सत्ता स्वस्मात्पूर्वं स्फुटमभिव्यञ्जिता। तदात्वे तेषां भिक्षुभिरध्येयत्वाद् भिक्षुसूत्राणीति प्रसिद्धिर्भवेन्नूनम्। व्याससूत्राणि चेमानि सर्वेभ्यो दर्शनसूत्रेभ्योऽर्वाक्तनानि सर्वेषामत्र समालोचनदर्शनात्। ततश्च सर्वाणि दर्शनसूत्राणि पाणिनेः प्राग्भवान्येवेति उररीकर्तव्यं भवति। तत्र च गौतमीये न्यायसूत्रे 'विकारादेशोपदेशात् संशयः' इति सूत्रं शब्दनित्यत्वप्रकरणे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीये पादे दृश्यते। तस्यायमेवाशयो यत् केचन वैयाकरणाः शब्देषु विकारान् विदधति, केचिच्चादेशान्। विकारो नाम तस्यैव वर्णस्य वर्णान्तरतापत्तिः, आदेशस्तु एकस्य वर्णस्य स्थाने वर्णान्तरप्रयोगः। तत्रानयोः किं सत्यमिति विचार्यते। एवं प्रतिज्ञाय तेन उभावपि पक्षौ चिन्तितौ, आदेशपक्षश्च सिद्धान्तितः। विकारादेशविधानं चेदं व्याकरणशास्त्रे एव संभवतीति ततः पूर्वं व्याकरणानां सत्ता सिद्धा भवति। तच्च व्याकरणं पाणिनेः पूर्वभवमेवेति तस्यापि साक्ष्यं पूर्वभवव्याकरणसत्तां प्रमाणीकरोति। न्यायसूत्रस्य पाणिनिपरभवत्वस्वीकारे समानकालिकत्वस्वीकारेऽपि च पाणिनिरादेशवादी, इह चोभयोरुपदेशः ख्यापित इति विकारवादि व्याकरणमपि किञ्चित्पूर्वमासीदेवेति सिद्ध्यति। वाल्मीकीये रायायणे च हनुमतः प्रथमदर्शनकाले श्रीरामेण लक्ष्मणं प्रत्युक्तम्—

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपभाषितम्॥

(वा. रा. कि. काण्डे)

तेन तदात्वेऽपि व्याकरणसत्ता प्रतीयते। न च पाणिनीयस्य तदात्वे संभव इति व्याकरणान्तरमेव प्राग्भवं स्वीकार्यं स्यात्। किं बहुना वेदाङ्गेषु मुख्यतया सर्वत्र व्याकरणं पठ्यते—ब्राह्मणेष्वपि च तत्र तत्र व्याकरणविषया निर्दिश्यन्ते—इति एतद्युगजातपाणिनिपर्यन्तं मुख्यं वेदाङ्गं नैव प्रचलितमिति न कथमपि श्रद्धातुं शक्यम्। चीनदेशाद्भारतभ्रमणार्थमागतः ह्यूआनचूआङ्-नामकः पर्यटकोऽपि पाणिनेर्विषये बहु लिखन्निदमपि जगाद—यत् पणिनेः पूर्वं बहूनि व्याकरणानि परस्परं विप्रतिपन्नानि विशृङ्खलानि च प्रचलन्ति स्म। तत्रेन्द्रस्य व्याकरणकर्तृतया स्पष्टमनेन नाम गृहीतम्। एतस्य लेखानामितिवृत्तविषये बहुतरं प्रामाण्यमभ्युपगम्यत ऐतिहासिकैः। युक्ततरं च तत्, देशान्तरादागतेन स्पष्टमक्षिभ्यां विलोक्य यल्लिखितं तत्राविश्वासे कारणाभावात्। व्याकरणन्तरसत्ता यद्यपि न तेन स्वयं दृष्टा—अथापि द्वादशशतमितवत्सरेभ्यः पूर्वमपीह जनाः पाणिनेः प्राग्व्याकरणसत्तामभ्युपगच्छन्ति स्म, तेभ्य एव तेन श्रुतमिति तु निर्विवादम्। ततश्च 'नह्यमूला जनश्रुतिः' इति न्यायेन न तत्र संदेहोऽवतरेत्। बृहत्कथामूलकेषु कथासरित्सागर-बृहत्कथामञ्जरीप्रभृतिष्वपि पाणिनेः पूर्वमैन्द्रव्याकरणस्य सत्ता, पाणिनीयव्याकरणप्रसारोत्तरं तद्विलोपश्चेति स्पष्टमुद्घुष्यत एव। तस्माद्देवराजेन प्राणरूपेणेन्द्रेण ज्ञानाधिष्ठात्री मानुषी वाग् व्याकृतेति व्याख्यातपूर्वं श्रुतेस्तात्पर्यमनभिशङ्कनीयमास्तां वैज्ञानिकदृष्ट्या, अथापि मनुष्यविशेषोऽपि कश्चिदिन्द्रो व्याकरणग्रन्थमपि कञ्चन निर्मितवानेवेति बहुभिः साक्षिभिः साधितोऽयमर्थो नापलपनीयः कथमपि। यद्यपि पस्पशाह्निके महाभाष्ये कथं शब्दानुशासनं कर्तव्यम्—इति प्रश्नमुत्थाप्य शब्दानां प्रतिपदपाठः कर्तव्य इति पूर्वपक्षरूपेणोपन्यस्य तस्य शब्दप्रतिपत्तावनभ्युपायतां प्रदर्श्य उत्सर्गापवादरूपेण नियमबोधकसूत्रनिर्माणमेवात्रोपाय इति सिद्धान्तितम्, तेन पाणिनीयव्याकरणमेव सूत्रैर्नियमपरिष्कारकमिति ध्वन्यत इवेति केचिदाग्रहन्ति, बृहस्पतीन्द्रनामोल्लेखाद् बृहस्पतिनेन्द्राय शब्दपारायणमेव शिक्षितम्—इति स्पष्टोक्त्या च बृहस्पतेरधीत्य शब्दपारायणरूपमेव व्याकरणमिन्द्रेण विरचितं स्यादित्यनुमिन्वन्ति, परं महाभाष्यकारेणैव यदा पूर्वप्रदर्शितरीत्या नियमबद्धव्याकरणसत्ता पूर्वमपि स्वीकृता, तदेमे व्यञ्जनानुमाने न प्रसर्तुं प्रभवतः। अपि तु लक्षणरूपस्य व्याकरणस्यावश्यकत्वमेव तेन व्याकरणप्रयोजननिरूपणावसरे ख्यापितम्, तच्च लक्षणरूपं व्याकरणं प्राक्तनं पाणिनीयं चेति सामान्येन सर्वं संगृहीतमित्येवाभ्युपगन्तव्यं स्यात्। अग्रे च शब्दस्य नित्यत्व-कार्यत्वविचारमुपक्षिप्य 'संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्' इत्यादिना विस्तरभियाऽत्र तं विचारमुपेक्षमाणेन 'उभयथाऽपि लक्षणं प्रवर्त्यम्' इति वैयाकरणानां नैकत्राभिनिवेश इति प्रदर्शयता 'कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्' 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति पाणिनिव्याकरणविचारारम्भं सूचयता

महाभाष्यकारेणैव स्फुटमिदं ध्वनितम्—यत्पूर्वमपि सन्ति विभिन्नानामाचार्याणां लक्षणानि, तेषु कानिचिच्छब्दस्य नित्यतां कानिचिच्चानित्यतां लक्ष्यीकृत्य प्रवर्तन्ते—पाणिनिस्तु भगवान् शब्दनित्यतावादमेव लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्त इति। 'इदं लक्षणं कथं प्रवृत्तम्' इत्युक्त्या लक्षणान्तराणामपि सत्ता ध्वन्यत एवेति सुधिय एव विवेचयन्तु। इत आरभ्यैव पाणिनीयस्य व्याकरणस्य विचारारम्भ इतीतः प्रागुक्तं प्रयोजनादिकं सर्वमपि सर्वव्याकरणसाधारणमित्यपि स्फुटीभवति, तेन लक्षणरूपं व्याकरणं पाणिनीयमेवेति पूर्वोक्ता व्यञ्जना न पदं लभते। आस्तां विस्तरः। श्रद्धेयस्यापि सामश्रमिमहाभागस्य पाणिनेः पूर्वं व्याकरणान्तरसत्ता नासीदेवेति निरुक्तालोचनप्रदर्शितं मतं न वयमभ्युपगन्तुं प्रभवामः। इदानीं पाणिनेः पूर्वभवं किमपि व्याकरणं नोपलभ्यत इति तु स्फुटमेव। तेन तानि व्याकरणानि कयन्ति कीदृशानि वा आसन्—इत्यादि विवेक्तुं नास्त्येव किमपि साधनम्। विप्रतिपत्तिस्तेषां क्वचित्क्वचिदासीदिति तु पाणिनिसूत्रेषु तत्तन्मतोद्धरणादेव प्रतीयते, चीनपर्यटकस्य लेखेनापि च तत्सिद्ध्यति। सत्यामपि तादृश्यां विप्रतिपत्तावद्यत्वे पाणिनीयः सिद्धान्त एवास्माभिरादर्तव्य इत्यपि च कैयटोक्त्या प्रदर्शितपूर्वम्।

प्रातिशाख्यानां पाणिनेश्च पौर्वापर्यविचारः।

अथ यान्येतानि प्रातिशाख्यान्यद्यत्वे समुपलभ्यन्ते, तानि पाणिनेः प्राक्तनानि पश्चाद्भवानि वेत्यत्रापि विप्रतिपत्तिरेव। सत्यव्रतसामश्रमिमहाशयः पाणिनेरर्वाक्तनान्येतान्युपगच्छति। युरोपीयास्तदनुयायिनश्च भारतीया गवेषका विद्वांसः केचन पाणिनेःप्राक्तनानि प्रातिशाख्यानि मन्यन्ते। केचित्तु पाणिनेरर्वाक्तनानि। केचित्तु शौनकादीनि प्राक्तनानि, कात्यायनादीनि चार्वाक्तनान्यभ्युपगच्छन्ति। आश्चर्यमिदं यत्प्रातिशाख्यान्यपि पञ्चाशतोऽप्यधिकानां पूर्वाचार्याणां नामानि गृह्णन्ति, परं न क्वापि तेषु पाणिनेर्नामग्रहणम्। पाणिनिनाऽपि भगवता स्मृताः केचिदाचार्याः शाकल्य–शाकटायन–गार्ग्य–गालव–काश्यपप्रभृतयः, समुपलभ्यमानप्रातिशाख्यप्रणेतॄणां शौनक–कात्यायन–बुधादीनां नामानि तु न क्वापि स्मृतानि। ये तु ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यं शाकटायनकृतमभिमन्यन्ते, तेषामपि नये न ऋक्तन्त्रप्रणेता शाकटायनः पाणिनिना गृहीतनामेति सम्भाव्यते—तादृशानां मतानामत्रादर्शनात्। न च ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यमिदानीमुपलभ्यमानं पाणिनेः पूर्वभवं सम्भवतीत्यनुपदं दर्शयिष्यामः। यदि क्वापि परस्परं नामोल्लेखोऽभविष्यत्तर्हि सुखं पौर्वापर्यनिश्चयोऽभविष्यत्। ये तु शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४–३–१०६) इति शौनकनामग्रहणात् शौनकं पाणिनेः प्राक्तनं सिसाधयिषन्ति ते नितान्तं भ्रान्ताः। नह्यत्र प्रातिशाख्यप्रवक्ता शौनको गृह्यतेति, प्रत्युत शौनकप्रोक्तेऽच्छन्दसि विवक्षित एव णिनिप्रत्ययं पाणिनिरनुशास्ति—वेदाङ्गे तु वाच्ये शौनकीया शिक्षा–

इत्येव तत्र प्रत्युदाह्रियते। अस्ति च मन्त्रद्रष्टापि शौनकः सुप्रसिद्धः। ननु च अङ्गप्रवक्तुर्व्यावर्तनाय यत्सूत्रे छन्दसीत्युपात्तम्, तेन अङ्गप्रवक्तुरपि परिचयः पाणिनेः सिद्ध्यति, अन्यथा कस्य व्यावर्तनाय 'छन्दसि' पदं सूत्रोपात्तं स्यात्, तेन प्रातिशाख्यप्रणेता शौनकोऽपि पाणिनेः प्राक्तनः सिद्ध्यतीति चेत्, तदपि भ्रान्तम्। 'शौनकीया शिक्षे'ति प्रत्युदाहरणदर्शनेन शिक्षाप्रवक्तुरेव पाणिनेः प्राक्तनत्वसिद्धेः। न हि शिक्षाप्रवक्ता प्रातिशाख्यप्रवक्ता च शौनक एकः शक्य आस्थातुम्, शौनकीये प्रातिशाख्ये शिक्षाविषयाणां वर्णक्रम-स्थानप्रयत्नादीनामपि दर्शनात्। यदि हि भगवता शौनकेनानेनैव पृथक् शिक्षा निरमास्यत, न तर्हि प्रातिशाख्ये ते विषयाः समग्रहीष्यन्त, पुनरुक्त्यापत्तेः। तस्मात् प्रातिशाख्य-प्रवक्तुः शौनकस्य पाणिनिपरिचितत्वे न किमपि मानमिति सुस्पष्टम्। यत्तु 'अष्टा-वाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान्' (शौ० प्रा० प० १ सू० ६३) इत्यत्र आचार्यपदेन पाणिनिरेव शौनकेन स्मृतः, तेन पाणिनिपरभवत्वं शौनकादीनां प्रातिशाख्यकर्तॄणां सिद्ध्यतीति सामश्रमिमहाशय आह स्म, तन्न युज्यते। यतो ह्यत्र अष्टानामपि स्वराणामवसानेऽनुनासिकत्वमुक्तम्, स्वराश्च शौनकेन 'अकारोऽवि उ ए ओ ऐ औ' इत्यादावेवोक्ताः। तत्र दीर्घाणां परिगणनेऽपि अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ऋ, ॠ, इत्यष्टौ भवन्ति। ततश्च ऋकारस्या-प्यत्रानुनासिकत्वं विहितमिति स्पष्टं भवति। पाणिनिना तु 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' इति अणपदेन 'अ, इ, उ' इति त्रयाणामेवानुनासिकत्वं विहितमिति न ऋकार-स्यानुनासिकत्वं तन्मते सिद्ध्यति। अत्राणःपूर्वणकारेणैव ग्रहणस्य भाष्यकृता सिद्धान्तितत्वात्। ततश्च सत्येवं मतवैषम्ये 'आचार्या आह' इति आचार्यपदेन कथं पाणिनेर्ग्रहणं सिद्ध्येत्। न हि पाणिनिरष्टानामानुनासिकत्वमाहेति मृषा प्रलापः शौनकस्य तथा सति सिद्ध्येत्। तस्मादविचारिताभिधानमेवेदं सामश्रमि-महाशस्य। यदपि च तेनैवोक्तं निरुक्तालोचने 'व्याडिना पाणिनीयानि सूत्राणि संग्रहे व्याख्यातानि, व्याडेश्च नाम शौनकेन बहुधा स्मृतम्—

परिग्रहे स्वनार्षान्ता तेन वैकाक्षरीकृतात्।

परेषां न्यासमाचारं व्याडिस्तं चेत् स्वरौ परो (पट ३।२३)

उभे व्याडिः समस्वरे (३।२८) व्याडेः सर्वत्राभिनिधानलोपः (६।४३)

समापाद्यं नाम वदन्ति षत्वं तथा णत्वं सामवशांश्च सन्धीन्। उपाचारं लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्याडिशाकल्यगार्ग्याः (३।३१) व्याडिर्नासिक्यमनुनासिकं (१३।३७) इत्यादिषु। तच्चेदं व्याडेर्नामग्रहणं पाणिनेरेव नामग्रहणं प्रत्येतव्यम्। व्याडेः पाणिनिसूत्रव्याख्यातृत्वादिति। तदेतदपि न मनोरमम्। कोऽयं व्याडिः, कति च व्याडिनामान आचार्याः, इति सर्वमेवाद्यावधि अस्फुटमेव। पाणिनिनापि

'छत्र्यादयः शालायाम्' (६।२।८६) इति सूत्रे छत्र्यादिगणे व्याडिपदं संगृहीतम्। तेन पाणिनेः प्राक्तनोऽपि कश्चिद्व्याडिरासीदिति निश्चप्रचम्। व्याडिकृता विकृतिवल्ली प्रसिद्ध्यति, तत्र तेन बहुधा शौनकमतं संगृहीतम्। मङ्गलाचरणे च—'नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वेदमहानिधिम्' इति गुरुत्वेन शौनकः स्मृत इति सामश्रमिणैवोक्तम्। न हि शौनकः स्वशिष्यस्य व्याडेराचार्येषु नाम गृह्णीयात् 'आचार्या व्याडिशाकल्यगार्ग्याः' इति। तस्मादन्यो विकृतिवल्लीप्रणेता व्याडिः, अन्यश्च शौनकेनाचार्येषु परिगणितो व्याडिरित्येव वक्तुं युक्तं भवति। शौनकेन च स्वरविषय एव प्रायेण व्याडिः स्मृतः, अन्येष्वपि प्रातिशाख्येषु तस्य नाम दृश्यते, इति प्रातिशाख्यप्रवक्तैवायं सम्भाव्यते। स एव च प्राचीनो व्याडिः पाणिनिनाऽपि छत्र्यादिषु पठितो भवेत्, शालासम्बन्धिनं हि व्याडिं पाणिनिः स्मरति, प्रातिशाख्यकृतां चासन् परिषदः शालाश्चेति श्रीवासुदेवशरण-प्रभृतयः प्रमाणैः प्रसाधयन्ति इति। पाणिनिसूत्राणि व्याडिना व्याख्यातानीत्यपि किंवदन्तीमात्रम्, न तु प्रमाणसिद्धम्। महाभाष्यकृता हि संग्रहग्रन्थस्य नाम गृहीतम्, न तु संग्रहो व्याडिकृत इति, पाणिनिसूत्रव्याख्याभूत इति वा तेन क्वचिदुक्तम्। नागेशादिभिः किंवदन्तीमात्रमेवाश्रित्य संग्रहस्य व्याडिकृतत्वादि ख्यापितम्। संग्रहः स्वतन्त्र एव ग्रन्थः शब्दविचारपरो भवेदित्यपि सम्भाव्यत एव। अतिप्राचीनेन हरिणाऽपि तस्य लोप एवोक्तं इति तद्विषयकं यत्किमप्यनुमानं कपोलकल्पनामात्रमेव। कथासरित्सागरादौ पाणिनिसमकालिको व्याडिरुच्यते, परं सामश्रमिमहाशयः कथासरित्सागरमत्यर्थं निनिन्देति कथं तदाधारेण पाणिनिसम-कालिकं व्याडिमभ्युपगच्छतु। मान्यानपि पूर्वाचार्यान् नामसादृश्यभ्रान्ताननेकत्रोप-हसन् सामश्रमिमहाशयः कथं व्याडिनामविषय एवं विभ्रान्त इति न वयं विवेक्तुं प्रभवामः। तस्माद् व्याडिस्मरणेन पाणिनेरर्वाग्भवत्वसाधनं प्रातिशाख्यानां न दृढमिति पौर्वापर्यं पाणिनीयात् प्रातिशाख्यानां सन्दिग्धमेव भवति। तथैव बृहद्देव-तायां शौनकविरचितायामेव 'भगवानाह शौनकः' इति शौनकस्य 'भगवान्' इति विशेषणं दृश्यते। तस्मादत्यन्तं विभिन्नाः कति शौनका इत्यपि न निश्चितं भवति।

प्रातिशाख्यानां पाणिनिपूर्वभवत्वं ये वदन्ति, तेषामेषा युक्तिः—यत् प्रति-पदमुच्चार्य षत्वणत्वादिविधाने प्रातिशाख्यकाराः क्लिश्यन्ति, तत् पाणिनेरुत्तर-भवानां न सम्भवति। पाणिनिना षत्वणत्वाद्यनुगमस्य कृतत्वात्, तादृशक्लेशस्य पश्चादनवसरदुःस्थत्वात्। तथा हि शौनकीये ऋग्वेदप्रातिशाख्ये—पञ्चमपटल-स्यादित एव अष्टत्रिंशसूत्रपर्यन्तं षत्वप्रपञ्चो दृश्यते, तत्र च प्रलम्बेषु सूत्रेषु बहुत्र प्रतिपदमुच्चार्य षत्वं विहितम्। तत उत्तरं च तथैव ऊनचत्वारिंशं सूत्रमारभ्य सप्तपञ्चाशं सूत्रं पटलान्तं यावण्णत्वप्रपञ्चः कृतः, तत्रापि बहुत्र प्रतिपदमुच्चार्य णत्वविधिनिषेधौ दृश्येते। तथैव कात्यायनीये प्रातिशाख्येऽपि तृतीयस्याध्यायस्य

षट्पञ्चाशं सूत्रमारभ्य चतुरशीतितमसूत्रपर्यन्तमष्टाविंशत्या सूत्रैः षत्वस्य विधिनिषेध-प्रपञ्चः, आधिक्येन च प्रतिपदपाठ एव तत्र शरणीकृतः, तदग्रे च तत्रैव पञ्चाशीतितमं सूत्रमारभ्य प्रायेण नामग्राहमेवैकादशभिः प्रलम्बैः सूत्रैर्णत्वप्रपञ्च उक्तः। अन्येष्वपि प्रातिशाख्येषु सेयमेव प्रक्रिया प्रायेण दृश्यते। सोऽयं प्रपञ्चः स्वस्व-शाखार्थमेवेत्यपि न विस्मर्तव्यम्। पाणिनिना तु भगवता लौकिकेषु वेदस्य सर्वासु च शाखासु अनुगतीकृत्य लघुभिः पञ्चषष्ट्या सूत्रैः (अष्टमाध्याये तृतीये पादे ५५—११९ सूत्रैः) सर्वोऽपि षत्वविधिः समापितः, णत्वं च तदनुगतीकृत्य लोकवेद-साधारण्येन लघुभिरूनचत्वारिंशन्मितैः सूत्रैः सर्वमपि बोधितम् (८।४।१–३९)। एवं विसर्जनीयस्य कुत्र सकारो भवति, कुत्र वा षकारः, क्व वा रेफः, क्व तु विसर्ग एवेत्येतदर्थं प्रतिपदग्रहणानि अतिप्रलम्बानि ऊनचत्वारिंशत् सूत्राणि शौनकीये प्रातिशाख्ये चतुर्थे पटले (२५–६१) अवलोक्यन्ते, कात्यायनोऽपि तृतीया-ध्यायस्य षष्ठसूत्रमारभ्य एकचत्वारिंशसूत्रपर्यन्तं षट्त्रिंशता सूत्रैः स्वशाखीयं विसर्गाणामुक्तविधं विकारं प्रत्यपादयत्। पाणिनिस्तु ८।४।३४ सूत्रमारभ्य ८।४।५४ पर्यन्तमेकविंशत्या लघुभिः सूत्रैर्लोकवेदसाधारण्येन विसर्गस्योक्तविधान् आदेशान् समग्रहीत्। इतोऽतिरिक्तोऽपि 'अन्तरिच्छन्ति' 'प्रातरग्निम्' 'अविभरुपस्थे' इत्यादिषु, रेफस्योत्वव्यावृत्तये 'अन्तोदात्तमन्तः' 'प्रातः' 'अविभः' इत्यादिर्महान् प्रपञ्चः शौनकस्य प्रथमे पटल उपलभ्यते। पाणिनिना तु रोरुत्वम्, केवलस्य रेफस्य नोत्वमित्यनुगमेन सर्वं साधितम्। तथैव एङः पदान्तादति (६।१।१०९) इति पाणिनिना यदकारस्य पूर्वरूपमुक्तम्, तत्कुत्र भवति, कुत्र वा न भवतीत्येतस्य शौनकीयद्वितीये पटले चतुर्दशसूत्रमारभ्य षट्त्रिंशं सूत्रं यावत्प्रतिपदग्रहणपुरःसरं महान् प्रपञ्चो दृश्यते। एतद्धि प्रातिशाख्येषु अभिनिधानमुच्यते। यजुःप्रातिशाख्ये चापि चतुर्थाध्यायस्य एकषष्टितमं सूत्रमारभ्य षडशीतितमसूत्रपर्यन्तमस्यैव पूर्वरूपस्य महान् प्रपञ्चः कृतः। पाणिनीये तु केवलं सप्तभिरेव सूत्रैश्छन्दस्यपवादोऽनुगतीकृत्य दर्शितः। कियदुदाहार्यम्। अनुगमाभावेन सर्वत्रैव प्रातिशाख्येष्वेवमेव स्वरसंस्कार-विषये विस्तरो दृश्यते। यदि हि पाणिनीयं व्याकरणं पूर्वमभविष्यत्, तत्र चानुगमाः प्रातिशाख्यकृद्भिरद्रक्ष्यन्त, तर्हि नैवमननुगमकृतः क्लेशस्तैः सोढव्योऽभविष्यत्। एवमेव वर्णाः तदीयस्थानप्रयत्नादिविवरणं चापि प्रातिशाख्येषु सविस्तरं निर्दिष्टमिति नैव पाणिनीयसदृशे व्याकरणे स्थिते सम्भवति। पदक्रमादीन् विकृति-पाठानपि च प्रातिशाख्यानि विदधति, तच्चेदं क्रमादिकं स्वरवर्णविपर्यासपरिहारा-यैवाभ्यस्यत इति सुस्पष्टमेव। पाणिनीये व्याकरणे तु स्थिते सर्वत्र प्रकृतिप्रत्यया-दिविभागपुरःसरं पद एव स्फुटं सुस्पष्टमवगते न स्वरवर्णादिविपर्ययशङ्केति क्रमादिविधानं व्यर्थमेवापतेत्। तस्मात्पाणिनेः पूर्वभवान्येव प्रातिशाख्यानीति केचिन्मन्यन्ते।

परे त्वेवं प्रत्यवतिष्ठन्ते—पाणिनिना सुप्तिङ्कृदादयः सर्वेऽपि व्याकरणभागाः सुस्पष्टं निरुक्ता इति तत्रानुगमः शक्यते कर्तुम्। प्रातिशाख्यानि तु केवलं स्वरं सन्धींश्च विवृण्वत इति ते केन प्रकारेणानुगमं कर्तुं शक्नुयुः। प्रतिपदपाठातिरिक्तं किं तेषां शरणम्? यथा—आदेशप्रत्यययोरिति पाणिनिः षत्वमनुगमयति, केवलं प्रातिशाख्यमधीयानस्तु आदेशं प्रत्ययं वा कथं परिचिनोतु? तत्तदुपसर्गयोगे तत्तद्धातोस्तत्र तत्र षत्वमित्येवं पाणिनेरनुगमः। यस्तु धातुप्रत्ययादिकं न सम्यक् परिचाययति, स कथं तथाविधमनुगमं प्रदर्शयतु? तस्मात् पाणिनेरनन्तरभाविभिरपि प्रातिशाख्यैः प्रपञ्चः कर्तव्य एव स्यात्। किञ्च पाणिनिर्विकल्पनिर्देशेन बाहुलकेन च बहुत्र संक्षेपं करोति, सर्वशाखानां सर्वेषां लौकिकानाञ्च प्रयोगाणां निर्वाहकेण कर्तव्यमेवेदं भवेत्। प्रातिशाख्यानि तु स्वस्वशाखामात्रनियतानि न विकल्पेन बाहुल्केन वा प्रवर्तितुं प्रभवन्ति। वेदेषु हि बिन्दुविसर्गादिकमपि किञ्चित् कथमपि न परिवर्तितं स्यादित्येतदर्थं प्राचामाचार्याणां महान् प्रयत्नो दृश्यते। तस्य प्रयत्नस्य प्रतिनिधिभूतान्येव प्रातिशाख्यानि। तानि यदि विकल्पं बाहुलकं वा निर्दिशेयुः, कुत्र तर्हि षत्वादिकमिदं प्रयोक्तव्यम्, कुत्र वा न प्रयोक्तव्यमिति सन्दिहाना एव प्रयोक्तारो भवेयुः। प्रातिशाख्येषु तु तत्रैव विकल्पो व्यवह्रियते यत्र स्वशाखायामपि द्विविधः प्रयोग उपलब्धः स्यात्, तत्रापि च विभागस्तत्र तत्र स्पष्टं तैर्बोधनीयो भवति। तस्मात् स्थितेऽपि पाणिनीये व्याकरणे न निःसन्देहं वेदेषूच्चारणं सिद्ध्येदिति अनन्तरमपि सम्भवेदेव प्रातिशाख्यानामपेक्षा। यथा—पूर्वपदात् (८।३।१०६) इति सूत्रेण पूर्वस्थितात्पदात्परस्य सकारस्य विकल्पेन षत्वं पाणिनिना विहितम्, तेन 'दिविष्ठः' इत्यत्र षत्वं जायते 'युवं हिस्थः स्वर्पतिः' इत्यत्र तु न जायते। विकल्पविधानादेव। प्रातिशाख्यकृतां तु नैतावता परितोषः, यदि कश्चिद् 'दिविस्थः' इति षत्वाऽभावघटितं प्रयुञ्जीत, 'युवं हिष्ठः' इति च षत्वविशिष्टम्, तदपि पाणिनिरीत्या शुद्धं स्यात्। तथा च विप्लवो वेदे प्रसज्जेत। तदर्थं शौनकेन 'द्व्यक्षरेणैव सत् स्थः' (५।४) इति विशिष्य नियमः प्रदर्शितः। 'सद्, स्थः' इत्यनयोः पदयोर्द्व्यक्षरपूर्वयोरेव षत्वं जायते इति तदर्थः। तेनासन्देहो जातः। तथैव 'सुञः' (८।३।१०७) इति निपातस्य सुञः पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य अविशेषेण षत्वं पाणिनिना विहितम्, तेन 'ऊषुणः' 'अभी षु णः' इत्यादि सिद्ध्यति। 'सुदीतिभिः' 'सुदीदिहि' इत्यादौ तु सुञः षत्वं यन्न दृश्यते तदर्थं न विशिष्य प्रयत्नः कृतः, विकल्पेन बाहुलकेन वा तत्समाधानं स्यात्। शौनकेन तु 'स्वबह्वक्षरेण' (५।५) इति वचनाद्बह्वक्षरात्पदात्परस्य षत्वं न भवतीति स्पष्टं व्यवस्था कृता। एवमेव 'त्वे षु नो मरुतो मृळयन्तु' (ऋ० १।१६९।५) इत्यत्र सुञः षत्वं दृश्यते, 'त्वे सु पुत्र शवसः' (ऋ० ८।९२।२४) इत्यत्र तु न दृश्यते तदर्थमपि 'रकारेणापि स्विति नः परं चेत्' (५।८) इति शौनककृता

व्यवस्था दृश्यते, पाणिनेस्तु विकल्पेनैव निर्वाहः। विकल्पश्च कुत्र भवति, कुत्र न वा भवतीति व्यवस्थित्यभावेन वेदेषु विप्लवाशङ्का। कात्यायनेन तु स्वशाखायां यावदुपलम्भम् 'ओकारात्सु' 'उश्चापृक्तात्' (अ० ३।६१–६२) इति ओकारादुकाराच्चापृक्तात्परस्यैव सुञः षत्वं विहितम्, न ततोऽतिरिक्ताः षत्वप्रयोगास्तस्यां शाखायां लभ्यन्त इति। एवं पाणिनिना 'युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तःपादम्' (८।३।१०३) इति युष्मच्छब्दावयवे तच्छब्दावयवे च तकारे परे सामान्येन षत्वं विहितम्, परं 'तित्तिरिस्ते सर्पाणाम्' इत्यादौ यजुषि षत्वं न दृश्यत इति नामग्राहं तन्निषेधः कात्यायनेन कर्तव्योऽभूत् (३ अ० ८१ सू०) यद्यपि कात्यायनेन तच्छब्दे परे सामान्येन षत्वं न विहितम्, तथापि यत्र विहितम्—तद्व्यावृत्तयेऽपि नामग्राहं निषेध आवश्यकोऽभूत्। एवं 'सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै' (ऋ० ३।३२।१५) 'बहुसाकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्' (ऋ० २।२४।४) इत्यादौ 'आदेशप्रत्यययोः' इति प्राप्तमपि षत्वमभ्यासात्परस्य सकारस्य न दृश्यत इति नामग्राहमेव तन्निषेधः शौनकेन (५।२९) कृतः, नान्या गतिः। णत्वेऽपि 'वा भावकरणयोः' (८।४।१०) इति भावकरणार्थकप्रत्ययनिष्पन्नपानशब्दनकारस्य णत्वं विकल्पेन पाणिनिना विहितम्, किन्तु 'इदं त्वत्पात्रमिन्द्रपानम्' (ऋ० ६।४४।१६) इत्यादौ नकार एव पाठ्यः 'सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः (ऋ० ५।८३।८) इत्यादौ तु णकार एवेति व्यवस्थार्थं शौनकेन (५।४३) प्रयत्नः करणीय एवाभूत्। तथा अस्मदादेशस्य 'नः' इति पदस्य 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) इत्यनुगतीकृत्य णत्वं पाणिनिना दर्शितम्, परम् 'ईशानासो ये दधते स्वर्णः' (ऋ० ७।९०।६) 'अर्यमा णो अदितिः' (३।५४।१८) इत्यादिषु धातुस्थोरुषु भिन्नेष्वप्युपपदेषु णत्वं दृश्यते 'सोमाभिरक्ष नः' (९।११४।४) इत्यादौ तु धातुस्थात्षकारात्परस्यापि न दृश्यते, तदिदं पाणिनीयैर्बाहुलकादेव समाधेयम्, शौनकीये प्रातिशाख्ये तु तदर्थं विशिष्य प्रयत्न आवश्यक एव वेदरक्षार्थम्, (शौ० प्रा० ५।५८), यजुःप्रातिशाख्येऽपि 'इन्द्र एणम् प्रथमो अध्यतिष्ठत्' 'समिन्द्रे णो मनसा नेषि-गोभिः' इत्यादौ प्रतिपदमुच्चार्यैव णत्वं विहितम्, नैतत्पाणिनीयैः सूत्रैः सिद्ध्यति। तथैवाभिनिधानेऽपि 'अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्वस्युषु च (६।१।११६) इति पाणिनीयं सूत्रं व्याचक्षाणेन कौमुदीकृतैव स्पष्टमुक्तम्—'यद्यपि बह्वृचैस्तेनोऽवन्तु रथतूः' 'सोऽयमागात्' 'तेऽरुणेभिः' इत्यादौ प्रकृतिभावो न क्रियते, तथापि बाहुलकात् समाधेयम्। प्रातिशाख्ये तु वाचनिक एवायमर्थः, इति। उव्वटेनापि शौनकप्रातिशाख्यं व्याचक्षाणेनादावेव प्रयोजनप्रस्ताव उक्तम्—'अथ व्याकरणे यत्सामान्येन 'ऋचितुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पा० सू० ६।३।१३३) इति। ·······तद्व्यवस्थापयितुमिदमारभ्यते—न सर्वाण्येतानि प्रोक्तानि पदान्यस्यां शाखायां दीर्घाणि भवन्ति, इत्यादि। तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकृद्भिरपि च तथैव प्रति-

पादितम् । अल्पमुदाहरणमात्रमिहास्माभिरुपदर्शितम् , सन्ति शतशो वैदिकास्तथाविधाः प्रयोगाः, ये पाणिनीयैः सूत्रैरसन्दिग्धं न सिद्ध्यन्ति, बाहुलकं वा विकल्पो वा तत्र शरणीकरणीयो भवति । तत्र सन्देहनिवृत्तये सत्यपि पाणिनीये व्याकरणे प्रातिशाख्यानामावश्यकता जागर्त्येवेति नैतावता पाणिनिपूर्वभवत्वं प्रातिशाख्यानां द्रुशकं साधयितुम् । प्रत्युत परभवत्वमेव प्रकरणैरेभिः सिद्ध्येत् , यदि पाणिनेः पूर्वमेव प्रातिशाख्यकृद्भिरेवं षत्वणत्वाभिनिधानादिविषयेऽनुगमविशेषाः प्रादर्शयिष्यन्त, तर्हि तानालोच्य पाणिनिरपि स्वीयेषु सूत्रेषु तदन्वकरिष्यदेव । परं नैतदपि दृढं प्रमाणम् । एवं सर्वेषां प्रातिशाख्यानां प्रदिपदपाठान् यदि पाणिनिः संगृह्णीयात् , तत्तर्हि तादृशो गुरुभूतस्तद्ग्रन्थः स्यात् , यस्य प्रचारो नैव लोके सम्भवेत् । तस्माल्लौकिकानां प्रयोगाणां सर्वासां च वेदशाखानां तुल्यरूपमेकं व्याकरणं निबध्नता विकल्पबाहुलकाद्याश्रयणीयमेव, नान्या गतिः । तदित्थं सन्देहास्पदान्येवैतानि प्रमाणानि ।

पाणिनीये स्थिते क्रमादिविधानं व्यर्थमेव भवेदिति च यत्कैश्चिदुपक्षिप्तम् , तदपि न मनोरमम् । नहि व्याकरणमधीत्यैव वेदा अध्येयाः—इत्येषा परिपाटी युगेऽस्मिन् प्रचलतीति महाभाष्यकृतैवोक्तम् । ये च केवलं वेदमेव बाल्यादधीयते—तदधीनैवाधिक्येन वेदरक्षा । तस्मात्तेषां कृते पदवर्णबिन्दुविसर्गाद्यन्यथाभावशङ्कानिवृत्तये अद्यापि पदक्रमजटाद्या विकृतयोऽपेक्ष्यन्त एव । न च पाणिनीयेन व्याकरणेन सर्वासु शाखासु वर्णस्वरादिसन्देहा निवर्तयितुं शक्यन्त इत्यनुपदमेव प्रत्यपीपदाम । तस्मान्नैषोऽपि हेतुः पूर्वापरीभावसाधनायालं भवति । किञ्च पाणिनीयस्य व्याकरणस्य महान् व्याख्याता यो व्याडिरभ्युपगम्यते प्रायेण सर्वैरैतिहासिकैः, तेन विकृतिवल्ल्यां क्रम–जटा–शिखा–घनाद्यभिधा अष्टौ विकृतयो लक्षिता इति पाणिनेरनन्तरं विकृतीनामनावश्यकतां कः कथं प्रतिपादयतु ? यदपि वर्णनिर्देशतत्स्थानप्रयत्नाद्यनुविधानदर्शनेन प्रातिशाख्यानां पाणिनिपूर्वभवत्वं सिषाधयिषन्ति, तदपि नैवावकल्पते । पाणिनिर्हि वैयाकरणः, पदान्वाख्यानं तस्य लक्ष्यम् । तत एव वर्णस्वरूप–स्थानप्रयत्नादिबोधनार्थं स शिक्षां पृथङ् न्यबध्नात् । प्रातिशाख्यानि तु शिक्षामपि स्वस्वरूपेऽन्तर्भावयन्तीति शिक्षाविषया वर्णास्तत्स्थानाद्याश्च कथं तैर्न निरुच्येरन् । तदुक्तं शौनकीयप्रातिशाख्यभाष्य उव्वटेन प्रयोजनकथनावसरे—

शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम् ।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम् ॥

अयमभिप्रायः—वेदाङ्गतया ख्यातान्यपि पृथक् शास्त्रतां प्राप्तानि शिक्षा, छन्दः, व्याकरणम्—इति त्रीणि यत् सर्ववेदलोकसाधारण्येन लक्षणं ब्रुवन्ति, तस्य स्वशाखायां विशेषेणैवं बोद्धव्यमिति निरूपयितुं प्रातिशाख्यान्यारभ्यन्त इति । तथा च स्पष्टमेव शिक्षापि प्रातिशाख्यैः स्वस्वरूपेऽन्तर्भाव्यत इति ।

विष्णुमित्रोऽप्याह—

लक्षणं यो न वेत्त्यृत्तु न कर्मफलभाग् भवेत् ।
लक्षणज्ञो हि मन्त्राणां सकलं भद्रमश्नुते ।

तस्मात्तावत्पूर्वं लक्षणमुच्यते । लक्षणपूर्वकं ह्यर्थपरिज्ञानम् । तथा चोक्तम्—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा दैवं योगार्थमेव च ।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे । इति ।

स्वरः, वर्णः, अक्षरम् , मात्रा, इति तत्र प्रातिशाख्यविषया वेदितव्याः । दैवं योगार्थश्च निरुक्तविषया इत्यादि विवेच्यम् । तस्मात् प्रातिशाख्यैः स्थानप्रयत्नादि स्वविषयतया निर्देष्टव्यमेवेति न तावता पौर्वापर्यसिद्धेः कोऽपि सम्बन्धः ।

अथेदमपि विचार्यं भवति—प्रातिशाख्येषु शब्दोत्पत्तिविज्ञानं विशिष्य प्रदर्शितम् , पाणिनिना तु न तद्विषये विशिष्य किमपि स्वीये सूत्रपाठ उक्तम् । इदञ्च संस्कृत-साहित्यालोचकैः सुस्पष्टं विज्ञायते—यत्प्राचीनानां ग्रन्थानामस्ति विज्ञानेन सम्बन्धः, अर्वाचीनेषु तु क्रमेण विज्ञानसम्बन्धो दूरीभवति । तदेष विज्ञानसम्बन्धः प्रातिशाख्यानां प्राचीनत्वमवगमयितुमलं भवेदिति । तथा हि शौनकीये प्रातिशाख्ये—

माण्डूकेयः संहितां वायुमाह तथाकाशं चास्य माक्षव्य एव ।
समानतामनिले चाम्बरे च मत्वागस्त्योऽविपरिहारं तदेव ॥ २ ॥

'अध्यात्मक्लृप्तौ शूरवीरः सुतश्च वाङ्मनसयोर्विवदन्त्यानुपूर्व्ये' इत्यादिना उपनिषदुक्तं संहितास्वरूपं वाङ्मनसयोः पूर्वापरीभावे विप्रतिपत्तिं च प्रदर्श्य—

'वाक्प्राणयोर्यश्च होमः परस्परम्'

इति -तद्यत्रैतदधीते गायते वा, वाचि तदा प्राणो भवति, वाक् तदा प्राणं रेढि, अथ यत्र तूष्णीं वा भवति स्वपिति वा, प्राणे तदा वाग् भवति, प्राणस्तदा वाचं रेढि (ऐत. आ. ३।१।६) 'किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं भक्ष्यामहे, वाचि हि प्राणं जुहुमः, प्राणे वा वाचम् , यो ह्येव प्रभवः, स एवाप्ययः (ऐ. आ. ३।२।६) इत्यादि श्रुत्युक्तो वाक्प्राणयोरन्योन्यस्मिन् होमः स्पष्टं निर्दिष्टः, स एष विज्ञानस्य गूढतमो विषयः । अग्रे च—

वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा ।
आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम् (शौ. पट. १३।१)

इत्यादिना वर्णोत्पत्तिविज्ञानं विवृतम् । तथा कात्यायनीये वाजसनेयप्रातिशाख्ये—'वायुः खात्' 'शब्दस्तत्' (अ० १।६,७) इत्यादिना वर्णोत्पत्तिविज्ञान-मुक्तम् । किन्तु शौनकाद्यपेक्षयाऽतिस्वल्पम् । ऋक्तन्त्रे च—

'अथ वाचो वृत्तिं व्याख्यास्यामः, वायुं प्रकृतिमाचार्याः, वायुर्मूर्च्छन् श्वासीभवति, श्वासो नाद इति शाकटायनः। वायुरयमस्मिन् कं मूर्च्छति–अटतीत्येषोऽर्थः–स खलु खविशेषं प्रतिपन्नः श्वसितिर्भवति, स श्वसितिः शिरः प्रतिपन्न आकाशमद्वारकं नदतिर्भवति'।

इत्यादिना विशिष्य वर्णोत्पत्तिविज्ञानं विवृतम्। एवमन्यत्रापि। तथा च प्रातिशाख्यानामेषां पाणिनिपूर्वभवत्वमेवाऽनुमीयत इति। अत्रापि परे विप्रतिपद्यन्ते–प्रातिशाख्येषु हि शिक्षादिविषयोऽपि संगृहीत इत्युक्तं प्राक्। वर्णोत्पत्तिविज्ञानप्रदर्शनं च शिक्षाया एव विषयः। पाणिनिना च शिक्षा पृथगेव रचिता, न व्याकरणसूत्रेषु संगृहीता, तस्माद्वर्णोत्पत्तिविज्ञानस्य सूत्रेषु प्रसङ्ग एव नास्ति, शिक्षायान्तु पाणिनिनाऽपि वर्णोत्पत्तिविज्ञानं विवृतमेव—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। इत्यादिना।

प्रत्युत प्रातिशाख्यैः श्वासनादाविवरणेन वैखर्या वाच एवोत्पत्तिरनुक्रान्ता। प्राणवायुव्यापारादुत्तरमेव ते व्यापारं विवृण्वते, पाणिनिस्तु प्राणव्यापारात्पूर्वमपि आत्म–बुद्धि–मनोव्यापारं संगृह्णन् मध्यमां पश्यन्तीं चाऽपि वाचमभिव्यञ्जयतीति तत्रैव विज्ञानाधिक्यं स्फुटति। किञ्च ऋक्तन्त्रे प्रथमे प्रपाठके विषयोऽयं विवृतः। स च प्रपाठको न व्याख्यात्रा व्याख्यात इति मूलग्रन्थात्पृथग्भाव एव तस्यानुमीयते, शौनकीयेऽपि प्रथमात्पटलात्प्रागेव विषयस्याऽस्य विवरणमिति प्राक्तनात्कस्माच्चिद् ग्रन्थादत्र वैज्ञानिको विषयोऽयं संगृहीत इत्येव प्रतीयते। अन्येषु तु प्रातिशाख्येषु न तथा प्रतिपाद्यते विज्ञानमिति नायमपि निर्णयहेतुर्दृढः प्रसिद्ध्यति। सन्देहास्पदमेवाऽत्रापि पौर्वापर्यम्। किञ्च पाणिनिरादेशवादी, प्रातिशाख्यानि तु विकारवादीनि। एकस्य वर्णस्य वर्णान्तरतापत्तिर्विकार इत्युच्यते, एकस्य वर्णस्य वर्णसमूहरूपस्य प्रातिपदिकस्य धातोः पदस्य वा स्थानेऽन्यस्योच्चारणन्तु आदेश इति। तत्र दार्शनिकरीत्या विचार्यमाणो वर्णपदादिषु विकारो नैवोपपद्यते। न शब्दनित्यत्ववादे, न वा अनित्यत्ववादे–उभयथापि विकारो न सम्भवति। नित्यतावादे हि कूटस्था अविचालिनो वर्णा इति कथं विकारः सम्भवेत्। अनित्यत्ववादे च उच्चरितप्रध्वस्ता वर्णा न तावत् स्थितिं लभन्ते–यावत् तानुपमर्द्य वर्णान्तरं तत्रागच्छेत्। न च वर्णसमूहरूपं प्रातिपदिकधातुपदादि वस्तुतः स्वरूपं धत्ते–वर्णानामुच्चरितप्रध्वस्तानां समुदायासम्भवात्, तस्माद् बुद्धिपरिकल्पिता एव धातुप्रातिपदिकाद्या इम इति न तत्रापि विकारसम्भवः। सोऽयं विकारासम्भवः

शब्दानामनित्यत्ववादिना न्यायसूत्रकृता गोतमेन सूत्रेषु सम्यग्विवृत इत्यवोचाम। तत एव पाणिनिर्विकारपक्षं परित्यज्य आदेशपक्षमेव गृहीतवान्—'षष्ठी स्थानेयोगा' इति परिभाषमाणः। विवृतञ्च विस्तरेण तन्महाभाष्ये। 'प्रातिशाख्यानि तु विकार-पक्षमेव परिगृहीतवन्ति। पदान्तादिष्वेव विकारशास्त्रं पदे दृष्टेषु वचनात् प्रतीयात्' (पट. २ सू० ५) इति शौनकेन सन्धिशास्त्रप्रवृत्तौ स्पष्टं विकारपदं प्रयुक्तम्। ऋक्-तन्त्रप्रणेत्राऽपि 'विकारः' (सू० ९१) 'सस्थानः' (सू० ९२) इति स्पष्टं विकार-पदं प्रयुक्तम्। कात्यायनोऽपि 'तमिति विकारः' (१।१३३) इति विकारमेव स्वीकरोति 'द्वितीयया विभक्त्या यो निर्दिश्यते स विकारः प्रत्येतव्यः' इति तदर्थः, एवमन्यत्रापि। सूत्रणशैल्यप्येषां विकारख्यापिकैव, 'ककारपकारयोः सकारम्' (३।२१) (ककारपकारयोः परयोर्विसर्जनीयः सकारमापद्यते—सकाररूपतां गच्छति) इत्यादि कात्यायनः। रौ दीर्घम्' (९३) (स्वरौ दीर्घमापद्येते) इत्यादि ऋक्तन्त्रकारः, 'ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्' (पट० २।२७) (ह्रस्वपूर्वस्तु स विसर्जनीयः स्वरोदयो अकारमापद्यते) इत्यादि शौनकः। 'औकार आवम्' (९।१५) (औकारः यदा स्वरपरः, आवं विकारमापद्यते) इत्यादि तैत्तरीय-प्रातिशाख्ये। तस्मादसम्भवद्विकारवादिप्रातिशाख्यापेक्षया आदेशवादी पाणिनिरेव वैज्ञानिकमूर्धन्य इति स्फुटीभवति। वर्णा अपि स्वस्वशाखोपयुक्तास्तैस्तैः प्रातिशाख्य-कृद्भिः संगृहीता इति तत्संख्ययापि पौर्वापर्यं न निर्णेतुं शक्यते। भवतीदं यद्यपि विचार्यम्—शौनकीये प्रातिशाख्ये लृकारः स्वरेषु न परिगण्यते, पाणिनीये ह्रस्व एव लृकारो गृहीतः। दीर्घस्तु नास्त्येव। कात्यायन-ऋक्तन्त्रयोस्त्रिविधोऽपि लृकारः परिगृहीतः। तैत्तरीयप्रातिशाख्ये च पाणिनिवत् केवलं ह्रस्व इति। अद्यत्वेऽपि स्वरान्तरवद् ह्रस्वदीर्घौ लृकारौ वर्णसमाम्नाये गृह्येते। स्वरान्तराणा-मिव तस्यापि भेदोऽस्त्येवेति, तमेतं मतभेदमाश्रित्य पूर्वापरीभावः कथञ्चिदनु-मीयेत। त्रिविधमपि लृकारं गृह्णन्तोऽर्वाचीनाः, अगणयन्तस्तु सर्वतः प्राचीनाः इति सम्भाव्यते। परं भाष्यटीकादिकृद्भिः सर्वैरेव स्वशाखोपयुक्ता वर्णा इह संगृह्यन्ते इत्येवोक्तमिति नैतदप्यनुमानं दृढं भवितुमर्हति।

अथ सूत्रप्रक्रियाया अन्तरङ्गपरीक्षा कर्तव्या। तद्रीत्या कात्यायनप्रातिशाख्य-न्तु पाणिनेरर्वाचीनमेवानुमीयते। तस्य हि सूत्रग्रन्थनशैली पाणिनिना बहुतरं संवदति। किञ्च 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (अ० १।१३४) 'तस्मादित्युत्तर-स्यादेः' (१।१३५) 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१३६) इति सूत्राणि स्पष्टं पाणिनिसूत्रानुकारीणि दृश्यन्ते। तत्र पाणिनिनैव प्रातिशाख्यादुद्धृतानीति विप-रीतमेव किं न स्यादिति चेद्, नैषा परिभाषाशैली अन्येषु प्रातिशाख्येषु दृश्यते इति पाणिनेरेव शैली कात्यायनेनानुकृतेति मन्तव्यं स्यात्। इदञ्च विशेषेणावधेयम्—

पाणिनिना हि 'आदेः परस्ये'त्येतदपेक्षया 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इत्यस्य परत्वं रक्षितुम् 'तस्मादित्युत्तरस्य' 'आदेः परस्य' इति पृथग्योगौ कृतौ, तेन 'अष्टाभ्य औश्' इत्यादौ 'तस्मादित्युत्तरस्ये'ति प्रवर्तते, 'आदेः परस्ये'त्येतत्तु 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'त्यनेन बाधितं न प्रवर्तते, तदेतत्स्पष्टीकृतं सिद्धान्तकौमुद्याम्। प्रातिशाख्ये तु 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'ति परिभाषणाऽभावात् पृथग्योगकरणस्य नास्त्यावश्यकत्वमित्यनुसन्धाय कात्यायनेनात्र 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' इत्येक एव योगः कृतः, तदेतत् पाणिनेरनुकरणं स्पष्टं बोधयति। किञ्च 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति नास्ति प्रातिशाख्यानां शैली, तेषु स्थानी न प्रायेण षष्ठ्या निर्दिश्यते, अपि तु प्रथमया निर्दिश्यते—'अमुको वर्णः अमुकरूपतामापद्यते' इत्यादि क्रमेण, तदेतन्निदर्शितं प्राक्। कात्यायनेनापि प्रायेण सैव शैली सूत्रेष्वनुसृता—'विसर्जनीयः' (प्राति० ३।६) 'चछयोः शम्' 'तथयोः सम्' (३।७-८) 'तकारो ले लम्' (४।१३) 'मश्चानुमानिकम्' (४।१४) 'सर्वो अकार ओकारम्' (४।४३) इत्यादिषु। क्वचिदेव तु स्थानषष्ठी निर्दिष्टा—'यकाराकारयोर्लोपोऽपत्ये पदे' (४।४१) 'यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः' (४।१२७) इत्यादौ। तथापि 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति परिभाषा कृता तेन स्पष्टं प्रतीयते परिभाषेयं पाणिन्यनुकारिणी, सूत्रप्रणयनं तु सजातीयप्रातिशाख्यसंस्कारेणेति।

'अन्त्याद्वर्णात्पूर्व उपधा' (१।३५) 'समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः (१।४३) 'मुखनासिकाकरणोनुनासिकः' (१।७५) 'संख्यातानामनूद्देशो यथासंख्यम् (१।१४३) 'विकारी यथासम्भवम्' (१।१४२) 'विप्रतिषेध उत्तरं बलवदलोपे' (१।१५९) स्पर्शं परपञ्चमम्' (४।१२) इत्यादीनि च सूत्राणि कात्यायनीये प्रातिशाख्ये 'अलोन्त्यात्पूर्व उपधा' 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' 'स्थानेऽन्तरतमः' 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यादिभिः पाणिनिसूत्रैः समानार्थानि किञ्चित्परिवर्तिताक्षराणि दृश्यन्ते। किमन्यत्—पाणिनिसूत्रेषु वार्तिककारोऽपि कात्यायनः उच्यते, प्रातिशाख्यकृदपि। तयोर्मतसंवाददर्शनादेकत्वमेवानुमीयते। तथा हि—अत्रैव 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इति सूत्रे आस्यपदस्य प्रयत्नविशेषणताम्भ्युपगम्य विभिन्नस्थानानामपि सवर्णसंज्ञामाशङ्क्य 'आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नं सवर्णम्' इति न्यासो वार्तिककृतोट्टङ्कितः, प्रातिशाख्ये च 'समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः' इति आस्यात् स्थानग्रहणं पृथक् कुर्वता सैव प्रक्रियाऽनुसृता। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति पाणिनीये सूत्रे 'लुग्लोपयणयवायावेकादेशेभ्यः' इति लुकः परापेक्षयापि बलवत्त्वं वार्तिक उट्टङ्कितम्, प्रातिशाख्ये तु लुको लोपस्य च पार्थक्याभावेन लोपमात्रे विप्रतिषेधविधिर्निरुद्धः 'विप्रतिषेधे उत्तरं बलवदलोपे' इति। 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' इत्यप्यस्ति पाणिनीये

वार्तिकम् । प्रातिशाख्येऽपि 'लुङ् मुदि जित्परे' (३।१३) इति तदनुवादो दृश्यते। 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' इति पाणिनीये वार्तिकम्, 'तद्बृहतोः करपत्योस्तलोपश्च' (३।५३) इति प्रातिशाख्ये तदनुवादः। यद्यपि तद्बृहतोः करपत्योरित्येतद्गणपाठे पारस्करादिगणे केचित् पठन्ति, परं भाष्यकृता 'वक्तव्यः' इत्युपन्यासाद् वार्तिकमेवेदं प्रतीयते। न हि गणसूत्राणि भाष्यकृदनुवदति। भवतु वा गणसूत्रम्, तथापि पाणिन्यनुकृतिस्तु प्रातिशाख्ये सिद्धैव। 'दारावाहनोऽणन्तस्य च टः संज्ञायाम्' 'चारौ वा' इति दार्वाघाट—चार्वाघाटादिशब्दसिद्ध्यर्थं प्रयत्नः पाणिनिवार्तिककारेण कृतः, प्रातिशाख्येऽपि 'स आद्यादनाडम्बरात्' इति तत्सिद्ध्यर्थं प्रयत्नो दृश्यते। प्रक्रियाभेदोऽत्र यो दृश्यते, स तु प्रातिशाख्येऽण्णादिप्रत्ययानामविवरणादेव। 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) इति पाणिनीये सूत्रे 'ऋकाराच्चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिककृतोक्तम्, प्रातिशाख्येऽपि 'ऋषरेफेभ्यो नकारो णकारं समानपदे' इति ऋकारं संयोज्य पाणिनिसूत्रमर्थतोऽनूदितम्। 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति सूत्रेऽपि 'अन्यव्यवाये प्रतिषेधः' इति वार्तिककारः, प्रातिशाख्येऽपि, 'स्वरयवह-कषैश्च' (३।८५) इति सूत्रेण संग्राह्यव्यवधानमुक्त्वा अन्ते 'शिलिसिवर्गमध्यम-व्यवहितोऽपि (३।९५) इति प्रतिषिद्धव्यवधाने नकारस्य प्रकृतिभावोऽपि विहितः। भाष्यकृता सूत्रस्य नियमार्थतामाश्रित्य वार्तिकं खण्डितमित्यन्यदेतत्। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इति सूत्रे 'षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च' इति वार्तिकमारब्धम्। प्रातिशाख्येऽपि 'षड् दशदन्तयोः संख्यावयोर्थयोश्च' (३।४७) इति तदेवानुकृतम्। अत्र तु उव्वट आह 'षोडन्तः' इति, एतच्च शिष्यव्युत्पादनार्थम्, नहि संहितायामुदाहरणं लभ्यते, इति टीकान्तरे च शाखान्तरस्योदाहरणं दर्शितम्। तद्रीत्या तु स्फुटमेवेदं भवति, यत्पाणिनीये वार्तिके यदुक्तम्, तत्संस्कारेण तदनुवादरूपेणैव दन्तशब्दोऽत्र निवेशित इति। एवं पाणिनीयवार्तिके 'वर्णात्कारः' इति पठितम्, प्रातिशाख्येऽपि 'निर्देश इतिना, कारेण च' (१।३७) इति तदनूदितम्। यत्तु प्रातिशाख्ये 'नानुस्वारयमविसर्ज-नीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः' इति अनुस्वारादिशब्देभ्यः कारप्रत्ययस्य निषेध आख्यातः, स तु पाणिनीये प्रत्याहारसूत्रेष्वेषां वर्णत्वेनाऽनिर्देशात्तत्रोपेक्षित इति प्रतीयते। एवमेवान्विष्यमाणे प्रसङ्गे बहुत्र पाणिनीयवार्तिकस्य वाजसनेयप्राति-शाख्यस्य च मतैक्यमुपलभ्यते। यानि तु वार्तिकानि न प्रातिशाख्येऽनुसृतानि तत्साध्याः शब्दा अस्यां शाखायां न सन्तीत्येव प्रायेण सिद्ध्येत्। यदि हि वाजस-नेयप्रातिशाख्यं पाणिनेः पूर्वमभविष्यत् पाणिनिना विधानानीमानि तत्रावक्ष्यन्त, तर्हि, कथं स इमानि विधानानि स्वसूत्रेषूपैक्षिष्यत। कथं शर्परे खरि विसर्ग-लोपस्तेन स्वसूत्रैर्न विहितः स्यात्। कथं च षोडशादिशब्दसिद्ध्यर्थं षष उत्वं

न विधीयेत। मनुष्यसुलभमनवधानं शब्देषु सम्भवतीति सत्यम्, परमन्येषां विधीन् स्पष्टं दृष्ट्वापि कथमनवधानमनल्पमतेः सम्भवेत्। तस्मात् पाणिनेरर्वाक्तनमेव यजुःप्रातिशाख्यमिति सिद्ध्यति। एवं पाणिनीयाः समासतद्धितादिसंज्ञा अप्यत्रारम्भ एव स्फुटमुक्ताः—'तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्' (का० प्रा० १।२९) अत्र हि चतुष्टयेति समासविशेषणं स्पष्टं पाणिनीयव्याकरणं स्मारयति। व्यारणान्तरेऽपि कृत्तद्धितसमासादिसंज्ञाः स्युरित्यभ्युपगमेऽपि समासस्य भेदचतुष्टयं तत्राप्यासीदिति कल्पनायां मानाभावः। नचैवंविधाः शब्दभेदाः अन्येषु प्रातिशाख्येषूपलभ्यन्त इति पाणिनीयसंस्कारेणैव कात्यायनेन विभागोऽयं प्रदर्शित इति सुस्पष्टं शक्यमनुमातुम्। एवं संज्ञाकरणपद्धतिरपि यजुःप्रातिशाख्येऽनुसृता 'दन्तस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः (१।५२) इत्यादिना। न ह्यन्येषु प्रातिशाख्येषु बाहुल्येन संज्ञाकरणं दृश्यते। एवमेव एङः परस्याकारस्य पूर्वरूपमभिनिधानशब्देन शौनकादिभिरुच्यते, कात्यायनेन तु 'एरोद्भ्यां पूर्वमकारः' (४।१२) इति पूर्वरूपशब्दं वदता पाणिनिप्रक्रियैवानुसृता। 'नश्छव्यप्रशान्' इति पाणिनीयप्रक्रियायां च परं लाघवमत्र 'चछयोः शम्' 'तथयोः सम्' इति (३।१३४–१३५) प्रदर्शितम्—इत्याद्यनुसन्धेयम्। तेन यजुः प्रातिशाख्यस्य पाणिनिपरभवत्वमेवान्तरङ्गपरीक्षया सिद्ध्यति। अभ्युपगम्यते चाप्यैतिहासिकैर्बहुभिस्तथैव। तैत्तरीयप्रातिशाख्यमपि अनेनैव तुल्ययोगक्षेमम्। तत्राऽपि हि 'उच्चैरुदात्तः' (१।३८) 'नीचैरनुदात्तः' (१।३९) 'समाहारः स्वरितः' (१।४०) इति सूत्राण्यनूदितानि लभ्यन्ते। 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' इति पाणिनीयसूत्रं च 'तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्द्धह्रस्वस्य' 'उदात्तसमः शेषः' (१।४१–४२) इति सूत्रद्वयेनानूद्यते। अत्रापि ह्रस्वपदं स्वार्थात्प्रच्युतमेव पाणिनीये सूत्र इव व्याख्याकृद्भिरुच्यते। 'एकवर्णः पदमपृक्तः' (१।५४) इत्याद्याः संज्ञा अपि पाणिनिनेव प्रपञ्चिताः। 'एकः पूर्वपरयोः' 'अन्तादिवच्च' इति पाणिन्यनुकरणेन 'अथैकमुभे' (१०।१) इत्याद्यधिकारसूत्रम्, 'आद्यन्तवच्च' (१।५५) इति परिभाषापि किञ्चिद्विषयभेदेनाश्रीयते। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इत्यस्य स्थाने 'तत्र पूर्वं पूर्वं प्रथमम्' (५।३) इति विपरीतं परिभाष्यते। 'वर्णात्कारोत्तरो वर्णाख्या' (१।१६) 'न विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्यानाम्' (१, १६–१८) इत्यादि च कात्यायनेनेव विधीयते। अन्यदपि कात्यायनानुकरणमत्र दृश्यते इति तस्यापि पाणिनिपरभवत्वे न सन्देहः।

अथ ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यमेवमेवालोच्यते। तत्र हि सुडागमप्रकरणे बहूनां सूत्राणां पाणिनिसूत्रैरक्षरशः, किञ्चिद् व्यत्यासेन, अर्थतो वा परं साम्यं प्रतीयते। तान्युदाहरिष्यामः—

ऋक्तन्त्रे	पाणिनीये
१ स सङ्करोतौ (१८९)	१ सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे (६।१।१३७) समवाये च (६।१।१३८)
२ अङ्गव्यवाये चाङ्गपरः (१९०)	२ सुट् कात्पूर्वः (६।१।१३५)
३ कृचकारमस्वयं दृष्टे (१९१)	३ ,, ,,
४ पर्युपभूषणप्राचुर्यवाक्येषु (१९२)	४ सम्परिभ्याम्० (पूर्वोक्तम्) उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च (६।१।१३९)
५ अवं मर्यादावर्चस्कयोः (१९३)	५ वर्चस्केऽवस्करः (१।१।१४८)
६ पार पर्वते (१९४)	६ पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्
७ अप रथे (१९५)	७ अपस्करो रथाङ्गम् (६।१।१४९)
८ किरतावध्यात्मम् (१९६)	८ अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने (६।१।१४२)
९ उपप्रती हिंसायाम् (१९७)	९ किरतौ लवने (६।१।१४०) हिंसायां प्रतेश्च (६।१।१४१)
१० वि शकुनौ (१९८)	१० विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा (६।१।१५०)
११ कुस्तुम्बुरु जातिः (१९९)	११ कुस्तुम्बुरूणि जातिः (६।१।१४३)
१२ आस्पदमास्थायाम् (२००)	१२ आस्पदं प्रतिष्ठायाम् (६।१।१४६)
१३ अपरस्परं सातत्ये (२०१)	१३ अपरस्पराः क्रियासातत्ये(६।१।१४४)
१४ प्रस्कण्व ऋषिः (२०२)	१४ प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी (६।१।१५३)
१५ गोष्पदमुदकमाने (२०३)	१५ गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु (६।१।१४५)
१६ अगोष्पदमनाचरिते (२०४)	१६ ,, ,, ,,
१७ आश्चर्यमनित्ये (२०५)	१७ आश्चर्यमनित्ये (६।१।१४७)
१८ आस्का आस्कमो विस्फुलिङ्गाः(२०६)	१८ × × ×
१९ समास ऋत्तु चन्द्रे (२०७)	१९ ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे (६।१।१५१)
२० कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (२०८)	२० कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (६।१।१)
२१ नदी रथस्या (२०९)	२१ रथस्या नदी (गणपाठे (६।१।१५७) सूत्रोपरि)
२२ मस्करो वेणुः (२१०)	२२ मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः (६।१।१५४)
२३ तस्करः स्तेनः (२११)	२३ तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च (गणपाठे ६।१।१५७ सूत्रोपरि)

कश्चिदपि विचारक एतद् ब्रूयादेव, यदीदृशं सादृश्यं यादृच्छिकं न सम्भवति, अवश्यमेकेन परस्य सूत्रपाठोऽनुकृत एव, तत्र केन कस्य पाठोऽनुकृत इति विचार्यम् । कतिपयेषु सूत्रेषु एकस्यापरेण भेदो दृश्यते, तत्र पाणिन्यपेक्षया प्रातिशाख्ये यत्र न्यूनता, तत्र तु शक्यमेवं वक्तुम्—यत्सामशाखायां तादृशाः प्रयोगा नोपलभ्यन्ते इत्यतः प्रातिशाख्यकृता ते परित्यक्ताः । यथा—'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' इति पाणिनेः पाठः, 'मस्करो वेणुः' इति लघुश्च प्रातिशाख्यस्य । तत्र परिव्राजकार्थो मस्करिशब्दः सामशाखायां नोपलभ्यः स्यादित्येव प्रातिशाख्यकृता परित्यक्त इति सम्भाव्यते । तथैव 'प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी' इति पाणिनिसूत्रस्य हरिश्चन्द्रपदं यत्प्रातिशाख्ये परित्यक्तम् 'प्रस्कण्व ऋषिः' इति सूत्रे, तत्रापि 'समास ऋत्वुचन्द्रे' इति सूत्रेणैव हरिश्चन्द्रशब्दसिद्धिरिति हेतुः सम्भाव्यते । पाणिनिना तु 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' इति सूत्रयतापि लौकिकहरिश्चन्द्रपदसाधनार्थं प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावित्यत्रापि हरिश्चन्द्रपदग्रहणं कृतम् । एवमन्यत्राप्यूह्यम् । परं प्रातिशाख्यविधानं यत्र पाणिनिना परित्यक्तम्, तत्र हेतुर्न दृश्यते । यथा 'अवमर्यादावर्चस्कयोः' इति मर्यादायां वर्चस्के च ऋक्तन्त्रकारः अवस्करपदं साधयति, पाणिनिस्तु वर्चस्के एव । तत्र मर्यादार्थे अवस्करशब्दः कथं पाणिनिनोपेक्षितः ? पाणिनिर्हि सर्ववेद-लोकसाधारणं व्याकरणं निबध्नातीति न सामशाखाप्रयोगस्तस्योपेक्ष्यो भवितुमर्हति । तथैव 'आस्का आस्कामो विस्फुल्लिङ्गे' इति कथं पाणिनिनोपेक्षितम् ? सम्भवति मनुष्यसुलभमनवधानं तेषां श्रुत्यादिदृष्टानां प्रयोगाणामित्यवोचाम, परं यदि पाणिनिना ऋक्तन्त्रसूत्राण्यनुकृतानि स्युः, तर्हि मध्ये स्थितमेकं सूत्रं स कथं परित्यजेत् ? प्रत्यक्षं परिदृश्यमाने सूत्रे तु नानवधानमल्पमतेरपि सम्भाव्यते, किं पुनरनल्पमतेः । तस्मात्पाणिनिना ऋक्तन्त्रसूत्राणि नानुकृतानि, अपि तु ऋक्तन्त्रकृतैव पाणिनिसूत्राण्यनुकृतानि, तत्र स्वशाखायामदृष्टाः प्रयोगविशेषाः अर्थविशेषाश्चोपेक्षिताः, अनवधानेन विस्तरभयेन वा पाणिनिना त्यक्तास्तु स्वशाखायां दृश्यमानाः कतिचिदर्थाः प्रयोगा वा संगृहीता इत्येव सम्भाव्यते । तदित्थमृक्तन्त्रस्यापि पाणिनिपरभवत्वमेवान्तरङ्गपरीक्षया सिद्ध्यति । यत्तु 'किरतावध्यात्मम्' इत्यस्पष्टं प्रातिशाख्य उक्तम्, पाणिनिना तु 'चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' इति स्पष्टं तद्विवरणं कृतम्, तस्मात् पाणिनेः परभवत्वमेव केचित्साधयन्ति । तदेतदुक्तस्य प्रमाणस्याग्रे अतीव दुर्बलम्, चतुष्पाद्रूपं शकुनिरूपं च विशेषमुपेक्ष्य संक्षेपेण अध्यात्ममित्येव प्रातिशाख्यकृता समुद्धृतमित्यत्र तथाविधविशेषाभावात् । हर्षजीविकाकुलायकरणाद्या विशेषास्तु वार्तिककृता दर्शिताः, न सूत्रकृता पाणिनिनेति ।

सूत्रान्तराणामपि ऋक्तन्त्रे सादृश्यं दृश्यते—

ऋक्तन्त्रे	पाणिनीये
१ उदः स्थास्तम्भोः (१६७)	१ उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य (८।४।६१)
२ पृषोदरादीनाम् (१६६)	२ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (६।३।१०९)
३ सन्निकर्षः संहिता (६७)	३ परः सन्निकर्षः संहिता (१।४।१०९)
४ गो (७९)	४ सर्वत्र विभाषा गोः (६।१।१२२)
५ न वा (८०)	५ ,, ,, ,,
६ अवङ् वा (८१)	६ अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।१२३)

दीर्घप्रकरणे तु सकारप्रकरण इव विशेषेण सादृश्यमुपलभ्यते । यथा—

ऋक्तन्त्रे	पाणिनीये
२१५ कर्णस्य भृङ्गे (कर्णाभृङ्ग)।	×
२१६ वृषस्य कपिमोदनीदर्भखेषु । (वृषामोदनी, वृषाकपिः)	×
२१७ कर्णे प्लीहाङ्कुशकुण्डलोपरिष्टाध्यक्षतबाणानाम् । (प्लीहाकर्णी, अङ्कुशाकर्णी, कुण्डलाकर्णी इत्यादि)	कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य (६।३।११५)
२१८ विश्वस्य नरवसुराट्सु । (विश्वातरः, विश्वावसुः, विश्वाराट्)	विश्वस्य वसुराटोः (६।३।१२८) नरे संज्ञायाम् (६।३।१२९)
२१९ मित्र ऋषौ ।	मित्रे चर्षौ (६।३।१३०)
२२० श्ववित्पदवराहकर्णदन्तदंष्ट्रे ष्वसम्प्रति चेत् । (श्वावित् , श्वापदः, श्वावराहः इत्यादि)	शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः (वार्तिकम्)
२२१ सर्वनाम्नो दृशि । (कीदृग् , अस्मादृक् इत्यादि)	इदङ्किमोरीश्की (६।३।९०) आ सर्वनाम्नः (६।३।९१)
२२२ उक्षवेहती । (उक्षावेहती)	×
२२३ उपनश्वे । (उपानश्वो रोगः)	×
२२४ साङ्गेन च समागमे । हस्ताहस्ति, मुखामुखि, केशाकेशि, दण्डादण्डि)	अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३७)
२२५ अष्ट । (अष्टाकपालम्)	छन्दसि च (६।३।१२६) अष्टनः कपाले हविषि (वार्तिकम्) (गवि च युक्ते) (अष्टागवम् , अष्टाकपालम्)

ऋक्तन्त्रे	पाणिनीये
२२६ प्राक् शताच्च । (अष्टादश, अष्टाविंशतिः)	द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः (६।३।४७) 'प्राक् शतादिति वक्तव्यम्)
२२७ पद–गोयुक्त–दन्त–शालीये च तीर्थे । (अष्टापदम्, अष्टागोयुक्तम्, इत्यादि)	अष्टनः संज्ञायाम् (६।३।१२५)
२२८ नाम्नां षाडि । (तुराषाट्, यवाषाट्)	छन्दसि सहः (३।२।६३) (ण्विप्रत्ययः उपधावृद्धिः)
२२९ वने त्र्यक्षरप्रभृतीनां प्राच्यभरतसंज्ञा चेत् । (औलूगावनम्, सुन्दरावनम्)	वनगिर्योः संज्ञायाम् कोटरकिंशुलुकादीनाम् (६।३।११७)
२३० उपसर्गं धातावेकाक्षरे नामभूते । (उपानत्, प्रावृट्)	नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ (६।३।११६)
२३१ द्व्यक्षरे गुर्वोदात्तकाराङ्के (नीवर्तः, परीवर्तः, परीवापः)	उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्(६।३।१२२)
२३२ प्रदन्त्यादौ सादसूदसङ्गसेनेषु । (प्रासादः, प्रासङ्गः, प्रासेनः इत्यादि)	,, ,, ,,
२३३ न सत्त्वभावे लुडिते चे । प्रासादो गुरूणाम्, प्रसादो मृत्तिकायाः)	,, ,, ,,
२३४ निष्ठायामित्तादौ (नीत्तः, वीत्तः, परीत्तः)	दस्ति (६।३।१२४)
२३५ उ च काशे दर्शने (चकारादिकारोऽपि गृहीतः (प्रतीकाशते, अनूकाशते)	इकः काशे (६।३।१२३)
२३६ युग्मं घु । (एवा ह्यसि, योजा न्विन्द्र)	द्व्यचोऽतस्तिङः (६।३।१३५)
२३७ उघोर्घुनि घोषादिः (तमू शुचिम्, अरुषस्य नू महः)	ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् (६।३।१३३)
२३८ इ (श्रुधी हवम्, यदी वहन्ति, शृणुही गिरः)	×
२३९ सोऽस्मि दन्त्येऽच्चे (कृधी नः, अभीषुणः, इत्यादि	×
२४० कण्ठ्ये	×

अग्रेऽपि प्रातिशाख्ये दीर्घस्य बहुप्रपञ्चः—२५५ सूत्रपर्यन्तम्। नामग्राहं तत्र तत्र दीर्घविधानम्। तच्च प्रायेण 'ऋचि तुनुघ' इति निदर्शिते सूत्रेऽन्तर्भवति। अग्रे पाणिनीयेऽपि कतिचन सूत्राणि दृश्यन्ते येषां प्रतिरूपकं प्रातिशाख्ये न लभ्यते। यथा—वले (६।३।११८)। मतौ बह्वचोनजिरादीनाम् (६।३।११९)। शरादीनाञ्च (६।३।१२०) इको वहेऽपीलोः (६।३।१२१)। चितेः कपि (६।३।१२७) मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (६।३।१३१) ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्। (६।३।१३२)। वा षपूर्वस्य निगमे (६।४।९) (ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षणम्) इति।

अत्रापीदं सादृश्यं यादृच्छिकं न प्रतीयते, अवश्यमेकेन परस्य संग्रन्थनं दृष्ट्वाऽनुवादः कृतः। तत्रापि पूर्वोक्ता युक्तिरनुसन्धेया, पाणिनीयसूत्राणां प्रतिरूपकं प्रातिशाख्ये यत्र न दृश्यते, तत्र सामवेदे एतादृशाः प्रयोगा न लभ्यन्त इति वक्तुं सुशकम्। ऋक्तन्त्रस्य केवलं सामशाखीयत्वात्। सर्वशाखानां लौकिकप्रयोगैः सह समुच्चायकेन पाणिनिना तु प्रातिशाख्ये इष्टास्तत्र तत्र विषयाः कुत उपेक्षिता इत्यत्र न किमपि समाधानं स्यात्। विश्वावसुः, विश्वामित्रः, इत्यादौ प्रातिशाख्ये दृष्टो दीर्घविधिर्यदि पाणिनिनानूदितस्तर्हि 'उपानत्' 'उक्षावृद्दती' इत्यादिषु कुत उपेक्षित इति नैतदुत्तरयितुं शक्यते। तादृशप्रयोगाणामनतिप्रसिद्धत्वादुपेक्षेत्यपि सर्वत्र न वक्तुं शक्यते—'वृषाकपिः' इत्यादि-प्रयोगाणां संस्कृतवाङ्मये सुप्रसिद्धत्वात्। किञ्च 'श्वापदः' 'श्वावराहः' इत्यादौ पाणिनिनोपेक्षितमपि दीर्घत्वं वार्तिककारेणोपसंख्यातम्, तेनापि प्रयोगाणामप्रसिद्धिर्न सम्यक् प्रतीयते। पाणिनिर्हि 'द्व्यष्टनः संख्यायाम्' इत्यष्टन्शब्दस्य सामान्येन दीर्घं विधत्ते, 'अष्टसहस्रम्' इत्यादौ तु दीर्घं न दृश्यते, तदर्थं पाणिनेर्न कोऽपि यत्नः। प्रातिशाख्ये तु 'प्राक् शतात्' इत्युक्तम्, वार्तिककारेणापि 'प्राक्शतादिति वक्तव्यम्' इत्यनूदितम्। तस्मादनेन प्रकरणेनाऽपि 'ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यस्य' पाणिनिपरभवत्वमेव प्रतीयते। अनवधानेन मनुष्यसुलभेन पाणिन्युपेक्षिताः प्रयोगाः प्रातिशाख्ये सामसंहितायामन्विष्य विशेषेण संगृहीताः, त एव च वार्तिककृता पश्चादनूदिता इत्येव कल्पना ज्यायसी। सूत्राण्येवंविधानि संमुखे स्थितानि यदि स्युः, तर्हि अनवधानं न सम्भवतीत्यसकृदावेदितम्। किञ्च तिङ्कृतादिप्रत्ययाः प्रातिशाख्येषु न क्वापि विक्रियन्ते इत्यनेकधैतदुक्तम्। ततश्च इह दीर्घप्रकरणे 'निष्ठायामित्तादौ' इति यदिदं 'दस्ति' इति पाणिनिसूत्रस्य प्रतिरूपकं दृश्यते—तत्सर्वथास्य पाणिनिपरभवत्वं साधयतीति कृतं प्रपञ्चेन।

इदञ्च वैचित्र्यमालोक्यते, यद्—ऋक्तन्त्रकारः समासे विभक्तिलोपार्थमपि सूत्रं प्रणयति—'विभक्तिलोपः (६६) चकारेत्यादावभ्यासं चापि चकारघटितमनुविधत्ते 'कृ चकारमस्वयंदष्टे' (पूर्वोक्ते (१९१) सूत्रे) नहि समस्तपदानां तिङन्तादीनां

च साधनप्रक्रिया प्रातिशाख्येषु क्वाप्युपलभ्यते। समास–धातु–निष्ठा–सर्वनामादि-संज्ञाश्चाप्यस्य सूत्रेषु व्यवहृता दृश्यन्ते—या न विषयाः प्रातिशाख्यानाम्। नामैकदेशे नामग्रहणमिति परिपाट्यपि बहुधालोक्यते। सूत्ररचनाप्रणाली च बहुत्र पाणिनिमनुसरति बहुत्र चातीव विलक्षणा। तच्च वैलक्षण्यं बुद्धिपूर्वकं सम्पादित-मनेन प्रतीयते। तस्मात् पाणिनीयव्याकरणसंस्कारायातमेवैतदिति संभवति। इदं तु दृढं प्रमाणमस्य पाणिनिपरभवत्वे—यद्ये प्रयोगाः पाणिनिसूत्रैर्न सिद्ध्यन्ति, वार्तिककृता यदर्थे प्रयत्न उपसंख्यातः—तेऽप्यत्र साधिता दृश्यन्ते। यथा—'स्वैरिणी' 'अक्षौहिणी' इत्येतदर्थे 'भाषायां रीपरयोः' (९६) इत्यौत्वं विहितम्। सामशाखाया व्याकरणं विरचयतो भाषाविषयिणी चर्चा कियदुपयुक्तेत्यपि विचार्यम्। अथवा भाषायामिति ब्राह्मणभाषाभिप्रेता स्यात्। तथैव प्रौढः, प्रैष्यः, वत्सतरार्णम्, इत्यादिपाणिन्युपेक्षितप्रयोगसिद्ध्यर्थमपि 'उपसर्गादूहैष्यौ प्रेष्यार्थे' (९८) 'वत्सरादीनामृणि' (१०६) इति सूत्रयति, 'ऋते च तृतीयासमासे' इति वार्तिकमनुसरंश्च 'मासे घमृति' (१०३) इति सूत्रयति। अत्र समासशब्दार्थे 'मास' शब्द एव प्रयुक्तः, दीर्घशब्दार्थे च 'घ' शब्द इत्यपि वैलक्षण्यमालोच्यमेव। 'शुनो दन्तदंष्ट्रा' इत्यादिदीर्घानुवादश्च दीर्घप्रकरणे दर्शित एव। यदि हि सूत्राणी-मानि पाणिनिरद्रक्ष्यत्, तर्हि कथं तदनुसृत्य स्वयमपि 'स्वैरिणी' 'प्रौढः' इत्यादिं सिद्ध्यर्थं वृद्धिं न व्यधास्यत्। न ह्येवंविधमनवधानं सम्भवतीत्यसकृदवोचाम। तस्मात् पाणिनिपरभवत्वमेव ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्यस्यापि स्पष्टं सिद्ध्यति। यत्तु शाकटायनप्रणीतत्वप्रसिद्ध्या पाणिनिपूर्वभवत्वमस्य प्रातिशाख्यस्य साधयन्ति, पर-भवत्वसाधकान्युक्तसूत्राणि च प्रक्षिप्तानि पश्चादिति वक्तुमीहन्ते–तदपि न दृढम्। शाकटायनप्रणीतत्वस्यैवासिद्धेः आरम्भ एवात्र 'श्वासो नादः इति शाकटायनः' इत्येवं नाम्नोल्लिखितः शाकटायनानुवादो दृश्यते, यदि हि शाकटायन एव ऋक्-तन्त्रं प्राणेष्यत्, कथं स्वमतमेव स्वयमन्ववदिष्यत्? किञ्च अन्येषु प्रातिशाख्येषु शाकटायनमतं यद्यदुद्धृतम्—न तत्सर्वमिह निभाल्यते। तथा हि—प्रत्ययसवर्णे मुदि शाकटायनः (का. प्रा. ३।९) जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः (३।१२) परिण इति शाकटायनः (३।८७) इति कात्यायन आह। शषसेषु परेषु विसर्गः शाकटायनमते शषसरूपतामाप्नोति, शाकल्यमते तु विसर्ग एव तिष्ठति। तथा कपयोः परयोर्विसर्गस्य जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ भवतः शाकटायनमते, शाकल्यमते तु न भवतः। परि–उपसर्गोत्तरः 'नः' इति पदस्य नकारो णत्वमापद्यते शाकटायन-मते इति तदभिप्रायः। न तादृशं किमपि विधानमेषु सूत्रेष्वालोक्यते। 'प्रथमं शाकटायनः (प. १ सू. १६) इत्यादि च शौनकेनोक्तम्, अवसाने प्रथममेव व्यञ्जनं शाकटायनमतेन तिष्ठति, न तु तृतीयव्यञ्जनतामापद्यत इति तदभिप्रायः। तादृशमपि किञ्चिन्नेहालोक्यते। तस्मान्नेदं सूत्रं शाकटायनकृतमित्येव प्रतीयते।

भवतु वा केनचिच्छाकटायनेन प्रणीतमिदम्, पाणिनिपरिचितस्तु शाकटायनोऽयं नैव सम्भवति 'लङः शाकटायनस्यैव' इत्याद्यानां तिङन्तविधीनामत्र प्रसक्तेरेवाभावात्। माधवीयधातुवृत्तावुक्तपूर्वस्य क्षिणुधातोश्चाप्यत्राप्रसङ्गः। तस्मात् पाणिनिपरिचितः शाकटायनो वैयाकरण एव भवितुमर्हति, न प्रातिशाख्यकृत्। यत्तु पाणिनिपरभवत्वसाधकानि सूत्राणि प्रक्षिप्तानि, पश्चान्निवेशितानीत्युच्यते, तदपि प्रमाणाभावेऽनवधेयमेव भवति। भवतु वा प्रक्षिप्तरहितं किञ्चित्सूत्रं पाणिनेः पुरातनम्, तस्य किं रूपमिति ज्ञातुमद्य दुःशकमेव। अद्योपलभ्यमानन्तु पाणिनिपरभवमेवेति वयं साधयामः।

पुष्पसूत्रादीनि तु एतत्तुल्ययोगक्षेमाण्येवेति विस्तरभिया न पृथगालोच्यन्ते।

अथ शौनकीयम् ऋग्वेदप्रातिशाख्यं परं सन्दिह्यते। तस्य पाणिनिपूर्वभवत्वे परभवत्वे चोभयथापि युक्तयः सुदृढाः सम्भवन्ति। पूर्वभवत्वे तावद्युक्तीः प्रदर्शयामः—

१. अस्मिन् प्रातिशाख्ये सूत्रप्रक्रिया सुव्यवस्थिता न दृश्यते। कारिकारूपाणि प्रायेण सूत्राणि, पाणिनिकाले हि सूत्रक्रमस्य सुव्यवस्थितता जाता, तत एव पाणिनिपरभवेषु प्रातिशाख्येष्वपि सूत्रशैली पाणिनिसमानैव प्रतीयते। केवलं शौनकप्रातिशाख्य एव कारिकादिरूपेण विलक्षणता दृश्यमाना तस्य पूर्वभवत्वं ख्यापयति।

२. सूत्रनिबन्धनशैल्यामपि गौरवं दृश्यते। यथा हि पाणिनिना 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यादि परिभाष्य सप्तमीपञ्चम्यादिविभक्तिभिः संक्षेपेण स्वाभिमतोऽर्थो बोधितः, कात्यायनादिभिः प्रातिशाख्यकृद्भिश्चापि सोऽध्वानुसृतः। तथात्र शौनकीये न दृश्यते। तथा हि—'अकः सवर्णे दीर्घः' इति पाणिनिसूत्रसमानार्थकं सूत्रं तत्रालोच्यताम्—'समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम्' (२५।१५ सू.) उभे समानाक्षरे सस्थाने (सवर्णे) एकं दीर्घं स्वरं प्राप्नुत इति तदर्थः। सवर्णसंज्ञाया अकरणाद् 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यपरिभाषणात् स्वरसन्ध्यादिप्रकरणविभागाभावाच्च कियद्गौरवमत्र कर्तव्यमभूदिति पर्यालोच्यम्। तथैव 'आद्गुणः' इत्यस्य स्थाने च 'इकारोदय एकारमकारः सोदयः' (प. २। सू. १६) अत्र 'अग्रे'—इत्यस्य स्थाने 'उदय' शब्दः प्रयुक्तः। इकारः उदयः परो यस्मात्, तादृशः अकारः सोदयः—अग्रिमवर्णसहित एकारमापद्यते। अत्रापि तथैव गौरवं दृश्यते। 'इको यणचि' इत्यस्य प्रतिरूपकम् 'समानाक्षरमन्तःस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्' (२।२१) इति। स्वरोदयम्—स्वरपरम्, समानाक्षरम्—अष्टौ समानाक्षराण्यादितः, इति परिभाषितम् इ—उ वर्णादि, अकण्ठ्यम्—अकारभिन्नम्, स्वाम्—स्वसदृशीम्—अन्तःस्थाम्—अन्तःस्थवर्णरूपतामापद्यत इति। तत्रापि बाध्यबाधकभावाद्यविचारात् सवर्णदीर्घविषयेऽग्रे तन्निषेधः कृतः 'न समानाक्षरे स्वे स्वे' (२।२२) इति। पाणिनिप्रक्रिया तु यदि शौनकेन दृष्टाऽभविष्यत्, न तर्हि गौरवग्रस्तेयं परिपाटी तस्य सूत्रेष्वद्रक्ष्यत। ततः पाणिनिपूर्वभवत्वमस्य प्रतीयते'।

३. संज्ञापरिभाषमत्रात्यल्पम्, यदपि दृश्यते=तद्विलक्षणमेव, तस्मात्पाणिनेः प्रभावोऽत्र न कश्चिदपि दृश्यते।

४. अनुगमः प्रायेण न दृश्यते, शब्दस्वरूपग्राह्यमेव तानि तानि कार्याणि विशेषेण विहितानि दृश्यन्ते। यथा—'आविर्हविर्ज्योतिरिरित्युत्तरश्चेत्ककारः' (४।४७) इति विसर्जनीयस्य षत्वं शब्दस्वरूपग्रहणपुरःसरमेव निर्दिष्टम्। पाणिनेस्तु 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इत्यनुगमो दृश्यते। तथैव पाणिनिः 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' (८।३।५३) इत्यनुगमेन पतिशब्दे पदशब्दे च सर्वत्र विसर्गस्य सत्वमुक्तवान्। शौनकस्तु प्रातिशाख्ये—'अन्तःपादं विग्रहे दकारपूर्वः पतिशब्दे द्व्यक्षरे पुंस्प्रवादे' (४।४२) इति पतिशब्दे परे सत्वं विधायापि वास्तोरित्येतत्पतिशब्द उत्तरे (४।४६) इति पुनः पतिशब्द एव षष्ठता एव सत्वं विदधाति। पदशब्दे च परे पदानि गृहीत्वैव सत्वमनुविधत्ते (४।५९ सूत्रे) एवं प्रयोण सर्वत्रैव, तस्मात् पाणिनिप्रक्रिया नास्य परिचिता; पूर्वभवत्वादित्येवमनुमातुं शक्यते।

५. क्वचिच्छौनकेन सामान्येन विहिते पाणिनिकृतो विशेषनिर्देशोऽपि दृश्यते। यथा 'ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः' (१।६८) इति सम्बोधन ओकारस्य प्रगृह्यत्वं सामान्येन शौनकेनोक्तम्, प्रकृतिभावस्तु अग्रे 'प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्याः' (२।५१) इति इतिशब्दे पर एवोक्तः। पाणिनिना तु 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' इति प्रगृह्यसंज्ञैव इतिशब्दे पर एव कृता, तत्राप्यवैदिक इतिशब्दे इति सोऽयं विशेषः। तथैव 'सर्वैः प्रथमैरुपधीयमानः शकारः शाकल्यपितुश्छकारम्' (प. ४ सू. ४) इति शौनकेन वर्गप्रथमात्परस्य शकारस्य सर्वत्र छकारो विहितः। पाणिनिना तु 'शश्छोऽटि' इति झयः परस्य शस्य अटि पर एव छकारो विहित इति विशेषः। तस्माद्विशेषनिर्देशकः पाणिनिः परभव एव सम्भाव्यते इति।

अथ पाणिनेः पूर्वभवत्वे शौनकप्रातिशाख्यस्य परभवत्वे च युक्तयः प्रदर्श्यन्ते—

१. शौनकीये प्रातिशाख्ये मङ्गलार्थं पद्यं दृश्यत आदौ। पाणिनिपर्यन्तं सूत्रेषु मङ्गलाचरणपद्धतिर्न दृष्टा, अथशब्देन ओङ्कारेणैव वा सूत्रकृतां मङ्गलपूर्तिः। तस्मात्प्रातिशाख्ये श्रूयमाणं मङ्गलं सूत्राणामेषां पाणिनिपरभवत्वमेव ध्वनयतीति विचार्यं विमर्शकृद्भिः।

२. उपधासमासादिसंज्ञा अस्मिन् प्रातिशाख्येऽपि व्यवहृताः, 'व्यवपूर्वाण्यसमासयोगे' (१।९९) 'सहोपधो रिफित एकवर्णवद्' (१।६७) इत्यादिषु सूत्रेषु। न तु संज्ञाऽत्र पूर्वं विहितेति पाणिनीयसंस्कारेणैव तत्तत्संज्ञाव्यवहारोऽनुमीयत इति परभवत्वमस्य सिद्ध्यति।

३. 'उत्तरौ च द्वौ स्वरौ' (आकारमापद्येते) अनेन सूत्रेण 'अन्वेत वा उ' इत्यत्र प्रथमत आकार एव विधीयते, पाणिनीये तु पूर्वमायादेशं कृत्वा ततो

यकारलोप इति प्रातिशाख्ये लाघवं दृश्यते । यकारवकारलोपः पाणिनीये विकल्पितः, इह तु यत्र यकारादेर्लोपो न दृश्यते, तत्र 'वायवायाहि' इत्यादौ वकारागमो विहितः । एवमेव 'विसर्जनीयो अरिफितो दीर्घपूर्वः स्वरोदय आकारम्' इत्यादिना 'या ओषधीः' इत्यादौ विसर्गस्य स्पष्टमात्वमेत्र संक्षेपेण विहितम् । 'ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्' (२।२७) 'ओकारं ह्रस्वपूर्वः' (४।२१) इत्यादिभि-र्विसर्गस्यैवाकाररूपता ओकाररूपता च लाघवेन कृता । पाणिनीये तु विसर्गस्य सत्वम् रुत्वम्, यत्वमुत्वं वा, तदनु लोपः सन्धिर्वेति गौरवं दृश्यते । लाघवं चेदं परवर्तिन एव सम्भवति, न हि पूर्ववर्तिनो लाघवं दृष्ट्वा परवर्ती गुरुभूतमुपाय-मारचयेदिति प्रकृतिसिद्धम् । तस्मात् परभवत्वमेव प्रातिशाख्यस्यानुमीयते ।

४. पाणिनिना 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (६।१।११५) इति च्छान्दसप्रक्रिया-सूत्रे पररूपापवादं प्रकृतिभावं विदधता अकाराद्यकारवकारयोः परयोः प्रकृतिभावः प्रतिषिद्धः, तत्र पररूपं भवत्येवेति तदाशयः स्पष्टः । परम् 'व्रतैः सीक्षन्ते अव्रतम्' मित्रमहो अवद्यात्' इत्यादौ वकारपरेऽप्यकारे पररूपं न दृश्यते । तदिदं पाणिनी-यैर्बाहुलकादेव समाधेयम् । प्रातिशाख्ये तु यकारवकारयोर्लघुत्वं यत्र, तत्रैव पररूपम् इति विशेषं ब्रुवता 'लघुयकाराद्यक्षरं परं चेदिति' (२।३५) सूत्रेण उक्तोदाहरणयोर्वकारस्य संयुक्तत्वेन संयोगपरत्वेन च गुरुत्वं स्वपरिभाषयाश्रित्य पररूपसमाधानं तत्र सम्यक् कृतम् । यदि पूर्वमेत्र पाणिनिनेदं दृष्टं स्यात्, तर्हि न स 'अव्यपरे' इति सामान्येन ब्रूयात् । प्रत्यक्षं विधानं दृष्ट्वा नानवधानं सम्भवतीति । तस्मात्परभवत्वमेव प्रातिशाख्यस्यानुमीयते ।

५. पाणिनिना 'शश्छोऽटि' इति झयः परस्य शकारस्य अटि पर एव छकारो विहितः । परं 'वज्रिन् छ्नथिहि' इत्यादावपि शकारस्य छत्वमाम्नायते । सोऽयं न झयः परः, न वाट्परकः । तदर्थं प्रातिशाख्ये शौनकीये 'छकारं तयोरुदयः शकारः' (४।१२) इति ञकारचकारयोः परस्य 'शकारस्य परवर्ण-नियममनाश्रित्यैव छकारो विहितः । यदि हि पाणिनिः पूर्वमीदृशं विधानमद्रक्ष्यत्, तर्हि अवश्यं 'छ्नथिहि' इत्यादिप्रयोगसिद्ध्यर्थं स्वयमपि यत्नमकरिष्यत् । तेन परभवमेव प्रातिशाख्यमनुमीयते ।

६. अथेदमेकं विसर्गस्य सत्वविधायकं सूत्रं पाणिनेः शौनकस्य च बहंशे संवदद् दृश्यते—

कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः (पा० ८।३।५०)

करं कृतं कृधि करत्करित्यपि परेषु (शौ० प्रा० ४।४३)

अत्र पाणिनीये 'करति' इति पदमधिकम्, न तत्प्रातिशाख्ये दृश्यते । प्रातिशाख्ये च 'करम्' इत्यधिकम्, न तत् पाणिनीये सूत्रे दृश्यते । अदितेः

पर्युदासश्च पाणिनिना प्रोक्तः, न तु शौनकेन। तत्रास्माकं पूर्वोक्ता युक्तिरत्राप्यालोच्या पाणिनेर्योंऽशः प्रातिशाख्ये त्यक्तः, स तु ऋक्शाखायामनुपलम्भादिति शक्यसमाधिः। यस्तु प्रातिशाख्यांशः पाणिनिना त्यक्तः, तत्र समाधानं न वक्तुं शक्यम्। पाणिनीयस्य सर्वशाखासंग्राहकत्वात्। 'सहस्करम्' इत्याद्याः प्रयोगाः कुतः पाणिनिनोपेक्षिताः—इति नैतद्युज्यते समाधातुम्। तस्मात् परभवेन शौनकेनैव पाणिनीयं सूत्रमनूदितम्, तत्र च योंऽशः स्वशाखाया अनुपयुक्तः स परित्यक्तः, यश्चांशः स्वशाखीयोऽपि पाणिनेरनवधानेन त्यक्तोऽभूत् स संगृहीतः—इत्येव कल्पना ज्यायसी। ततश्च परभवत्वमेव प्रातिशाख्यस्य स्पष्टं सिद्ध्यति।

७. अथेदमतिदृढं प्रातिशाख्यस्य परभवत्वे प्रमाणम्—दूडाशः, दूणाशः, दूढ्यः, इत्यादीनां सिद्धये पाणिनेर्न दृश्यते प्रयत्नः। वार्तिककृता तदर्थम्—'दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च' इत्युपसंख्यातम्। शौनकीयप्रातिशाख्ये तु दृश्यते तदर्थं सूत्रम् 'दूढ्यदूणाशदूलभप्रवादा दुर् दूभूतमक्षरं तेषु नन्तृ (प. ५।५५) यदि हि सूत्रमिदं पाणिनिना दृष्टं स्यात्, कथं तर्हि तेनेमे प्रयोगा उपेक्षिताः स्युः। तस्मादनवधानेनैव विसृष्टा इमे प्रयोगाः, वार्तिककारेण प्रातिशाख्यकारेण च पश्चात् संगृहीता इत्येव सम्भवति।

८. तथैवं 'ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुरपदान्तभाजम्' (प. ६।५४) इति शौनकीयसूत्रम्। तच्चेदं 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इति वार्तिकस्यैवानुकृतिः। न हि पाणिनिसूत्रेष्विदं दृश्यते। यदि हि पूर्वस्थितमिदं पाणिनिना दृष्टं स्यात्, तर्हि नैवोपेक्षितं स्यात्। तस्मात्परभवत्वमेव प्रातिशाख्यस्य दृढीभवति।

९. ऋकारात्परस्यापि णत्वविधानम् 'न मध्यमैः स्पर्शवर्गैर्व्यपेतम्' इति निषिद्धव्यवधानपरिगणनं च कात्यायनीये प्रातिशाख्य इवात्रापि दृश्यते। ततश्च तत्रोक्तयुक्त्यैवास्यापि परभवत्वमेव सिद्ध्यति।

१०. शौनकीये व्याडेनम दृश्यते। व्याडिश्च पाणिनिसूत्राणां व्याख्यातेति सुप्रसिद्धा किंवदन्ती। ततश्च व्याडेरर्वाक्तनः शौनकः कथं न भवेत् पाणिनेरर्वाचीनः।

ता एताः पाणिनिपरभवत्वे युक्तयः। अत्र परभवत्वे उपात्ता युक्तय एव दृढाः प्रतीयन्ते। पूर्वभवत्वयुक्तयस्तु बाहुल्येन प्रातिशाख्यसामान्योपक्रम एव समाहिता अस्माभिः। कारिकाभिः सूत्राणां प्रणयनन्तु पाणिनेरुत्तरकाले एव प्रायेण दृश्यते। स्वयं वार्तिककृता कात्यायनेनैव सूत्ररूपाण्यनेकानि वार्तिकानि श्लोकैरेवोक्तानि। सेयं कात्यायनस्य शौनकस्य च समाना शैली न पाणिनिपूर्वभवत्वं साधयितुमीष्टे—इत्यादि समाधेयम्। भाष्यकार उव्वटश्चापि प्रातिशाख्यस्यास्य पाणिनीयशेषत्वमेवाह प्रयोजनकथनावसरे—'तथा व्याकरणे यत्सामान्येन, यथा 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पाणि. ६।३।१३३) इत्यादि तद्व्यवस्थापयितुमिद-

मारभ्यते। न सर्वत्रैतानि पदान्यस्यां शाखायां दीर्घाणि भवन्ति, इति।...एवं शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैर्यत्सर्वासु शाखासु सामान्येन लक्षणमुच्यते, तदेवास्यां शाखायामनेन व्यवस्थाप्यते' इत्यादि। आथर्वणप्रातिशाख्ये तु स्वयं सूत्रकृतैवार्थोऽयमुपन्यस्तः 'एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्येन' (अथ. प्रा. १।२) इति। सामान्येन लक्षणेन पाणिन्यादिविहितेन यद्विकल्पप्राप्तम्, तदेवमस्यां शाखायां व्यवस्थितं भवतीति तदर्थः।

यदि तु व्याडिरयं पाणिनेः पूर्वभवोऽभिमन्यते, पाणिनिसूत्रव्याख्यातृत्वं तस्य नाद्रियते, अन्यो वा व्याडिः कश्चन पाणिनेः पूर्वभवः स्वीक्रियते। प्रातिशाख्ये चास्मिन् बहवोंऽशा अर्वाक्तनाः पर्यायोजिता अनुमीयन्ते, दृष्टा अप्यत्यल्पप्रयोगाः शब्दाः पाणिनिना संक्षेपपक्षपातेनोपेक्षिता एवेति च स्वीक्रियते, तर्हि स्वीक्रियतां नाम प्रातिशाख्यस्य पूर्वभवत्वमपि। इदानीन्तु यस्मिन् रूपे शौनकीयं प्रातिशाख्यं पश्यामः—तदिदं रूपं पाणिनेः परभवमेवेति निर्णीतमस्माभिः। भवेयुरवश्यं पाणिनेः पूर्वमपि प्रातिशाख्यानि कानिचित्, न तानीदानीं दृष्टिविषयतां कस्याप्यायान्ति। यानि त्वद्यत्व उपलभ्यन्ते व्याकरणानि प्रातिशाख्यानि वा तेषु सर्वतः पूर्वभवो भगवान् पाणिनिरेवेत्यस्माकं बुद्धौ निर्विवादम्। अत एव वैदिका अपि ब्रह्मयज्ञे वेदाङ्गेषु 'वृद्धिरादैच्' इति पाणिनेरादिसूत्रमेवाधीयते, न तु प्रातिशाख्यादीनाम्। तस्मात् पाणिनेरभ्यर्हितत्वं सर्वैः स्वीकृतमिति निर्विवादम्। तत्र च प्राचीनत्वमपि मुख्यो हेतुरस्त्येवेति।

निरुक्तकृतः पौर्वापर्यम्।

अथ निरुक्तकृतो भगवतो यास्काचार्यात् पाणिनिर्भगवान् पूर्वभवः परभवो वेत्येतदपि कालनिर्णयप्रसङ्गे विचार्यमेव। अत्र विषयेप्युभयथा प्रतिपत्तिरस्ति, उभयत्र च सम्मान्या युक्तयः सन्ति। श्रीसत्यव्रतसामश्रमिमहाभागः स्वीये निरुक्तालोचने भगवन्तं पाणिनिं यास्काद् द्वित्रशताब्दीपूर्वभवमङ्गीकरोति। तस्य चैता युक्तयः—

१. पाणिनेः 'परः सन्निकर्षः संहिता' इति सूत्रं निरुक्ते प्रथमेऽध्याये षष्ठे पादे (१७ क.) उद्धृतं दृश्यते इति सर्वतः प्रधानतमो हेतुः। अत्र केचन शङ्कन्ते 'पाणिनिनैव निरुक्तादुद्धृतमिति कुतो न मन्यते? निरुक्तकृता स्वयं तल्लक्षणं संहितायाः कृतं स्यात्, तच्च सम्यग् ज्ञात्वा पाणिनिनैवोद्धृतं स्यादित्यपि संभाव्यत इति। परं नेदं ग्रन्थपर्यालोचनया सिद्ध्यति। निरुक्तकारो हि न तत्र संहितां लक्षयितुं प्रवृत्तः। किन्तु परेषां सम्मतिरेव तेन तत्रोद्धृतेति ग्रन्थपर्यालोचनया सिद्ध्यति। निरुक्तशास्त्रस्य प्रयोजनानि तत्र यास्केन वर्ण्यन्ते, तेष्विदमपि तेनोपात्तम् 'अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते' इति। निरुक्तेन तत्तत्पदस्यार्थ-

विज्ञाते पदविभागो वेदमन्त्रेषु सम्भवति, अर्थज्ञाने च निरुक्तं प्रधानं सहायकमिति पदविभागोऽपि निरुक्तसाध्य इति तदाशयः। 'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' इत्यस्मिन् मन्त्रे अवसायेति अवसशब्दस्य चतुर्थ्येकवचनम्, तस्मादत्र पदकारैरवग्रहो न क्रियते। 'अवसाय अश्वान्' इत्यत्र अवोपसृष्टः स्यतिर्ल्यबन्त इति अवेत्युपसर्गपदेऽवग्रहः क्रियते। विनार्थज्ञानं कथमिदं विज्ञायेत–कुत्र ल्यबन्तं कुत्र वा चतुर्थ्यन्तमिति। एवमेव एकरूपमेव 'निर्ऋत्या' इति पदं 'दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम' इत्यत्र 'निर्ऋत्याः' इति षष्ठ्यन्तं मन्यते, 'परो निर्ऋत्या आचक्ष्व' इत्यत्र तु 'निर्ऋत्यै' इति चतुर्थ्यन्तं विद्यते। तदिदं विनार्थज्ञानं कथं सम्भवेत्, कुत्र षष्ठ्यन्तं कुत्र वा चतुर्थ्यन्तमिति। एवं प्रयोजनमुक्त्वा अत्रैव 'परः सन्निकर्षः संहिता' इति 'पदप्रकृतिः संहिता' इति सूत्रद्वयमुद्धृतम्। तत्र प्रथमं पाणिनीये, द्वितीयं च व्यत्ययेन 'संहिता पदप्रकृतिः' इति ऋक्प्रातिशाख्ये लभ्यते। अग्रे च निरुक्ते 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' इत्युक्तम्। अत्र भाष्यकृद् दुर्गाचार्यः 'पदविभागप्रसक्तमधुना संहितालक्षणमाह' इति सूत्रद्वयमवतारयामास। 'पदप्रकृतिः संहिता' इति चैवं व्याचष्टे 'अत्र द्वेधा वर्णयन्ति–पदानां या प्रकृतिः सेयं पदप्रकृतिः संहिता, संहितातो हि पदानि प्रक्रियन्ते, तस्माद्विकारः पदानि। अपरे पुनः पदानि प्रकृतिर्यस्याः सेयं पदप्रकृतिः। पदान्येव हि संतन्यमानानि संहिता भवति। तस्मात्पदान्येव प्रकृतिः, विकारः संहितेति। सर्वेषां चरणानां शाखान्तराणाम्, यानि पार्षदानि—प्रातिशाख्यानि तानि पदप्रकृतीनि, पदं तेषु संहितायाः प्रकृतित्वेन चिन्त्यते। तेषामपि स एव समय इत्यभिप्रायः'। अग्रे च श्रीदुर्गाचार्येण संहितायाः प्रकृतित्वं समर्थ्य 'समयमात्रमितरत्–स्वशास्त्रनियतमेव' इत्याद्युपसंहृतम्। एवं संहितालक्षणमप्रसक्तं प्रसङ्गोपात्तमेवेति व्याख्याकृतो मन्यन्ते। अप्रसक्तं च निरुक्तकृत् स्वयं लक्षणं ब्रूयाद्–इत्यपेक्षया परस्य लक्षणमुद्धरेदित्येव समुचितं प्रतिभाति। पाणिनेः शौनकस्य च सूत्रे निरुक्तकृतोद्धृते इत्येव कल्पना सम्यग् भवति।

वयन्त्वत्र ब्रूमः—न केवलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या अप्रकृतकथनमेव यास्कस्य मन्तव्यम्—अपि तु प्रसक्तेन सुसंगतमेवैतत्। तथा हि—पदविभागो योऽयं निरुक्तस्य प्रयोजनतयोपन्यस्तः, तत्रेयं शङ्का समुत्तिष्ठते–यन्माभूत्पदविभागः, किं नश्छिन्नम्, संहितायां ये मन्त्रा यथा पठिताः, तेषां तथैव पाठेन वयं कृतार्थाः। पठ्यमानायाः संहिताया एवादृष्टोत्पादकत्वादिति। तत्रेदं यास्कस्योत्तरम्–पदानि हि संहितायाः प्रकृतिः, तान्येव मूलभूतानि। पदान्येव हि संहन्यमानानि संहिता भवति। यदि नाभविष्यन् पदानि–कथमियं संहिता प्रादुर्भवेत् तस्मात् पदानामुपेक्षा न कर्तुं युज्यते इति। अस्यैव स्वपक्षस्य समर्थनाय तेन पाणिनेः शौनकस्य च लक्षणे उद्धृते। पदानामतिशयितं सन्निधानमेव संहितात्वेन पाणिनिना मन्यते, शौनकेनापि च पदानि प्रकृतिर्यस्याः सा संहितेत्युच्यते। सर्वाणि च प्रातिशाख्यानि पदानां

प्रकृतित्वं ब्रुवत इति । तदित्थं ग्रन्थस्य सुसङ्गतिः । अन्यदीयं सूत्रद्वयमेव तत्रोद्धृतमिति चास्मिन् पक्षे सुस्पष्टम् । भाष्यकृद् दुर्गाचार्यः पाठमात्रेणादृष्टफलोत्पत्तिवादी आधुनिक इति तेन संहितायाः प्रकृतित्वं बलादत्र ग्रन्थे समर्थितम् । यास्कस्तु अर्थपक्षपातीति पदानामेव प्रकृतित्वं स ब्रवीति—इति युक्तं प्रतिभाति । ततश्च पाणिनेः तस्मादपि परभवस्य शौनकप्रातिशाख्यस्य सूत्रस्य चोद्धरणात् पाणिनिपरभवत्वं तस्य सुतरां सिद्धम् ।

२. निरुक्ते (अ. ४ ख. २५) अस्याः इति अस्य इति च पदे प्रोक्तं यास्केन 'अस्या इति वास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे, अनुदात्तमन्वादेशे, तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्' । इदं च 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' इति पाणिनिसूत्रसंवादि, तदनुकरणमेव सूत्रयतीति पाणिनिपरभवत्वमेवास्यानुमीयते ।

३. पाणिनिप्रोक्ताः कृत्तद्धितसमासादिसंज्ञाः, उपधादिसंज्ञाश्चापि निरुक्तकृता व्यवहृताः पाणिनिपरभवत्वमेव तस्य ख्यापयन्तीति ।

४. 'न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके' (अ. १) इति यद्यास्केन सर्वाणि नामान्याख्यातजानि न सन्तीति वैयाकरणमतमुपन्यस्तम्—तत्पाणिनेरेव सुस्फुटं दृश्यते, तेनैव 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति सूत्रयता स्फुटं व्युत्पन्नाऽव्युत्पन्नद्विविधप्रातिपदिकसत्ता स्वीकृतेति ।

५. 'आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम्' (निरु. २।७।६) इति यास्कोक्तिरपि पाणिनिनान्वाख्यातां यङ्लुगन्तप्रक्रियां स्मारयन्ती परभवत्वमेव ख्यापयति ।

श्रीसत्यव्रतसामश्रमिमहाशयस्तु निरुक्ते बहुत्र यद् व्याकरणपदं वैयाकरणपदं च व्यवह्रियते, तत्सर्वमेव पाणिनिपरभवत्वख्यापकं यास्कस्येति विस्तरेण प्रतिपादितवान् । पाणिनिपूर्वभवस्य कस्यापि व्याकरणस्याभावादिति । तच्चैतदस्माभिर्दृढतया पाणिनेः पूर्वं व्याकरणान्तराणां सत्तां समर्थयमानैर्निराकृतमेव विस्तरेण । अत्रापि च प्रथमां युक्तिं विहायान्याः शिथिलप्राया एव । अस्याः, अस्य, इति पदद्वयं वेदेषु उदात्तमनुदात्तं च दृश्यते । तदेतन्निरुक्तकृता स्पष्टीकृतम्—तदेव च पाणिनिनानूदितमित्यपि सम्भवति । नह्यत्र विनिगमकं पश्यामः—पाणिनिना यास्कमतमनूदितं वा यास्केन पाणिनिमतमनूदितमिति । उभयथाप्येतत् सम्भवति । प्रत्युत उदात्तानुदात्तयोर्लक्षणमिहार्थप्रधानं यन्निरुक्तकृतोक्तम्—तत्पाणिनीयेन विरुद्ध्यते, तेन ध्वनिकृतयोरेवोदात्तत्वानुदात्तत्वयोः स्वीकारात् । तथैव कृत्तद्धितादिसंज्ञाः पूर्वेषु व्याकरणेष्वपि भवेयुः । ता एव निरुक्तकृता व्यवहृताः स्युरित्यपि सम्भाव्यत एव । पूर्वैरपि वैयाकरणैर्नाम द्वैविध्येन न स्वीकृतमिति को नाम वक्तुमीष्टे, तेषां व्याकरणानां यावत् परिचयो न भवेत् । आपनीफणदिति चर्करीतवृत्तमिति तु प्रत्युत विपरीतम्—चर्करीतमिति नाम प्राचीनेषु व्याकरणेष्वेव प्रसिद्धमासीत्—इति

स्फुटं पूर्वमसाधयामेति। केवलं संहितालक्षणस्योद्धरणमिति युक्तिरेवात्र प्रबला। 'दृष्टं वरमदृष्टतः' इति न्यायश्चावश्यं श्रीसामश्रमिणोऽनुकूलः। पाणिनीये ह्युक्तं सर्वं स्पष्टं दृश्यते—अन्येषु तु केवलं सम्भवमात्रमुच्यत इति पाणिनिपरभवत्वस्वीकारे दृष्टमूला कल्पना स्यादिति।

अथ यास्कस्य पूर्वभवत्वे युक्तय आलोच्यन्ताम्—

१. महाभारते यास्कस्य तदीयनिरुक्तस्य च नाम दृश्यते, पाणिनेस्तु न दृश्यते। तेन यास्कस्य महाभारतसंहितापेक्षयापि पूर्वभवत्वं स्पष्टं सिद्ध्यति।

यास्को मामृषिरव्यग्रोऽनेकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम्॥
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्॥

(महा. शा. प. ३४२ अ. ७०, ७१ श्लो.)

न च तथाविधप्रसङ्गाभावात् पाणिनेर्नाम तत्र नायातमिति शक्यं वक्तुम्। यथा यास्केन 'शिपिविष्ट' नामनिर्वचनं कृतम्, तथा पाणिनिनापि 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इत्याद्यनेकधोक्तमेव। तत्र अर्जुनेन सह मां प्रकीर्त्य पाणिनिरेवं सिद्धिं लब्धवानित्यादिस्तद्वत्प्रसङ्गोऽस्त्येव। भगवतः शङ्करस्य बहुधा माहात्म्यवर्णनं महाभारते, तत्रैव 'पाणिनयेऽभिनवं व्याकरणं दत्तम्' इत्यादि—कीर्तनस्यापि प्रसङ्गोऽस्त्येव, तथापि न पाणिनेर्नाम तत्र स्मर्यते। प्रत्युत 'महान्व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु' (पा. ६।२।३८) इति सूत्रे पाणिनिनैव महाभारतशब्दे महच्छब्दस्य प्रकृतिस्वरो विहितः। ततश्च महाभारतस्य परिचयोऽस्त्येव पाणिनेरिति स्पष्टं सिद्ध्यति। अहो! यां महाभारतसंहितां पतञ्जलितोऽप्यर्वाचीनां सिषाधयिषति सामश्रमिमहाशयः, सा पाणिनितोऽपि प्राक्तनी सिद्ध्यति। महाभारतसिद्धानि युधिष्ठिरादिनामानि कुरुवृष्णिप्रभृतीनां वंशाश्चानेकधा कीर्तितान्येव पाणिनिना स्वीयेषु सूत्रेषु। तेनापि महाभारतपरिचयः पाणिनेः प्रसिद्ध्यत्येव। अन्या काचिदासीत् सा महाभारतसंहितेति तु दुराग्रहमात्रम्। 'इष्टं वरमदृष्टतः' इति स्वयमेवाम्रेडितोऽनेकधा न्याय इह विस्मियत इति किमन्यदाग्रहातिरिक्तं शक्यं वक्तुं कारणम्। आस्तां नामाप्रकृतम्। पाणिनेर्यास्कादर्वाचीनता त्वेवं सुस्पष्टं सिद्ध्यतीत्येव नो वक्तव्यम्।

२. मन्त्राणामर्थप्रतिपादकत्वमस्ति, पाठमात्रेणादृष्टोत्पादकत्वं वेत्यस्ति निरुक्ते मीमांसादर्शने च विचारः। तयोरत्यर्थं साम्यं दृश्यते। तथाहि—

निरुक्तस्य प्रथमेऽध्याये पञ्चमे पादे (१५ खण्डे) मन्त्राणामर्थाभावसाधकपूर्वपक्षवाक्यानि—	मीमांसादर्शनस्य प्रथमाध्याये प्रथमपादे मन्त्राणामर्थाभावसाधनाय पूर्वपक्षसूत्राणि निरुक्तसमानार्थानि —
(१) नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ।	(१) वाक्यनियमात् । (मी.सू.१।२।३२)
(२) अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते उरुप्रथस्वेति प्रथयति, प्रोहाणीति प्रोहति ।	(२) तदर्थशास्त्रात् । (मी.सू. १।२।३१)
(३) अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति–ओषधे त्रायस्वैनम् । स्वधिते मैनं हिंसीरित्याह हिंसन् ।	(३) अचेतनेऽर्थबन्धनात् । (१।२।३५)
(४) अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति— (१) एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः, असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् । (२) अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे । शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः । इति ।	(४) (१।२।३६ एव संगृहीतः) अविद्यमानवचनात् (१।२।३४) इति वा
(५) अथापि जानन्तं संप्रेष्यति 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इति ।	(५) बुद्धशास्त्रात् (१।२।३३)
(६) अथाप्याह अदितिः सर्वमिति । 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति' तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।	(६) अर्थविप्रतिषेधात् । (१।२।३६)
(७) अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति–'अम्यग् यादृश्मिन् जारयापि काणुका' इति ।	(७) अविज्ञेयात् (१।२।३८)

अत्र पूर्वपक्षे जैमिनेः सूत्रद्वयमधिकं दृश्यते—'स्वाध्यायवदवचनात् (१।२।३७) इति, अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् (१।२।३९) इति च । नैतद्द्वयप्रतिरूपकं यास्कीये पूर्वपक्षे लभ्यते । यथा कश्चिदध्येता क्वचिद् —'अवघातमन्त्रमभ्यस्यति, तत्रैव चोपदिष्टा काचिद् योषिद् मुशलेन व्रीहीन् अवहन्ति । तत्र समन्त्रस्तस्या योषितोऽवघातस्य प्रकाशक इति न केनापि शक्यते वक्तुम् , तथैव यज्ञकालेऽपि अवघातसमये प्रयुज्यमानो मन्त्रो नावघातं प्रकाशयतीति (१।२।३७) पूर्वसूत्रार्थः । यदि मन्त्राणामर्थो मन्येत, तर्हि अनित्यानां देशनगरमनुष्यादिनाम्नां तत्र श्रवणा-

द्वेदानामनादिता भज्येत, तस्मान्नार्थप्रकाशका मन्त्रा इत्येवाभ्युपगन्तव्यमिति (१।२।३९) द्वितीयसूत्रार्थः ।

अथैतदुत्तरमपि पर्यालोच्यतामुभयत्र—निरुक्ते प्रथमाध्याये (पञ्चमपादे) (१६ खण्डे)	मीमांसादर्शने प्रथमाध्याये द्वितीयपादे
(स्वतन्त्रं साधनम्)	(स्वतन्त्रं साधनम्)
अर्थवन्तः शब्दसाम्याद्, एतद्वै यज्ञस्य	अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः (४०)
समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् ।	लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् (५१)
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिरिति ।	ऊहः (५२) विधिशब्दाच्च (५३) अविरुद्धं परम् (४४)
पूर्वपक्षस्योत्तराणि	
(१) यथो एतन्नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति, लौकिकेष्वप्येतद्—यथेन्द्राग्नी, पितापुत्राविति ।	
(२) यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते इति, उदितानुवादः स भवति	गुणार्थेन पुनः श्रुतिः (४१) परिसंख्या (४२) अर्थवादो वा (४३)
(३) यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीति आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत ।	अभिधानेऽर्थवादः (४६)
(४) यथो एतद्विप्रतिषिद्धार्था भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतत्—यथा—असपत्नोऽयं ब्राह्मणः, अनमित्रो राजेति ।	गुणादविप्रतिषेधः स्यात् (४७)
(५) यथो एतद्—जानन्तं संप्रेष्यतीति जानन्तमभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राहेति ।	संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् (४५)
(६) यथो एतद् अदितिः सर्वमिति । लौकिकेष्वप्येतद् यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति ।	गुणादविप्रतिषेधः स्यात् (४७)
(७) यथो एतदविस्पष्टार्था भवन्तीति नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति । यथा—	

जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति । इति ।

सतः परमविज्ञानम् । (४९)

उक्तश्च अनित्यसंयोगः (५०) परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् (१।१।३१) विद्यावचनमसंयोगात् (४८)

अत्रापि विवेचकैर्विद्वद्भिः स्फुटं प्रतीयेत, यद् नेदं सादृश्यं यादृच्छिकम्, अपि तु एकस्य पूर्वोत्तरपक्षावपरेणानुकृतौ । तत्र केन कस्यानुकृतिः—इति विचारे मीमांसादर्शने निरुक्तस्यानुकृतिरित्येव बुद्धावुपारोहति । बहुपूर्वजत्वं च निरुक्तकृतः सिद्ध्यति । तथा हि—निरुक्तकृद्वेदानामृषिप्रणीतत्वमभिप्रैति 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः, उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च' इति प्रथमाध्यायान्ते स्फुटीकृतस्तेन स्वाभिप्रायः । एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति (अ. ७) यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति (अ. ७) 'द्वयोर्मासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्' (अ. ७) 'त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ' ( ) इत्यादिषु च बहुत्र ऋषिकृतत्वमेव मन्त्राणां ध्वनितम् । अत एव वेदेषु नास्तीतिहास इत्यपि विचारस्तस्य नोदेति स्म, तत एव 'इत्यैतिहासिकाः' 'इति नैरुक्ताः' इत्यैतिहासिकपक्षोऽपि तेन तत्र तत्रानूदितः, 'देवापिः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः' (अ. २) इत्यादौ च स्फुटमितिहासपरत्वेनैव मन्त्रव्याख्यानं कृतम्, 'तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति' इत्यत्र च स्फुटमितिहासप्रतिपादकता ब्रह्मणो वेदस्योक्ता । तत एव चात्र मन्त्राणामनर्थकत्वसाधनपक्षे अनित्यानां देशनगरमनुष्यादीनां वर्णनेन वेदस्यानित्यता प्रसज्येतेति शङ्का तेन नोद्भाविता । जैमिनिस्तु बौद्धादीनां निराकरणाय वेदानामपौरुषेयत्वपक्षमभ्युपागमदिति वेदेष्वितिहाससत्तायां स्वीकृतायामनित्यत्वप्रसक्तिं दोषत्वेन पूर्वपक्षेऽगणयत्, उत्तरपक्षे च श्रुतिसामान्यमात्रं प्रब्रुवन् तत्समाधानं चकार । तेन निरुक्तकाले अपौरुषेयत्ववादो न दृढं शिष्टसंमतोऽभूत्, मीमांसादर्शनकाले तु तस्यैवासीत्प्रसार इति बहुपूर्वजत्वं निरुक्तकृतः सिद्ध्यति । तथैव अल्पबुद्धित्वाज्जनानां प्रत्यवघातं गणयित्वा मन्त्रघोषणप्रक्रिया जैमिनिकाले प्रचलितेति 'स्वाध्यायवदवचनाद्' इति पूर्वसूत्रेण सिद्ध्यति, यथा ह्यद्यत्वेऽपि यावदयं डिण्डिमघोषस्तावदहं मन्त्रमिमं भूयो भूयो रटिष्यामीति दृश्यते मन्दबुद्धीनामभिनिवेशः । निरुक्तकाले तु नासीत्प्रचलिता प्रक्रियेयम्, तत एव पूर्वपक्षे नैतदपि संगृहीतं तेनेति शक्यमनुमातुम् । एवमेव 'स्वधिते मैनं हिंसीरित्याह हिंसन्'

इत्युक्त्या केशच्छेदनेऽपि हिंसासंभावना निरुक्तकृत्समये आसीत्, तत एव 'आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत' इति समाधानमपि तेन कृतम्। मीमांसायां तु 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इत्यादौ क्षुरस्य संशोधनमेव दोषत्वेन पूर्वपक्षीकृतम्, न तु केशच्छेदने हिंसायाः संभावना कृता। एवमेव मन्त्राणां नियतानुपूर्वीकत्वम् 'इन्द्राग्नी', पितापुत्रौ' इत्यादिलौकिकप्रयोगसाम्येनैव निरुक्तकृता कृतोत्तरम्, जैमिनिना तु नियतानुपूर्वीकपाठे अदृष्टमपि स्वीकृतम्—इति अदृष्टवादस्य प्रत्यग्रु प्रचारो मीमांसाकाले सिद्ध्यति, न तु निरुक्तकाले। अन्यदप्यालोच्यतां सुधीभिस्तत्र तत्र। तदित्थं निरुक्तकृन्मीमांसादर्शनकर्तुर्बहुपूर्वजः स्फुटं सिद्ध्यति। पाणिनिस्तु उत्तरमीमांसाप्रणेतुरपि परभव इति 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' इति सूत्रदर्शनाद् बहवोऽभिप्रयन्ति, स्वयं सामश्रमिमहाशयोऽपि च उत्तरमीमांसाप्रणेतुः परभवमेव पाणिनिमभ्युपगच्छति, उत्तरमीमांसा चेयं पूर्वमीमांसासमकालिकी परभवा वेति निरुक्तकृतः पाणिन्यपेक्षया बहुपूर्वजत्वमनयान्तरङ्गपरीक्षया सिद्ध्यति। किं च पूर्वमीमांसायाम् 'आख्या प्रवचनात्' इति ऐतरेयतैत्तिरीयशाकलवाष्कलादिसंज्ञाः प्रवचनादेव जाता न तु विरचनात्—इति स्वमतं प्रतिपादितम्—तदेवानुसृत्य पाणिनिनापि 'कृते ग्रन्थे' इत्यधिकारात् पृथक् 'तेन प्रोक्तम्' इति वेदविषयकोऽधिकारः कृत इत्यनुमीयते। भाष्यकृतापि कृतोऽत्र बहुतरो विचार इति तेनापि मीमांसापरभवत्वमेव पाणिनेः सिद्ध्यति। ततश्च निरुक्तस्य मीमांसातोऽपि पूर्वभवस्य पाणिनिपूर्वजत्वे न संदेहलेशः।

(३) वैदिकी भाषा स्वसूत्रेषु 'छन्दः' पदेन पाणिनिना व्यवहृता, निरुक्तकृता तु 'नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्' 'उभयमन्वध्यायम्' (अ. १) इत्यादौ अध्यायपदेन सा भाषा व्यवहृता। तदनेन निरुक्तकाले वैदिकी भाषा अध्येतव्यभाषाऽऽसीत्, न तु छन्दःपदं तस्मिन् काले भाषाबोधकं प्रचलितम्, पाणिनिकाले तु च्छन्दोबाहुल्याच्छन्दःपदं वैदिकभाषायां प्रचलितमिति ततोऽपि बहुपूर्वजत्वं यास्कस्यानुमीयते।

(४) पाणिनीयपरिभाषाः प्रायेण निरुक्तकृत व्यवहरति। तद्धितशब्दो यत्र तेन क्वचिद्व्यवहृतः, स तद्धितप्रत्ययान्ताभिप्रायेण, प्रत्ययाभिप्रायेण तु 'तद्धितप्रत्ययस्थाने उपबन्धशब्दो व्यवहृतः, तथा हि—अध्वर्युशब्दनिर्वचने 'अपि वा अधीयाने युरुपबन्धः' अध्वरशब्दादध्येत्रर्थे युप्रत्यय इत्यर्थे उपबन्धशब्दः। 'सीमतः' इति शब्दव्याख्यायां च 'सीमेत्येतदनर्थकम्, उपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणम्, सीम्नः—सीमतः—सीमातः—मर्यादातः' इहाप्युपबन्धशब्द एव तद्धितप्रत्ययं बोधयितुमुपात्तः। तथैव कृत्प्रत्ययं बोधयितुं 'नामकरण' शब्दं स प्रयुङ्क्ते—'कक्षो गाहतेः, क्स इति नामकरणः' 'क्षीरं क्षरतेर्घसेर्वा, ईरो नामकरणः' इत्यादिषु बहुत्र द्रष्टव्यम्। णिजन्तसनन्तयङ्लुगन्तादीन् प्रयोगान् सूचयितुं

'कारित' 'चिकीर्षित' 'चर्करीता'दिपदान्येव तेन व्यवहृतानि। सर्वत्र प्रत्ययव्यवस्थामपि निरुक्तकृन्न स्वीकरोति, बहुत्र अनेकान् धातूनेव संयोज्य नामानि निर्वक्ति। नैतत्सर्वं पाणिनेरुत्तरभवस्योपपद्यत इति पाणिनिपूर्वभवत्वमेव तस्य सम्भाव्यते। यास्तु पाणिनीये दृष्टाः संज्ञास्तेन व्यवहृताः, ता व्याकरणान्तरेऽपि पाणिनेः पूर्वभवे भवेयुरित्येव सम्भावयितुमापतति। पाणिनिकृतानि निर्वचनानि च प्रायेण निरुक्ते नानुकृतानि। विलक्षणान्येव तु तत्र निर्वचनानि प्राप्यन्ते। तथा हि—आङ्पूर्वाच्चिरतेर्ण्यता आचार्यशब्दं पाणिनिरन्वाह, निरुक्तकृत्तु—'आचार्यः—आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिम्' इति निर्वक्ति 'आचारं ग्राहयतीति' वदता आचारशब्देन 'या' धातुं संयोज्य निरुक्तिः प्रदर्शितेति प्रतीयते। तथैव द्युरितिशब्दो दिवुधातोरेव पाणिनीयेऽन्वाख्यायते, निरुक्ते तु 'द्युरित्यह्नो नामधेयम्—द्योतत इति सतः' इत्येवं द्युतधातोः स निरुच्यते। एवम् 'अर्थो अर्तेः अरणस्थो वा' इति निरुक्तम्। पाणिनीये तु 'अर्थ उपयाच्ञायाम्' इति प्रसिद्धो धातुः। किमन्यत्—पाणिनिः—आस्यदघ्नादिपदानि दघ्नच्प्रत्ययेन साधयति, निरुक्तकृत्तु दघ्नजिति न प्रत्ययं स्वीकरोति, अपितु दघधातोर्दंसधातोर्वा दघ्नशब्दं निर्वक्तीति महद्वैषम्यम्। तथैव पाणिनीये अस्वीकृता अपि बहवो धातवस्तत्र मन्यन्ते। तथा हि 'मातिधग्' इति मन्त्रांशं व्याचक्षाणो निरुक्तकृत् 'मास्मानतिदंहीः' मास्मानतिहाय दाः' इत्याह। अतिदंहीः—इति नैतत्पाणिनीये दृश्यते। अतिहाय दाः—इति च तदर्थकरणं विलक्षणमेव। तात्पर्यार्थः कृत इति सम्भाव्यते। पाणिनीयापेक्षया अर्थभेदा रूपभेदाश्चापि धातूनां बहुधा निरुक्ते दृश्यन्ते—यथा 'मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः' नहि मार्ष्टिर्गत्यर्थकः पाणिनीये दृष्टः। 'पर्व पुनः पृणातेः' नहि पृणातिः पाणिनीये पठितः 'मीमयतिः शब्दकर्मा, शृङ्गं शृणातेः शम्नातेर्वा' शम्नातिः पाणिनीये क्व ? क्व वा मीमयतिः ? बहून्येवंविधान्युदाहरणानि शक्यन्ते सुधीभिः पर्यालोचयितुम्, दिङ्मात्रमिदमुदाहृतम्। नैतत्सर्वं पाणिनिपरभवस्य युक्तं प्रतीयत इति पाणिनेः पूर्वभव एव निरुक्तकारो यास्कः प्रतीयते।

ता एता यास्कस्य पाणिनिपूर्वभवत्वे दृढतरा युक्तयः। एताः पर्यालोच्येदमेव प्रतीयते यत् 'परः सन्निकर्षः संहिता' इति पाणिनिपूर्वभवेऽपि क्वचिद् व्याकरणे पठितं स्यात्, तदेव निरुक्तकृतोद्धृतम्—तदेव पाणिनिनानूदितम्। भवतु यथाकथंचित्। अनिश्चित एवायमर्थः—पाणिनिः पूर्वभवो वा, यास्कः पूर्वभवो वेति त्वस्माकं मतम्। अत्राधिकस्यान्वेषणस्य जागर्त्यद्याप्यपेक्षा।

यत्तु कौत्सः पाणिनेः शिष्य इति 'उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्' इति भाष्योक्त्या सिद्ध्यति, कौत्समतं चोद्धरति यास्को मन्त्राणामनर्थकत्वपूर्वपक्ष इति यास्कस्य पाणिन्यवरजत्वं साधयन्ति, तदप्यतिमन्दम्। कौत्स इति हि

गोत्रनाम, एकैकस्मिंश्च गोत्रे शतशो व्यक्तयः सम्भवन्तीति कः कौत्सः पाणिनेः शिष्यः, को वा यास्केन स्मृत इति निश्चेतुमशक्यमेव। महाराजरघुकालेऽपि कालिदासः 'कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः' इति कश्चित् कौत्सं प्रस्तौति, किं सोऽपि पाणिनेः शिष्योऽस्तु ? यश्च पाणिनिर्वैदिकेषु मन्त्रेषु अर्थपरिचयाय प्रकृति-प्रत्ययादिकं विभजते, तस्य शिष्यो मन्त्राणामर्थाभावमभ्युपगच्छति इति नैतत् सम्भावनास्पदम्।

यत्तु सत्यव्रतसामश्रमिमहाशयेन 'अपार्णम्' इति निरुक्तदृष्टं पदमुपादाय यास्कस्य पाणिनिपरत्वे प्रधानोऽयं हेतुरिति महता हर्षोल्लासेन कूर्दतेवोक्तम्—पाणिनिकाले ऋणशब्दे परे वृद्धिर्नैवासीत् प्रचलिता, तत एव तेन तादृशं विधानं न कृतम्। निरुक्तकृत्काले 'अपार्णम्' इत्येको वृद्धिघटितः प्रयोगः प्रचलितः, वार्तिककृत्समये तु 'प्रार्णम्' 'वत्सतरार्णम्' इत्यादौ बहुत्र वृद्धिः प्रचलिता, परम् 'अपार्ण'पदं विलुप्तं जातम्—तत एव वार्त्तिककृता कात्यायनेन "प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे' इति बहुत्र वृद्धिरुपसंख्याता, अपात्तु नोप-संख्यातेति च स्वाशयस्तेन सम्यग् विवृतः।

अत्र ब्रूमः—पाणिनिकाले अप्रचलिता एव शब्दाः पाणिनिना नान्वा-ख्याताः, पश्चात् प्रचलितत्वात् पश्चाद्भवेन कात्यायनेन त उपसंख्याताः—इति सिद्धान्त एव तावन्नोपपद्यते। तथा हि कुलटाशब्दे कुल+अटा इत्यत्र पररूपं पाणिनिना नान्वाख्यातम्—वार्तिककृता शकन्ध्वादिषु पररूपमुप-संख्यातम्—परं कुलटाशब्दोऽयं स्वयं पाणिनिना 'कुलटाया वा' इति सूत्रे व्यवहृतः। ततश्च पाणिनेः पूर्वं कुलटाशब्दो न प्रचलित इति क एतदनुन्मत्तो वक्तुं शक्नुयात्। 'स्पृहि–गृहि–पति–दयि' इत्यादीन् इका, 'भवतेरः' इत्यादौ श्तिपा च पाणिनिर्धातून् निर्दिशति, 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति विधानं तु वार्तिक उप-लभ्यते इति कथमुक्तः सिद्धान्तः पदं दध्यात्। पूर्वोक्तेन वार्तिकेनैव साध्यमानो 'दशार्ण' शब्दः पाणिनिकाले देशवाचको नासीदित्यपि कश्चन साहसिक एव शक्नोति वक्तुम्, दशार्ण–देशस्य महाभारतादौ सुप्रसिद्धत्वात्। 'स्वैरी' 'स्वैरिणी' पदयोर्वृद्धिर्न पाणिनिनान्वाख्याता, वार्तिककृतोपसंख्याता, इमे च पदे छान्दोग्यो-पनिषदि स्फुटं श्रूयते 'न मे स्तेनो जनपदे.........न स्वैरी स्वैरिणी कुतः' इति। तत्किं छान्दोग्योपनिषदपि पाणिनिपरभवा ? एवं प्रैषशब्दः शतपथब्राह्मणे १३।५।२। २३ 'यक्षत् प्रजापतिमिति प्रैषः' इति श्रूयते, स चापि प्रादूहोढोढीत्यादिवार्तिकेनैव सिद्ध्यति। 'षोडश' शब्दोऽयं 'षष उत्त्वं दतृदशधासु' इत्यादिना वार्तिककृतैव साधितः, पाणिनेस्तदर्थं प्रयत्नो न दृश्यते, परं शब्दोऽयं संहितास्वपि श्रूयते—इति कथमस्य पाणिनेः पश्चात् प्रचलितत्वं वक्तुं शक्येत ? पाणिनिना पृषोदरादित्वादेवास्य सिद्धिर्मनसि कृतेति चेत् 'द्वादश' 'अष्टादश' 'त्रयस्त्रिंशदादि'शब्दाः पृषोदरादित्वेन

नोपेक्षिताः, षोडशशब्द एव तूपेक्षित इत्यपि वैचित्र्यमेवापतति । यत्तु श्रीयुधिष्ठिर-प्रभृतय आधुनिकाः 'नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति' इति भाष्यमनुसृत्य एकैकप्रयोगार्थं पाणिनिना सूत्राणि न प्रणीतानीति समादधति, तदपि न विचार-सहम् । एकैकस्योदाहरणस्य साधनार्थमपि पाणिनेर्बहुसूत्रारम्भदर्शनात् । 'नृ च' इत्यस्यैकमेवोदाहरणम्—'नृणाम्' 'न तिसृचतसृ' इत्यत्राप्युभयोः शब्दयोरेकैकमे-वोदाहरणम् । 'पचो वः' 'क्षायो मः' इत्यादीनामेकैकान्येवोदाहरणानि । सर्वस्या-मप्यष्टाध्याय्यां सर्वतो बृहद्भूतम् 'अचतुरविचतुरे'त्यादिसूत्रं तदनुगं 'दाधर्तिदर्धर्ति'-त्यादि महासूत्रं चैकैकान्येवोदाहरणानि सङ्गृह्य संदृब्धम् । 'मित्रे चर्षौ' इति सूत्रस्य चैकमेवोदाहरणम्—विश्वामित्रः । शतशः सूत्राण्येकैकोदाहरणार्थं संदृब्धानि दृश्यन्त एवम् । भाष्यकारेण तु यत्र यत्र तद्वाक्यं प्रोक्तम्—तत्र एकस्योदाहरण-स्यार्थे सामान्यो योगो न क्रियते—इति तात्पर्यम् । यथा नामीति सूत्रस्थाने आमीति कृते पूर्वं दीर्घे नुण् न स्यादिति प्रस्तुते विचारे 'ह्रस्वनद्याप' इति ह्रस्व-ग्रहणं व्यर्थं सद्भूतपूर्वगतिमाश्रयिष्यतीति समाधाने 'नृणाम्' इत्यादौ चारितार्थ्य-माशङ्क्य भाष्यकृता तथोक्तम्, एकस्य 'नृणाम्' उदाहरणस्यार्थे सामान्येन ह्रस्वग्रहणं नोचितं भवतीति तदाशयः, एवमन्यत्रान्यत्रापि । नत्वेकोदाहरणसाधनाय सूत्रमेव न क्रियते—इति तदभिप्रायः सम्भवति । अत एव तथा सति 'नृनद्याप' इत्येव ब्रूयादिति भाष्यकृता शेष उक्तः । एतेन स्फुटमिदं जातम्—यदेकस्याप्यु-दाहरणस्य कृते सूत्रं तु भवति, सामान्यपदग्रहणं न भवतीति आस्तामप्रकृतम् ।

किं च केवलवैदिकप्रयोगसाधनाय 'छन्दसि' इति प्रकृत्य यानि सूत्राणि पाणिनिना प्रणीतानि, तेष्वपि कात्यायनकृतानि बहून्युपसंख्यानानि दृश्यन्ते वार्तिकपाठे च भाष्ये च । तदेतद्भवतां मते कथमुपपद्यताम् ? न हि वैदिकाः शब्दा अपि पाणिनेः पश्चात्प्रचलिताः, यदर्थं कात्यायनस्य प्रयत्नो दृश्येत । तस्मादनवधानव-शादेव पाणिनिना केचन प्रयोगाः परित्यक्ताः, कात्यायनेन तदर्थं वार्तिकान्या-रचितानीत्येव कल्पना सम्यगुपपद्यते । यद्यप्यनल्पमतिर्भगवान् पाणिनिः, यच्च तेन कृतम्, तादृशं न कोऽपि कर्तुं शक्तः । सर्ववेदशाखासूपयुक्तं लौकिकसर्वप्रयोगबोधकं च कः कर्तुं शक्नुयाद् व्याकरणम् ? तथापि मनुष्यसुलभमनवधानं क्वचिद् भवत्येवेति तत्समाधानायैव कात्यायनस्य प्रयत्नः । इदन्तु सत्यम्—पाणिनिकाले भाषेयमेवं व्यवस्थिता नासीत्, विविधा विचित्राः प्रयोगा अस्यां भाषायां प्रचलन्ति स्म । अत्र येऽत्यन्तं विरलाः, ते पाणिनिना परित्यक्ताः, ये तु कथंचिदपि प्राप्तप्रचाराः, ते विकल्पादिना संगृहीताः । यथा कृधातोरुत्तमपुरुषे 'कुर्मि' इत्यपि वाल्मीकीये रामायणे दृश्यते—तेन 'कुर्मि' कुर्वः, कुर्मः' इति त्रितयमप्यासीत् प्रयुज्यमानम्, तत्र 'कुर्मि' इत्येतदतिविरलप्रचारं मत्वा समुपेक्षितं पाणिनिना, कुर्वः, कुर्मः' इति तु संगृहीतम् । एवमेव 'गदां गृह्ये'त्याद्या महाभारतादौ दृश्यमानाः, शम्नात्याद्याश्च

निरुक्तादिषु दृश्यमाना अतिविरलप्रचाराः प्रयोगा उपेक्षिताः, प्रचलितास्तु सूत्रैरन्वाख्याताः। परं प्रचलितेष्वप्येकप्रयोगार्थं सूत्रं न निर्मितमिति न कथमपि सिद्ध्यति। ततश्च यान् विरलप्रयोगान् मत्वा पाणिनिरुपेक्षते स्म, मनुष्यसुलभेन अनवधानेन वा विस्मरति स्म, ते कात्यायनेन उपसंख्याता इत्येव युक्तमभ्युपगन्तुम्। एवं च पाणिनेः पूर्वमपि यास्ककाले 'अपार्णम्' इति प्रचलितं भवेत्—पाणिनिना च विरलप्रयोगतया अनवधानेन वा त्यक्तं भवेदित्यपि सम्भाव्यत एव। किं च 'अपार्णम्' इति सिद्ध्यर्थं वार्तिककृतोऽपि न दृश्यते प्रयत्नः, वार्तिककृत्समयेऽपि न प्रचलितोऽयं प्रयोगः, यास्ककाले तु प्रचलित इति कल्पनया वार्तिककृदपेक्षयापि यास्कस्यार्वाचीनत्वमापतति, न चैतदिष्टं कस्यापि। न वा सम्भवति, वार्तिककृता स्वयं 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते' इति अस्यैव निरुक्तस्योल्लेखात्। तस्मादकिञ्चित्करैवेयमपार्णमाधारीकृत्य प्रवृत्ता कल्पना। सन्दिग्धमेव च यास्कपाणिन्योः पौर्वापर्यम्। तत्राप्याधिक्येन यास्कस्यैव पूर्वभवत्वं सम्भाव्यत इति प्रत्यपीपदाम।

पाणिनिदेशकालौ।

अथास्य पाणिनीयव्याकरणस्य मुख्याचार्याणां पाणिनिकात्यायनपतञ्जलीनां देशकालादिविषयेऽपि किञ्चिद्विचार्यते। तत्र गुणाढ्यरचितबृहत्कथामाधारीकृत्य विरचिते कथासरित्सागरे पाणिनेः पाटलिपुत्रेऽध्ययनम्, मन्दबुद्धितयाऽध्ययने साफल्यमनासाद्य तपोऽर्थं गमनम्, महेश्वरादभिनवव्याकरणावाप्तिः, ततः कात्यायनेन सह शास्त्रार्थः, महेश्वरहुङ्कारेणैन्द्रव्याकरणस्य नाशः, ततः पाणिनीयस्यैव प्रतिष्ठा—ऐन्द्रव्याकरणनाशेन मूर्खीभूतस्य कात्यायनस्यापि तपसा महेश्वरप्रसादनम्, तत्प्रसादात्—पाणिनीयव्याकरणपूर्तिशक्तिलाभः—इत्यादि वर्णितमस्ति, यत्सर्वं त्रैव प्रसिद्धम्। नन्दराजेन च पाणिनेः प्रतिष्ठाकरणमपि तत्र वर्णितम्, तेन नन्दसमकालिकत्वं पाणिनेः सिद्ध्यति। पाणिनिकात्यायनयोश्च समकालिकत्वं सिद्ध्यति। नन्दराज्यकाले परं महती विप्रतिपत्तिः, आधुनिका ऐतिहासिकाः, यीशुतः पूर्वं चतुर्थ्यां शताब्द्यां नन्दराज्यं वदन्ति। पुराणेषु तु—

> आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
> एतद्वर्षसहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम्॥
>
> (श्रीभागवते १२ स्कन्धे २ अ. २६ श्लो०। तथैवान्यत्रापि)

इति परीक्षितो जन्मानन्तरम् १११५ वर्षेभ्योऽर्वाङ् नन्दराज्यप्रारम्भः, शतं वर्षाणि च नवानां नन्दानां राज्यमिति लभ्यते। तत्रापि च विप्रतिपत्तिः, पुराणानुशीलिनः कलेः प्रारम्भ एव परीक्षितो महाराजस्य जन्म मन्वते कलेश्चाद्यत्वे ५०५५ वर्षाणि व्यतीतानीति ततो १११५ वर्षाणां निःसारणे ३९४० वर्षेभ्यः

पूर्वे (ईसातः पूर्वं विंशतितम्यां शताब्द्याम्) नन्दराज्यारम्भकालः प्रतीयते, वर्षशतकोत्तरं च (ईसातः पूर्वमूनविंश्यां शताब्द्याम्) नन्दराज्यसमाप्तिकालः। अथ राजतरङ्गिण्यान्तु कलेः ६५३ वर्षेष्वतीतेषु कुरुपाण्डवा अभवन्नित्युक्तम्—'शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले। कलेर्गतेषु वर्षाणामभवन् कुरुपाण्डवाः, (१–५०) महाभारतयुद्धादनन्तरं च परीक्षितो जन्मेति कलेरष्टम्यां शताब्द्यां परीक्षितो जन्म लभ्यते। तदनन्तरं पूर्वोक्तरीत्या १११५ वर्षानन्तरं नन्दराज्यारम्भ इति कलेरेकोनविंशतितम्यां शताब्द्याम् ईसातः पूर्वं द्वादश्यां शताब्द्यां नन्दराज्यमायाति। केचिच्च पुराणान्तरसंवादात् पूर्वोक्ते श्रीभागवतपद्ये 'ज्ञेयं पञ्चशतोत्तरम्' इति पाठं मन्वानाः परीक्षिज्जन्मानन्तरं १५०० वर्षेभ्योऽर्वाङ् नन्दराज्यप्रवृत्तिरिति राजतरङ्गिणीरीत्या ईसातः पूर्वं सप्तम्यष्टमी वा शताब्दी नन्दराज्यकाल इति साधयन्ति। सेयं विप्रतिपत्तिरद्याप्यैतिहासिकानां मल्ललीलाप्राङ्गणभूतैवेति नात्र स्वल्पकाये निबन्धे वयं तत्र पतितुमिच्छामः। पुराणभूमिकायां विषयमिमं विवेचयिष्यामः, एतावदेव तु वक्तव्यमत्रास्माकम्—यत् कथासरित्सागररीत्या नन्दराज्ये पाणिनेः समयः सिद्ध्यति। त्रिमुनिकल्पतरुप्रभृतिष्वपि तदेवानूद्यते। आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्पे बौद्धग्रन्थेऽपि पाणिनिना माणवेन सह महापद्मनन्दस्य सौहार्दं बभूवेत्युक्तम्। तेनापि नन्दसमकालिकत्वं पाटलिपुत्रनिवासश्च पाणिनेः सिद्ध्यति। परं कथासरित्सागरमद्यतना ऐतिहासिका न प्रमाणयन्ति, विनोदमात्रार्थाः कथास्तत्र संगृहीता इत्येव ते मन्यन्ते। बौद्धग्रन्थे च योऽयं पाणिनिर्नाम माणव उक्तः, सोऽयमेव व्याकरणरचयिता पाणिनिरन्यो वा? इति न ततः सिद्ध्यति। माणव इति विशेषणं च विपरीतमिव। न हीदृश आचार्यः केनापि माणवपदेन विशेष्येत, तस्मात् स्वातन्त्र्येणैवात्र विचारधाराः पाणिनिदेशकालविषये प्रवर्तनीयाः।

तत्र त्रिकाण्डशेषे कोषे पाणिनिनामसु 'शालातुरीयः' इति पठनात्, गणरत्नमहोदधौ च जैनलेखकेन वर्द्धमानेन 'शालातुरो ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिरिति' तद्विवरणात् शालातुरो ग्रामोऽस्य भगवतः पाणिनेर्जन्मस्थानमित्युररीक्रियते। काशिकाव्याख्यायां न्यासग्रन्थेऽपि च ५।१।१ सूत्रव्याख्यायाम् 'अतः शालातुरीयेण प्राक् ठञश्च इति नोक्तम्'—इत्युक्तम्। तेनापि शालातुरीयत्वं पाणिनेः सिद्ध्यति। गुप्तशिलालेखेषु वलभ्यां प्राप्त एकस्मिन् शिलालेखे (३१० संवत्सरलिखिते) पाणिनीयशास्त्रकृते 'शालातुरीयतन्त्रम्' इति प्राप्यत इत्यपि श्रीवासुदेवशरणमहोदयेनोक्तम्। ह्यू आन् चु आङ् नामक श्चीनदेशीयः परिभ्रमणशील ईशुख्रिस्तस्य सप्तम्यां शताब्द्यामिहायातः स्वयं शालातुरग्रामे गतः, तेन स्पष्टमेव तत्रत्यानां जनानां किंवदन्तीमाकर्ण्य शालातुरग्रामः पाणिनेर्जन्मस्थानमिति लिखितम्।

तदित्थमनेकैः प्रमाणैर्निश्चितं पाणिनेर्जन्मस्थानं शालातुरग्राम इत्येवैतिहासिका मन्यन्ते। "अस्य च ग्रामस्य स्थाननिर्देशोऽपि चीनदेशीयेनोक्तेन परिभ्रमणशीलेन कृतः, यदयं शालातुरग्रामो गान्धारदेशे उद्भाण्ड इति प्रसिद्धात् स्थानात् प्रायेण क्रोशद्वयान्तरे लहुरग्रामसमीपेऽस्तीति। गान्धारदेश इदानीं कन्धार इत्युच्यते—इति बहूनां विश्वासः। उद्भाण्डपुरं चेदानीम्—ओहिन्दनाम्ना कुभायाः (काबुलनद्याः) सिन्धोश्च सङ्गमस्थानेऽस्ति, तत्रैव पश्चिमोत्तरस्यां दिशि लहुरनामको ग्रामोऽपि तावत्येव दूरे प्रसिद्ध इदानीमपि। तत्समीप एवासीत् शालातुरग्राम इति निर्णीतप्रायम्। तस्मिंश्च काले गान्धारदेशोत्पन्नः कश्चन बालः शिक्षार्थं पाटलिपुत्रं गच्छेदिति न सम्भाव्यते, तस्मात् तत्रैव प्रान्ते स्थिते तक्षशिलाविश्वविद्यालये पाणिनेः शिक्षा बभूवेत्याधुनिका अनुमिन्वते।

पञ्चनददेशे ये शब्दाः किञ्चिद्वैषम्येणापि प्रवृत्ताः, तेषामप्यन्वाख्यानं पाणिनीये दृश्यते, यथा 'उदक् च विपाशः' ४।२।७४ इति सूत्रेण विपाशो नद्या उत्तरकूले स्थितानां कूपानां वाचकेषु शब्देषु अञ्प्रत्ययो विधीयते, विपाशो दक्षिणभागे स्थितानां तु वाचकेषु अण् प्रत्ययः'। अणञोश्च केवलं स्वरे भेदः—सोऽयं सूक्ष्मोऽपि भेदस्तेनान्वाख्यात इति पञ्चनदेषु परिभ्रमणं पाणिनेः स्पष्टं सिद्धयति। पाटलिपुत्रे वर्षाचार्यसमीपेऽध्ययनन्तु काल्पनिकमेवाद्यत्वे मन्यते। पाणिनिना ग्रन्थो विरचय्य महाराजसन्निधौ प्रेषितः, तेन च पाणिनिर्बहु सम्मानितः, ग्रन्थस्य प्रचारश्च पारितोषिकप्रदानादिना कृत इति चीनपरिव्राजकेनापि लिखितम्।

राजशेखरेण काव्यमीमांसायां चोक्तम्—'श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा, अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः' इत्यादि। तेन ग्रन्थरचनोत्तरं पाणिनेः पाटलिपुत्रे गमनं सम्भाव्यते, तत्रैव तद्ग्रन्थस्य परीक्षा सम्पन्ना भवेत्। तत एव 'उद्दालकपुष्पभञ्जिका' इत्यादि प्राच्यदेशप्रसिद्धक्रीडादिवाचकाः शब्दा अपि पाणिनिनान्वाख्याता दृश्यन्ते। एवंविधानां शब्दानां तत्तद्देशपरिभ्रमणमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वात्।

बौद्धग्रन्थे मञ्जुश्रीमूलकल्पे समुद्धृतनामा पाणिनिरयमाचार्य एव चेत्, तदपि सम्भवति। पाटलिपुत्रे परीक्षणानन्तरं तत्रत्येन महाराजेनास्य सख्यं सम्पन्नं भवेदिति। स्वयं पाणिनिनापि च 'तूदीशलातुरवर्म······' (४।३।९४) इति 'सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ' (४।३।९३) इति च प्रदेशाविमौ स्मृतौ। तदेवं देशनिर्णये प्रायेणैकमत्यमेवैतिहासिकानाम्।

अथास्य कालविषये तु महती विप्रतिपत्तिः। यीशुसंवत्सरात्प्राक् चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा शताब्द्यां पाणिनेः प्रादुर्भाव इत्याधुनिका ऐतिहासिका मन्वते। तत्र चैता युक्तीरुपन्यस्यन्ति—

१ भगवतो बुद्धादयमर्वाचीनः, 'कुमारः श्रमणादिभिः' इति सूत्रप्रणयनात् । श्रमणशब्दो हि बौद्धपरिव्राजकेष्वेव प्रसिद्धः । तत्रापि च श्रमणादिगणे श्रमणाशब्दः स्त्रीलिङ्गः पठ्यते । स्त्रीणां संन्यासग्रहणमपि बौद्धैरेव परिचालितम् । बुद्धश्चायं भगवान् यीशुतः प्राक् सप्तम्यां शताब्द्यां जात इति तन्मतप्रचारादर्वाचीनोऽयं पञ्चम्यां चतुर्थ्यां वा शताब्द्यां भवेत् ।

२ 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' (५।१।६०) इत्यस्ति तद्धिते पाणिनीयं सूत्रम् । तेन पञ्चानां वर्गः पञ्चत् , दशानां वर्गः दशत् इति सिद्ध्यति । विकल्पे च पञ्चकः, दशकः इत्यपि भवति, अयं च पञ्चानां दशानां च वर्गः प्रचारार्थं बौद्धपरिव्राजकेष्वेव प्रचलित इति बौद्धानां महावग्गग्रन्थे स्पष्टमुल्लेखः, पञ्चत् दशदिति शब्दावपि तत्र निर्दिष्टौ । तेषां साधनायैव पाणिनेः प्रयत्न इति सुतरां बुद्धादर्वाचीनत्वमस्य सिद्ध्यति ।

३ पाटलिपुत्रनगरनिर्माणं बुद्धदेवस्य जीवितावस्थायामेवारब्धमिति बौद्धग्रन्थेभ्यः प्रतीयते । तस्य नगरत्वप्राप्तिः, तत्र राजधानीप्रतिष्ठापनम् , तदुत्तरं पाणिनिजनिः । तत एव तद्रचितस्य ग्रन्थस्य नन्दराजधान्यां पाटलिपुत्रे परीक्षणं सम्भवति, इति बुद्धदेवाद् द्वित्रशताब्दीपरत्वमेवास्य सम्भाव्यते । तस्मात् पञ्चमी चतुर्थी वा शताब्दी सुयुक्तोऽस्य कालः ।

४ नन्दराज्ये पाणिनीयव्याकरणस्य या परीक्षा उक्ता, बौद्धग्रन्थे च यत् पाणिनेर्नन्दराजेन सख्यमुपवर्णितम् , तदप्येवमुपपद्यते । नन्दराजस्य चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा ईशातः प्राक् शताब्द्यामेवैतिहासिकैरवधारणात् ।

५ कीथप्रभृतय आङ्गलास्तु वदन्ति, यद् 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' इति सूत्रे यवनशब्दपाठो दृश्यते । इह यवनशब्देन माहम्मदाः परिचेतुं शक्यन्ते, यतो ह्येतन्मतप्रवर्तकस्य श्रीमहम्मदमहाभागस्य जातस्य चतुर्दश्येवेयं शताब्दी । पाणिनिस्तु ततो बहुपूर्वज इति । तस्माद् यूनानदेशवास्तव्या एवेह यवनशब्देनोपात्ता इति स्फुटमेव । यूनानदेशीयानां परिचयश्च 'ग्रेट अलैगजण्डर' सिकन्दरस्य भारताक्रमणकालादेव भारतीयैः प्राप्त इति सिकन्दराक्रमणादर्वागेव ईशातः पूर्वं चतुर्थी शताब्द्येव पाणिनेः कालो भवितुमर्हति, न ततः प्रागिति ।

ता एता अर्वाचीनत्ववादिनां युक्तयः । प्राचीनत्ववादिनस्तु नैता दृढा मन्यन्ते । एवमुत्तरयन्ति च—

(१) श्रमणशब्दोऽयं बौद्धोपज्ञम्—शतपथब्राह्मणे १४ काण्डे ७ अध्याये १ ब्राह्मणे २२ कण्डिकायामपि स्पष्टं श्रूयमाणत्वात् , तत्र हि सुषुप्त्यवस्थानिरूपणप्रसङ्गे सर्वोपाधिविनिवृत्तिप्रतिपादने (अत्र पिता अपिता भवति, माता

अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः..................श्रमणो अश्रमणः तापसो अतापसः) इत्यादि श्रूयते। इह परिव्राजकाभिप्रायेणैव श्रमणशब्दः प्रयुक्त इति स्फुटं शाङ्करभाष्यादिषु। संन्यासश्च याज्ञवल्क्यस्य तदुपदेशान्मैत्रेय्याश्चापीहैव काण्डे (बृहदारण्यकोपनिषत्सु) श्रुत इति श्रमणापदेन वा न बुद्धदेवादर्वाचीनत्वं शक्यं कल्पयितुम्। किं बौद्धमतमपीदं न शाक्यसिंहादेव प्रवृत्तम्—अपि तु बहुप्राचीनम्। 'कथमसतः सञ्जायेत' इत्यादिना उपनिषत्स्वेव बौद्धमतानुवाद-निकारणयोर्दर्शनात्। वाल्मीकीयरामायणादावपि स्वयं रामेण बौद्धमतस्योल्लेख-करणात्। बौद्धग्रन्थेष्वपि शाक्यसिंहोऽयमन्तिमो बुद्धः स्मर्यते, ततः पूर्वे प्रादुरभूवन् बहवो बुद्धाः इति स्फुटमेव। ततश्च बौद्धमतप्रचारादर्वाचीनत्वे पाणिनेः सिद्धेऽपि न शाक्यसिंहादर्वाचीनत्वं कथमपि सिद्ध्यति। वस्तुतस्तु ब्राह्मणशब्दः श्रमणशब्दश्चेति द्वावपि शब्दौ विज्ञानमूलकावतिप्राचीनौ। ब्रह्मशब्दो हि 'ज्ञान' पर्यायः, श्रमशब्दश्च क्रियापर्यायः। तत्र ब्रह्मैवेदं सर्वमिति य आतिष्ठन्ते, ते ब्रह्मैकाद्वयवादिनो ब्राह्मणाः, क्रियैव (श्रम एव) सर्वमिदम्, नातोऽन्यद् ब्रह्मास्तीति येऽभ्युपगच्छन्ति, ते श्रमैकाद्वयवादिनः श्रमणाः। ज्ञानैकाद्वयवादः श्रमैकाद्वयवादश्चानादेः कालात् प्रवृत्त इति श्रमणशब्दाधारेण कालनिर्णयोऽयं वैदिकपरिभाषानभिज्ञानामेव शोभते, न तु विवेचकानाम्।

(२) पञ्चदशादिशब्दाः पञ्चानां दशानां च वर्गे शाक्यसिंहात्पूर्वमपि प्रवृत्ताः स्युः, पूर्वभवां प्रक्रियामेवानुसृत्याधुनिकैर्बौद्धैस्तथा वर्गा विरचिताः स्युरित्यपि बहुलं सम्भाव्यते। बहुत्र बौद्धैः प्राक्तनी प्रक्रियानुसृता स्फुटं प्रतीयते। तस्मान्नेदमपि दृढं प्रमाणम्। यथा च नन्दराज्यादीनां काले विप्रतिपत्तिः, तथा भगवतः शाक्यसिंहापरपर्यायस्य बुद्धदेवस्य कालेऽपि पौराणिकानां विप्रति-पत्तिरस्त्येवेति शाक्यसिंहात्परभवत्वेऽपि पाणिनेरविप्रतिपन्नः कालो न सिद्ध्यत्येव। श्रीदेवसहायत्रिवेदिप्रभृतय इतिहासविचक्षणाः सर्वामपि आधुनिकानां युक्तिभिः खण्डयन्ति, सहस्राधिकवर्षप्राचीनतां च तदभ्युपगतकालापेक्षया तत्तेषां साधयन्तीति कोऽयं यूरोपानुगामिष्वेवदृढतरो विश्वासः ?

(३) यदा कथासरित्सागर इतिहासविषये न प्रमाणं मन्यते, बौद्धग्रन्थोक्तश्च पाणिनिर्माणवः पाणिनेराचार्याद् भिन्न एवाभ्युपगम्यते, तदा पाटलिपुत्रपरिचयोऽपि पाणिनेर्न सिद्ध्यत्येवेति पाटलिपुत्रनिर्माणकालेन तत्कालावधारणमपि न दृढम्। नन्दराज्य इव पाटलिपुत्रनिर्माणेऽपि पौराणिकदशा महती कालविप्रतिपत्तिरस्त्येवेति ततोऽपि न कालनिर्णयः सुशकः।

(४) नन्दराज्ये पाणिनिग्रन्थपरीक्षेति राजशेखरादीनां किंवदन्तीमात्रो-ल्लेखः। नन्दराज्यकालेऽपि च महासन्देहास्पदमितीयमपि युक्तिः शिथिलप्राया।

(५) यवनपरिचय आर्याणां सिकन्दराक्रमणानन्तरमेवेति तु महदुपहासास्पदम्। श्रीकृष्णकालेऽपि कालयवनकृतमथुराक्रमणस्मरणात्, महाभारतयुद्धेऽपि च यवनादिसैनिकवर्णनात्, तस्मादतिचिरन्तनोऽयं यवनपरिचयो भारतीयानाम्।

एवमर्वाचीनत्वप्रतिपादिका युक्तयः शिथिला एव प्रतीयन्ते।

इदानीन्तनेषु विवेचकेषु श्रीसत्यव्रतसामश्रमिमहाभागः श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकश्चातिप्राचीनतावादी। एतौ हि 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' 'राजेः खश्' (जनमेजयः) इत्यादिसूत्रेषु महाभारतनिर्दिष्टानां व्यक्तीनां च नामोल्लेखात् तत्रोद्भूतव्यक्तिनामसाधनप्रयत्नाच्च महाभारतयुद्धपरभवत्वन्तु पाणिनेर्मन्येते, परं किञ्चित्परभवत्वमेव साधयतः। तत्रापि सामश्रमिमहाशयः—

शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभवन् कुरुपाण्डवाः। (१–५०)

इति राजतरङ्गिणीवचनमप्रतिहतं प्रमाणं मन्वानः कलेरष्टम्यां शताब्द्याम्—यीशुखिष्टात् प्राक् चतुर्विंश्यां च शताब्द्यां पाणिनेः प्रादुर्भावमभिमन्यते। श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकस्तु राजतरङ्गिणीवचनस्य पुराणादौ क्वाप्यननुमोदितत्वान्निर्मूलत्वमेव तस्य मन्वानः कलेः प्रारम्भ एव महाभारतयुद्धमभिमन्यमानः कलेस्तृतीयस्यां शताब्द्याम्, यीशुखिष्टाच्च पूर्वमूनत्रिंश्यां शताब्द्यां पाणिनिप्रादुर्भावं मन्यते। सोऽयमवान्तरोऽनयोर्भेदः। प्राचीनत्वसाधने युक्तयोऽपि चानयोर्विभिन्नप्रायः। तत्र सामश्रमिमहाशयस्यैता युक्तयः, यत्पाणिनिरेव प्रथमो व्याकरणप्रणेता, तेन यत्र यत्रापि व्याकरणनाम स्मर्यते, तेभ्यः सर्वेभ्यो ग्रन्थेभ्योऽयं प्राचीनः, निरुक्तकृतो यास्काद्, अन्येभ्यश्च वेदाङ्गग्रन्थनिर्मातृभ्यः प्राचीनोऽयम्—तस्मादस्यवरजत्वमस्य नैव सम्भवति। प्रधानभूता चेयं तस्य युक्तिः—यद् व्यासपुत्रस्य शुकस्य वैयासकिरिति नाम श्रीभागवतादौ पठ्यते, न च वैयासकिशब्दः पाणिनीयैः सूत्रैः सिद्ध्यति, वार्तिककृता तु 'सुधातुरकङ् च' (४।१।९७) इति पाणिनीये सूत्रे 'व्यासवरुणनिषादचण्डालबिम्बानां चेति वक्तव्यम्' इत्युपसंख्याय, वैयासकिशब्दः साधितः। तेन स्फुटमिदं प्रतीयते—यद्व्यासपुत्रस्य शुकस्य यावन्न प्रसिद्धिरभवत्, वैयासकिपदं च न प्रचारल्लोके, तावदेव समुत्पन्नः पाणिनिः, तत एव तेन वैयासकिशब्दसाधनाय न कृतः प्रयत्नः। वार्तिककृत्काले तु प्रचलितः स शब्द इति तेन प्रयत्नः कृतः। तदित्थं व्यासात् किञ्चित्परभवत्वमेव पाणिनेः—सुप्रसिद्ध्यतीति।

ता एताः सामश्रमिमहाशयस्य युक्तयोऽपि शिथिलप्राया एव। यतो हि पाणिनेः पूर्वमपि बहूनि व्याकरणान्यासन्निति दृढाभिर्युक्तिभिः प्रतिपदितं पुरस्ताद-

स्माभिः। यास्कात्पूर्वमत्रत्वमपि खण्डितं प्राक्। किं च पाणिनिकाले अप्रचलिता एव शब्दा वार्त्तिककृता अन्वाख्याता इत्यपि पूर्वमेव दृढतरं निराकृतम्। एवमभ्युपगमे तु महती विशृङ्खला स्यात्, अश्वत्थामन्नश्वत्थामशब्दयोः साधनार्थमपि न दृश्यते पाणिनेः प्रयत्नः, वार्तिककृतैव तु 'स्थाम्नोऽकारः' 'भवार्थे तु लुग् वाच्यः' इति शब्दौ तावन्वाख्यातौ। ततश्च महाभारतयुद्धे सुप्रतिष्ठिताद्वीरादश्वत्थामतोऽपि पूर्वभवत्वं पाणिनेरभ्युपगन्तव्यं स्यादिति भवदभ्युपगतं महाभारतयुद्धादर्वाचीनत्वमपि न सिद्ध्येत्। 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' इत्यादिसूत्रनिर्माणं च निरालम्बनं भवेत्। पृषोदरादित्वकल्पना तूभयत्रापि समाना। किं च 'बाह्य' 'दैव' दैव्यादिशब्दा अपि 'देवाद्यञञौ' 'बहिषष्टिलोपो यञ्च' इत्यादिभिर्वार्तिकैरेव सिद्ध्यन्ति, अतिप्राचीनाः, श्रुतिषु श्रूयमाणा अपि। तस्मात्प्राक् प्रसिद्धा अपि बहवः शब्दा अनवधानेन अल्पप्रसिद्ध्या पृषोदरादित्वाभिमानेन वा पाणिनिना त्यक्ताः, वार्तिककृता त्वन्वाख्याता इत्येवानुमानं सम्यग् भवेत्। ततश्च वैयासकिपदाधारेण क्रियमाणा कल्पना अतिशिथिला।

अथ युधिष्ठिरमीमांसकमहाशयस्तु यास्कशौनकपिङ्गलव्याडिप्रभृतीनां पाणिनिसमकालिकत्वं महत्यारभट्या प्रतिपादयन्, अस्य प्रातिशाख्यकृतः शौनकस्य नैमिषादौ सूतात् पुराणानां श्रोतुश्च शौनकस्यैक्यमभ्युपगच्छन्, तस्य जनमेजयकालिकत्वं च प्रसाधयन् वर्षशतत्रयपरिमितमायुश्च तस्याभिमन्वानः, शौनकसमकालिकत्वादेव पाणिनिमप्येतावत्प्राचीनं साधयति। ता एता अस्यापि महाशयस्य युक्तयः श्रद्धामात्रसारा नैतिहासिकानां प्रमाणपरतन्त्राणां पुरःस्थातुमुत्सहेरन्। यतो ह्यनेके शौनकाः शौनकप्रणीतेभ्य एव ग्रन्थेभ्यः सिद्ध्यन्तीति प्रातिशाख्यप्रकरणे प्रागस्माभिः सुप्रतिपादितम्। किमन्यत्—शौनकप्रणीतायामेव बृहद्देवतायाम्—

'काक्षीवतं सर्वमिति भगवानाह शौनकः' (बृ. दे. ३।१५२) इति शौनकस्य भगवानिति विशेषणं सामश्रमिमहाशयेन निरुक्तालोचने प्रदर्शितम्। न हि स्वस्यैव विशेषणं भगवानिति कश्चिदनुन्मत्तो वदेत्। मन्त्रद्रष्टाऽप्यस्ति शौनकः, मण्डलद्रष्टापि, वेदाङ्गप्रातिशाख्यकृदपि, यास्कादर्वाचीनो बृहद्देवताप्रणेतापि। नैषां सर्वेषामैक्यं कश्चिदपि प्रतिष्ठितशेमुषीकः संभावयेत्। तस्माद्यदा बहवः शौनका अभ्युपगन्तव्या एव, शौनक इति गोत्रनाम अनेकासु अतिविभिन्नकालासु व्यक्तिषु प्रतिष्ठितम्, तदा पुराणानां श्रोतुः प्रातिशाख्यकर्तुश्च शौनकस्यैक्यप्रकल्पनमपि कल्पनामात्रमेव भवेत्। टीकाकृतो विष्णुमित्रस्य—

शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितैः।
दीक्षासु चोदितः प्राह सत्रे तु द्वादशाहिके।

इति शास्त्रावतारोक्तिरपि चैतिहासिकान्धकारकालप्रसूता किंवदन्तीमूलिकैव न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे । वर्षशतत्रयायुःप्रकल्पनमपि च कलियुगप्रारम्भे सर्वप्रामाणिकग्रन्थविरुद्धमिति कल्पनाचातुरीमेव ख्यापयन्नैतिहासिकं तथ्यम् । यास्कादीनां समानकालिकत्वमपि न प्रमाणैः सिद्ध्यतीति प्रागेव प्रत्यपीपदाम । 'पाणिनिर्दाक्षीपुत्र इति भगवता भाष्यकारेणाख्यातः, व्याडिरपि दाक्षायण इत्युक्तः, तस्माद् व्याडिरयं पाणिनेर्मातुलः' इत्यादिकल्पना अपि बादरायणसंबन्धं स्मारयन्तो विनोदायैव प्रभवन्ति न तत्त्वान्वेषणनिष्कर्षाय । गोत्रनाम्नामतिविभिन्नकालेष्वप्यैक्यदर्शनात्, तदाधारेण कालकल्पनायाः कथमपि दृढत्वासम्भवात् । तथैव वायुपुराणादौ पाणिनिगोत्रस्मरणमपि नास्य व्याकरणाचार्यस्य पाणिनेः कालनिर्णयाय समुपयुक्तं भवेत्, गोत्राणामतिविभिन्नकालेष्वनुवृत्तिदर्शनात् । व्याकरणप्रणेता पाणिनिरिति यदि पुराणेषु क्वाप्युक्तः स्यात्, तर्हि निश्चेतुं शक्यः स्यात्तदीयः कालः । तादृशं तु किमपि मीमांसकमहाशयेन—नोद्धृतमिति सन्देहास्पदमेवाद्यापि पाणिनिसमयः ।

ममत्विदं प्रतिभाति—यत्पाणिनेः कात्यायनस्य च समये चतुष्पञ्चशताब्दीपरिमितेनान्तरालेनावश्यं भाव्यम्, तथैव कात्यायनस्य पतञ्जलेश्चापि समये तावदन्तरालमवश्यमपेक्ष्यते । तत्र सन्ति हेतवः—

१—पाणिनिना 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' इति सूत्रे ब्राह्मणानामपि पुराणप्रोक्तत्वं विशेषणं ददता याज्ञवल्क्यदृष्टस्य शतपथब्राह्मणस्य नवीनत्वं व्यञ्जितमिव । अन्यथा विशेषणदानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कात्यायनेन तु तत्र 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः, तुल्यकालत्वात्' इति शतपथस्यापि समानकालिकत्वमेव ब्रुवता नवीनत्वं नोररीकृतम् । ततश्च स्पष्टमिदं विज्ञायते—यत् पाणिनेः समयः याज्ञवल्क्यान्नात्यन्तमर्वाक्तनः । तस्मिन् काले याज्ञवल्क्यस्य नवीनत्वप्रसिद्धिरासीदिति । कात्यायनकाले तु सा नवीनत्वप्रसिद्धिस्तिरोहिता, याज्ञवल्क्यस्यापि अन्यब्राह्मणप्रवक्तॄणामिव प्राक्तनत्वमेव प्रसिद्धं जातम् । नैतावद् वैषम्यमन्ततः चतुःपञ्चशताब्दीव्यवधानेन विना सिद्ध्यतीति प्रथमो हेतुः । यत्तु युधिष्ठिरमीमांसकमहोदयेन समानकालिकत्वकथनात् कात्यायनस्य याज्ञवल्क्यसम्बन्धित्वं तत्कुलजत्वं वानुमितम्, तदेतदुपहासास्पदमिव । न हि कस्यचित्कुलजः सम्बन्धी वा नवीनं प्राचीनं ख्यापयितुं सन्नद्धो भवेद्यथार्थवादी । एवंविधानुमानेन तु कात्यायनस्यानाप्तत्वं ध्वन्येतेति । तस्मात् कात्यायनकाले याज्ञवल्क्यस्यापि पुराणत्वप्रसिद्धिरेव जाता—इत्येव वक्तव्यं स्यात् । अतश्च व्यवधानाधिक्यमवश्यमुररीकर्तव्यम् ।

२—पाणिनिः संस्कृतभाषां भाषापदेनैव व्यवहरति । तेन तस्य काले संस्कृतभाषैव भाष्यमाणासीत्, भाषान्तरप्रवृत्तिः' न बभूव, अल्पीयसी वा बभूव इति स्फुटमनुमीयते । कात्यायनस्तु 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः'

इति वदन् भाष्यकाररीत्या 'समानायामर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते' अर्थात् साधुशब्दैरेव व्यवहारे धर्मो भवति, नासाधुशब्दैर्व्यवहारे इति संस्कृतभाषाया धर्मजनकत्वमात्रेण उत्कर्षं बोधयति। तेन तस्य काले अपभ्रंशशब्दघटिताया भाषाया बाहुल्येन प्रवृत्तिरासीदिति स्फुटीभवति। अथ भाष्यकारस्तु 'सन्त्येकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः, यथा गोशब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयः' इति वदन् धर्मनियमञ्चापि 'याज्ञे कर्मणि स नियमः अन्यत्रानियमः' इति यज्ञकर्ममात्रे व्यवस्थापयन् स्वकाले व्यवहारार्थमपभ्रष्टभाषाणामेव प्रयोगमभिव्यञ्जयति। नैतत्सर्वमल्पेन समयेन सम्भवति—इति त्रयाणामेषां सुमहता कालव्यवधानेन अवश्यभाव्यम्।

३—पाणिनिर्गान्धारदेशवासीति ऐतिहासिकानामैकमत्यं प्राक् प्रादर्शयाम। कात्यायनपतञ्जली तु प्राग्देशवासिनौ। तेन पाणिनिकाले गान्धारप्रदेशः, तत्संलग्नः पञ्चनदप्रदेशो वा विद्याकेन्द्रमासीदिति प्रतीयते। विद्याकेन्द्रे एव एतादृशानां ग्रन्थानामुद्भवः सम्भवतीति। कात्यायनपतञ्जलिकाले तु प्राग्देश एव विद्याकेन्द्रतामापेति प्रस्फुटमेव। इयं घटनापि नाल्पकालसाध्या।

४—पाणिनिसूत्राणामुपरि अनेकानि वार्तिकानि प्रागपि विरचितान्यासन्, तदनन्तरं कात्यायनेन स्वीयो वार्तिकपाठो विरचितः। तथैव वार्तिकस्यापि भाष्यान्तरं प्रथममभूत् तदनु पातञ्जलं भाष्यम्, इति युधिष्ठिरमीमांसकमहोदयाः साधयन्ति। एतत्सर्वं यदि दृढं निश्चितं स्यात्, तर्हि इदमपि कालव्यवधानबाहुल्याय पर्याप्तं भवति प्रमाणम्। किञ्च प्रातिशाख्यानि इयन्ति प्रायेण पाणिनिकात्यायनयोरन्तराल एव विरचितानीत्यस्माभिः साधितपूर्वम्, ततोऽपि कालव्यवधानाधिक्यमेव शक्यमनुमातुम्।

तदित्थं भाष्यकारः पतञ्जलिरीशुखिष्टतः पूर्वं द्वितीयस्यां शताब्द्यां जातः, कात्यायनस्तृतीयस्यां चतुर्थ्यां वा पाणिनिश्च चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा इत्याधुनिकानामैतिहासिकानां विनिर्णयो न सम्यग् बुद्धावुपारोहति। कस्यचिदपि ग्रन्थस्य एवं विस्तृतव्याख्यानापेक्षा नाल्पीयसा कालेन शताब्दीमात्रेण सम्भवतीति विचार्यं सहृदयैः। तस्मादस्माकं मते भाष्यकारः पतञ्जलिर्यदि ईशुतः प्राक्तन्यां द्वितीयस्यां शताब्द्यां जातः, तर्हि कात्यायनः प्राक्तन्यां सप्तम्यां शताब्द्याम्, पाणिनिश्चान्ततः प्राक्तन्यां द्वादश्यां शताब्द्यां जातो भवेदिति सम्भावयामः। यदि नन्दराज्यकालः अस्मत्पुराणपर्यालोचनरीत्या इतस्सहस्राब्दीत्रितयात्प्राक्तनः, तदा नन्दस्य पाणिनेश्च सम्बन्धः प्राक्तनैर्ग्रन्थकारैरुल्लिखितः सत्यतया सिद्ध्यति। यदि तु अर्वाचीनैतिहासिकदृष्ट्या नन्दराज्यमीशुखिष्टतः प्राक् चतुर्थ्यां शताब्द्यामेवेति सत्यम्, तदा नन्दस्य पाणिनेश्च सम्बन्धकथा केवलं काल्पनिक्येव, पाणिनेस्तथार्वाचीनत्वा-

सम्भवात्। आस्तान्नाम, इदमित्थंभावेन कालनिर्णयः कस्यापि सुदुष्करः, यैरपि क्रियते, तैरपि साहसमात्रमेवानुष्ठीयते, केवलमेतावदेव वक्तुं शक्यम्; यत्पाणिनि-र्भगवान् भाष्यकारादन्ततः, सहस्राब्दीपूर्वंभवोऽवश्यं स्वीकार्य इति।

अथ कात्यायनदेशकालौ।

अथ कात्यायनस्य देशकालविषये तु न स्फुटं किमपि विज्ञायते। ऐतिहासिकै-रपि एतद्विषये स्फुटं निश्चेतुं न पारितम्। कात्यायनः, वररुचिः इत्यादीनि नामा-न्यपि वहुतरदेशकालव्यवहितानामनेकासां व्यक्तीनां सम्भाव्यन्ते—इति सोऽयं देश-कालनिर्णये महानन्तरायः। कात्यायनो हि शुक्लयजुःश्रौतसूत्रकार एकः, सोऽतिप्राचीनः सम्भाव्यते। प्रातिशाख्यकर्ताऽपि कश्चित् कात्यायनः, पाणिनेः सूत्रवार्तिककारोऽपि च कात्यायनः, स्वर्गारोहणकाव्यनिर्मातापि च कात्यायन उच्यते। तदत्र कस्य कस्यैक्यं को वा भिन्नः इति जटिलोऽयं प्रश्नः। तथैव वररुचिरपि एकः कौटिल्येन स्वीयेऽर्थशास्त्रे राजनीतेराचार्यत्वेन स्मृतः। एकश्च विक्रमस्य सभाया नवसु रत्नेष्वपि स्मर्यते, वाररुचं काव्यं चापि तत्र तत्रोल्लिख्यते—इति तत्राप्यैक्यं भिन्नत्वं वा सुदृढं वक्तुं सुदुष्करम्। अत्रैतावदेव शक्यते वक्तुम्—यत्कथासरित्सागरे पाणिनिकात्याय-नयोः समकालिकत्वं परस्परं विद्वेषः शास्त्रार्थादिकञ्च यदुपनिबध्यते, तत्तु प्रायेण काल्पनिकमेव प्रतीयते। उक्तरीत्या पाणिनिकात्यायनयोर्बहुकालव्यवधानमेवानुमी-यते। यच्च कथासरित्सागरे कौशाम्बीनिवासित्वं कात्यायनस्योक्तम्, कौशाम्बीं च प्रयागसन्निहितामेव सम्भावयन्त्यैतिहासिकाः, तदेतदपि अनुपपन्नमिव। भाष्यकारो हि 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदि-केष्विति प्रयुञ्जते' इत्यादिना दाक्षिणात्यत्वेन वार्तिककारमुपहसति। तेनानेन दृढेन प्रमाणेन कात्यायनस्य दाक्षिणात्यत्वं स्फुटीभवति। ततश्च प्रयागप्रान्तवासित्वं न तस्य सम्भवति। यदि तु कौशाम्बी दक्षिणप्रान्त एव क्वचित् भवेत्तर्हि सम्भवति कौशाम्बीवासित्वम्। भाष्यकारसमये कुत आरभ्य दक्षिणदेशो गण्यते स्म, इत्यपि निश्चेतुं दुःशकमेव। ततश्चाभिजननिश्चयोऽपि कात्यायनस्य न पूर्णतया विधातुं शक्यः। दाक्षिणात्यः स आसीदित्येतावन्मात्रं भाष्यरीत्या निश्चितं प्रतीयते।

अथास्य कालविषये यीशुख्रिष्टतः पूर्वं चतुर्थी शताब्दी तस्य काल इति केश्चित्पाश्चात्त्यैरैतिहासिकैर्निर्णीतम्। दृढं प्रमाणन्तु तत्र न किमप्युपलभ्यते, केचित्तु 'पाण्डोर्ड्यण्' इति वार्तिककरणात् पाण्ड्यराज्यपरिचयः कात्यायनस्यासीत्, पाणिनेस्तु तदर्थं प्रयत्नाकरणात् पाण्ड्यराज्यपरिचयस्तस्य नासीदिति सम्भावयन्ति। परं सर्वमेतददृढानुमानमात्रम्। पाणिनेः परभवा एव शब्दाः कात्यायनेनोपसंख्याता इति मूलभूतः सिद्धान्त एव सपरिकरमस्माभिः खण्डितः। पाण्ड्यराज्यस्य स्थापन-कालोऽपि चाद्यावधि सम्यङ् न निश्चितः। तस्मात् कालस्य सम्यङ् निश्चयो नास्ति।

अस्मन्मते कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे ये राजनीतेराचार्याः परिगणिताः, तेषूक्तो वररुचिरयमेव स्यादिति विशेषेण सम्भाव्यते। पाणिनिप्रकरणोक्तरीत्या अस्य कात्यायनापरपर्यायस्य वररुचेः कौटिल्यपूर्वभवत्वसम्भवात्। भाष्यकृतः पतञ्जलेः कात्यायनस्य च काले चतुष्पञ्चशताब्दीव्यवधानेनावश्यं भवितव्यमिति प्रोक्तमेतदस्माभिः। सत्यव्रतसामश्रमिमहाशयोऽपि चैतदेव साधयति। तत्रेदमपि प्रमाणं तेनोपन्यस्तम्, यद् वार्तिककृता स्त्रीप्रत्ययसिद्ध्यर्थं सभाशब्दात्क्रियमाणे प्रत्यये यदनुबन्धासञ्जनमुपसंख्यातम्, तद् भाष्यकृता 'कथं स्त्री नाम सभासु साध्वी स्यात्' इत्युक्त्वा प्रत्याख्यातम्। तेनेदं शक्यतेऽनुमातुं यत् कात्यायनकाले सभासु स्त्रीणां साधुत्वम्—अर्थाद् वक्तृत्वादिना भागग्रहणं प्रचलितमासीत्, भाष्यकारकाले तु तन्निवृत्तमिति। एवंविधं सामाजिकं परिवर्तनं नाल्पेन कालेन सम्भवतीत्यनयोश्चतुष्पञ्चशताब्दीव्यवधानेनावश्यं भाव्यम्। अस्माभिरपि भाषापरिवर्तनविधया तदेतत्साधितमेव। तस्मात् यीशुख्रिष्टतः षष्ठ्याः सप्तम्या वा शताब्द्या अर्वाङ् न सम्भवति कात्यायनकाल इत्यनुमिनुमः। कथासरित्सागरे तु नन्दराज्यकाले स्थितः पाणिनिसमसामयिक एवायमुक्त इति लिखितपूर्वमेतत्। तस्य चैतिहासिकदृष्ट्या न प्रामाणिकत्वमित्यपि चोल्लिखित-पूर्वम्। इदमपि स्मर्तव्यम्—सरूपसूत्रे 'द्रव्याभिधानं व्याडिः' इति व्याडिनाम कात्यायनः स्मरति। तेन व्याडिना पाणिनिसूत्र-व्याख्यारूपः संग्रहो निर्मित इति यदि सत्यं तर्हि तस्मात्परभवेनैव कात्यायनेन भवितव्यम्। तस्मात्पाणिनेरस्य च विशेषेण कालव्यवधानमावश्यकमेव।

पतञ्जलेर्देशकालौ

अथ भाष्यकारस्य पतञ्जलेस्तु कालनिर्णये अस्ति दृढं साधनम्। पाणिनिना हि भगवता भूतार्थे लकारत्रयं विहितम्—लुङ्, लङ्, लिट् चेति। तत्र भूतसामान्ये लुङ्, अनद्यतनभूते लङ्, परोक्षानद्यतने लिडिति सूत्रोक्ता व्यवस्था। तत्रानद्यतने लङिति सूत्रे 'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' इति वार्तिककृतोक्तम्। तत्रोदाहरणप्रत्युदाहरणे आह भाष्यकारः—अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्। प्रतोक्तुर्दर्शनविषये इति किम्—'जघान कंसं किल वासुदेवः।' इति। एतद् व्याख्यातवान् कैयटः। 'अननुभूतत्वात् परोक्षोऽपि प्रत्यक्षयोग्यतामात्राश्रयेण दर्शनविषय इति विरोधाभावः'। उद्द्योतकृन्नागेशश्चात्रैवं व्याख्यातवान् 'भाष्ये जघानेति—कंसवधो हि नेदानीन्तनप्रयोक्तुर्दर्शनयोग्योऽपीत्यर्थः। अरुणदित्युदाहरणे तु तुल्यकालः प्रवक्तेति बोध्यम्'। सर्वस्यास्येदं तात्पर्यम्, यद् या घटना स्वयं न दृष्टा, परं स्वकाल एव जातत्वेन दर्शनयोग्या लोकप्रसिद्धा च, तस्यां बोध्यायां पाणिनिरीत्या अदृष्टत्वेन परोक्षत्वात् लिडेव प्राप्तः, परं तत्र 'लङ्' प्रयोक्तव्य इति वार्तिककृता स्वसम्मतिः प्रदर्शिता।

तत्र च पतञ्जलिना भाष्यकृता 'अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्' इत्युदाहरणद्वयं दत्तम्। तेनेदं स्फुटीभवति–यद्यवनकृतः साकेतावरोधो माध्यमिकावरोधश्च यद्यपि पतञ्जलिना स्वयं न दृष्टः, अथापि पतञ्जलिसमसामयिकत्वाद् दर्शनयोग्यो लोकप्रसिद्धश्चेति तत्र लङ्लकारप्रयोगोदाहरणं तेन दत्तम्। अथायं साकेतावरोधो माध्यमिकावरोधश्च यवनकृतः कदा बभूवेति ऐतिहासिकैः सुस्पष्टमद्य निर्णीतम्। ऐतिहासिकदृष्ट्या यीशुख्रिष्टतः ३२७ वर्षेभ्यः पूर्वम् अलक्षेन्द्रस्य (अलैग्जेण्डरस्य) आक्रमणम्। तदनन्तरं चन्द्रगुप्तराज्यकाले सिल्यूकसनामा यवनो भारतमाचक्राम। चन्द्रगुप्तेन पराजितश्च स्वकन्यां तस्मै दत्त्वा गत इति सुप्रसिद्धा घटना। तस्यैव सिल्यूकसनाम्नो यवनस्योत्तराधिकारी 'मीनाण्डर' नामाऽन्यो यवनः पुष्यमित्रराज्यकाले पुनर्भारतमाचक्राम। स स्वयं यद्यपि मथुरापर्यन्तमेवायातः, परं तत्सेनानायकैरयोध्यां विजित्य ततोऽपि पूर्वस्यां दिशि बहुदूरपर्यन्तमाक्रमणं कृतम्। अनन्तरं तेऽपि तत्रावस्थातुमशक्ताः परावृत्ताः। सोऽयं साकेतावरोधः। एतत्सहचारिण्येव च सैन्यपङ्क्तिरेका चित्रकूट (चित्तौड़) प्रान्तेऽपि गता। तत्र च चित्तौड़समीपवर्तिनी माध्यमिका नगर्यपि तयाऽक्रान्तेति साधितमैतिहासिकैः। अस्याक्रमणस्य वृत्तमस्मदीयायां गर्गसंहितायामपि प्राप्यते। तत्र 'मेनन्द्र' इति 'मीनाण्डरस्य' नाम निर्दिष्टम्। संस्कृतीकृत्यैव तन्नाम भारतीयैः परिचितमिति ऐतिहासिका मन्वते। अत एव 'मेनन्द्र' नाम्नैव खरोष्ट्रीत्याख्यायां लिप्यां तन्मुद्रा अपि मथुराप्रान्ते समुपलब्धाः। ततश्च सुसिद्धमिदं जातं यत् पुष्यमित्रराज्यकाल एव यवनस्य साकेतावरोधकालो माध्यमिकावरोधकालश्च। स एव च भाष्यकारस्य पतञ्जलेरपि समयः। महाभाष्ये 'पुष्यमित्रं याजयामहे' इत्यप्युदाहरणमुपलभ्यते। तेन पुष्यमित्रपुरोहितोऽयमित्यपि बहवोऽभिप्रयन्ति। राजसभा, चन्द्रगुप्तसभा, इत्युदाहरणदर्शनाच्चन्द्रगुप्तपरभवत्वमस्य सिद्ध्यत्येव। पुष्यमित्रसमयश्चाधुनिकानामैतिहासिकानां दृष्ट्या यीशुख्रिष्टतः पूर्वा द्वितीया शताब्दी। पौराणिकदृष्ट्या तु यीशुख्रिष्टतः पूर्वं सहस्राब्दीतोऽपि पुरातनः पुष्यमित्र इति सोऽयं मतभेदः सर्वत्रैव जागर्ति, न च लघुनिबन्धेऽस्मिन् स विवाद उपस्थापयितुं शक्य इति प्रागेव न्यवेदयाम। तस्मात् पुष्यमित्रराज्यकालो यः कोऽपि वा भवतु, स एव पतञ्जलेः काल इति सुनिर्णीतमेतावन्मात्रम्।

देशोऽप्यस्य 'गोनर्दः'। स्वयमेव भाष्यकृता स्वमताभिनिवेशेन तत्र तत्रोपन्यस्यता 'गोनर्दीयस्त्वाह' इत्युक्तम्। यद्यपि केचिन्महाशयाः परमतमेवेदम्, अन्य एव कश्चिद् गोनर्दीय इत्यपि ब्रुवन्ति, परं प्रामाणिकव्याख्याकृतो गोनर्दीयपदेन स्वमतमेवोपन्यस्तमित्येवाभ्युपगच्छन्ति। वयमपि च तत्र तत्र भाष्यकारशैलीं दृष्ट्वा व्याख्याकृतो मतमेवानुमोदामहे। तेन गोनर्दाभिजनो गोनर्दीयो भाष्यकार

इति स्फुटीभवति। गोनर्ददेशश्चायं 'गोंड़ा' इति प्रसिद्धः प्रान्त इति बहवो मन्यन्ते। पुष्यमित्रस्य यद्यपि प्रधानभूता राजधानी पाटलिपुत्रमासीत्, अथापि अयोध्यायामपि तेनोपराज्यस्थानं स्थापितमित्यप्यैतिहासिका विवृण्वन्ति। ततश्च 'गोंड़ा' प्रान्तवासिनः पतञ्जलेस्सम्भवत्ययोध्यायां वसता पुष्यमित्रेण सम्बन्धः। पुष्यमित्रेण च अश्वमेधराजसूयाद्यनुष्ठानं कृतमिति प्राप्तेभ्योऽभिलेखेभ्यो हरिवंशादिभ्यश्चापि प्रसिद्ध्यति। एवंविधेषु महत्सु यज्ञेषु पतञ्जलिसदृशो महाविद्वान् सम्मिलितो बभूवेति क एतन्नानुमन्येत। अन्ये तु 'गोनर्द' स्थानमुज्जयिनीप्रान्ते मध्यदेशेऽभ्युपगच्छन्ति। यस्य प्राकृतं नाम गोनद्धमित्यासीत्, व्यापारिणाञ्च तत् केन्द्रस्थानं बभूव। पुष्यमित्रादीनां शुङ्गवंशीयानां च मूलस्थानं 'विदिशा' नगरी। येदानीं ग्वालियरराज्ये 'भिलसा' इत्याख्यायते। तदेवमभिजनस्थानसामीप्यात् पुरातन एव पतञ्जलिपुष्यमित्रयोः सम्बन्ध इति तेषामभिप्रायः। काशिकादिषु व्याकरणग्रन्थेषु तु प्राग्देशेष्वेव गोनर्दस्य गणना कृतेति गोंडाप्रान्तमेव गोनर्दपदेन वयमधिकं सम्भावयामः।

इत्थं दृढैः प्रमाणैर्निश्चितयोः पतञ्जलिदेशकालयोः पुनरपि केचिद्विप्रतिपद्यन्त एव। तत्र सामश्रमिमहाशयो नेदमनुमन्यते, स तु अलक्षेन्द्राक्रमणात् प्रागेव बुद्धकालाच्च किञ्चिदर्वाक् प्रायेण पञ्चमीं शताब्दीं (ई. पू) पतञ्जलिकालं मन्यते। तत्र चेमे हेतवस्तेनोपन्यस्ता :—

१ अभिमन्युराज्यकाले चन्द्राचार्यादिभिर्विलुप्तप्रायस्य महाभाष्यस्य पुस्तकमेकं सुदुर्लभं कश्मीरेष्वानीतं तैरेव च तस्य प्रचारस्तत्र कृत इति राजतरङ्गिण्यामुक्तम्—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥

राजतरङ्गिणीतरङ्ग १ श्लो० १७६। हरिणा च वाक्यपदीये कश्चिद् विशेष उक्तः—

पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥

(वाक्यपदीय—२।४८६)

अभिमन्युराज्यकाले च अस्ति पाश्चात्यानां विप्रतिपत्तिः। विल्फर्डमहाशयः यीशुखिष्टतः ४२३ वर्षेभ्यः पूर्वमभिमन्युराज्यकालं मन्यते। बोथलिङ्कमहाशयश्च यीशुतः शताद् वर्षेभ्यः पूर्वम्। प्रिंसिप्महोदयः यीशुतः ७३ वर्षेभ्यः पूर्वं तद् राज्यावसानं मन्यते। लासेन—महाशयश्च यीशुतः ४० वर्षेभ्यः पश्चान्मन्यते। तदत्र बोथलिङ्क्प्रिंसिपमहाशययोर्मतं प्रायेण संवदतीति तत्रैव विश्वसिति सामश्रमिमहाशयः। तथा च यीशुखिष्टतः शताद् वर्षेभ्यः पूर्वं दूरात् दाक्षिणात्यपर्वत-

प्रान्तान्महाभाष्यपुस्तकं कश्मीरेषु गतम् । ईदृशस्य च महतो ग्रन्थस्य प्राच्य-देशे विरचितस्य दाक्षिणात्येषु तस्मिन् काले प्रचारो यदा बाष्पशकट्यादिकं नासीत्किमपि यानसाधनम्, तदनु च तस्य विलोपः, इत्येतदर्थमन्ततः त्रिचतु-श्शताब्दीसमयोऽवश्यमपेक्ष्यते । तस्मात् यीशुख्रिष्टात् पूर्वं पञ्चम्या शताब्द्या अर्वाक् महाभाष्यकारसमयः कदापि न भवितुमर्हतीति ।

२. 'सङ्कलादिभ्यश्च' (४।२।७५) इति सूत्रे पाणिनिना सांकलनगरस्य सत्ता प्रकटीकृता । तच्चेदं नगरं अलक्षेन्द्राक्रमणकाले तेन विनाशितमित्यैतिहासिकी प्रसिद्धिः । महाभाष्यकृता च तत्र सूत्रे तद्विनाशविषये किमपि नोक्तम् । यदि हि महाभाष्यात् पूर्वमेव साङ्कलनगरविनाशोऽभविष्यत्, तर्हि ईदृशी प्रत्यग्रा घटना तेनावश्यं तत्र निरदेक्ष्यत—साङ्कलनगरमिदानीं ध्वस्तमिति ।

३. अलक्षेन्द्रेण पञ्चनदप्रदेशे क्षुद्रकेति प्रसिद्धा युद्धप्रवणा जातिर्विनाशितेत्यपि ख्यापितं यवनदेशीयैरैतिहासिकैः । महाभाष्ये तु 'एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमि'त्यु-दाहरणं दृश्यते । यदि हि अलक्षेन्द्राक्रमणादनन्तरं महाभाष्यं विरचितमिति मन्येत, तदानुपदमेव पराजिताया विनष्टायाश्च जातेर्विजयशीलत्वं न कदापि तत्र वर्णितं स्यात् । तस्मादलक्षेन्द्राक्रमणात् प्रागेव महाभाष्यस्य निर्माणमिति ।

ता एताः प्रधानास्तस्य युक्तयः । 'पुष्यमित्रं याजयामहे' 'चन्द्रगुप्तसभा' 'पुष्य-मित्रसभा' 'अरुणद्यवनः साकेतम्' इत्यादीन्युदाहरणानि तु स्वकल्पितान्येवेति सामश्रमिमहाशयो वदति । यथा व्याकरणग्रन्थेषु देवदत्तयज्ञदत्तादीनि कल्पितान्येव नामानि तत्र तत्रोदाह्रियन्ते, तथैव पुष्यमित्रचन्द्रगुप्तादिनामान्यपि तदात्वे कल्पितान्येव महाभाष्यकृतोदाहृतानि । पश्चात्तु तन्नामका राजानोऽपि बभूवुरित्येव कल्पयितुमुचितम् । पुष्यमित्रो हि यीशुतः प्राग् द्वितीयस्यां शताब्द्यां जात इत्यैतिहासिकानां मतम् । ततश्च एकशताब्दीमात्रे समये महाभाष्यसदृशस्य दूरदेशे प्रचारस्तद्विलोपश्चापि नैव सम्भवतीति न युज्यते पुष्यमित्रकाले भाष्य-निर्माणम् । किञ्च महाभाष्ये 'अनुशोणं पाटलिपुत्रम्' इत्यप्युदाहरणं दृश्यते । कुसुमपुरापरपर्यायं पाटलिपुत्रञ्चेदं बुद्धदेवकाले एव वासयितुमुपक्रान्तम्, बुद्ध-देवेन 'महदिदं नगरं भविष्यतीत्याशीरपि दत्ता । तच्चेदं प्राक् शोणतीरे निवासितम् तदनु च ततः परिवर्त्य गङ्गातीरे स्थापितमित्येतत्सर्वं बौद्धग्रन्थेभ्यः प्रतीयते । इत्थं च यावच्छोणतीरे आसीत्पाटलिपुत्रं तावदेव महाभाष्यं निर्मितमिति ततोऽपि महाभाष्यस्य अर्वाचीनता न सम्भवतीति ।

ता एता सामश्रमिमहाशयस्य युक्तयः उपदर्शितदृढतरयुक्त्यग्रे नैव स्थातु-मुत्सहन्ते । पुष्यमित्रचन्द्रगुप्तयोर्नामनी स्फुटं महाभाष्ये दृश्येते । पुष्यमित्रस्य यागकरणमपि ततः प्रसिद्ध्यति । यवनकृतः साकेतावरोधो माध्यमिकावरोधश्चापि यदेतिहासेभ्यः प्रमाणीभवति' तदा सर्वमिदं कल्पितमित्युक्तिरुपहासायैव

प्रेक्षावताम् । एवमपलापे तु कस्यापि ग्रन्थस्य कालनिर्णयः कदापि न सम्भवति । सर्वत्रैवमुच्छृङ्खलानां कल्पनानां जागरूकत्वसंभवात् । तस्मात् ताः प्रबलतरा युक्तयः । 'संकलादिभ्यश्च' इति सूत्रे भाष्यमेव न दृश्यते, तदा केवलं नगरध्वंसवर्णनायैव भाष्यकारस्तत्सूत्रं व्याचक्षीतेत्येतदप्युपहासास्पदम् । न हि भाष्यमैतिहासिको ग्रन्थः, यत्रैवंविधा घटना अवश्यमुल्लिख्येरन् । क्षुद्रकजातिविषयेऽपि ऐतिहासिकैरन्यथैव प्रमाणितम् । मालवाः क्षुद्रकाश्चेति जातिद्वयं पञ्चनदप्रान्ते सुप्रसिद्धमासीत् । तयोश्च सर्वत्र युद्धादिषु साहचर्य्यमेव बभूव । परमलक्षेन्द्रस्याक्रमणकाले तेन सह युद्धावसरे तयोः साहचर्य्यं केनचिद्धेतुना न जातम् । ततश्च मालवैः पृथग् युद्धं कृतम्, क्षुद्रकैश्च पृथक् । ते एते जाती तदा विनष्टे इत्यपि भारतीयैरैतिहासिकैः खण्डितम् । अग्रे तयोर्जात्योर्देशान्तरेषु निवासः स्फुटं सिद्ध्यतीति । क्षुद्रका एकान्ततस्तदा पराजिता इत्यपि जायसवालमहोदयो नानुमनुते । यद्यपि यूनानदेशीयाः स्वलिखित इतिहासे क्षुद्रकाणां पराजयं वदन्ति, परमिदमप्यैतिहासिकैरुच्यते यद्युद्धान्ते क्षुद्रकेभ्यः ससम्मानं सभासु भोज्यादिकं यूनानदेशीयैरुपह्रियते स्म । न हि पराजितानामेवंविधः सत्कारः सम्भाव्यते । तस्माद् युद्धे सन्धिरेवासीत्, तत्र ऽच यवनैतिहासिकैर्यवनानां जयो भारतीयैश्च क्षुद्रकाणां जय उद्घोष्यते स्म इत्यनुमीयते । तत्र भारतीयमतमेवानुसृत्य महाभाष्यकृता 'एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्' इत्यादावुदाहृतम् । तादृशेन विश्वविजयिना महावीरेण सन्धिरपि नूनं जय एवेति जितमित्युक्तिर्न विरुद्धा । अत्र 'एकाकिभिः' इति पदं मालवसाहचर्यविरहं व्यञ्जयत् स्फुटमेव अलक्षेन्द्रयुद्धघटनां स्मारयति, तेन अलक्षेन्द्राक्रमणादनन्तरमेव महाभाष्यनिर्माणं सुस्फुटीभवतितराम् । पाटलिपुत्रं चापि विस्तृततमं नगरम्, गङ्गाशोणसङ्गमसन्निधाने निवासितम् अनुशोणमित्यनुगङ्गमिति च उभयथापि ख्यापयितुमद्यापि शक्यते । गङ्गाशोणसङ्गमश्च पूर्वं यत्रासीत् ततोऽद्य पश्चिमस्यां दिश्यागत इति प्राचीनाभिर्घटनाभिः सिद्ध्यति । तस्मात्तदात्वे अनुशोणमित्युक्तिर्न कथमपि विरुद्धा । अभिमन्युराज्यकाले कश्मीरेषु भाष्यपुस्तकगमनमवशिष्यते । परमभिमन्युराज्यकाल एव यदा न निश्चितस्तदा तदाधारेण कथं पतञ्जलेः कालनिर्णयो दृढः स्यात् । यदि लासेनमहोदयस्यैव मतं सम्यक् स्यात्, यीशुख्रिष्टादनन्तरं चाभिमन्युराज्यकालः सिद्धः स्यात् तदा पुष्यमित्रादनन्तरमपि द्वित्रिशताब्दीव्यवधानं सम्भाव्यत एव । किञ्च नैव राजतरङ्गिण्यां न वा हरिणा प्रचारानन्तरं महाभाष्यविलोप उक्तः । पूर्वं देशान्तरेषु प्रचारः तदनु विलोप इति कल्पनामात्रमिदम् । इदमपि सम्भाव्यते यत् पूर्वं महाभाष्यप्रचारो नैव जातः, कैश्चित्पतञ्जलिशिष्यैः गुरोरधीत्य तत् पुस्तकं देशान्तरेषु नीतं तदेव च कथंचिच्चन्द्राचार्यादिभिः प्राप्तम् । प्रचारस्तु तैरेव पश्चात् कृत इति । अस्यां च कल्पनायां शताब्दीव्यवधानमात्रमपि पर्याप्तं

भवति। तस्माद् दृढतरप्रमाणाऽग्रेऽनुमानसाधकानि प्रमाणानीमानि दुर्बलान्येवेति पुष्यमित्रराज्यकाल एव पतञ्जलिकाल इति मन्यामहे। स तु कालः कीदृश इति विप्रतिपत्तिर्न शक्यतेऽत्र समाधातुमिति निवेदितपूर्वम्।

तदेवं व्याकरणप्रधानाचार्याणां पाणिनिकात्यायनपतञ्जलीनां देशकालविषये यथोपलब्धि यथाशक्यं च विवेचितम्। एषां चाचार्याणां 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इति भट्टोजिदीक्षितप्रभृतयो वैयाकरणा आहुः। पाणिनिसूत्रविषये यत्र कात्यायनेन काचिद्विप्रतिपत्तिः—प्रदर्शिता उपसंख्यानादिकं वा कृतं तत्र कात्यायनस्यैव वचनं ग्राह्यम्। तद्वचनसंस्कृता एव प्रयोगाः साधुत्वेन मन्तव्याः। यत्र च कात्यायनवचनानि खण्डयित्वा भाष्यकारेण कश्चित् प्रयोगः समर्थितः, वार्तिकं वा प्रत्याख्यातं तत्र भाष्यकारवचनमेवानुसृत्य प्रयोगाणां साधुत्वमनुसंधेयमिति तदाशयः। एतेन भाष्यकारस्य प्रायाण्यं सर्वोपरिस्थितमिति सिद्धं भवति। यथा 'न बहुव्रीहौ' इति बहुव्रीहिसमासे सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधं कुर्वतः सूत्रकारस्य मते बहुव्रीह्यवयवानामपि सर्वनामत्वाभावे तत्राकच्न भवतीति 'स्वं पिता यस्येत्यादि' विग्रहे स्वार्थिके कप्रत्यये 'स्वत्कपितृकः' इत्येव प्रयोगः साधुतयाऽभ्युपगन्तुं युक्तः प्राप्नोति। परं भाष्यकारेण 'गोनर्दीयस्त्वाह अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयम्—त्वकत्पितृको मकत्पितृक इत्येवं भवितव्यम्' इति स्वीकृतम्। तत्र भाष्यकाराभ्युपगता एव प्रयोगाः साधुतया मन्तव्या इत्याधुनिका वैयाकरणा मन्यन्ते। इत्थमेव च 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' इति परिभाषयाऽपि सिद्ध्यति। व्याख्यातस्यैवानया पूर्वसन्देहनिवारकत्वरूपस्य प्राबल्यस्य बोधनात्। श्रीमन्तो दाधिमथाद्यास्तु 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमि'ति ब्रुवते। पाणिनिरेव भगवान् मुख्यप्रमाणभूत इति तदाशयः। आचार्याणां दृष्ट्या तदेव युक्तम्। स्वयमेव भाष्याकारादयः पाणिनिवचनं सर्वात्मभावेन प्रमाणयन्तीति। आधुनिकवैयाकरणदृष्ट्या तु व्याख्यानरीत्यैव व्याख्येयस्य तात्पर्यप्रतिपत्तिसंभवात् भाष्यरूपं व्याख्यानमेव मुख्यं मन्यते—इत्युभयोः सामञ्जस्यम्। मीमांसादर्शनभाष्यकृता श्रीशबरस्वामिनाऽपि दशमेऽध्याये अष्टमे पादे चतुर्थे सूत्रे प्रसङ्गादिदमुक्तम्—'सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम् असद्वादित्वाद् न कात्यायनस्य' इति। नञ्समासेन नित्येन भवितव्यं विकल्पितेन वेति तत्र विचारः। पाणिनेर्विभाषाधिकारकरणात् तद्रीत्या विकल्पः सिद्ध्यति, वार्तिककारेण तु 'वा वचनानर्थक्यं च स्वभावसिद्धत्वात्' इति विभाषाधीकारखण्डनं कृतम्। तद्रीत्या नञ्समासो नित्यः सिद्ध्यतीति पाणिनिवचनमनुसृत्य विकल्पित एव समासो मन्तव्य इति शबरस्वामिनोऽभिप्रायः। अस्ति विकल्प इति विकल्पाऽभ्युपगमात् पाणिनिः सद्वादीति तेन ख्यापितः, नास्ति विकल्प इति कथनाच्च कात्यायनस्यासद्वा दत्वमुक्तम्। वस्तुतस्तु कात्यायनस्य तत्रायमभिप्रायः, समासविकल्पो

न विधिसापेक्षः, अपि तु स्वभावसिद्धः। एकार्थीभावो व्यपेक्षा चेति द्विविधापि शब्दस्य वृत्तिर्वक्तुरिच्छाधीना। यो हि व्यपेक्षया प्रयोक्तुमिच्छति स राज्ञः पुरुष इति पृथक्पदघटितं वाक्यमेव प्रयुङ्क्ते, यश्चैकार्थीभावेन प्रयोक्तुमिच्छति स राजपुरुष इत्येकपदतां प्रापय्य प्रयुङ्क्त इति व्यर्था तत्र सद्धादित्वासद्धादित्व-कल्पना। स्पष्टीकृतमिदं तत्रैव टुप्टीकायां भट्टपादैः।

इदं तु वार्तिकानां भाष्यस्य च पर्यालोचनया बहुत्र प्रतीयत एव–यत् वार्तिककारः सूत्रकृतः पाणिनेर्न्यूनताप्रदर्शनमेवाभिलक्ष्य वार्तिकरूपव्याख्याकरणे प्रवृत्तः। महाभाष्यकारस्य तु पाणिनेर्गौरवरक्षार्थमेव दृश्यते प्रवृत्तिः। अत एव 'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म, तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण' (अ. १ पा. १ सू. १ भा. ३) इत्यादिकमनेकत्र तेनोद्घुष्टम्। अत एव कथासरित्सागरे पाणिनिकात्यायनयोर्विद्वेषपूर्वकं परस्परशास्त्रार्थकिंवदन्त्यपि प्रवृत्ता। यद्यपि श्रीवासुदेवशरणप्रभृतयः वार्तिककारस्य न्यूनता–प्रदर्शनबुद्ध्या विद्वेषबुद्ध्या वा प्रवृत्तिरिति श्रुत्वा विमनायन्ते, अनुकूलबुद्ध्यैव व्याख्यातरूपाण्येव वार्तिकानि तेन विरचितानीति ते मन्यन्ते। परं किं कुर्मो वयं यदा भाष्यकार एव तथा ध्वनयति, तदाऽभ्युपगन्तव्यमेवेदं भवति। तथाहि–प्रत्याहाराह्निके 'अ इ उण्' सूत्र एव 'अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः' इति वार्तिकं विवृण्वता भाष्यकृता स्पष्टमुक्तम्'—आहोपुरुषिकामात्रं तु भवानाह संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते इति, वयं तु ब्रूमः, विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत इति'। अत्र आहोपुरुषिकेति पदं स्फुटमेव वार्तिककृतोऽहंकारपूर्विकां प्रवृत्तिमन्वाचष्टे। तथैव 'ऋलृक्' सूत्रभाष्यान्तेऽपि 'स एव सूत्रभेदेन लृकारो-पदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन् प्रत्याख्यायते सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते'। एवं परिहासः स्फुटमेव कात्यायनस्य न्यूनताविष्करणरूपां प्रवृत्तिमभिव्यनक्ति। किमन्यत्, सर्वमपि भाष्यं पर्यालोच्यतामाधिक्येन न्यूनताप्रदर्शनरूपाणां वार्तिकानां निराकरण-मेव भाष्यकृता कृतम्। सूत्राक्षरैरेव वार्तिकार्थलाभाय च प्रयतितम्। अत्यल्पानि वार्तिककृतः उपसंख्यानानि तेन स्वीकृतानि।

महाभाष्यं चेदं वार्तिकानामेव व्याख्यानमिति शक्यते वदितुम्, वार्तिक-मेवावलम्ब्य भाष्यस्य सर्वत्र प्रवृत्तिदर्शनात्। स्वातन्त्र्येण सूत्राणि तु क्वचिदेव व्याख्यातानि। येषु सूत्रेषु वार्तिकानि न दृश्यन्ते तत्र भाष्यमपि प्रायेण न दृश्यत एव। इदमपि वैलक्षण्यं व्याकरणेऽनुसन्धेयम्–यदन्यत्र मीमांसा–वेदान्त–न्याय–योग दर्शन–प्रभृतिषु भाष्यस्य व्याख्यानभूतं वार्तिकम्, इह तु वार्तिक-व्याख्यानरूपं भाष्यमिति। अस्यापि इदमेव तात्पर्यं प्रतीयते यत् सूत्रेषु

उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता कात्यायनस्याभीष्टाऽभूत्। तत एव तेन स्वीयस्य ग्रन्थस्य वार्तिकमिति नाम कृतम्। 'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः'—इतिवार्तिकलक्षणात्। इदं चाप्यतिदुष्कर-मापतितं यत् कात्यायनकृतः स्वतन्त्रो वार्तिकपाठः इदानीं नोपलभ्यते। भाष्यमेव तु दृष्ट्वा कैश्चिद्वार्तिकपाठः सज्जीकृतः। परं नायं पाठः सर्वथाऽसन्दिग्धो गदितुं शक्यते, यतो हि स्वत्राक्यमपि यत्र व्याख्यायते तद् भाष्यं भवतीति भाष्यलक्षणं वदन्त्यभि-युक्ताः। 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः'। दृश्यते च महाभाष्ये बहुत्र तथैव यत् महाभाष्यकृत् पूर्वं संग्राहकवाक्यमुक्त्वा ततस्तद्विवरणं वितनुते इति। तेन कुत्र महाभाष्य-स्यैव तत्संग्राहकं वाक्यं कुत्र वा वार्तिककृतस्तथा वार्तिकमित्यसंदिग्धं दुःशको निर्णयः। 'वक्तव्यं न वक्तव्यम्' इत्यादिभाष्यशैल्या कथंचिन्निर्णयः सम्पाद्यते, परन्तु तथापि बहुत्र विप्रतिपत्तिर्न निवर्तत एव।

स्ववाक्यव्याख्याकरणरूपभाष्यपरिपाट्या बह्वी विप्रतिपत्तिः प्रवृत्ता। यथा 'अथ शब्दानुशासनम्' इति यद्भाष्यकारस्य आदिमं वाक्यं तत्सूत्रमेवेति केचिन्महाशया मन्यन्ते। साधयन्ति च तदेव महत्यारभट्या। वयं तु तेषां भ्रान्तिमेव मन्महे यतो हि भाष्यकारः स्वयम् 'वृद्धिरादैच्' सूत्रे वृद्धिपदं मङ्गला-र्थमाह। 'अनुवाद्यमनुक्त्वा हि न विधेयमुदीरयेत्' इति नियममनुसृत्य पूर्वमुद्देश्यकथनं तदनु विधेयकथनमित्यस्याचार्यस्य शैली। यथा 'इको यणचि, अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यादि। तथैव संज्ञासूत्रेष्वपि 'अदेङ् गुणः' इत्यादिषु पूर्व-मुद्देश्यकथनं तदनु विधेयकथनमित्येव रीतिर्दृश्यते। तथैव च रीत्या संज्ञा—संज्ञिभावो निर्णेतव्य इति भाष्यकृता सिद्धान्तितम्। तत्रेयं शङ्का 'कथं वृद्धिरादैच् इति' अत्र पूर्वं विधेयनिर्देशः कथमिति प्रश्नस्याशयः। तत्रोत्तरयति भाष्यकृत्—'एतदेकमा-चार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्, माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। 'मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति आयुष्मत्पुरुषाणि च अध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरि'ति। एतस्य भाष्यस्य तुलनायां यानि 'अथ शब्दानुशासनम्' इति वाक्यस्य सूत्रसाधकानि प्रमाणान्युपन्यस्यन्ते तान्यतिदुर्बलानि। ब्रह्मयज्ञे च शिष्टाः आदिसूत्रत्वेन 'वृद्धि-रादैच्' इत्येव परम्परया पठन्ति। तदेतदपि मुख्यं प्रमाणं मन्तव्यम्। तथैव 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति वार्तिके सिद्धशब्दोऽपि मङ्गलरूपतया भाष्यकृता व्याख्यातः। तस्मात् 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इत्येतदादिमं वार्तिकं ये मन्यन्ते तेऽपि भ्रान्ता एव प्रतीयन्ते। किञ्च 'वृद्धिरादैच्' इति वृद्धिपदेन सूत्रकृतो मङ्गलम् 'सिद्धे शब्दार्थः सम्बन्धे' इति सिद्धशब्देन च वार्तिककृतो मङ्गलम् इति व्याचक्षाणः पतञ्जलिः स्वयं महाभाष्यस्यारम्भे मङ्गलं न कुर्यादिति नैतदुपपद्यते। तस्मात्

'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यथशब्देन तेन मङ्गलं कृतम् 'इत्येव सम्यगाभाति। व्याख्यातं च प्रधानव्याख्यात्रा कैयटेन 'भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य साक्षात् प्रयोजनमाह 'अथ शब्दानुशासनमि'ति। प्रयोजनप्रयोजनानि तु रक्षोहादीति पश्चाद् वक्ष्यन्ते' इति। एतेनोभयमपि भाष्यकारवाक्यमिति कैयटमतं स्फुटीभवति। यादृशी च भाष्यकारस्य शैली, यद् वार्तिकमुल्लिख्य तदनु तद्वाक्यानुवादेन 'कर्तव्यः' 'वक्तव्यम्' इत्यादि वदति, तथा 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहा' इत्यत्र न दृश्यते इत्येतदपि तस्य वार्तिकत्वाभावे बीजम्। यत्तु—मीमांसकविरुदभाजा श्रीयुधिष्ठिरमहाशयेन, संस्कृत—व्याकरणेतिहासे प्रोक्तम्—आदिशब्दो भाष्यकारस्य न सर्वादिबोधकः, अपि तु किञ्चित् परतोऽपि विद्यमाने मध्यगेऽप्यादिशब्दः प्रयुज्यते। एवमेवान्त्यशब्दः मध्यगशब्दश्चापि तस्य व्यभिचारी। तत्र निदर्शनं च 'भूवादयो धातव' इति सूत्रे 'भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' इति वार्तिकं तद्भाष्यं च। 'भूवादय' इति सूत्रं हि नाद्यं नान्तिमं न वा मध्यगम्, प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादादौ वर्तमानत्वात्। तत्रापि च वाशब्दः मङ्गलार्थत्वेनोक्तः तत्समर्थनञ्च 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' इत्यादिरीत्यैव कृतम्। तस्मात् तस्यादित्वं मध्यगत्वं वा भाष्यकारेणाभ्युपगतम्। तेनैव सिद्धमिदं यदादिशब्दो मध्यगशब्दो वा सर्वादिभूते सर्वमध्यगे वा प्रयुज्येतेति नैष नियमः। ततश्च 'अथ शब्दानुशासनमि'त्यस्य सूत्रत्वाभ्युपगमेऽपि 'वृद्धिरादैच्' इति वृद्धिशब्दस्य मङ्गलार्थता न विरुद्ध्यते। 'रक्षोहागमे'त्यस्य वार्तिकत्वेऽपि च 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति सिद्धशब्दस्यापि मङ्गलार्थता युज्यते एव। तदिदमितिहासमीमांसकस्य वचनं बालानामप्युपहासाय भवेत्। 'सति हि परस्मिन् यस्मात् पूर्वो नास्ति स आदिः, सति च पूर्वस्मिन् यस्मात् परो नास्ति सोऽन्त्यः' इति स्वयमेव भाष्यकृता आद्यन्तयोर्लक्षणं कृतम्। तच्च स्वकीयं लक्षणं स्वयमेव स न मन्यते—इत्यहो तस्याप्तता समर्थिता। 'भूवादयः' इत्यत्र यद् वशब्दस्य मङ्गलार्थत्वमुक्तम्, तस्य तु धातुपाठमङ्गलार्थत्वं प्रतीयते। सर्वो हि धातुपाठो 'भूवादयो धातव' इति सूत्रेण संगृहीतः, ततश्च संग्राहके सूत्रे कृतं मङ्गलं धातुपाठस्यैव मङ्गलं संवृत्तमिति तदभिप्रायः। सम्भवेच्च मध्यगशब्दस्य व्यभिचारित्वमपि, आद्यन्तौ विहाय सर्वेऽपि मध्यगा वक्तुं शक्यन्ते। आद्यन्तशब्दौ तु व्यवहारे शास्त्रे च नियतौ न व्यतिक्रममर्हतः। 'वृद्धिरादैजि'ति सूत्रे हि 'एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्, माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' इति स्पष्टमादिशब्दो भाष्यकृतोपात्तः। नैवं 'भूवादयो धातवः' इति सूत्रे आदिशब्दोपादानं दृश्यते। एवमेव सिद्धशब्दविषयेऽपि 'महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' इत्यादिशब्दप्रयोगो दृश्यते। तस्मात् 'वृद्धिरादैजि'त्यतः प्राक् सूत्रकल्पना 'सिद्धे

शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यतः प्राग् वार्तिककल्पना च न कथमपि प्रामाणिकी भवितुमर्हति। यैर्ग्रन्थकृद्भिस्तथोल्लिखितं तद्भ्रमात्प्रमादाद्वेत्येव मन्तव्यं स्यात्। भाष्यकृतस्तुलनायां तेषां प्रामाण्याभावात्। अद्यावधि सर्वेषु पुस्तकेषु व्यवह्रियमाणेषु अध्यायाद्यङ्केषु प्राथम्यमेव 'वृद्धिरादैच्' सूत्रस्य दृश्यत इति 'अथशब्दानुशासनमि'त्यस्य सूत्रत्वकल्पना सर्वप्रामाणिकविरुद्धेत्यास्तां तावत्। तस्माद् भाष्यकृतः किं स्वकीयं वाक्यं किं वा वार्तिककृतो वार्तिकम् इति निर्णयो दुःशक एवापतितः। भाष्यकारशैलीमेवावधानेन परीक्ष्य कथंचित् निर्णीयत एवाऽभियुक्तैः। सिद्धान्तकौमुद्यादिषु तु बहुत्र वार्तिकानि स्वरूपान्तरतामिव प्रापितानि दृश्यन्ते। केवलमर्थसम्बन्ध एव तत्रानुसृतः। भवतु नाम, वार्तिकपाठस्य प्रामाणिकस्योद्धारोऽन्वेषकाणां कर्तव्येषु मुख्यतया तिष्ठतीति अवश्यमवधेयम्।

इदं तु असंदिग्धमेव, यदद्यत्वे पाणिनीयस्य व्याकरणस्य यादृशी प्रतिष्ठा दृश्यते, यथा च शास्त्रेषु व्याकरणस्य मुख्यं स्थानं गण्यते, सोऽयं सर्वोऽपि कात्यायनस्य, भाष्यकृतः पतञ्जलेश्च प्रभावः। महाभाष्यं न केवलं व्याकरणनिबन्धः, अपि तु सर्वाण्यपि ज्ञातव्यानि विषयजातानि स्थाने स्थानेऽत्र सपरिकरं विवेचितानि। लौकिका व्यवहाराः, प्राक्तना इतिहासाः, आवश्यकाः धर्माः, दर्शनानां सिद्धान्ताः, गूढतमानि विज्ञानानि चेति सर्वमेतन्महाभाष्ये कृतपरिश्रमैस्सम्यक् परिचेतुं शक्यते। एवंविधया विवेचनयैव संस्कृतस्य व्याकरणशास्त्रमियतीं प्रतिष्ठां गतम्। न च पतञ्जलेरिव सरलगम्भीरा प्राञ्जलतमा भाषाऽपि कस्याप्यन्यस्य ग्रन्थकृतो भाग्ये विधिना निवेशिता। तस्मान्महाभाष्यमिदमलौकिकं वस्तु संस्कृतवाङ्मयमन्दिरस्य सुवर्णकलशायमानमित्यत्र न सन्देहः। आश्चर्यं त्विदं यद्यः समयो भाष्यकारस्य निर्णीयते स आधुनिकस्य भौतिकविज्ञानस्य न तादृशः प्रचारसमयः शक्यते निर्धारयितुम्। भारतीयं वैदिकं विज्ञानं तदात्वे विलुप्तप्रायमेव सम्भाव्यते, तथापि विज्ञानस्यापि गूढतमाः सिद्धान्ता महाभाष्ये तत्र तत्र प्राप्यन्ते। यथा 'स्थानेऽन्तरतमः' इति सूत्रे 'अचेतनेष्वपि—लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति, नोर्ध्वमारोहति, पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः, स धूम आकाशे निवाते नैव तिर्यग् गच्छति, नार्वागवरोहति, अब्विकारोऽप एव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्यग् गच्छति, नार्वागवरोहति, ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः इति। इह हि सजातीयाकर्षणसिद्धान्तः स्पष्टतया कियद्भिर्दर्शित इति वैज्ञानिका विद्वांस एवात्र प्रमाणम्। यमाकर्षणसिद्धान्तं न्यूटनमहाशयेनाविष्कृतं पाश्चात्या मन्यन्ते, स भारते यीशुख्रिष्टतोऽपि पूर्वं विस्पष्टं प्रचलित आसीदिति नाल्पं गौरवं भारतस्य। अनन्तरं सिद्धान्तोऽयम्—

'आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या ।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे ॥
(सिद्धान्तशिरोमणौ)

इत्यादिना भास्कराचार्यप्रभृतिभिः स्वशब्दैरेव स्पष्टीकृत् इत्यन्यदेतत् ।

एवमन्यत्रापि तत्र तत्र द्रष्टव्यम् । शब्दविज्ञानन्तु पदे पदे महाभाष्ये जागर्त्येव । अनेकत्र तु भाष्यकृता निरूपितं विज्ञानं व्याख्याकृद्भिरपि न बुद्धम् । तेन च भाष्यकारस्याशय एव तैर्गर्ते पातितः । तत्र निदर्शनं 'स्त्रियम्' इत्यधिकार–सूत्रस्थं भाष्यम्—

संस्कृतभाषायामचेतनबोधका खट्वा–वृक्षादिशब्दा अपि तत्तल्लिङ्गभाजोऽभ्युपगम्यन्ते । तत्र वैज्ञानिकहेतुमुपदर्शयन् महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिः—

संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः ।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान् ॥

इति वार्तिकं व्याचक्षाण आह 'अधिकरणसाधना लोके स्त्री, स्त्यायत्यस्यां गर्भं इति, कर्तृसाधनश्च पुमान् सूते पुमानिति । इह पुनरुभयं भावसाधनम्=संस्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिश्च पुमान् , कस्य पुनः संस्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिर्वा पुमान् । गुणानाम् । केषाम् , शब्दस्पर्श–रूप–रस–गन्धानाम् । सर्वाश्च पुनः मूर्तय एवमात्मिकाः संस्त्यानप्रसवगुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्यः । यत्राल्पीयांसो गुणास्तत्रावरतस्त्रयः शब्दः स्पर्शो रूपमिति, रसगन्धौ न सर्वत्र । प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या, न हीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्त्तमप्यवतिष्ठते, वर्द्धते वा यावदनेन वर्द्धितव्यम् , अपायेन वा युज्यते, तच्चोभयं सर्वत्र, यद्युभवं सर्वत्र, कुतो व्यवस्था, विवक्षातः । संस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान् , उभयविवक्षायां नपुंसकम्' इति । अस्याभिप्रायः स्फुट एव–यत् सर्वत्र यज्ञप्रक्रियाविधया आदानप्रदाने प्रवर्तेते । सर्वमपि पदार्थजातं दृश्यमानं न कदाप्येकरूपम् , परिवर्तमानमेव स्विदं सर्वमुपलभ्यते । परिवर्तमानमपि च नैकान्ततः सत्तां जहाति । तदिदं सर्वं यज्ञकृतम् । स्वीयानां भावानामन्यत्रार्पणम् , अन्यतश्च भावानामादानमितीयमादानप्रक्रिया यज्ञः । यथा प्रदीपः प्रकाशं सर्वत्रार्पयति, तैलावयवांश्चाजस्रमादत्ते, मलं बलं च सर्वत्र प्रयोजयति । तथैव वृक्षा अपि मूलाज्जलमाददते, प्रसूनफलादिकं च ददति वाय्वादिष्वपि च स्वप्रभावमर्पयन्ति । इष्टका–प्रस्तरादिष्वत्यन्तजडेष्वपि प्रक्रियेयं सर्वत्र प्रवर्तते । तत एव नवस्य पुराणत्वं सर्वत्रैव जायते इति विभाव्यम् । सोऽयमादानप्रदानापरपर्यायोऽन्नान्नादभावः । तत्रादानविवक्षायां स्त्रीलिङ्गशब्दस्तत्र प्रवर्तते, प्रदानविवक्षायां पुँल्लिङ्गशब्दः, ताटस्थ्यविवक्षया तु नपुंसकलिङ्गशब्द इति । परं कैयटमहाभागो यज्ञप्रक्रियामिमामनभिलक्ष्यैव शब्दस्पर्शादिरूपेण स्वकृतमपि भाष्य,

कृतो विवरणं गौणं मत्वा गुणशब्दस्य सांख्यप्रसिद्धं सत्त्वाद्यर्थमुपगम्य तदुपचयापचयौ च काल्पनिकौ मत्वा सर्वां वैज्ञानिकप्रक्रियां तिरोदधाति। नागेशभट्टाद्याश्च तदेवानुसरन्ति। विज्ञानप्रक्रियाया देशे विलोप एवात्रापराध्यतीति न प्रष्टव्यम्। एवमेव 'उच्चैरुदात्तः' इति सूत्रेऽपि शब्दोत्पत्तिप्रक्रिया या वैज्ञानिकी महाभाष्यकृतोक्ता, सा व्याख्याकृद्भिरन्यथैव नीता। उच्चैस्त्वं नीचैस्त्वं चेदमव्यवस्थितम्, यदेव एकस्य कृते उच्चैस्तदेवापरस्य कृते नीचैर्भवतीत्याशङ्क्य गात्रायामदारुण्यादिना क्रियमाणामपि व्यवस्थामनवस्थितां निरूप्य 'सिद्धन्तु समानप्रक्रमवचनात्, सिद्धमेतत्, कथम्—समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः, उरः कण्ठः शिरः इति' इत्येवं मुख्यं समाधानमुक्तम्। वर्णानां हि द्विविधानि स्थानानि पाणिनीयशिक्षादौ दर्शितानि, सवनस्थानानि, आस्यान्तर्गतस्थानानि च। बुद्ध्यार्थान् समर्थ्यात्मना प्रेरितेन मनसाऽभिहतः कायाग्निर्यदा शारीरं मारुतं प्रेरयति, तदा स वायुः उरसि, कण्ठे, शिरसि वा मनोऽभिप्रायानुकूलमेव क्वचित्प्रथमं करोति, तान्येतानि त्रीणि सवनस्थानानि शिक्षायामारम्भ एव स्पष्टीकृतानि—

मरुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातः सवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥ ७॥
कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥ ८॥

एवं त्रिषु प्रक्रमेषु क्रमेण मन्द्रमध्यमताराः स्वरा भवन्तीति प्रतिपाद्य अनन्तरम्—

'सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णान् जनयते'

इति आस्यस्थानेषु वर्णोत्पत्तिरुक्ता। उरसि कण्ठे शिरसि वा क्वचिद्वक्तुरभिप्रायानुसारेण केन्द्रं प्रकल्प्य पुनर्वायुस्तस्मात्केन्द्रादुत्थाय मूर्धपर्यन्तं गच्छति, ततश्चाभिघातमासाद्य मुखे प्राप्तस्तत्तत्स्थानसम्बन्धेन वर्णान् जनयतीति स्फुटोऽभिप्रायः। आस्यगतस्थानेष्वपि 'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' इत्यादिना उरःकण्ठशिरांसि स्थानानि शिक्षायामुक्तानि, तान्येतानि सवनस्थानेभ्यः पृथग्भूतानि, अत्रैव हि कण्ठान्नीचैस्तनो भाग 'उर' इत्युक्तः, दन्तानां मूर्धा च शिर इति। तत्र ह्न, ह्म, इत्यादिषु हकारस्य उरःस्थानमुक्तम्—केवलस्य तु हकारस्य कण्ठ्यत्वमित्यादि सर्वं तत्रालोच्यम्। सवनस्थानानां च स्पष्टीकरणमग्रेऽपि शिक्षायाम्—

प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन॥
तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन॥

प्रत्यात्ममनुभवसिद्धं चेदम्—स्वसामर्थ्यानुसारं कदाचित्कश्चिदुच्चैर्वदति, कदाचिन्नीचैः, कदाचिच्च समेन स्वरेण इति। सोऽयं भेदः सवनस्थानकृत एव। तान्येतानि सवनस्थानान्येव प्रक्रमशब्देनोक्त्वा भाष्यकारेण उच्चैस्त्वनीचैस्त्वयोरव्यवस्थायाः समाधानं कृतम्, यद्यथाविधो यस्योपक्रमः, तत्र यदुच्चैस्तदुदात्तमिति विज्ञातव्यम्—कामं तदन्यापेक्षया नीचैर्भवतु, न तेनास्माकं प्रयोजनमिति। परं कैयटमहाशयः सवनस्थानानामास्यस्थानानां च भेदमविचार्यैव भाष्ये स्पष्टमुक्तम् 'उरः कण्ठः शिरः' इति स्थानत्रयमष्टानामपि स्थानानामुपलक्षणं मत्वा तत्र च प्रत्येकं स्थानेषु काल्पनिकमनुभवविरुद्धं त्रिन्दुत्रयमुररीचकारेत्येकदेशितात्रापराध्यति। एवं महाभाष्यस्य गूढा आशया व्याख्याकृतां कृपया अन्यथैव नीता इति निदर्शनमात्रमिदम्, सम्यगालोचने बहुत्रैवं प्रतीयेत।

इदं तूपकारभारं महामान्यस्य कैयटमहाभागस्य नैव विस्मर्तव्यम्—यद् बहुत्र महाभाष्यं तद्व्याख्ययैवाद्यास्मादृशैर्बुध्यते, यदि नाभविष्यत् कैयटकृतं व्याख्यानम्, तर्हि दुरवबोधमेव महाभाष्यं बहुत्राभविष्यदिति। यद्यप्यन्या अपि व्याख्या महाभाष्यस्य बह्व्यः सन्तीति श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकमहाशयेन संस्कृतव्याकरणशास्त्रस्येतिहासे स्फुटीकृतम्, हरिबद्धं सेतुन्तु कैयटः स्वयमालम्बनत्वेन स्मरति, तथापि ता अनुपलब्धा अप्रचलिता वा, प्रसिद्धं प्रामाणिकं व्याख्यानन्तु कैयटस्यैव भाष्यप्रदीपाख्यमेव। हरिर्वैज्ञानिकमूर्धन्य इत्यत्र न संदेहः, तदीयाद्वाक्यपदीयग्रन्थात्तथावगतेः, तन्त्रशास्त्रेष्वपि च तन्मतस्य मान्यताप्रसिद्धेः, परं तद्व्याख्यायाः कियांश्चिदेवांशो जर्मनपुस्तकालये प्राप्योऽस्ति। ततश्च तत्प्रतिलिपिः पञ्जापविश्वविद्यालयेनापि आनाय्य स्वकीये पुस्तकालये रक्षिता ततः कैश्चिद्विद्वद्भिरपि प्रतिलिपिः कृता। प्रचारस्तु तस्या अद्यावधि नास्ति। स्वल्पपरिमाणैव च सा लब्धा इति भाष्यार्थावबोधकृते कैयट एवाद्यावधि शरणम्। अस्य च कालः दशमी एकादशी वा शताब्दी ऐतिहासिकैर्मन्यते।

धर्मशास्त्र-खण्डः

(अत्र खण्डे—१. चातुर्वर्ण्यम्

२. प्रमीतपतिका धर्मालोचनम्

३. स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था

४. पितृविवेकः

एते चत्वारः प्रबन्धा निवेशिताः। अन्तिमः पितृविवेकोऽपूर्ण एवोपलब्धो यद्यपि, पूर्वपक्ष एव विद्यतेऽत्र, नतूत्तरः पक्षः, तत्रावश्यमुत्तरमाकांक्षेयुः पाठकाः। परं दौर्भाग्याच्छैथिल्यमायातेषु पितृचरणेषु न संजाता पूर्तिरेतदीया। वैदिके खण्डे पितृविवेकाख्योऽपि लेख एतद्विषयक एव। तेनैवात्र विषये सिद्धान्तपक्षोऽवधेयः। अयं तु यावानुपलब्धस्तावन् प्रकाश्यते। संभावितैः पूर्वपक्षैस्तु परिचयस्यादेवानेनेति—संपादकः)

चातुर्वर्ण्यम्

इह हि वस्य इदानीं चातुर्वर्ण्यविषये लौकिकानां शास्त्रविदुषां च विप्रतिपत्तयः श्रूयन्ते—'नासीत्पुरा भारतोन्नतिसमये वर्णविभागप्रथा, अर्वाक् काले तु मतिभ्रंशादल्पज्ञैर्जनैः सैषा समुत्कल्पिता, एतन्मूलिकैव चेयमालोक्यतेऽतितरामवनतिः—तस्मात्सुदूरमुत्सृज्य तामिमां सम्पादनीया भारतोन्नतिः' इत्याहुः केचन स्वतन्त्रप्रज्ञा ऐतिहासिकंमन्याः। 'यद्यप्यासीत्पुरा वैदिकेऽपि काले वर्णविभागः, परं सोऽयं कर्मविभागमूलक एव तदात्वे प्रचलितो न तूत्पत्तिमात्रसमनियतमासीद्वर्णानां वर्णत्वम्, जन्मनायं वर्णविभागस्तु श्रुतिस्मृत्यननुमतः कैश्चिदल्पज्ञैराधुनिकैरेव प्रचारित इति समुच्छेदार्ह एव' इति वदन्ति बहवो वैदिकमानिनः। 'पुरा कर्मणैवासीद् व्यवस्थितिर्वर्णानाम्, इदानीन्तु जन्मनैवोररीकृता सा समीक्षादक्षैः समाजसंरक्षकैः' इत्यभ्युपगच्छन्त्यनेके मध्यस्थाः। 'इदानीमिव आसृष्टेराप्रलयाच्च योनिनैव व्यवस्थिता वर्णाः, सर्गकाल एव भगवत आदिपुरुषस्य मुखबाहूरुपादाद् विभिन्नानामेव ब्राह्मणादीनामुत्पत्त्यभ्युपगमात्' इत्यातिष्ठन्ते सनातनधर्माग्रहिणः।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

[श्रीभगवद्गीता]

इति तु व्यवस्थापयन्ति धर्ममर्मनिष्णाताः। ताभिरेताभिर्विप्रतिपत्तिभिर्व्याकुलीभूत इवेदानीं समाजः, यथा कथमपि वा प्रवर्तन्ते तत्त्वमविद्वांसो नव्य शिक्षिताः— इति भारतीयधर्मे प्रधानभूताया वर्णव्यवस्थायास्तत्त्वविचारणमिदानीं सर्वेषामपि विदुषां कर्त्तव्यं नाम, येन तत्त्वज्ञानान्न वञ्चिताः स्युरल्पमतयोपि न च वैयाकुलीमुपेयात्समाजबन्ध इति। तद्वयमप्येतदाकलय्य गभीरतरेऽपि विषयेऽस्मिन् यथामति प्रवर्तयामो लेखनीं कर्तव्यमनुरुन्धानाः, आशास्महे च मनुष्यबुद्धिसुलभमत्रोपजायमानं प्रमादं परिशोधयेयुः करुणापरवशा महान्त इति।

तत्र ये तावत् सर्वविद्यानां बीजरूपतया सर्ववाङ्मयादि भवत्त्वेन सर्वैरङ्गीक्रियमाणासु श्रुतिषु वर्णभेदमुपलभमाना अपि तदंशस्य प्रक्षिप्तत्वादिना पुरा वर्णभेदमेवापलपन्तोऽवनतिसाधनतां च तस्मिन्नारोपयन्तो निष्कारणं प्रद्वेषमात्मीयं तत्राविष्कुर्वन्ति, न ते किंचिदपि प्रतिवक्तुं शक्याः। केन वा साधनेन प्रत्युच्यन्तामेते—वर्णभेदप्रमाणत्वेनोपन्यस्तानां सर्वेषामेव वाक्यानां प्रतिज्ञायमानत्वात्—शब्दप्रमाणमन्तरा च पुरास्यार्थस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात्। अवनतिसाधनत्वमुन्नतिसाधनत्वं वा सम्भवति वर्णव्यवस्थाया इति तु लौकिकीं दृष्टिमवलम्ब्य

सत्यवसरे विवेचयिष्यामः। तदिदानीं वर्णव्यवस्थितिरियं जन्मना कर्मणा वेति कथमासीत्पुरा, कथंच सेयमिदानीमभिमता स्मृतिकाराणाम्—इत्यस्मिन्नेव विप्रतिपत्तिविषयीभूते विषये श्रुतिस्मृती अवलम्ब्य किञ्चिद् विविच्यते।

तत्र सृष्टेः प्रभृति जन्मनैव वर्णव्यवस्थितिरिति वदन्ति केचन विद्वांसः, प्रमाणयन्ति च तत्र :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

इत्याद्याः श्रुतीः। अत्र हि चतुर्थपादसाहचर्येणादिपुरुषस्य भगवतो मुखाद् ब्राह्मण आसीदित्यादिरेवार्थः, ब्राह्मणो मुखमासीदित्याद्युक्तिस्तु कार्यकारणयोरभेदोपचारमूलिकैव। भवन्ति ह्यस्यैवार्थस्यानुगामिन्यः स्मृतयः, तथा हि—

लोकानान्तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।
सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत्। (मनुः)।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः।
(श्रीभागवतम् स्क० ११ अ० १७)

वक्त्राद्यस्य ब्राह्मणाः संप्रसूता-
स्तद्वक्षस्तः क्षत्रियाः पूर्वभागैः।
वैश्याश्चोर्वोर्यस्य पद्भ्यां च शूद्राः
सर्वे वर्णा गात्रतः सम्प्रसूताः। (वा०पु० अ० ७१)

ततः कृष्णो महाभाग पुनरेव युधिष्ठिर!
ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत् प्रभुः।
बाहुभ्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम्।
पद्भ्यां शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभ।
स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपाः।
अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम्।
(महाभा० शा० प० २०७ अ०)

इत्यादि सर्वत्रैव पुराणेषु द्रष्टव्यम्। तथा च स्पष्टं सिद्धमेतत्—सृष्ट्यादौ भगवत आदिपुरुषस्य मुखाद्येषामुत्पत्तिस्ते तद्वंशोद्भवाश्च भवन्ति ब्राह्मणपदवाच्याः—'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः' स्मरणात् एवं भगवतो बाहुभ्यां येषामुत्पत्तिस्ते तद्वंशोद्भवाश्च क्षत्रियाः, ऊरुभ्यामुत्पन्नास्तद्वंशजाश्च वैश्याः,

पादजातास्तद्वंशोद्भवाश्च शूद्रा इति। ततश्चोत्पत्तिकृतैवेयं वर्णव्यवस्था—विधातृनियोगात्तु ते मुखादिजाताः स्वस्ववर्णोचितानि कर्माणि प्रतिपद्यन्ते—ये तु स्वोचितानि कर्माण्यकुर्वाणा अन्यधर्मान् प्रपद्यन्ते त इमेऽवश्यमीश्वराज्ञाविमुखा दण्डभाजो भवन्ति। श्रुतिस्मृतिभ्यां तथार्थस्यावगमादिति शब्दैकप्रमाणानां यथाश्रुतप्रतिपत्तॄणामृजूनां पन्थाः।

अत्रापरे तर्कशब्दप्रमाणान्तराणि चास्थाय प्रत्यवतिष्ठन्ते, नेयं वर्णव्यवस्था योनिकृता भवितुमर्हति, अपि तु गुणकर्मकृतैव, समाजोपनिबद्धा च। यदि हि जन्मकृता स्यात्—अवश्यं भारतनिर्विशेषं सर्वेष्वेव (युरोपादि) देशेषु समुपलभ्येत। न खलु भगवतादिपुरुषेण भारतीया एव समुत्पादिताः, न त्वन्यदेशीयाः—इत्ययमर्थः शक्यते केन चिदभिधातुम्—अभिहितो वा रभसात् समीक्षादक्षैः प्रतिपत्तुम्। यदि तु तेऽपि भगवतोत्पादितास्तर्हि स्युरवश्यं मुखबाह्वाद्यन्यतमजाता इति प्रवेश्या अन्यतमे वर्णे, न तु तत्तथोपलभ्यते—धर्मशास्त्राण्यपि ह्यस्माकमार्यदेश एव वर्णधर्मान् बोधयन्ति न तु सर्वत्र। यत्तु केचिदाग्रहपरतन्त्राः प्रतिपादयेयुः—अस्त्येव देशान्तरेष्वपीयं वर्णव्यवस्था, तत्रापि वैज्ञानिकानां सैनिकानां व्यापारिणां सेवकानां च विभागस्य सुप्रथिततरत्वात्—तदेतद्विपरीतम्। यथा हि गुणकर्मानुरोधिनी समाजकृता च सर्वोन्नतिसाधनीभूता प्रचलति तत्र वर्णव्यवस्था—तथैवेयमासीत्पुरास्मास्वपीत्येवास्माकमभिप्रायः, न त्वियं प्राकृतिकी (ईश्वरकृता) भवितुमर्हति, तथात्वे तथोपलब्धेरेव सर्वत्रावश्यकत्वादिति।

तस्माद्विज्ञानोन्नतिमधिरूढैरस्मत्पूर्वपुरुषैरुत्तरोत्तरमुन्नतिसाधनार्थं विभज्य कार्यकरणाय समाजव्यवस्थारूपेणैवेयं प्रचारिता वर्णव्यवस्थेति सुस्पष्टमधिगम्येत विचारदक्षैः। अभिहितं चैतदेवमेव श्रुतिस्मृतिष्वपि, तथा हि "देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्प्यमाना अनु मनुष्यविशः कल्प्यन्ते"। (ऐ. ब्रा. १–२–३) इत्याद्याः श्रुतयो भङ्ग्या कल्पनाप्रसूतां वर्णव्यवस्थितिमाचक्षते। स्मृतिषु तु—

> न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
> ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ (महाभारते)

इत्याद्यासु स्पष्टं कर्ममूलको जातिविभाग इति प्रतिपादितम्। एवं धर्मराजेनापि युधिष्ठिरेण नहुषसंवादादिषु सर्वत्र गुणकर्ममूलक एव जातिविभागोऽभ्युपगतः–(महाभा० व० प० अ० २८०)

युधिष्ठिरः

> सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
> दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतिः।

सर्पः (नहुषः)

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ! ।

युधिष्ठिरः

शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प ! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प ! तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ।

सर्पः

यदि ते वृत्ततो राजन् ! ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
वृथा जातिस्तदायुष्मन् ! कृतिर्यावन्न विद्यते ।

युधिष्ठिरः

जातिरत्र महासर्प ! मनुष्यत्वे महामते ! ।
सङ्करात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः । इत्यादि ।

एवमेव यक्षयुधिष्ठिरसंवादेऽपि—(म० भा० व० प० ३१३ अ०) ।

यक्षः

राजन् ! कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ।

युधिष्ठिरः

शृणु यक्ष ! कुलं तात ! न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ।
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ इत्यादि ।

अथालोक्यतामयं कौशिकधर्मव्याधसंवादोऽपि (म० भा० व० प० अ० २१२)

शूद्रयोनौ प्रजातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं लभते राजन् । क्षत्रियत्वं तथैव च ।
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते—इत्यादि

स चायं कर्ममूलको वर्णविभागोऽपि नासीत्पुरा कृतयुगे प्रचरितः—अपि तु बहोः कालादनन्तरं परिकल्पित इत्यपि स्फुटतरमभिहितं वायवीये महापुराणे (अ० ८) ।

अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभपापयोः।
वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन् न संकरः।
अनिच्छाद्वेषयुक्तास्ते वर्तयन्ति परस्परम्।
तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमवर्जिताः।

तदनन्तरं तत्रैव त्रेतायुगप्रस्तावे—

संसिद्धायान्तु वार्तायां ततस्तासां स्वयंभुवः।
मर्यादाः स्थापयामास यथारब्धाः परस्परम्।
ये वै परिग्रहीतारस्तासामासन् विधात्मकाः।
इतरेषां कृतत्राणाः स्थापयामास क्षत्रियान्।
उपतिष्ठन्ति ये तान् वै धावन्तो निर्भयास्तथा।
सत्यं ब्रह्म यथाभूतं ब्रुवन्तो ब्राह्मणाश्च ते।
ये चान्येप्यबलास्तेषां वैश्यसंकर्मसंस्थिताः।
कीनाशा नाशयन्ति स्म पृथिव्यां प्रागतन्द्रिताः।
वैश्यानेव तु तानाहुः कीनाशान् वृत्तिसाधकान्।
शोचन्तश्च द्रवन्तश्च परिचर्यासु ये रताः।
निस्तेजसोऽल्पवीर्याश्च शूद्रास्तानब्रवीत्तु सः। इत्यादि।

एवं श्रीभागवतेऽपि (११ स्क० १७ अ०)।

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस, इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः।
त्रेतामुखे महाभाग ! प्राणान्मे हृदयात् त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः। इत्यादि।

ततश्च त्रेतायुगे संप्रवृत्तेयं वर्णानां व्यवस्थितिः कथमभ्युपगम्यतां योनिसिद्धा ? युगे युगे पुनः पुनरीश्वरस्य स्रष्टृत्वकल्पनाया अशास्त्रार्थत्वात्। तस्मादवश्यं गुणकर्ममूलिकैव सेयमिति स्फुटं सिद्ध्यति।

किं च संस्कारजन्यमिदं वर्णानां वर्णत्वमित्येकमुखेनोररीकुर्वते सर्वेऽपि धर्मसूत्रकाराः।

'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'
'स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'

इत्याद्युक्तेः। अत एव तु षोडशवर्षाभ्यन्तरेऽनुपनीतस्य ब्राह्मणकुमारस्यापि नैते ब्राह्मणत्वमभिमन्यन्ते—प्रतिषेधन्ति च ब्राह्मणानां तेन सह संबन्धमपि।

नैतत्सर्वं योनिकृते वर्णविभागे सुघटम्—अपि तु तत्तद्वर्णोचितकर्मकरणानुकूलसंस्कार-संस्कृतस्यात एव तत्तद्वर्णोचितकर्मयोग्यताभाजस्तत्तद्वर्णत्वमभ्युपगच्छद्भिः स्मृति-कारैर्नूनं स्पष्टमभ्युपगता कर्मकृतैव वर्णव्यवस्थेति निष्पक्षपातमालोचयन्तु सुधियः। अत एव च—

'ब्राह्मणो मदिरां पीत्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते'

इत्यादिवचनैर्विपरीताहारविहारसम्बन्धेनापगतायां कर्मयोग्यतायां तत्तद्वर्णाद् भ्रंशप्रतिपादनमपि स्मृतिकाराणां संगच्छते। न चैभिर्वचनजातैः प्रायश्चित्तीयतैवा-भिप्रेता—न तु जातिभ्रंश इत्याग्रहीतव्यम्, कामकृतसुरापानाभ्यासादौ प्रायश्चि-त्तस्यापि प्रतिषिद्धतया स्पष्टं जातिभ्रंशस्यैव बोधितत्वात्। योनिकृते तु वर्णविभागे योनेराशरीरपातमपगमासंभवेन जातिभ्रंशव्यवस्थेयं स्मृतिकाराणां स्फुटं व्याकुप्येत। अथ ये प्रमाणजातमुपलभ्यापि वर्णविभागं योनिकृतमेव स्थापयितुमाग्रहग्रहिलास्त इमे प्रणम्यैवं प्रष्टव्याः—इदानीं ख्रिष्टधर्मानुयायित्वं यवनत्वं वा प्रतिपन्नानां ब्राह्मणकुमाराणां ब्राह्मणत्वं प्रतिषेधन्ति भवन्तो न वा। आद्ये क्वापगतं तस्य ब्राह्मणजन्यत्वमिति पृच्छामः? अन्ते तु सुष्ठु परिपालयन्ति भवन्तः सनातनार्य-धर्मसिद्धां वर्णव्यवस्थामित्येव ब्रूमहे। अस्माकं तु ब्राह्मणोचितकर्माणि प्रतिपद्य-मानस्यैव ब्राह्मणत्वेन यवनत्वादिस्वीकारे च तादृशकर्मणां दूरोज्झितत्वेन नास्त्येव तस्य ब्राह्मणत्वकथापीति समीचीनतयेयं लोकस्थितिः संसिद्धा। तस्माद्यदि सुसूक्ष्मं निरीक्ष्येत—तर्हि आस्तां पौर्वकालिकी कथा, इदानीं लोकस्थित्यापि कर्मकृत एव वर्णविभागः संसिद्ध्येदिति विचारणीयं मनःप्रणिधाय।

ननु च भोः अस्ति तावदुत्तमस्य वर्णस्यावरत्वप्रतिपत्तिरार्यधर्मे सुप्रसिद्धा, अवरस्य तु वर्णस्योत्तमवर्णप्रवेशः शास्त्रविरुद्धो लोकविरुद्धश्च। कर्मैकमूलायान्तु वर्णव्यवस्थायामस्याप्युचितत्वमापद्येतेति चेत् सत्यमापद्यत एव। परमिदानीन्तना-ग्रहग्रहिललोकविरुद्ध एवायमर्थो[1] न तु पुरातनेतिहासविरुद्धो न वा शास्त्रविरुद्ध इति स्फुटं प्रतिजानीमः। तथा हि—सर्वस्मृतिकृन्मूर्धन्योऽयं भगवान् मनुः स्फुट-मवरवर्णस्याप्युत्तमत्वमनुजानाति।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ इति

इतिहासलिङ्गेन च स्पष्टमवरवर्णस्याप्युत्तमवर्णत्वावाप्तिः प्रसिद्ध्यति। ऐतरेय-श्रुतौ हि कवषस्यैलूषस्यात्यन्तावरवर्णस्यापि द्विजोत्तमत्वावाप्तिर्मन्त्रद्रष्टृत्वरूपमृषित्वं चाम्नायते—

"ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति। तं बहिर्धन्वोदवहन्नत्रैनं पिपासा

---

१. अवरवर्णस्योत्तमवर्णप्रवेशरूपः।

हन्तु, सरस्वत्या उदकं मा पादिति, स बहिर्धन्वोदूढः पिपासया वित्त एतदपोन[१]प्त्रीयमपश्यत्" ।

इत्यादिना प्रबन्धेन । एवं महर्षेर्भगवतो विश्वामित्रस्यापि बहूनां सुतानामनार्यत्वमाम्नातम्—

"इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः" ।

(ऐत० ७-३-६)

तथा च स्पष्टं श्रौतेतिहासलिङ्गेन तुल्यन्यायादुत्तमवर्णस्यावर्णस्यावरत्वप्राप्तिरवरवर्णस्योत्तमत्वप्राप्तिश्चेत्युभावप्यर्थौ प्रतिपद्येते । पौराणिकमप्यनल्पेनाडम्बरेण सर्वत्रोपनिबध्यमानं प्रसिद्धतममिदं वसिष्ठविश्वामित्रयोरुपाख्यानं क्षत्रियकुलोद्भवस्य विश्वामित्रस्य ब्राह्मणत्वावाप्तिं प्रतिपादयत्येव । ये त्वत्र तपोऽतिशयबलेनाघटितघटनामुरीकुर्वाणा ब्राह्मदत्तचरुप्रभावेण बीज एव विश्वामित्रस्य ब्राह्मण्यं ब्रुवाणा वा नैतेनेतिहासेनोक्तार्थमभ्युपगच्छन्ति तेषां कृतेऽन्यान्यपि वीतिहोत्रादीनामृषभपुत्रादीनां चाख्यानानि बहुशः पुराणेषु दृश्यन्त एव । किञ्चेदमालोक्यतां तावत् कुलस्यैव वर्णपरिवर्तनम्—(श्री भा० ९ स्कं. २ अ.)

नृगवंशं प्रस्तुत्य—

उरुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत् ।
ततोऽग्निवेश्यो भगवानग्निः स्वयमभूत्सुतः ॥
कानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महानृषिः ।
ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप ॥ इति ।

तदग्रेऽपि—

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः ।
भलनन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥

इत्यादि ।

हरिवंशे च प्रथमे पर्वणि (११ अ.)

नाभागारिष्टपुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ । इत्यादि ।

बहुत्रैवमुपलभ्यते कृत्स्नस्यापि कुलस्य कर्मणा वर्णपरिवर्तनमित्यालोचनीयं तत्र तत्र सुधीवरैः । ननु च भोस्तपआदिना महापुरुषप्रसादादिना वा विशिष्टेनैव हेतुना ब्राह्मण्याद्यैभिरुपलब्धं स्यादिति चेदास्तां कथमपि । न खलु हेतुसत्तास्माभिः प्रतिषिध्यते, योनिकृतमेव तु ब्राह्मणत्वादि न सिद्ध्यतीति निष्पक्षपातमुच्यते । तच्च क्षत्रादियोनिजानां ब्राह्मणत्वाद्यवाप्तेः कथमपि सिद्धौ सिद्धमेव । वस्तुतस्तु "कर्मणा वैश्यतां गतः" इत्यादिस्मरणाद् हेत्वन्तरकल्पनाप्यन्याय्या । यथा हि

१. अपोनप्त्रीयं नाम वैदिकं सूक्तम् ।

कर्मवैगुण्यादुत्तमवर्णस्य स्वस्माद्वर्णात्प्रच्युतिस्तथा कर्मसाद्गुण्यादुन्नतिरप्यङ्गीकर्तव्यैवेति न्यायसिद्धोऽयमर्थः।

किं च योनिकृते वर्णानां परस्परं भेदे गवाश्वादीनामिव ब्रह्मक्षत्रादीनामपि विशेषः प्रत्यक्षमुपलभ्येत, न तु तत्तथोपलभ्यते। उपलभ्यत एव स्वभावादिभेद इति चेत्तदपि न। तस्यापि नियमितस्य भेदस्य शतशो व्यभिचरितत्वात्। दृश्यन्ते हि बहवः शूद्रा अपि ब्राह्मणोचितशीलबुद्धिविभवाद्युपेताः, बहवश्च ब्राह्मणा अपि नितान्तं बुद्धिहीना अनृतमायादिपराश्च। तत्तादृशप्रकृत्यनुरूपवर्णत्वमेव तेषामेष्टव्यमित्येव तु पक्षोऽस्माकम्। तत्तद्वर्णत्वयोग्यतामभजतामपि हि तत्तेषां बलात्तादृशवर्णतानियमनादेव वैयाकुलीमनुभवति समाज इदानीम्। तथा हि पूर्वोपदर्शितविधो ब्राह्मणः स्वीकारितोऽपि बलाद् ब्राह्मण्यं न तदुचितकर्मसु काञ्चिदप्युन्नतिं साधयितुमीष्टे, योग्यताविरहात्। शूद्रस्तु तथाविध उत्कृष्टकर्मसु कुशलोऽपि न तावत्समाजेनानुगृह्यते—इति पतितेयमुन्नतावर्गला सर्वतोमुखी। तस्मात्समाजमुन्नमयितुकामैरपि गुणकर्ममूलक एव जातिविभागोऽभ्युपगन्तव्यः, शास्त्रसिद्धश्च स एवेति संसिद्धम्।

ननु च भो आस्तां तावदुन्नतिकथा, शास्त्रसिद्धत्वं तु विषयस्यास्य साहसेनैवोद्भावयसि, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्यादिपूर्वोपदर्शिताभिर्योनिकृतं वर्णभेदं स्फुटमभ्युपगच्छन्तीभिः श्रुतिस्मृतिभिः स्फुटं विरोधादिति चेद् भ्रान्तिमात्रमेतत्। तासां श्रुतिस्मृतीनां योनिभेदोपदर्शने तात्पर्यानुपलब्धेः।

अपि तु-अस्य-विश्वरूपस्य भगवतः परमात्मनो, ब्राह्मणो, मुखमिव मुखम्· सर्वस्मिन् जगति प्रधानभूतः इति यावद्, आसीत् (अस्ति) (विद्योपजीवित्वेनाभ्यर्हिततमत्वात्)। तथा राजन्यः, बाहू इव बलप्रयोक्तृत्वात्। एवमेव वैश्य ऊरू इव, कृष्यादिनान्नादिद्रविणं संचित्य सर्वेषां पोषणकरणात्। तथैव शूद्रः पादादिव, सर्वानुगामित्वाद्—इत्येवमर्थप्रतिपादन एव श्रुतितात्पर्यम्। 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इत्येवमुक्तिस्त्वौपचारिक्येव, भवन्मते पूर्वतनपादत्रितयस्योपचरितार्थत्ववदित्यवसेयम्। युक्तश्चायमेवार्थः, अन्यथा को हि नाम वैदिको विद्वान् मुखबाह्वाद्यवयववतो मनुष्यसदृशात्परमात्मनः सृष्टिरियमुपजातेति सर्वथा विज्ञानविरुद्धमर्थं श्रद्दधीत।

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,'

इत्याद्याभिः श्रुतिभिर्हि परमात्मनोऽखण्डमेव रूपं प्रतिपाद्यते, न तु सावयवम्। किं च परमात्मानमेवानभ्युपयन्तो मीमांसकादयः कथं श्रुतेरस्यास्तात्पर्यमुपवर्णयेयुः। तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थो न्याय्यः।

दृश्यते चैवंविधानां श्रुतीनां बहुत्रोपचरितार्थत्वम्। तथा हि—

'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्, न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्तयद्'

इत्यप्यस्ति ब्राह्मणम् (श्रुतिः)। नैतस्मात्किल गायत्र्या नामाष्टाक्षरपादच्छन्दसा ब्राह्मणशरीरं समुत्पादितमित्ययमर्थः केनापि प्रेक्षावता श्रद्धीयते, अपि त्वग्निदैवतस्य ब्राह्मणस्याग्निच्छन्दो गायत्र्येत्र मुख्यतया समुपास्येत्याद्यर्थे औपचारिकीयं श्रुतिरिति सुप्रतिपन्नं सर्वैः। एवमेव—

'अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो धैर्यमासीदर्द्धं माल्व्यम्। यद् धैर्यं सोमो वै सः, ततो ब्राह्मणमसृजत। यन् माल्व्यं सुरा वै सा, ततो राजन्यमसृजत,"

इत्यस्याः श्रुतेरपि धैर्यप्रधानाः सोमपायिनश्च ब्राह्मणाः, क्रोधप्रधानाः सुरापायिनश्च राजन्या-इत्येत्रमर्थ एव तात्पर्यम्, न तु वस्तुतो धैर्यनामकेन केनचिद्वस्तुना प्रजापतिशरीरार्धभागेन ब्राह्मणशरीरनिर्मितिर्बोधने। तथा च तथैव पूर्वोक्तायाः (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्) श्रुतेरप्युक्त एवार्थे तात्पर्यमिति निर्विवादं निष्पक्षपातिनाम्।

इत्थं च तदनुगामिनीनामुपदर्शितमन्वादिस्मृतीनामप्यत्रैव तात्पर्यमवसेयम्। यदि तु स्मृतिषु सर्वत्रोत्पन्नजातसम्प्रसूतादिपदप्रयोगेण सत्यं मनुष्यरूपस्य परमात्मनो मुखादिजाता एव ब्राह्मणादय इत्याग्रह्येत—तर्हि—

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद्वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः।
वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमैः॥
(श्रीभा० स्कं० ११ अ० १०)

इत्यादिप्रामाण्यादाश्रमाणामपि परमात्मनस्तत्तदङ्गजातत्वं सिद्ध्येत्। न चाश्रमाणां योनिकृतत्वमनुमन्यते केनापि स्मृतिविदा, नापि शक्यते ऽनुमन्तुम्—स्मृतिष्वेकस्यैव पुरुषस्य कालभेदेन चातुराश्रम्योपदेशात्। ततश्चावश्यमस्या उपचरितार्थत्वमेव स्वीकार्यमिति तुल्यन्यायाद्वर्णविषयेऽप्येवंविधस्मृतीनामुपचरितार्थतैव युक्ततामवगाहते।

'कर्मभिर्वर्णतां गतम्'

इत्यादिस्मृत्यन्तरेतिहासाद्यनुरोधाच्च तथैव प्रतिपत्तिः साधीयसीत्यलमतिविस्तरेण। इत्थं च शमादिगुणमूलको विद्यायज्ञादिकर्ममूलक एव चायं जातिविभागः समाजेनोपनिबद्धो न तु प्राकृतिक इत्ययमर्थः सुष्ठु संसाधितः, इदानीमपि च तस्य तथैव प्रचार उन्नतिसाधकः, न चात्र कोऽपि शास्त्रविरोधगन्ध इत्यपि सम्यक् प्रतिपादितमेवेति समीक्ष्यतां समीक्षादक्षैः। सोऽयमध्वा बहुभिरेवेदानीन्तनैर्विशिष्टप्रज्ञैरप्यनुशीलितः इति।

अत्रैवमभिदध्महे—न तावदस्य वर्णविभागस्यैकान्ततो गुणकर्ममूलकत्वमभ्युपगन्तुं शक्यम्—इन्द्रादिषु देवेषु, गवाश्वप्रभृतिषु पशुषु, वृक्षगुल्मलतादिषु जडेषु,

गायत्र्यादिषु छन्दःसु चेत्यादिसर्वपदार्थेष्वेवाप्रतिहतं वर्णविभागस्य श्रुतिस्मृत्यादिष्वभ्यनुज्ञानात्। तथाहि दिङ्मात्रमुपदर्श्यते—

'ब्रह्म (ब्राह्मणः) वै बृहस्पतिः' (ऐतरेय०) 'यान्येतानि देवत्रा (देवेषु) क्षत्राणि इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः' 'स विशमसृजत—यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते—वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति (इत्यादि शतपथ०)

पशुषु—ब्रह्म वा अजः, क्षत्रं वा अश्वः, वैश्यं च शूद्रं चानु रासभः' (श. प.)

वृक्षादिषु—'ब्रह्म वै पलाशः, (श. प.)
'क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा' (ऐत.)
छन्दःसु—'गायत्रश्छन्दसा ब्राह्मणः' (ऐत.)

इत्यादि तत्र तत्रान्वेष्यम्। सन्ति चैतदनुगामीनि बहूनि पुराणादिवाक्यानि। तथैव ज्यौतिषे ग्रहनक्षत्रादीनां चिकित्सिते सोमाद्योषधीनां चास्ति वर्णविभागः सुविख्यात इति स्पष्टं तत्तद्विदाम्। तथा च सर्वपदार्थेषु समन्वितेयं वर्णविभांगव्यवस्था कथं वा प्राकृतिकी न स्यात्। गुणकर्ममूलके हि वर्णविभागेऽभ्युपेते क्व तावदजस्य पलाशस्य वा शमादिगुणानामध्ययनादिकर्मणां वा सम्बन्ध इति सर्वमिदं श्रुतिस्मृत्युक्तं व्याकुप्येत। तस्मात्सन्ति केचन स्वाभाविका धर्मा ब्राह्मणत्वादिप्रयोजकाः, येषां सत्तया देवमनुष्याणां पशुवृक्षादीनामपि च स्वाभाविक एव वर्णविभागोऽयमुपपद्यत—इत्यकामेनाप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम्।

किं च कर्मभेदादेव जाति (वर्ण) भेदमभ्युपगच्छन्तः प्रेक्षावन्त इदं प्रष्टव्याः—जातिभेदात्पूर्वमयं तत्प्रयोजकः कर्मभेद एव कुतः कारणात् प्रवृत्तः? समाजेन प्रवर्तितः कर्मविभागः—इति चेत्, हन्तेदं पृच्छामः—कुतः समाजेन निष्कारणमेव केचन पुरुषा अध्ययनादिषूत्कृष्टकर्मसु नियोजिताः, केचन तु सर्वरक्षणभारं समर्प्य भूपतित्वमारोपिताः—अपरे तु सेवादाववरकर्मणि प्रवर्तिताः। न ह्ययं कर्मविभागः पूर्वं निर्बीज एव प्रवृत्तो भवेदिति शक्यते केनापि समीक्षाचणेन सम्भावयितुम्। तेषां तेषां पुरुषाणामभिरुच्यैव तत्तत्कर्मसु प्रवृत्तिरिति चेन्नु कस्य नामोत्कृष्टकर्माण्यपहाय सेवाद्यवरकर्मस्वभिरुचिर्भवेत्। ये तु समाजनेतृत्वभाजां ब्राह्मणानामेव शिरसि कलङ्कभारमिममुपन्यस्य सुस्था भवन्तिते—रेव यथेच्छमत्याचारेणोत्कृष्टकर्माणि स्वायत्तीकृत्य परे पुरुषा अवरकर्मसु विनियुक्ता इति, त इमे निमील्य नेत्रे यत्किमपि प्रलपन्त उपेक्ष्या एव विचारदक्षैः। वर्णविभागात्पूर्वं ब्राह्मणानां समाजनेतृताया एव तावदसंभाव्यत्वात्, ब्राह्मणादिवर्णविभागो हि कर्ममूलक इति य आतिष्ठन्ते त एव प्रथमं कर्मविभागे

ब्राह्मणानां हेतुत्वं कथं ब्रूयुः? कर्मविभागात्पूर्वं ब्राह्मणत्वस्य तन्मतेऽप्रसिद्धत्वात्। तस्माद्योग्यताविशेषं परीक्ष्यैव ते ते मनुष्याः स्वस्वोचितकर्मसु समाजेन प्रवर्तिताः, स्वयं वा तादृशयोग्यतया तत्र प्रवृत्ताः इत्येवात्र युक्तमुत्तरं स्यात्। तथा च योग्यतायाः स्वभावानतिरेकात् स्वाभाविक (प्राकृतिक) एव वर्णविभागोऽत्रापि संसिद्धः। कर्मविभागस्तु वर्णविभागमूलको न तु कर्मविभाग इति स्फुटं संसिद्धम्। एतदर्थप्रतिपादकमेवेदं पूर्वोक्तं भगवद्वाक्यं न विस्मरणीयम्—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (गीता)

ननु च भो आस्तामेतदेवम्—किमेतावता संसिद्धमिति चेत्सर्वमपि नः समीहितं सिद्धमेव। स्वभावमूलके हि वर्णविभागेऽभ्युपेते स्वभावस्यानादितयानपायितया च वर्णविभागोऽप्ययमनादिरविनश्वरश्च तावत्संसिद्धः। किं चेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वबादिनां वैदिकधर्मानुयायिनामस्माकं तत्तज्जन्तुस्वभावोऽपि नूनमीश्वरकृत इति तन्मूलकस्य वर्णविभागस्येश्वरकृतत्वमपि सुतरां सिद्धिमापन्नम्। तत एव च—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'

'तेषां कर्माणि धर्मांश्च ब्रह्मा तु व्यदधात् प्रभुः'।

इत्यादीनि जगदीश्वरस्यैव वर्णविभाजकत्वप्रतिपादकानि सर्वाणि श्रुतिस्मृतिवाक्यानि साधु संगतानि। मूलकर्तर्येव कर्तृत्वव्यवहारस्यौचित्यात्। एष एव नूनं कर्मसु धातुकृतो नियोगः—यत्तत्तत्कर्मानुकूलप्रकृतिसंपादनम्। तस्माद्विधात्रैव सर्वे वर्णाः स्वस्वकर्मसु नियोजिता इत्येवाभिप्रयन्ति शास्त्राणि। अस्य च प्रकृत्यपरपर्यायस्य स्वभावस्य जडचेतनादिसर्ववस्तुसाधारण्येन सर्ववस्तुषु वर्णभेदप्रतिपादनमपि महर्षीणां न कथमपि विरोधमियर्तीति द्रष्टव्यम्। ननु तथापि कोऽयमजपलाशमनुष्यादिसाधारण ईश्वरकृतः स्वभावविशेषो येन सर्वत्रैव तत्र वर्णविभागः प्रवर्तत इति चेद् बहुविज्ञानसाध्यमेतद्। नैतदञ्जसा शक्यमारादुपदर्शयितुम्। श्रुत्यवगाहनश्रान्तैरेवैतदवबोध्यम्। अथापि तु दिङ्मात्रमुपदर्श्यते—ब्रह्मेतिशब्देन तावच्छ्रुतावग्निः परिभाष्यते, क्षत्रमिति चेन्द्रादयः, विडिति च विश्वेदेवाः, शूद्रशब्देन तु पूषा। एत एव च परस्परविलक्षणशक्तिमन्तो देवाः सर्वस्यास्य जगत उपादानानि भवन्तीति स्पष्टं श्रुतिविदाम्। तथा च यत्र यत्र पदार्थेऽस्य ब्रह्मणोऽग्नेः प्राधान्येन संबन्धः सोऽयम् ब्राह्मणः, अत एव चायं ब्राह्मण आग्नेयः। अग्निश्छन्दसा गायत्र्यैव चास्य संबन्धः प्राधान्येन। अग्नेरष्टौ वसवः, गायत्र्या अपि प्रतिपादमष्टावक्षराणि—अत एव ब्राह्मणानामप्यष्टमे वर्षे उपनयनं नियतम्। एवमेवाग्रेऽप्यालोचनीयम्।

अथेन्द्ररुद्रादिदेवानां यत्र यत्र प्राधान्यं त इमे क्षत्रियाः। विश्वेषां देवानां च यत्र मुख्यत्वं ते वैश्याः। पूष्णः सम्बन्धेन च शूद्रा इति। उक्तोऽयमर्थः शतपथे चतुर्दशे काण्डे (बृहदारण्यके) तत्र हि—

'यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि'

इत्यादिपूर्वोक्तं देवेषु वर्णविभागं प्रतिज्ञाय तेषां देवानां सम्बन्धादेव मनुष्येष्वपि तद्विभागः स्पष्टमुक्तः—

"तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः"

इत्यादिना। प्रकरणान्तरेऽपि (शतपथ एव) भङ्ग्या ब्राह्मणादीनामाभिर्देवताभिः सम्बन्ध उपदर्शितः, शूद्रस्य तु तत्रादैवतत्वमुक्तम्—

"प्रजापतिरकामयत,—प्रजायेयेति। स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत, तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत—गायत्री छन्दो, रथन्तरं साम—ब्राह्मणो मनुष्याणाम् अजः पशूनाम्, तस्मात्ते मुख्याः—मुखतो ह्यसृज्यन्त। उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत—तमिन्द्रो देवतान्वसृज्यत, त्रिष्टुप् छन्दः, बृहत्साम, राजन्यो मनुष्याणाम्, अविः पशूनाम्—तस्मात्ते वीर्यवन्तो वीर्याद्ध्यसृज्यन्त। मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत, तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त, जगती छन्दो, वैरूपं साम, वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनाम्, तस्मात्ते आद्याः (भोग्याः) अन्नधानाद्ध्यसृज्यन्त, तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यो भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त। पत्त एकविंशं निरमिमीत, तमनुष्टुप् छन्दोऽन्वसृज्यत, वैराजं साम, शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनाम्। तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणावश्वश्च शूद्रश्च। तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तो न हि देवता अन्वसृज्यत, तस्मात्पादावुपजीवतः, पत्तो ह्यसृज्येताम्"

इह हि शूद्रस्य दैवतसम्बन्धाभावादेव यज्ञेऽप्यसम्बन्ध उक्तः। वैश्यानां च बहुलदैवतसम्बन्धाद् बाहुल्यमुक्तम्। तत्तदङ्गेभ्य उत्पत्तिश्रवणं चात्रापि—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्'

इत्यादिमन्त्रमूलकमेव। इदं च तत्तात्पर्यम्—यथा मनुष्यशरीरे चतस्र इमा विशिष्टशक्तयः प्राधान्येन चत्वार्यङ्गान्याश्रयन्ति—शिरो ज्ञानशक्तिः, वक्षः पराक्रमशक्तिः, उदरं संग्रहणशक्तिः, पादौ च परिचर्याशक्तिः। विज्ञानानुमोदितोऽयमर्थः अत एव च शिरसि दुर्बले ज्ञानशक्तिरपि दुर्बला भवति, बहुतरविचारप्रवणे च चेतसि शिर एव श्रान्तं भवतीत्यादि परीक्षन्ते परीक्षका भावुकाः, ज्ञानेन्द्रियाण्यपि च प्रायेण शिरोभागमेवाश्रितानि। एवं बलप्रयोगेऽपि बाहुसाध्यो वक्षसि च श्रान्तिमुत्पादयतीति सुविदितमेव। मध्यभागस्थितमुदरं चैतद् बाह्यमन्नादिकं संगृह्य

यथायोग्यं सर्वशरीरे विभजते। पादावपि च सर्वशरीरस्य परिचर्यामिष्टदेशप्रापणादि-रूपा विधत्त इत्यतिरोहितं लौकिकानामपि। तथैव खलु भगवतो विश्व (विराड्) रूपस्येश्वरस्य शरीरभूतेऽस्मिन्नखिले जगत्यपि यत्र विज्ञानशक्तिः प्राधान्येन विद्योतते त इमे ब्राह्मणा भगवतः शिरो (मुख) रूपाः। पराक्रमशक्तिमन्तः क्षत्रिया वक्षः-सदृशाः। कृष्यादिनान्नादिकं संचित्य सर्वजगत्पोषका वैश्यास्तु मध्य (ऊरु) स्थानीयाः, एवमेव परिचर्याप्रवणाः शूद्राः पादा इवेति भावयन्तु भावुका विपश्चितः। अथापि तत्तदवयवेभ्य एषामुत्पत्तिश्रुतेः कोऽभिप्राय इति चेदुच्यते। जगत्स्रष्टारमीश्वरमभिमन्यमानानां श्रौतधर्मैकशरणानामस्माकं जीवोऽयमीश्वरस्यांश एव, अस्य च सर्वाः शक्तयोऽपीश्वरशक्तिजन्या एव। एवं च मनुष्याणां तत्तदङ्गे-षूपलभ्यमाना इमा (पूर्वोक्ता) श्चतस्रः शक्तयोऽपि नूनं सर्वसमष्टि (विश्व) रूपस्य भगवतः परिकल्पिततत्तदङ्गजन्या एवाभ्युपगन्तव्याः—गत्यन्तराभावात्। तथा च तत्तच्छक्तिवैशिष्ट्येन सम्पन्नमिदं ब्राह्मणत्वाद्यपि शक्त्यविनाभावात्तत्तदङ्ग-जन्यमेवेति युक्तियुक्तमनुशास्ति भगवान् वेदपुरुषः। सूचितोऽयमर्थः श्रीभागवते-ऽपि— (३ स्क० ६ अ०)

> मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह।
> यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः॥
> बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः।
> यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात्॥
> विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः।
> वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत्।
> पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
> तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः॥ इति।

इह हि पूर्वोक्तरीत्या शक्त्यपरपर्यायाणां तत्तद्वृत्तीनां तत्तदङ्गेभ्य उत्पत्तिमुप-पाद्य तदनुवर्तनाद्वर्णानां वर्णत्वमुक्तम्। तेन च पूर्वोक्तमेव तात्पर्यं दृढीकृतमिति सुसूक्ष्मं भावनीयमेतद्विपश्चिद्वरैः। ताश्चेमाश्चतस्रः शक्तयो मनुष्येषु तासामग्न्यादि-देवतानां सम्बन्धविशेषादेवाविर्भवन्तीति वैदिकानां दर्शनम्। ब्राह्मणादिशब्दाश्च नैतासु शक्तिष्वेव नियताः—अपि त्वग्न्यादिसम्बन्धनियता एव। अग्न्यादिदेवानां च सर्वेष्वेव पदार्थेषु सम्बन्धमनुपश्यन्तस्तत्रभवन्तो महर्षयः सर्वत्रैव वर्णविभागं प्रतिजानते—इति भाव्यतां भावुकैः।

ननु च भोः युक्तमेवैतत्प्रतिपादितम्—आस्तां स्वभावभेदाद् ब्राह्मणादिजाति-भेदः। स्वभावस्य च तत्तद्दैवतसम्बन्धादेवास्तु भेदः, स च दैवतसम्बन्धवैलक्षण्य-विशेष ईश्वरकृत एव तिष्ठतु, तेन च वर्णभेदस्यापीश्वरकृतत्वं बाढमुपपाद्यताम्।

अथापि तत्तत्स्वभावपरीक्षणेन तांस्तान् तत्तत्कर्मसु विनियोज्य तेषामाहारविहारादि-भेदव्यवस्थापनरूपोऽयं लोकप्रचलितः स्थूलस्तु वर्णविभागो नूनं समाजकृत एवाभ्युपगन्तव्यः। तत एवास्य भारतवर्षमात्रप्रचरितत्वमप्युपपत्स्यते,—समृद्धविज्ञानैस्तत्तत्स्वभावपरीक्षणदक्षैर्हि भारतीयैः स्वकीये देशे स्वस्वोचितानि कर्माणि विभज्य तत्तदनुकूला आहारविहारादयोऽपि परीक्ष्य नियमिता इति बहोः कालात्पुरैवात्र सुदृढतामापन्नो वर्णविभागः। देशान्तरेषु तु पुरा तथाविधविज्ञानविरहान्नैवं परीक्षाक्षमत्वमासीदिति सत्यपि स्वाभाविके विभागे स्थूलोऽयमीदृशो विभागो न तत्र प्रचलितः। अत एव च त्रेतारम्भे वर्णविभागप्रतिपादकानां वायुपुराणादिवचनानां

'कर्मभिर्वर्णतां गतम्'

इत्यादिभारतवचनानां चाप्युपपद्यते संगतिः। एवंविधस्य स्थूलस्यास्य विभागस्य त्रेतारम्भे ऽप्यभ्युपगमे क्षत्यभावात्। अस्य च कर्मविभागोत्तरमेव निष्पन्नत्वात्। मूलविभागस्य स्वभावभेदस्यैवेश्वरकृतत्वेनानादिताभ्युपगमात्। तथा चान्ततो वर्णव्यवस्थितेः समाजकृतत्वे सिद्धे अधुनापि समाजेन ब्राह्मणाद्युचितस्वभाव एव ब्राह्मणादिरनुमन्यताम्—न तु ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्यां प्रसूतमात्र एवावरस्वभावोऽपि ब्राह्मणः, शूद्रजस्तूत्कृष्टप्रकृतिरपि शूद्र एवेति प्रतिपत्तिः साधीयसीत्येवास्माकमभिप्राय इति ये विब्रूयुस्तान् प्रत्येवमाचक्ष्महे।

आस्तामेवमतिपुरातने काल ईश्वरकृतं वर्णविभागमनुत्सृज्य समाजस्यैव तत्तद्वर्णकर्तव्यताहारविहारादिप्रवर्तकत्वाभ्युपगमः, संगच्छन्तां च तत एव—

'कर्मभिर्वर्णतां गतम्'

इत्यादीनि वचनानि। अथापि तु तदानीमेव किञ्चित्समयानन्तरमेव वा

'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'

इति प्राकृतिकं नियममनुरुन्धानैर्महामहिमशालिभिः समाजनेतृभिर्महर्षिभिस्तत्तद्वंशजानां तत्तद्वर्णत्वं सुदृढं नियमितम्। नहि 'पिता क्षत्रियः, पुत्रस्तु शूद्रः, पुत्रस्तु ब्राह्मणः' इति यथाभिरुचि प्रवर्तमाना समाजविप्लवकरी विशृङ्खलेयं बहुकालं तैरुपेक्षिता, अपि तु वर्णव्यवस्थितिप्रवृत्तिसमनन्तरमेव

'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः'

इति नियमोऽप्यव्यभिचरितं प्रवर्तितः। पश्यन्ति हि ते महानुभावाः—मधुरादाम्रबीजादुत्पादितस्तरुर्मधुराण्येव फलानि संप्रयच्छति, अम्लात्तु बीजादुत्पदितोऽम्लान्येव, रक्तात्कार्पासाद्रक्तमेव वस्त्रमप्युपजायते—पीतात्तु पीतम्; तथैव खलु शमप्रधानाद्यज्ञाध्ययनादिकर्मप्रवणाद् ब्राह्मणादुत्पन्नः सुतोऽपि तथाविधामेव योग्यतां विन्देत, न तु तथेतराम्। यद्यपि तु लक्ष्यतेऽस्य नियमस्यावश्यं व्यभिचारः, अथापि

तु सोऽयं हेतुविशेषजन्यः क्वचिदेव स्यात्—स च विशिष्टकारणप्रभवः काचित्को व्यभिचारः प्राकृतिकं नियमं न भङ्क्तुमीष्टे। तत एव तु समुपेक्ष्य काचित्कमिमं व्यतिक्रमं योनिसम्बन्ध एव वर्णविभागे प्रधानो हेतुरुरीकृतो विज्ञाननेत्रैरस्मत्पूर्व-पुरुषैः। बहून्येतदर्थप्रमापकानि प्रमाणानि, तथा हि—पूर्वमुपदर्शिता कवषो-पाख्यानश्रुतिरेव तावदर्थमिमं सुदृढमवबोधयति—शूद्रो हि कवषो दीक्षां प्रविष्ट इति सावेशं महर्षिभिः स बहिष्कृतः, अहो समाजनियमभङ्गकारिणि कवषे महर्षीणां सुतीक्ष्णं दण्डविधानम्—यद्

'अत्रैनं पिपासा हन्तु'
'सरस्वत्या उदकं मा पात्'

इति निर्जले प्रदेशे स निक्षिप्तः। कर्मण एव वर्णविभागहेतुतामभ्युपयन्तो महानुभावाः सुस्तब्धमिदमालोचयन्तु-यदि कर्मानुरोधिन्येवावस्थितिर्वर्णानां तदात्वे महर्षिभिरभ्युपगम्येत तत्तर्हि किमिति दीक्षां प्रविष्टः स वराक एवं तिरस्क्रियेत ? किमिति तस्य दीक्षाप्रवेशाभिरुच्यैव स सबहुमानं ब्राह्मणवर्णे न प्रवेश्येत ? तस्मात्तस्मिन्नपि काले सुदृढतरो योनिकृत एवासीद् वर्णविभागः, तत एव चावरवर्णजोऽयमुत्तमकर्मा-ण्यनुतिष्ठासन्नवधीरितो द्विजपुङ्गवैः। अनन्तरं तु समुद्भूतानन्यसाधारणप्रखरतर-विज्ञानशक्तिरपोनप्त्रीयसूक्तद्रष्टा स कवष ऐलूषो महर्षिभिर्ब्राह्मणवदभ्यर्हणीयतामापा-दित—इत्युत्कृष्टगुणसम्बन्ध एव तत्र कारणम्, न तु तथाभूतस्तेन नियमः शक्यते कल्पयितुम्—यद् ब्राह्मणकर्माण्यनुतिष्ठासन्नेव ब्राह्मणः स्यादिति। उत्कृष्टगुणवन्ति तु वस्तूनि सर्वाण्यपि प्राकृतिकं नियममतिक्रम्यैव तिष्ठन्ति—नहि गोमयं पूततममिति सर्वमपि पुरीषं तथाविधं स्यात्, न वा कस्तूरी सर्वत्रोपादेयेति सर्वमपि मांसं सर्वत्रोपादेयं स्यात्, न च कश्चिन्मणिरसंख्यमूल्य इति सर्वोऽपि तथैव भवेत्। तस्मात्कुतश्चिद्विशिष्ट-कारणादधिगतोत्कृष्टतमगुणसंबन्धोऽयमैलूषः कवषोऽपि न सामाजिकं कुलक्रमागतवर्ण-विभागनियमं भङ्क्तुमर्हति,प्रत्युत तत्तादृशगुणाभिव्यक्तेः पूर्वं तस्य ब्राह्मणत्वानवा-सिर्वर्णव्यवस्थां द्रढयत्येवेत्यालोचयन्तु विद्वांसः। ततश्चोपाख्यानेनानेन सिद्धमेतत्—ऐतरेयश्रुतेः प्रकाशात्पुरैव कुलक्रमागतावस्थितिर्वर्णानां सुदृढतामयासीदिति। तथैव खलु भगवतो विश्वामित्रस्याप्युपाख्यानेनायमेवार्थः सिद्ध्येत्—ब्राह्मणत्वमभीप्सन् हि स भगवान् तत्तादृशमनन्यसाधारणं वर्षसहस्राणि तपस्तेपे, न त्वभीप्सामात्रेणैव समवाप ब्राह्मण्यम्। तेन हि ततोऽपि पूर्वतरमेव सुदृढैवासीद् योनिकृता व्यवस्थिति-र्वर्णानामिति सुखाधिगम्यमेतत्। यदि हि तदात्वे तत्तद्वर्णोचितकर्माभिरुचिरेव तत्तद्वर्णत्वे कारणं स्यात्—तर्हि ब्राह्मणकर्माण्यनुतिष्ठासन्नेव स भगवान् ब्राह्मणत्वेनो-ररीक्रियेत, न त्वेतावत्तपस्तदर्थमपेक्ष्येत। न च ब्राह्मण्ययोग्यतासंपादनार्थमेव तपस्तेन समनुष्ठितमिति भ्रमितव्यम्—आस्तां नाम योग्यता, अनितरसाधारण्यां विशिष्टतमायामपि योग्यतायां समुद्भूतायां न तस्य ब्राह्मणत्वं समाजप्रमुखै-

वसिष्ठादिभिरभ्युपगतमिति स्पष्टं तदाख्यानविदाम् । सुमहत्तरतपःसमनन्तरन्तु तस्य ब्राह्मणत्वसंपत्तिरुत्कटतपःसंबन्धमूलिकैवेति न सा नियममवस्थापयितुमीष्टे, उत्कटगुणसम्बन्धस्य प्रकृतिनियमातिक्रमकारिताया उक्तत्वात् । ततश्च विश्वामित्रादपि भगवतः पुरस्तादेव कुलक्रमागतैवासीद्वर्णव्यवस्थेति संसिद्धम् । सर्ववाङ्मयादिभूताया भगवत्या ऋक्संहितायाश्च बहुतरसूक्तद्रष्टाऽयं भगवान् विश्वामित्रः, यदि तस्यापि काले योनिकृतो वर्णभेद इतिहासेन सुप्रतिपद्यते—तत्तर्हि कुतोऽनादित्वमस्य न व्यवहरेम ? ततः प्राक्तनेतिवृत्तानां प्रमापकस्यैवानुपलब्धेः । तस्माद्वर्णभेदशैथिल्यायोपादीयमानान्युपाख्यानानीमानि वर्णभेदस्य पुरातनतमत्वमेवावबोधयन्तीति सुसूक्ष्मं भावयन्तु विपश्चितः । एतेनेतराण्यपि पौराणिकानि वर्णविनिमयबोधकानीतिवृत्तानि व्याख्यातानि, तत्रापि क्वचिद्-दभ्यर्हणीयतमगुणसंसर्गादेव वर्णपरिवृत्तेरभ्युपगमात् । अत एव त्वनेकयुगसंबन्धिनि बृहत्तमेऽप्यार्याणामितिवृत्ते द्वित्राण्येवास्य वर्णविनिमयस्य निदर्शनानि, यदि तु तत्तत्कर्मभिरुचिरेव वर्णभेदे प्रमाणं स्यात्तदा किमेतावतामेव गणनीयानां वर्णपरिवृत्तिरुक्ता स्यात् ? वयन्तु पश्यामः—यदि पुरैव वर्णभेदः सुदृढं न नियम्येत तत्तर्हि एवंविधानां वर्णविनिमयानां नामनिर्देशायापि पुराणमपर्याप्तं स्यात् । तदेव खल्वितिवृत्तनिबन्धा निबध्नाति यत्प्रकृतिविलक्षणं नूत्नमिवाभाति, वर्णविनिमयश्चापि क्वाचित्कस्तत्र तत्रेतिवृत्तेषूपनिबद्ध इति क्वाचित्क एवायमुत्कटगुणसंबन्धमूलकः संघटतेस्म—न तु सामाजिकनियमसंसिद्ध इति बाढमनुमीयेत विचारदक्षैः । तथैव खल्वियं—

'तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्—ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्—श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा' ५।१०,

इति पुनर्जन्मविषयिणी छान्दोग्यश्रुतिर्ब्राह्मणादियोनिं प्रशंसन्ती योनिकृतं ब्राह्मणत्वादि स्पष्टमभ्युपगच्छति । तस्माद्योनिकृतस्य वर्णभेदस्य समाजनियमितत्वाभ्युपगमेऽप्यतिपुरातनकालिक एव सोऽयं नियमो न त्वर्वाचीन इति स्फुटं संसाधितम् ।

अथ योऽमत्युत्कटगुणसंबन्धादपि केषांचिदभ्यर्हितवर्णप्रवेशप्रचार इतिवृत्तेनानुमितः सोऽप्यतिपुरातन एव समये शक्यतेऽनुमातुम् ।

तदुत्तरन्तु प्राचीनतमेऽपि रामायण-महाभारतादिकाले नैव कथमप्यासीद्वर्णविनिमयः, अत एव समनुष्ठितप्रबलतरक्षत्रियकर्माऽपि भगवान् परशुरामो ब्राह्मण इत्येव परिपूज्यते स्म भगवता रामेण, सकलधनुर्धरगुरुश्च भगवान् द्रोणः कृपो वा नैव ब्राह्मण्यं विजहौ । उत्तमवर्णोचितं च तपः समनुतिष्ठन् शम्बूकः शूद्र इति भगवता रामेण निधनमेव प्रापितः—इत्यादीनि बहूनि पुराणेषूपलभ्यन्तेऽस्यार्थस्य प्रमापकानीतिवृत्तानि । अयं चालोक्यतां महाभारतस्यानुशासनिके पर्वणि भीष्मयुधिष्ठिर-संवादः—

युधिष्ठिरः (प्रश्नः)

नान्यस्त्वदन्यो लोकेषु प्रष्टव्योऽस्ति नराधिप !
क्षत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ! ।
ब्राह्मण्यं प्राप्नुयाद्येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत्तन्मे ब्रूहि पितामह !

भीष्मः (उत्तरम्)

ब्राह्मण्यं तात दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः ।
परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद्युधिष्ठिर ! ।
बह्वीस्तु संसरन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः ।
पर्याये तात कस्मिँश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते ॥

इति । (अ. २७)

इह हि स्पष्टमेव भगवता सर्वधर्मरहस्यनिष्णातेन भीष्मेण जन्मान्तर एवावरवर्णानां ब्राह्मण्यलाभो न तु कथञ्चिदप्येकस्मिन्नेव जन्मनीति स्पष्टमेवोद्घुष्टम्, जन्मान्तरे च ब्राह्मणत्वाद्यवाप्तेरुक्तिरियं पूर्वोपदर्शितच्छान्दोग्यश्रुतिमूलिकैव । अनन्तरं च तेन भगवता मतङ्गस्य शूद्रस्योपाख्यानमाख्याय दृढीकृतोऽयमर्थः, स हि मतङ्गो ब्राह्मणत्वमभीप्सन् ब्राह्मणोचितसकलगुणगणसंवृतो महत्तरं तपश्चचार—तदुक्तं तेनैव सुरराजमिन्द्रं प्रति—

इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहितः ।
अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं नाप्नुयां कथम् ।
अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम् ।

(आ० प० अ० २६)

स चायमेवंविधोऽप्येतदेवेन्द्रेणोत्तरितः—

श्रेष्ठतां सर्वभूतेषु तपोऽर्थे नातिवर्तते ।
तदग्र्यं प्रार्थयानस्त्वमचिराद् विनशिष्यसि । इति ।

तदित्थं मतङ्गेन सुमहत्तपस्यताऽपि नैवाधिगतं ब्राह्मण्यमिति । उपाख्यानेनैतेन सुस्पष्टमिदं भवति–यद् बहुतरतपोऽनुष्ठानादिनाप्यतिपूर्वमेवाभ्यर्हितवर्णत्वावाप्तिः प्रचरितासीत्–तदुत्तरन्त्ववरवर्णस्योत्कृष्टवर्णत्वं सर्वथैव प्रतिषिद्धम् । ततश्चाति पुरातन एव रामायण-महाभारतादिकाले कुलक्रमागतेयमवस्थितिर्वर्णानां सुदृढत्वमुपगतेति साधु संसाधितम् । यत्तु यक्षयुधिष्ठिरसंवादे करतलामलकायितधर्मरहस्येनापि युधिष्ठिरेण कर्मण एव द्विजत्वहेतुत्वमुक्तम्—तदिदं कर्मणः प्रशंसनमात्रम्' न तु युधिष्ठिरकाले कर्महेतुको वर्णविभागः सम्भावयितुमपि शक्यः, द्रोणादीनां

ब्राह्मणत्वव्यवहारविरोधापत्तेः। पूर्वोक्तभीष्मवाक्येनात्यन्तं विरोधाच्च। स्पष्टीकृतश्चोपरिष्टात्—'वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः' इति वदतां तेनैव महात्मना स्वकीयोऽभिप्रायः। यत्नतो हि ब्राह्मणेन स्वकर्मपरायणेन भवितव्यम् अन्यथा निन्द्यत्वमस्यापद्येतेत्येष एव तदभिप्रायः। एवमेव नहुषेण संवादेऽपि यत्सत्यशीलादिविशिष्टस्य ब्राह्मणत्वमाख्यातं युधिष्ठिरेण—तस्याप्येतैर्लक्षणैरुत्तमो ब्राह्मणः परीक्ष्य इत्येव तात्पर्यम्—तच्चैतत्—

> जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
> संकरात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥

इति वदता तत्रैव स्पष्टीकृतम्। आरब्धे हि तदा जघन्ये युगे बहुशो व्यभिचारादिप्रवृत्त्या वर्णसंकरबाहुल्यान्न जातिमात्रेण ब्राह्मण उत्कृष्टः शक्यः परीक्षितुम्—अपि तु सत्यशमादिगुणानवलोक्यैवोत्कृष्टं ब्राह्मण्यं निश्चेतव्यमिति तदभिप्रायः। एवं धर्मव्याधादिसंवादेऽपि सत्त्वादिगुणोत्कर्षंथकन एव तात्पर्यमवसेयम् दृढतरप्रमाणान्तरानुगुण्यादिति भाव्यतां भावुकैः। यदा हि स्वकीयवर्णोचितं कर्म परित्यज्य वर्णान्तरोचितकर्मणा जिजीविषन्तमर्जुनं भगवान् वासुदेवः—

> 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'
> 'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि'
>
> (भगवद्गीता)

इत्यादिभिर्वचनजातैर्निवारयामास. अनिच्छन्तमपि 'स्वधर्म' इति युद्धं कारयामास च, तस्मिन्नेव महाभारतकाले कर्मणैव वर्णव्यवस्थितिर्युधिष्ठिरादिभिर्धर्ममर्मविद्भिरुपगतेति को नाम विचारशीलः सम्भावयेदपि। वर्णविभागहेतुक एव कर्मविभागो, न तु कर्मविभागहेतुको वर्णविभाग इति सुस्पष्टमेतद्भगवद्गीतासु तात्पर्यम्—अतएव त्वर्जुनस्य ब्राह्मणोऽचितभैक्ष्यादिपरिग्रहः पापमिति निषिद्धः। तस्मात्तदात्वेऽतिदृढमूलाया योनिकृतवर्णव्यवस्थायाः सुतरां संसिद्धौ पूर्वोक्तवचनानामुपदर्शितार्थ एव तात्पर्यम्—न तु गत्यन्तरमिति स्फुटं समीक्षादक्षाणाम्। ततश्च पुराणमहाभारतादीनां कुलक्रमागतवर्णावस्थितावेव तात्पर्यं स्पष्टं संसाधितम्।

स्मृतयस्त्वेकमुखेनैव जन्मसिद्धं वर्णविभागं स्फुटं प्रतिपादयन्ति—

> सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
> आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥
>
> (मनुः अ० १०)

सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः ।
(याज्ञवल्क्यः)

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ (मनुः अ० १)

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव उत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः ।
(हारीतः)

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च ॥ (अत्रिः)

किं च स्वस्ववर्णोचिताध्ययनादिकर्मविरहितस्यापि ब्राह्मणादेर्वैगुण्यमात्रं स्मर्यते, ब्राह्मणत्वं तु सामान्यतोऽभ्युपगम्यत एव स्मृतिकृद्भिः—तदेतदाह भगवान् मनुः—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ (अ० २)

अत्र ह्यनधीयानस्यापि विप्रस्य नाममात्रेण विप्रत्वं सुस्पष्टमुक्तम् , न चैतज्जन्मसिद्धं वर्णभेदमन्तरा कथमपि घटेत—कर्मण एव जातिहेतुत्वेऽनधीयानस्य विप्रशब्दवाच्यताया एव दूरापेतत्वात् । किं च ब्राह्मणेषु विदुषां श्रैष्ठ्यमाचक्षाणो (१।९७) भगवान् मनुरविदुषोऽपि ब्राह्मणत्वमभिप्रैत्येव । सर्वैरभ्युपेतशासनश्च भगवान् व्याकरणमहाभाष्यकारोऽपि नञ्-सूत्रे प्रासङ्गिकीं स्मृतिमिमामुदाजहार—

तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मण्यकारकम् ।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः । इति ।

इहापि तपःश्रुतयोनित्रितयविशिष्टस्य मुख्यं ब्राह्मणत्वम् , तपःश्रुतविहीनस्यापि तु केवलं ब्राह्मणकुलप्रसूतस्य जातिमात्रेण ब्राह्मणत्वमिति स्पष्टमभ्युपगच्छन्त्या स्मृत्या जातेर्मुख्यता द्योतितैव । भाष्यकृता चात्रैवंविधे ब्राह्मणे यद्यब्राह्मणशब्दः क्वापि प्रयुज्यते तर्हि स उपचारादेव, शुच्याचारादिविशिष्टेऽपि योनिविरहिते तु ब्राह्मणत्वाभावनिबन्धनो मुख्य एवाब्राह्मणशब्द इत्यभिदधता स्पष्टमेव योनेः प्राधान्यमुररीकृतम् । एवमुत्तमकर्माण्यनुतिष्ठतामवरवर्णानामुत्कर्षे स्फुटं प्रतिषेधति भगवान् मनुरेव—

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् ।
संप्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ (अ. १०)

इह किलार्यकर्माण्यनुतिष्ठतः शूद्रस्य विगुणार्यसमत्वमपि कथंचित् प्रतिषिध्यते— किं पुनरार्यत्वम्, कथंचित्समत्वं तूभयोरपि निषिद्धाचरणकर्तृत्वादेवाभ्युपेतमिति स्पष्टं टीकासु। भगवान् पराशरोऽपि सुस्पष्टमाह—

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य दुष्टां गां दुहेच्छीलवतीं खरीम्॥

अवश्यमियं दुःशीलस्य द्विजस्य पूज्यतोक्तिः कैमुतिकन्यायमूलिकैवेति मन्महे तथापि तु योन्युत्कर्ष एव महर्षीणामेषां तात्पर्यमासीदित्येतन्न शक्यं कथमप्यपह्नोतुम्। उक्तश्चायमर्थो भगवता मनुनापि राजधर्मेषु—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
(अ. ९) इति।

अथैवं दूरे तिष्ठतु वर्णविनिमयः, स्वधर्मं परित्यज्य परधर्मं निषेवमाणानां प्रबलपातकसंबन्धं प्रपञ्चयामास भगवान् मनुरेव द्वादशेऽध्याये—

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युतवर्णा ह्यनापदि॥
पापान् संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु॥ इत्यादिना।

तदेवं कियदुदाहरामः—सर्वत्रापि स्मृतिषु जन्मनैव वर्णभेदसिद्धान्तः सुप्रतिष्ठित इति नेदं दुरधिगमं प्रेक्षावताम्। यत्तु स्मृतिषु वर्णानां संस्कारजत्वस्योक्तत्वात् संस्काराणां च कर्मयोग्यतासंपत्त्यर्थमेवोपयोगात्, कर्मयोग्यताया एव वर्णभेदमूलत्वं प्रसाधितम्, तदेतन्नास्माकमंशतोऽपि प्रतिकूलम्। यतो हि न वयं कर्मयोग्यताया मुख्यवर्णहेतुतां कथमपि वारयामः—'योनिर्विद्या कर्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्' इत्युक्तत्वात्, कर्मविरहितानां जातिब्राह्मणादीनां बहुतरनिन्दास्मरणाच्च। तत एव वर्णानां मुख्यवर्णत्वसंपत्तये समपेक्ष्यन्त एव संस्काराः। इमे तु संस्कारा ब्राह्मणादिकुलोत्पन्नेष्वेव तत्तत्कर्मयोग्यतामाविर्भावयितुं प्रभवन्ति—न तु क्वचिदवरजेऽप्यभिनवां तादृशीं योग्यतामाधातुमिति स्फुटं प्रतिजानीमहे। दृष्टा हि लोके संस्कारा मालिन्यमुपगतेषु मणिमौक्तिकसुवर्णादिष्वेव द्युतिमच्छायामाविर्भावयन्तः, न तु लोष्टप्रस्तरादिष्वपि तादृशीं द्युतिमभिनवामुत्पादयन्तः। तस्माद् ब्राह्मणादिकुलजानामेव मुख्यब्राह्मणत्वादिसिद्धये समपेक्ष्यमाणा अपि संस्कारा न शूद्रेष्वपि ब्राह्मण्यं जनयेयुरिति स्मृतितात्पर्यं शक्यमुपपादयितुम्। अत एवावरजानामुत्तमवर्णोचिताः संस्काराः स्मृतिषु निषिद्धा एव, तत्र तेषां फलाधायकत्वाभावादिति विभाव्यतां भावुकैः। किं च—त्रैवर्णिकानुद्दिश्य विहितेष्वप्येषु संस्कारेषु तत्तद्वर्णोचितः प्रतिनियम आश्रीयते स्मृतिकृद्भिः—तथाह मनुर्नामकरणे—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् । इत्यादि ।

अस्मिंश्च जातमात्रस्य शिशोर्दशमेऽहनि नामकरणकाले किं तस्य ब्राह्मणत्वादिसाधकं भवितुमर्हति, ऋते योनेः । न हि गुणकर्मादीनां विज्ञानस्य कथापि तदात्वे शक्यसंभवा । तस्माद् ब्राह्मणादिकुलजानामेव ब्राह्मणाद्युचितं नाम स्मृतिष्वभिप्रेतमिति संस्कारप्रकरणादपि जन्मसिद्धत्वमेव वर्णानां प्रसिद्ध्यति । तथैवोपनयने तत्तद्वर्णानां दण्डमौञ्ज्यादिप्रतिनियमो ऽप्यत्रानुसन्धातव्यः ।

यच्चैतद्विपरीताहारविहारादिसंबन्धादधःपातेन स्मृतिषूपलभ्यमानेन कर्मयोग्यतैव वर्णभेदे मुख्यो हेतुरित्युत्प्रेक्षितम् तदप्युक्तयुक्तेरेव प्रत्युक्तम् । कर्मयोग्यताया मुख्यवर्णत्वहेतुतयाऽस्माभिरप्यभ्युपगमात्—तस्याश्च मदिरापानाद्युत्कटप्रत्यवायसंपातेऽपगमात् तत्तद्वर्णानां ब्राह्मणत्वादेः प्रच्यवस्योपपत्तेः । नाममात्रेण तु कथंचिद् ब्राह्मणत्वादिकमेषामपि नशक्यमपलपितुम् । इतरेषान्तु ब्राह्मणादीनां दोषसम्पर्कभीतानां न ते संव्यवहार्या भवन्तीति पतिता एवाख्यायन्त इत्यास्तां तावत् । यत्त्वितो वर्णानामधःपातादेव दृष्टान्तात् समुन्नतिरप्यवरवर्णानामनुज्ञातुमभिलष्यते तदेतदन्याय्यम् । विनिपातस्येव समुन्नतेः क्वापि स्मृतिष्वनुक्तत्वेनाप्रामाणिकत्वात् । सुलभो हि विनिपातः, सुदुर्लभा तु समुन्नतिरिति प्राकृतिकोयमर्थः । तस्मात्कुतश्चिद्विशिष्टहेतोर्विनिपात इव कुतोऽपि हेतोः समुन्नतिरवरवर्णानां स्मृतिषु कुत्रापि नोक्तेति न स्मृतिसिद्धोऽयमर्थः ।

किं च—'योनिर्विद्या कर्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्' इति स्मृतिमुदाहृत्य ब्राह्मणादिशब्दानां वृत्तिर्भाष्यकृतैव भगवताऽभ्युपगता । समुदायश्चायमेकविनाशेऽप्यपैतीति युक्त एवायं वर्णानां तत्तद्वर्णत्वापगमः । न त्वेकविरहेऽपि समुदायः शक्यते कथमपि व्यवहर्तुमिति न युक्तोऽभिनववर्णत्वसमुत्पादः । तथा हि—ब्राह्मणकुलप्रसूतत्वेन योनिविशिष्टोऽपि कश्चिद् व्यक्तिविशेषो विद्याकर्मणी यदि जह्यात्, विद्याविशिष्टोऽपि वा कर्मपतितः स्यात्, सुरापानादिभिरुत्कृष्टविद्याकर्मयोग्यतामेव वा समुच्छिन्द्यात्—तर्हि न तस्मिन् योनिविद्याकर्मणां समुदायः प्रतिष्ठित इति सोऽवश्यं ब्राह्मण्यात् पतितः स्यात् । योनिमात्रस्यैकस्य वा सत्त्वेऽपि त्रितयसमुदायस्य वक्तुमशक्यत्वात्—ब्राह्मणशब्दस्य च त्रितयसमुदाये निरूढत्वादित्युपपन्नं ब्राह्मणादियोनिजानामपि पातित्यम् । यस्तु ब्राह्मणकुलेऽनुत्पन्नतया योनिविरहितोऽप्युत्तमां विद्यां संस्कारवशादधिगच्छेत्, यमनियमादिषूत्कृष्टेषु कर्मस्वपि चानुरक्तः स्यात्, सोऽयं द्वितयसत्त्वेऽपि योनिविशिष्टत्रितयसमुदायाभावादेव न ब्राह्मण्यमाप्तुं शक्नुयादिति नोपपन्ना वर्णानामस्मिन् जन्मन्युत्कर्षावाप्तिः । एतेन ब्राह्मणस्य म्लेच्छादिधर्मान् प्रतिपन्नस्य म्लेच्छत्वादिवदेव ब्राह्मण-

धर्मं प्रतिपन्नानां यवनादीनामपि ब्राह्मणत्वादि तुल्यन्यायादुचितमित्याद्युच्छृ-ङ्खलमापादयन्तो निरस्ताः। समुदाये ब्राह्मणादिशब्दानां प्रयोगस्येष्टत्वात् समुदायस्य च योन्याद्यन्यतमविरहे ऽप्युपपादयितुमशक्यत्वादिति भाव्यतां भावु-कैर्मनः प्रणिधाय।

अथ यदेतदुच्यते—योनिकृते वर्णविभागे गवाश्वादीनामिव ब्राह्मणक्षत्रिया-दीनामपि परस्परं भेदः प्रत्यक्षं समुपलभ्येत, न तु तत्तथोपलभ्यते, सर्वेषामपि वर्णानामैकरूप्यस्यैवोपलब्धेः, ततश्च नास्त्येव वर्णानां योनिकृतो भेद इति तत्तु-च्छम्। गवाश्वादीनामिव योनिकृतस्य वर्णानां परस्परं भेदस्यास्माभिरप्यनभ्यु-पगमात्। प्रकृतिभेद एव हि तेषामादौ विधातृकृतः, तदनुसृत्यैव च कर्मभेदा-दुपपन्नोऽयं जातिभेदः।

'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'।

इति प्राकृतिकेन नियमेन योनिभेदमूलकतां नीत इति श्रुतिस्मृतिभिरसकृद-साधयाम। तथा च मनुष्यत्वजातेरवान्तरा एवैते ब्राह्मणत्वादिभेदाः स्युः, न तु गवाश्वादीनामिवैकान्ततो जातिपार्थक्यमभिधातुं सांप्रतम्। अवान्तरास्तु भेदाः सर्वास्वपि (मनुष्यतिर्यगादि) जातिषु बहुधा समीक्षकैः समुपलभ्यन्ते न च ते ऽपि परस्परं संकीर्यन्ते भवन्ति च तेऽपि बहुधा योनिसिद्धा इति तद्वदेव वर्णभेदस्याप्यभ्युपगमे क्षत्यभावः। यो ह्येषां वर्णानां वर्णत्वप्रयोजको नैसर्गिको भेद आख्यातः स किल परीक्षमाणैः सर्वत्रैव समुपलब्धुं सुशकः। न च स्वरूपभेद एव भेदप्रयोजकतयादरणीयो न तु प्रकृतिभेद इति काचिद्राजाज्ञास्ति। तस्मा-त्प्रकृतिभेदनियतेऽपि वर्णानां भेदे योनिसिद्धत्वं न शक्यमपलपितुम्। अथ सोऽयं प्रकृतिभेदो ऽपि वर्णानां नियतं नोपलभ्यत एव, बहूनां ब्राह्मणानामत्यल्प मतीनां, क्षत्रियाणां कातराणां शूद्राणां च कुशाग्रधिषणानां वीर्यवतां च प्रत्यक्षमुपल-भ्यमानत्वात् इति यदि कश्चिदाक्षिपेत्तदेतदप्यविचारात्। इदानीं हि कालदोषा-च्छिथिलतामुपगते स्वस्ववर्णाभिमाने परित्यक्तेषु स्वस्ववर्णोचितेषु कर्मसु सुदूरमुत्सा-रितायां शास्त्रमर्यादायां नाममात्रपरिचेयेषु वर्णेषु विलयमुपगते च स्त्रीणां यथार्थ-चारित्रे दुरवस्थेयमुज्जृम्भते, न तु यथाविधि प्रवर्तमानेषु वर्णेषु कदाचिदप्येतदेवं स्यात्। अवश्यं हि ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्योचितप्रकृतय एव सुताः समुत्पद्येरन् मधुरादाम्रबीजादुत्पन्नस्य तरोर्मधुराणि फलानीवेति प्राकृतिक एष नियमः। प्राकृतिकं नियममनुसृत्यैव चार्याणां धर्ममर्यादाः प्रतितिष्ठन्ति। यस्त्वस्य प्राकृतिकस्य नियमस्य क्वचिदुपलक्ष्येत व्यभिचारः, स किल हेतुविशेषजन्यः कादाचित्क एव स्यात्, न च कादाचित्कस्य तस्यकृते समाजे प्रवर्तनीया विप्लवा-द्दुरवस्थेति न्याय्यः पन्थाः। तस्मात्समाजमुन्निनीषद्भिर्वर्णानां यथाशास्त्रं प्रवृत्ता-वेव प्रयतनीयम्, येन समूलमुन्मूल्येत दुरवस्थेयम्—ब्राह्मणक्षत्रियादिसुताश्च

ब्राह्मणक्षत्रियाद्युचितप्रकृतय एव स्युः। न तु काचित्कस्य व्यतिक्रमस्य कृते सत्यपि समाजस्य सुव्यवस्था समुत्सारणीयेति कश्चित्प्रज्ञाशीलोऽनुमन्येत। ततश्चाद्यत्वे समुपलक्ष्यमाणोऽयं वर्णानां प्रकृतिविनिमयः कर्मदोषजन्य एवेति नैतस्माद्वर्णानां नियताः प्रकृतय एव न सन्तीति शक्यं साधयितुमित्युपपादितम्। अथ त्विदानीमपि कथंचिद् ब्राह्मणानामेव लोके विद्याधिक्यं वैश्यानामेव च धनाधिक्यं सुस्फुटमवलोक्य संतोष्टव्यमस्मद्वाक्येषु समीक्षकैरिति कृतं विस्तरेण।

यत्तु केचिदाचक्षते—सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविभागमुपपादयद्भिः सर्वैरपि शास्त्रज्ञातैरेकविधत्वमेव मनुष्यसृष्टेराख्यायते—न तु तिर्यगादिषु नानाभेदा इव मनुष्येष्वपि ब्राह्मणादिभेदास्तत्रोच्यन्ते। तथा च सांख्याचार्य ईश्वरकृष्णः सृष्टिभेदानाह—

> अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
> मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥ इति

इह हि चतुर्दशविधे भूतसर्गे दैवसर्गस्य ब्राह्मप्राजापत्यैन्द्रपैत्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचभेदैरष्टविधत्वमाख्यातम्, तैर्यग्योनस्य च पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणां भेदात्पञ्चविधत्वमुक्तम्, मनुष्यसर्गे तु नैवं ब्राह्मणादयो भेदाः प्रतिपादिताः, अपि त्वेकविधत्वमेव तस्याभ्युपेतम्। तथैव किल भागवतादिषु सर्वेष्वपि पुराणेषु सृष्टिविभागे न कुत्रापि मनुष्यसृष्टेश्चतुरो विभागानुपलभामहे। ततश्च नायं वर्णविभागः सृष्टेरादितः प्रसिद्धो न वा योनिसिद्ध इति प्रतिपद्यामह इति। तदेतत्सर्वमतिस्थवीयः। मनुष्यसृष्टेर्हि अवान्तरा भेदा ब्राह्मणादय इत्यवोचाम। न च सर्वेऽप्यवान्तराः सृष्टिभेदाः कुत्रापि परिगण्यन्ते, न वा शक्यन्ते परिगणयितुम्। अङ्ग हि समालोचयतु भवान्—य इमे पञ्चविधास्तिर्यञ्च आख्याताः—किमेषु न सन्ति शतशोऽवान्तरा भेदाः? न वा ते योनिसिद्धाः सृष्टेरादितः प्रसिद्धा वा? ततश्च सतामेव गोमहिष्यादिभेदानामुपेक्षया तमःप्राधान्यमात्रविवक्षया यथा पशुशब्देनैकेनैव सर्वांस्तानुपसंगृह्य पञ्चविधत्वं तिरश्चामुपपाद्यते—तथैवेदं रजःप्राधान्यमात्रविवक्षयाऽवान्तराणां ब्राह्मणादिभेदानां चोपेक्षया मनुष्याणामप्येकविधत्वमुपपन्नमिति नैतावता योनिसिद्धत्वं वर्णानां हीयेत। रजःप्राधान्यं चापीदमापेक्षिकम्, देवाद्यपेक्षया सत्त्वमात्रायास्तिर्यगपेक्षया च तमोमात्राया मनुष्यसामान्ये न्यूनतया तत्र सर्वत्रैव रजःप्राधान्यव्यवहारात्। सन्ति तु तत्र रजःप्राधान्येऽपि सत्त्वादितारतम्यकृता बहवो भेदाः, तन्मूलकत्वमेव चैषां ब्राह्मणादीनामस्माभिराख्यातमिति न विस्मर्तव्यम्। कारिकां चेमां व्याचक्षाणस्तत्र भवान् वाचस्पतिमिश्रो ब्राह्मणादिभेदानामत्राविवक्षायास्तात्पर्यमपि सुस्पष्टमन्वाह—

> 'संस्थानस्य चतुर्ष्वप्येकविधत्वादिति'।

संस्थानं ह्यवयवसंनिवेशः, न किल सोऽयमेषु चतुर्ष्वपि भिद्यते—प्रकृतय एव त्वेषां भिद्यन्ते, संस्थानभेदादेव चेह भेदा विवक्षिताः—इति न ब्राह्मणादिभेद-परिगणनमिह कृतम्। एवमेव तत्तत्पुराणेष्वपि भेदाविवक्षाऽनुसन्धेया कार्त्स्न्येन भेदानां परिगणनस्य कुत्राप्यशक्यत्वात्। यावन्तो भेदा यत्र परिगणितास्तत्राप्य-वान्तराणां शतशो भेदानां संभवात्, अवान्तरभेदेष्वेव च ब्राह्मणादीनामपि प्रवेशात्, बहुत्र तु पुराणेषु सृष्टिविभागेऽप्युक्ता एवैते भेदाः, उपदर्शितानि च तद्वाक्यानि दिङ्मात्रमादावेवेति विरम्यतेऽत्र तदुपदर्शनात्। ततश्चानया सृष्टि-विभागेऽनुक्त्यापि न वर्णानां योनिसिद्धत्वं व्याहन्तुं शक्यमिति विवेचयन्तु विचारदक्षाः।

यत्तु योनिसिद्धभेदेषु गवाश्वादिषु नान्यकार्यमन्यः शक्नोत्यनुष्ठातुम्, न चैषां भेदविज्ञाने बालोऽपि संशेते, प्रत्यक्षेणैव भेदस्य सुप्रतिपद्यमानत्वात्, नाप्येतेषु विजातीयैः पुरुषैर्विजातीयाः स्त्रियः सन्ततिमारब्धुमीशते। योऽपि कश्चिदश्वतरादिः संकरजातीय उत्पद्यते सोऽप्ययं द्वाभ्यामत्यन्तं विजातीयो भवेत्। न त्वेतत्सर्वमेवं ब्राह्मणक्षत्रियादिषु, तत्र हि सुशिक्षितः शूद्रोऽपि ब्राह्मणकार्याणि कर्तुं शक्नुयात्, न च कर्मभेदविज्ञानमन्तरा कश्चिदप्येषां भेदं प्रतिपद्येत, भवन्ति च वर्णान्तरेष्वपि वर्णान्तरजन्याः सन्ततयः सरूपा एव। ततश्च नैष जातिभेदोऽर्हति योनिसिद्धो भवितुमिति केचिदाक्षिपन्ति, तदेतदतिरभसादविज्ञानाच्चेति ब्रूमहे। अत्रापि वर्णान्तरकार्याणां यथावद्वर्णान्तरैः संपादयितुमशक्यत्वात्। ननु च भो दृश्यन्त एव बहवः शूद्रा अपि ब्राह्मणकर्माणः, इति चेदङ्ग किमिदं ब्राह्मणकार्यमवधार्य तत्र-भवन्तो वदन्ति—शूद्रा ब्राह्मणकर्माण इति? आलोक्यतां श्रुतिस्मृतिषु ब्राह्मण-कर्माणि—

> "यश्चैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे।" (श्रुतिः)
> "देवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।"
> ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवता। (स्मृतिः)

ततश्च प्रवर्तमानं प्राकृतिकं जगच्चक्रमेतद्यथावद्विज्ञाय यथेच्छमन्यथा प्रवर्त-येत्तदिदं ब्राह्मणकार्यम्, नेदानीं ब्राह्मणा अप्येतदनुष्ठातुं शक्ता इति चेन्ना-स्माकमियं वर्णव्यवस्था एतत्समयार्थमेव प्रस्तुता, सार्वकालिकी तावदेवेत्य-वोचाम। अहो! यदा हि किल वयं सर्ववर्णानां कानि कर्माणीति मनागप्यालोचयितुमशक्तास्तदा कथंकारमयमस्माकं वर्णपरिवर्तनाग्रह औचितीं विन्देत। न च यथावत्कश्चिदपि कर्तुं न शक्नोतीति व्यवस्थैव समुत्सारणीया, प्रत्युत यथावत्कर्मप्रवृत्तये व्यवस्थां सुदृढं नियमयितुं प्रवर्तनीयमिति कृतं विस्तरेण। वर्ण-भेदपरिज्ञानं तु कर्मभिरेवेति युक्तमेव, वर्णभेदस्य प्रकृतिभेदमूलकत्वात्—प्रकृतिभेदस्य

च कर्मभेदानुमेयत्वात्। इहापि च विजातीयजन्या सन्ततिरश्वतर इव जात्यन्तरत्वमेव भजत इत्यालोक्यतां स्मृतिषु। वस्तुतस्तु नायं वर्णभेदोऽस्माभिरपि गवाश्वादिभेदवदिष्ट इति व्याख्यातमेव बहुशः पूर्वम्।

अथ यदेतद् वर्णानां कर्महेतुकत्ववादिनां मूर्द्धाभिषिक्तं प्रमाणं—

'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'

इत्यादि मनुवचनम्, तत्तु प्रकरणानभिज्ञानां प्रतारणामात्रमित्युपहासायैव प्रेक्षावताम्, वर्णसंकरप्रकरणे हि—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात्।

इति स्वयं पूर्वं प्रकृत्य मनुना तदभिहितम्। अस्य च पूर्वस्य श्लोकस्यायमर्थः—ब्राह्मणाच्छूद्रकन्यायामुत्पन्नः पारसवाख्यो वर्णः पूर्वमभिहितः, स चायं मातृदोषादश्रेयान्। पितृसंबन्धाद्धि तस्मिन् ब्राह्मण्यम्—मातृसम्बन्धात्तु शूद्रत्वमिति वर्णान्तरमप्येष कथंचिद् ब्राह्मणशब्देन शूद्रशब्देन चेत्युभाभ्यामेव शक्यते व्यपदेष्टुमुपचारात्। स स्वयं श्रेयः संपर्कात्सप्तमे युगे (जन्मनि) श्रेयसीं पितृतुल्यां जातिमापद्यते। तथा हि—तज्जातीया कन्या ब्राह्मणेन चेद् विवाहिता, तत्कन्यापि च पुनर्ब्राह्मणेन, तत्कन्यापि ब्राह्मणेनेत्येवं क्रमेण सप्तमी कन्या ब्राह्मणेन विवाहिता शुद्धं ब्राह्मणमेव जनयति। सप्तमे हि युगे मातृदोषः समूलमपैति, बैजिकं च ब्राह्मण्यं सुस्पष्टमुदेति। अवान्तरीभूतास्तु ताः कन्याः संकरमेव जनयन्ति, मातृदोषस्य कथं चिदनुवृत्तेरिति। इह च कन्यापरम्परैवाभिप्रेता न तु पुत्रपरम्परेति—

'प्रजायते'

इत्येतस्मात्पदादधिगम्यते। प्रजननं हि स्त्रिया एव संभवति न पुरुषस्येति। तदेवं श्रेयःसंपर्कात्सप्तमे जन्मनि शोणितानुवृत्तस्य शूद्रत्वस्य निवृत्तिरुक्ता। तावतैव च स तस्य सङ्करजातीयस्य शूद्रत्वांशोऽपि ब्राह्मणत्वे परिणतः, इत्यभिप्रेत्य—

'शूद्रो ब्राह्मणतामेति'

इत्युत्तरश्लोकपादोऽभिहितः। अथ यदि ब्राह्मणाच्छूद्रायामुत्पन्नस्य तस्य संकरस्याश्रेयसैव संबन्धः स्यात्, तत्कन्या यदि शूद्रेणैव विवाह्येत, तत्कन्याऽपि च शूद्रेणैवेत्यादि, तदा बहुभिर्जन्मभिस्तस्य पितृसम्बन्धादनुवृत्तं ब्राह्मण्यं समूलं विनश्येत्, मातुरनुवृत्तं शूद्रत्वमेव च तस्य नियतमवतिष्ठेत। तावतैव तस्य ब्राह्मण्यांशोऽपि शूद्रत्वे परिणतः इत्यभिप्रेत्य—

'ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'

इति पूर्वोक्तश्लोकस्य द्वितीयः पादोऽभिहितः। अयमेव च न्यायः क्षत्रिय-वैश्यसंकरेष्वप्युत्तरार्द्धेनातिदिश्यते—

'क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च'

इति। क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामुत्पन्नोऽपि सङ्करविशेष एवमेव क्षत्रियैर्भूयो भूयः सम्बन्धमापद्यमानः क्षत्रियत्वमनुविन्देत, शूद्रैस्तु सम्बन्धमाप्नुवन् क्षत्रियत्वं विजहातीत्याद्यूह्यम्।

एतदेवोक्तं भगवता याज्ञवल्क्येनापि—

'जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा' इति।

तत्र ब्राह्मणात्क्षत्रियायामुत्पन्नस्य वैश्याच्छूद्रायामुत्पन्नस्य वा श्रेयःसंपर्कात् पञ्चम एव जन्मनि पितृतुल्यवर्णावाप्तिः, विप्रकृष्टस्य शूद्रायां ब्राह्मणादुत्पन्नस्य तु सप्तमे जन्मन्युत्कर्ष इति व्यवस्थितो विकल्पः सुस्पष्टं मिताक्षराकृता व्याख्यातः। तथा च स्मृत्यन्तरसंवादाद्वर्णसङ्करप्रकरणाच्च मनुप्रोक्तस्य तस्य श्लोकस्योक्त एवार्थः संभवति, न तु प्रकरणविरुद्धः पूर्वापरविरुद्धश्च सामान्येन शूद्राणां ब्राह्मणत्वावाप्ति-रूपस्तदर्थो न्याय्यः, न च शक्यः प्रकरणमालोचयता निराग्रहेण केनचित्प्रेक्षावता सोऽर्थः श्रद्धातुम्। वर्णसङ्करविषये तु यत्पितुर्ब्राह्मण्यं तस्मिन्ननुवृत्तमासीत्तदेवेदं महता कालेन श्रेयःसम्बन्धान्मातृदोषं निरस्योद्भूतमिति न तत्राभिनवब्राह्मण्यो-त्पत्तिशङ्काऽपि लब्धपदा। बीजसम्बन्धादेव हि स्त्रीष्ववरवर्णास्वपि जातानां बहूनां महर्षीणां समुज्ज्वलितं ब्राह्मण्यमासीदिति भगवता मनुनाप्युक्तम्, इतिवृत्तेष्वपि चोपलभ्यते। न तु सामान्यतः शूद्रस्य ब्राह्मणत्वावाप्तौ कोऽपि दृष्टान्त इति प्रागेवा-वोचाम। यथा च प्रकरणान्तरेषु भगवता मनुना योनिसिद्धैव वर्णव्यवस्थाभ्युपेता तथैतदसकृत्पूर्वमेवासाधयाम। एवं च तदविरुद्ध एवार्थोऽत्र न्याय्यः स्यान्न तु पूर्वापरविरुद्ध इत्यालोच्यम्। तथा च शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिरयं श्लोकः शुक्र-शोणितानुवृत्तस्य ब्राह्मणत्वादेरङ्गीकरणात्कर्महेतुकत्ववादिनां प्रत्युत परं प्रतिकूलः न तु कथमपि वर्णानां योनिसिद्धत्वबाधक इति स्पष्टमेतत्साधितम्। यदि हि कर्म-निमित्तिकैव व्यवस्था वर्णानामत्राभिप्रेता स्यात् तर्हि ब्राह्मणेनोढमात्रैव शूद्र-कन्या ब्राह्मणी स्यादेवेति तत्पुत्राणां शुद्ध ब्राह्मण्यसंसिद्धौ कोऽयं सप्तमपञ्चमादि-जन्मसूत्कर्षावाप्तिविचारः?

यदि हि ब्राह्मणसन्ततिरपि केवलं क्षेत्रदोषात्सप्तमे जन्मनि शुद्धं ब्राह्मणत्वमवा-प्नोति तदा कैव कथान्येषां जात्या शूद्राणां ब्राह्मणत्वावाप्तेरिति। तस्माच्छूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यस्माद्वचनाद्योनिसिद्धैव वर्णव्यवस्थितिः सुदृढतामाप्नोतीति निर्वि-वादमेतत्।

यत्तु, केचिदाग्रहपरतन्त्राः शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यस्य यथाश्रुतं पूर्वापरविरुद्धं विपरीतमेवार्थं समर्थयितुम्—

'शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः'

इति तत्पूर्ववर्तनमपि श्लोकमन्यथैव व्याख्यातुमुद्युञ्जते, तथा हि—'ब्राह्मणाच्छूद्रायामुत्पन्नः अश्रेयान् कथञ्चिद् ब्राह्मणीसुतान्निकृष्टोऽपि यदि श्रेयसा—कल्याणेन—धर्माचरणेन, प्रजायते—युज्यते, तदा सप्तमे युगे—वर्षे, श्रेयसीं—पितृतुल्यां जातिमापद्यते। सप्तमो ह्ययं वर्ष उपनयनकालमुपलक्षयति, तेन स्वकाले कृतोपनयनस्य, वेदाध्यायिनस्तस्य नास्ति द्विजकुमारेभ्यः कोऽपि विशेष इति तात्पर्यम्। उपनयनबलादेव हि शूद्रासुतः शूद्रोऽपि वा शक्नोति ब्राह्मणीभवितुम्, अनुपनीतस्तु द्विजकुमारोऽपि शूद्र एव स्यादिति। अयमेव वचनस्यास्य न्याय्योऽर्थः, युगशब्दस्य जन्मार्थकत्वे हि नास्ति किमपि मानम्, वर्षवाचकता त्वस्योपपद्यत एव, अयनयुग्मरूपत्वाद्वर्षस्य, वर्षावयवश्चतुर्मासादिरपि मासपक्षादियुग्मरूपः। अष्टमेऽब्द उपनयनस्योक्तत्वाच्च संभवाद्वर्ष एवात्र युगशब्देन ग्रहीतुमुचितः। किं च।

"तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः।"
"यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते।"

इत्यादिना भगवता मनुनैकस्मिन्नेव जन्मनि साङ्कर्येणोत्पन्नानामुत्कर्षोऽवासिराख्याता, दृष्टान्तैः समर्थिता च। सेयं सप्तमे जन्मन्युत्कर्षमभिप्रयद्भिर्भवद्भिरत्यन्तं विरोधिता स्यात्। तस्माच्छूद्रायां ब्राह्मणाज्जात इत्यादेर्मदुक्त एवार्थो न्याय्यः,, शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिस्त्वयं श्लोकः पूर्वेणासम्बद्धः स्वातन्त्र्येणैव शूद्रमात्रस्य कर्महेतुकां ब्राह्मण्यावाप्तिमन्वाहेति। तदेतत्सर्वमनर्गलप्रलपितम्। प्रजायतइत्यस्यार्थानालोचनात्, प्रपूर्वकस्य जनेर्गर्भग्रहणार्थ एव प्रसिद्धतया युज्यत इत्यर्थस्य नितान्तमसामञ्जस्यात्। अष्टमस्य वर्षस्योपनयनकालतया स्मृतिप्रसिद्धत्वेऽपि सप्तमस्य तादृशकालोपलक्षकत्वे नानाभावाच्च। इदं च भवान् पृष्टो व्यचष्टाम्, गुणकर्ममूलक एव जातिविभागे शूद्रायामुत्पन्नतामात्रेण कथं नाम तस्याश्रेयस्त्वं भगवता मनुनाभिहितम्? सप्तमाद्वर्षादर्वाग्श्रेयस्त्वप्रयोजकानि कानि तस्य संभवन्ति गुणकर्माणि? सर्वेऽपि च यदा भवदुक्तरीत्योपनयनादूर्ध्वमेव श्रेयस्त्वमापद्यन्ते, तदा किमिह तस्यैव विशेषानुकीर्त्तनात्फलमभिसंहितम्? उपनयनाच्चार्वाक् कामचारस्य क्षीरकण्ठस्य तस्य श्रेयस्त्वमश्रेयस्त्वं वानुकीर्त्य किं विवक्षितम्? तस्मात्सर्वथैवेदृशार्थपरिकल्पनं हठादाकृष्टिमात्रमन्याय्यं चेति विवेचयन्तु विवेचकाः। तथैव किल—

'शूद्रो ब्राह्मणतामेती'

त्यादिवचनस्य पूर्वेणान्वयं विच्छिद्य स्वातन्त्र्येणार्थप्रकल्पनमपीदमनवधेयं प्रेक्षावताम्। स्वातन्त्र्ये ह्यस्य वर्णव्यवस्थितिप्रकरण एव पाठौचित्येन संकरप्रकरणपाठस्यासङ्गतिप्रसङ्गात्।

किं च शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिकं केवलं प्रतिज्ञावाक्यमिदं हेतुविशेषानुक्तेर्हेत्वंशे साकाङ्क्षं न शक्तमर्थं व्यवस्थापयितुम्। केन हेतुना किल शूद्रो ब्राह्मणतामेति? कुतो वा ब्राह्मणः शूद्रतामेतीति हेतोरवश्यमपेक्षणात्, तस्य च हेतुविशेषस्य प्रकृतश्लोकेऽनभिहितत्वात्। न च गुणकर्मानुरोधादित्ययं हेतुराक्षेपलभ्यः स्यादिति शक्यं वक्तुम्, तस्य सर्वथा प्राकरणिकत्वाभावेनाक्षेपे प्रमाणाभावात्। ततश्च श्रेयसा चेत्प्रजायते इत्ययं पूर्वश्लोकोक्त एव हेतुरिहाभिसंबध्यत इति सर्वथास्य श्लोकस्य पूर्वसम्बन्धिताया अनिवार्यत्वाद्यथोक्त एवार्थोऽत्र न्याय्यः, न तु पूर्वापरविरुद्धः सर्वेषामपि शूद्राणां ब्राह्मणत्वावाप्तिरूपः।

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत्॥
जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः॥
तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः।
वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः॥

इत्यादिना तदुत्तरमेव भगवान् मनुर्जन्मन एव वर्णत्वे हेतुतामभिप्रैति, ततश्च कथं पूर्वमेवैकहेलया शूद्रस्य ब्राह्मणत्वावाप्तिमभिदधीत। इह चानार्यसंकरजातानां संस्कारस्यैवानुचितत्वाभिधानादुपनयनेन ब्राह्मणत्वमेषां सिद्ध्यतीत्यादि पूर्वश्लोकार्थं कल्पयन्त इतोऽपि निरस्ता वेदितव्याः। यत्तु युगशब्दस्य जन्मार्थकत्वे नास्ति मानमित्याक्षिप्तम्, वर्षार्थकत्वेऽपि तन्नूनं तुल्यम्। वर्षार्थकत्वे सर्वथैव मानानुपलब्धेः। अयनयुग्मरूपत्वात्तत्र युगशब्दप्रयोग इति तूपहासास्पदम्, मासादिष्वपि पक्षयुग्मादिरूपेषु तत्प्रयोगापत्तेः। सप्तमे युगे—आर्येण वरेण सम्बन्धे, शूद्रायामुत्पन्नः कन्यारूपो वर्णः शुद्धं ब्राह्मणत्वमवाप्नोतीति मदुक्तार्थेऽप्युपपत्तेर्वक्तुं शक्यत्वाच्च। प्रजायत इति पदं च मदुक्तार्थे तु तात्पर्यग्राहकमस्तु। भवदर्थे तु साहसातिरिक्तं नास्ति किमपि तात्पर्यग्राहकं नाम। अथ यदेतत्सप्तमे जन्मन्युत्कर्षावाप्ताबभ्युपगतायां—

'तपोबीजप्रभावैस्तु'

इत्यादिना दृष्टान्तसमर्थितमेकस्मिन्नेव जन्मन्युत्कर्षावाप्तिकथनं भगवतो मनोर्विरुद्ध्येतेत्यभिहितम्, तदप्यनालोचनविजृम्भितम्। तपःप्रभावेणैव हि भगवतां व्यासादीनामेकस्मिन् जन्मन्युत्कर्षावाप्तिः, तपोविरहितानान्तु सामान्येन सप्तम एव

जन्मन्युत्कर्ष इति व्यवस्थायाः स्फुटं भासमानत्वात् । अत्रापि च बीजहेतुकत्वस्योक्ततया जन्मन एव वर्णत्वहेतुता सर्वथैवाक्षतेति न विस्मर्तव्यम् । तथा च मनूक्तस्य वचनद्वयस्य यथाव्यवस्थापितः सर्वटीकाकृत्सम्मत एवार्थः समुचिततर इति प्रत्यपादयाम ।

"धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ"

"अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ"

इतीदमापस्तम्बवचनमपि मनोः समानार्थमनुलोमसंकरस्यैव क्रमेणोत्कर्षावाप्तिमन्वाह, जातेः परिवृत्तावुत्तमेन वर्णेन भूयो भूयः सम्बन्धे सतीति तदर्थौचित्यात् । जननं जातिरिति जननार्थकजातिशब्दोपादानादिदं धर्माचरणेन जन्मान्तर उत्कर्षावाप्तिबोधकं वास्तु । धर्मेण जन्मान्तर उत्कृष्टवर्णत्वावाप्तेरुपनिषदादिप्रामाण्येन प्राक् समर्थितत्वात् । इह जन्मन्येवोत्कर्षावाप्तौ त्वभ्युपगतायां शास्त्रान्तराणि विरुध्येरन्, इह च जातिपरिवृत्ताविति पदमसंगतमनर्थकमापद्येतेत्यलमतिशयितेन परवादेन । तथा च सर्वथा जन्मकृतमेव वर्णविभागमभ्युपयन्त्यः स्मृतयो न कथमपि गुणकर्ममूलिकां वर्णव्यवस्थां स्पृशन्त्यपीति बहुना प्रपञ्चेन स्फुटमेतत्प्रसाधितम् ।

अथ यत्केचि–दाचक्षते–सत्यकामस्य जाबालस्य वेश्यापुत्रस्यापि सत्याश्रयणेन ब्राह्मणत्वदर्शनाद्गुणकर्ममूलक एवायं जातिविभागः पुरासीत्प्रचलित इत्यनुमीयते । तथा हि छान्दोग्योपनिषदि सत्यकामकथैवं श्रूयते—जबालायाः पुत्रः सत्यकामो नाम कश्चिद् ब्रह्मचर्यमिच्छन्मातरं गोत्रं पर्यपृच्छत् माता तु तत्रैवमुत्तरमन्वाह—

"बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद, यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसि, स सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथाः ।"

इति । अनेन च यौवने बहुपरिचरणात्पुत्रगोत्राज्ञानबोधकेनोत्तरेण जबालायाः स्फुटमेव वेश्यात्वं प्रतीयते नाम, कथमन्यथा भर्तृगोत्रं सा न विजानीयात् ? किं वा बह्वहं चरन्ती परिचारिणीत्यनेनात्र विवक्षितं स्यात् ? तथा च वेश्यापुत्रत्वमेवास्य सत्यकामस्य संसिद्धम् । स चायमेवंविधः सत्यकामो गौतममेत्य तत्रैव ब्रह्मचर्येण वस्तुमिच्छन् गोत्रं तेन पृष्टो यथावन्मात्रोक्तमेवं निवेदयाञ्चक्रे । गौतमस्तु तेन सत्येन सन्तुष्टः प्रत्युवाच—

"नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधं सोम्य आहर, उप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः"

इति । तथा च विज्ञायापि सत्यकामस्य वेश्यासुतत्वं केवलं तस्य सत्यरूपविशिष्टगुणाश्रयणेनोपनयनं भगवता गौतमेन कृतमिति जितं सर्वथा गुणकर्ममूलकेन वर्णविभागेन । एवमेकस्यैव सन्ततौ चातुर्वर्ण्यं समुत्पन्नमिति पुराणे बहुधा स्मर्यते—

पुत्रो गृत्समदस्यापि सुनको यस्य शौनकः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च।
(हरिवंशे)

पुत्रो गृत्समदस्य च सुनको यस्य सौनकः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च।
एतस्य वंशे संभूता विचित्राः कर्मभिर्द्विज।
(वायुपुराणम्)

एवमन्यत्राप्यनुसन्धेयम्। तथैव च बहूनां गृत्समदवीतहव्य-काश-रम्भप्रभृतीनां वर्णपरिवर्तनं पुराणेषुस्मर्यते, उपदर्शितं च पुरस्तादपि बहुश इति नेह विस्तरभयात्प्रतन्यते। तथा चैतेन सर्वेण स्फुटं कर्ममूलक एव जातिविभागः श्रुतिपुराणादिकालेषु प्रसिद्ध्यतीति तदपलापः साहसमात्रमिति।

तदेतदपि सर्वं पूर्वमुक्तोत्तरत्वेन पिष्टपेषणमात्रमपि संक्षेपेण किंचिदिहाप्युत्तीर्यते। सत्यकामस्य जाबालस्य तावदियं कथा तदात्वे सुदृढां जन्मकृतां वर्णव्यवस्थितिमेवावबोधयति, यदा हि गोत्रज्ञानादिना ब्राह्मणकुलोत्पन्नतां सम्यक् परीक्ष्य गुरवः शिष्यानुपनयन्ति स्म, तदा कैव कथा गुणकर्ममूलकस्य जातिविभागस्य? भवदुपगत एव चेज्जातिविभागस्तदा प्रचरितः स्यात्तदा किमिति गौतमेन सत्यकामो गोत्रं पृच्छ्येत? किमिति तस्येच्छामात्रेणैव ब्राह्मणेषु प्रवेश्य सोऽयं नोपनीयेत? तस्माद्गोत्रप्रश्नोऽयं किल सुनिश्चितं जन्मन एव वर्णत्वहेतुतां तदात्वेऽवबोधयति। जन्मकृत एव वर्णविभागे सुदृढे संभवति किल गोत्रप्रवरव्यवस्था। अन्यथा तु गुणकर्मानुरोधेन यत्किञ्चित्कुलोत्पन्नस्यापि ब्राह्मणत्वादिसंभवेन कथं नाम गोत्रप्रवरेषु समनियता व्यवस्था प्रवर्तेत। गोत्रप्रवरव्यवस्था चेयमाश्रुतेरास्मृतेश्चाभिहितेति सर्वत्र तत्र जन्मकृत एव वर्णविभागः प्रसिद्धिमापद्यते। यत्तु पश्चाद् गोत्रमविज्ञायापि सत्यव्यवहारसंतुष्टेन भगवता गौतमेनोपनीतः सत्यकामः, तदिदमसाधारणेन सत्याश्रयणेन तस्य ब्राह्मणबीजजन्यत्वमनुमायेति बोद्धव्यम्।

'नैतदब्राह्मणो वक्तुमर्हति'

इत्यादिना सत्यभाषणेन ब्राह्मणत्वानुमानस्य स्फुटमवबोधनात्। ब्राह्मणत्वानुमानं चेदं तत्र ब्राह्मणजन्यत्वानुमानमेव वक्तव्यम्, उपनयनात्प्राक् तस्मिन् स्वतो ब्राह्मणत्वासंभवात्। बीजप्रभावेण च केचन विशिष्टगुणभाजस्तत्रैव जन्मनि ब्राह्मणत्वादिना व्यवह्रियन्ते स्मेत्युक्तमेव पूर्वम्। वस्तुतस्तु जबालाया वेश्यात्वप्रकल्पनमपीदं नैकान्ततः प्रामाणिकं भवितुमर्हति स्पष्टं तथोक्तेरभावात्। 'अतिथीन् बहुधा परिचरन्ती (तत्कार्य एव नियुक्ता) अहं यौवन एव त्वामप्रापम्, (तदुत्तरन्तु स्वपितुर्विरहात्) न गोत्रप्रश्नायावकाशो मयाधिगतः' इत्यपि

जवालोक्तेस्तात्पर्यसंभवात्। आस्तां नाम कथमपि, न तूपनिषत्काले योनिकृता वर्णव्यवस्था कथयानया प्रतिबद्धुं शक्येति प्रतिपादितमेतत्। यथा चोपनिषत्सु—

ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वे'

त्यादिना योनेः प्राधान्यं स्पष्टमुपदर्शितं तथा निदर्शितमेव पुरस्तादिति नेह पुनः पेष्टुमुचितम्। यच्चेदं शौनकस्य कुले चत्वारोऽपि वर्णाः समुत्पन्ना इति पुराणानि प्रमाणयता समर्थितम् तदपि नास्माकं प्रातिकूल्यमावहति। एकस्यैव विभिन्नवर्णासु भार्यासु चतुर्णामपि वर्णानामुत्पत्तेः सुतरां संभवात्। आसीत्किल पुरा उत्तमस्यापि वर्णस्यावरेषु वर्णेषु विवाहः, स्मृतिप्रसिद्धत्वादस्यार्थस्यापलपितुमशक्यत्वात्। ते चैते सङ्करजाताः क्वचिद्वैशिष्ट्यात्पितृवर्णाः, सामान्येन तु मातृसदृशवर्णा एवा गण्यन्तेत्यपि प्रसिद्धं स्मृतिषु। सत्वयमेवंविधो विवाहः कलौप्रतिषिद्ध इत्यन्यदेतत्। अतिपुरातने च सृष्ट्यादिकाले केषाञ्चिद्गुत्कटगुणादिसंबन्धाद्वर्णपरिवर्तनमप्यासीदित्युपपादितमधस्तात्। श्रुतिमनुसृत्य तदात्व एव किल सर्वे धर्मा विशिष्टप्रज्ञैर्महर्षिभिर्व्यवस्थापिता इति सर्वैरप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यमेव, सृष्टेः पुरानुष्ठातृणामेवाभावे धर्मव्यवस्थाया अभित्तिचित्रायमाणत्वात्। व्यवस्थाप्रारम्भे च कियन्तं चित्कालं भवत्येव तत्र विशृङ्खलेति कः प्रज्ञाशीलो नानुमन्येत। ततश्च तदानीन्तनीं क्वचित्प्रवृत्तां विशृङ्खलतामुपादाय वर्तमानेऽपि समये सर्वधर्माणामुपहननमिदमत्यर्थमसांप्रतं नाम। तस्मात्कृतयुगे केषांचिदेव वीतहव्यादीनां केनचिद्विशिष्टकारणेन वर्णपरिवर्तने पुराणानुवर्णिते ऽपि तदुत्तरं सुदृढं व्यवस्थानसिद्धतया नेदानीं तथा कर्तुमुचितं स्यादिति सुसूक्ष्ममालोचयन्तु सुधियः। ये तु महानुभावाः बृहद्देवतादिवर्णितानां मन्त्रसूक्तादिद्रष्टॄणामृषीणां समयेऽप्यभ्युपगम्य वर्णव्यवस्थां पुनरप्याधुनिकत्वमेव तस्यामारोपयन्ति त इम आग्रहपरतन्त्राः सर्वथा प्रणम्याः। मन्त्रद्रष्टॄणां समयोऽपि चेदधुनापदव्यवहार्यस्तदा कोऽयं प्राक्तनः समय इति दुर्विज्ञेयमिदं प्रेक्षावताम्।

यच्चेयं स्वमतोपष्टम्भकतया वज्रसूचिकोपनिषत् प्रमाणीक्रियते—तत्र शमदमाद्युपेतस्यात्मतत्त्वविद एव ब्राह्मणत्वस्योपपादितत्वात्। तदिदं परीक्षकंमन्यानामतिशयितमुपहासास्पदं कार्यम्। प्रसिद्धेषु शतपथादिब्राह्मणेष्वपि पूर्णतया ऽनाश्वसद्भिर्वज्रसूचिकोपनिषत्प्रमाणीकरणमिति सत्यं त्रिजितमाग्रहेण। लेखपरिपाट्यैव किल सेयमुपनिषत्सामान्यैरप्याधुनिकत्वेन शक्यतेऽवबोद्धुम्, स्वयमपि चाभ्युपगम्यते तथैव। ततश्च किं तदुल्लेखेन विवक्षितं प्रयोजनमिति जानन्तु त एव। आस्तां वा तस्याः प्रामाण्यम्, अथापि तूपनिषत्सु ज्ञानकाण्डस्यैव मुख्यतया प्रतिपिपादयिषितत्वादात्मविज्ञानमुपस्तोतुमात्मविद एव तत्र ब्राह्मणत्वमाख्यातम्। तच्चेदं मुख्यं ब्राह्मणत्वमस्तु तत्रैव, व्यावहारिकं तु ब्राह्मणत्वमितरत्रापि नैवानया प्रति-

षेद्धुं शक्यम्—ब्राह्मणोद्देश्येन विहितानां सर्वेषामपि श्रौतस्मार्तादिकर्मणां विलोपापत्तेः। तत्रोक्तलक्षणस्य ब्राह्मणस्य प्रयोजनाभावेन कर्मस्वधिकारासिद्धेः तत्रैव च कृतार्थतोक्तेः कर्मानधिकारस्य स्फुटं सूचितत्वात्। नाप्यब्राह्मणानां ब्राह्मणत्वावाप्तिप्रत्याशाऽनयोपनिषदा कार्या, अब्राह्मणानामनधिकारेणैव तादृशशमदमादिसंपत्सु आत्मतत्त्वविज्ञाने चाप्रवृत्तेरिति नास्ति कोऽपि विरोधः। एवं यदिदं महाभारतस्य पद्यद्वयं पुनः पुनरुदाह्रियते—

> ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु।
> दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत्।
> यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः।
> तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः।

तदपि नूनं विपरीतमेव केवलं रभसादुदाहृतम्। पूर्वपद्ये हि पतनीयेष्वपि कर्मसु वर्तमानस्य ब्राह्मणस्य शूद्रसादृश्यमात्रमभिधीयते—न तु स्पष्टं शूद्रत्वमुररीक्रियते, न वा ब्राह्मणत्वं प्रतिषिध्यते। कर्ममूलके हि जातिविभागे शूद्र एव स इति किमिदं शूद्रसादृश्याभिधानम्? उत्तरत्रापि च प्रशस्तगुणं शूद्रं ब्राह्मणमहं मन्ये इत्येवोक्तम्, न तु लोकेऽपि स ब्राह्मण एवेति ख्यापितम्। अहं मन्य इत्युक्त्या च स्फुटमारोप एव बोध्यते—मुखमहं चन्द्रं मन्ये, ज्योत्स्नाधवलितां च रात्रिं दिवसं मन्ये इत्यादिवत्। आरोपस्य च सादृश्य एव पर्यवसानम्—इति नैतदपि पूर्वस्मादतिरिच्यते। तत्र तत्र नीचोच्चसादृश्याऽभिधानन्तु कर्मणामुपस्तुतये तत्प्राधान्यावबोधनायोचितमेवेति वयमप्युररीकुर्मः। न हि योनिमात्रगर्वितैर्ब्राह्मणादिभिः परित्यक्तकर्मानुष्ठानैरेव भाव्यमिति मतमस्माकम्। सर्वथापि तु कर्ममूलक एव विभागो जातीनां न सिद्ध्यति, योनेरपि शास्त्रेष्वपेक्षितत्वेनाभिधानादित्येव वयमभिप्रेमः। यदि हि कर्ममूलक एव विभागः स्यात्तदा भवदुदाहृतेष्वेषु वाक्येषु विकर्मणो ब्राह्मणः पतनीयेष्वित्येवं, ब्राह्मणशब्देन धर्मानुष्ठानपरस्य च शूद्रशब्देनाभिधानमेव कथं स्यादिति दरमुकुलितनेत्रं विचार्यतां तावदुत्सृज्य पक्षपातम्। यदा हि विकर्मस्वपि ब्राह्मणत्वादिकमभ्युपगम्य केवलं निन्दामात्रं तेषां तत्राभिप्रेयते—तदा किमितः परं तदात्वे योनिसिद्धे जातिविभागे प्रमाणं स्यात्। बहूनि चैवंविधानि वाक्यानि पुरस्तादेवोदाहृतानि व्यवस्थापितानि चेत्युपरम्यतेऽत्र विस्तरभिया।

तदित्थमुपनिषत्स्मृतिपुराणादिषु सर्वथोत्पत्तिमूलक एव जातिविभागोऽभ्युपेत इति बहुधैतत् प्रासाधयाम। अत्र तु ये तावदित्थं प्रत्यवतिष्ठेरन्—न वयं स्मृतिपुराणादीनां, ब्राह्मणानां, तद्भागानामुपनिषदां वा प्रामाण्यमवलम्ब्य प्रवर्तामहे। श्रुतिमूलकान्येव तु तद्वाक्यान्युपष्टम्भकतयोदाहरामः। श्रुतिविरुद्धे चांशे सर्वथै-

षामप्रामाण्यमेवापेक्षणीयम्। श्रुतिपदवाच्यासु चासु ऋगादिसंहितासु नैव योनिमूलकं चातुर्वर्ण्यं क्वाप्युपलभामहे इति सत्स्वपि तत्रान्येषु शतशः प्रमाणेषु न तदुररीकर्तुं पारयामः, श्रुतिपरतन्त्राणां स्मृत्यादीनां स्वातन्त्र्येण प्रमाणभावासंभवात्। ततश्च श्रुत्यनुगत एवार्थे व्यवस्थापनीया ब्राह्मणस्मृत्यादयो ग्रन्थाः, स्फुटं विरुद्धस्य चांशस्याप्रामाण्यमेवोपगन्तव्यमिति नैतदवलम्बेन योनिसिद्धो जातिविभागो ऽभ्युपगन्तुं सांप्रतम् इति। तान् प्रतीत्थमुत्तरणीयम्। यदि हि संहितावलम्बेनैव प्रवर्तन्ते ऽत्रभवन्तस्तदा नूनं गुणकर्ममूलको ऽयं जातिविभागः क्वोपलब्धः श्रीमद्भिः, न हि केनचिदपि मन्त्रेण गुणकर्ममूलको जातिविभागः स्फुटं साधयितुं सुशकः। कर्णधारोपि स भवतामिममर्थमुपष्टम्भयितुं बलादाकृष्याकृष्या ऽत्रार्थे कथमप्यसंभवन्त्यपि ब्राह्मणस्मृतिवाक्यान्येवोदाजहार—

'ब्रह्म हि ब्राह्मणः' 'क्षत्रं हीन्द्रः' 'क्षत्रं राजन्यः'।

इत्यादीनि।

व्याचख्यौ च—ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति। तथैव क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः क्षत्रियो भवितुमर्हति' इत्यादि। एतानि च ब्राह्मणवाक्यानि नाब्राह्मणेऽपि गुणकर्मयोगाद् ब्राह्मणत्वविधायकानि भवितुमर्हन्ति, प्रसिद्धार्थसमर्पकहिशब्दघटिततया सतामेव ब्राह्मणक्षत्रियादिगुणानां ख्यापकत्वात्।

'ब्राह्मण एवंविधो भवति'

'क्षत्रिय एवंविधो भवती'

त्याद्येव किल वाक्यानामेषां तात्पर्यम्, न तु यः कश्चिदेवंविधः स एवास्तु ब्राह्मण इत्यर्थे किमपि प्रमाणमुत्पश्यामः। वस्तुतस्तु य एषां वाक्यानां मुख्यः स्वारसिकोऽर्थः स पुरस्तादुपपादित एव—

'ब्रह्मणोऽग्निदेवतायाः सम्बन्धेन ब्राह्मण्यम्, बलदैवतस्येन्द्रस्य च सम्बन्धेन क्षत्रियत्वम्'

इत्यादिरूपः। सत्यपि चास्मिन्नर्थे यथा कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते इतिन्यायेन योनिसिद्धैवावस्थितिर्वर्णानां प्रसिद्ध्यति तथैतत्सर्वं पुरस्तादेवोपपादितमित्यास्तामेतत्। ऋगादिसंहितासु तु गुणकर्ममूलकस्य वर्णविभागस्य स्फुटं प्रतिपादकं न किमपि मानमुत्पश्यामः। प्रत्युत—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'

'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'

इत्याद्या श्रुतिः स्पष्टं योनिसिद्धमेव विभागं वर्णानामभ्युपगच्छत्येव। अर्थान्तरपरत्वमस्याः श्रुतेरिति चेत्किं तत्र मानमिति पृच्छाम! स्वतः प्रमाणभावा हि

भगवती श्रुतिः कुत इयमर्थान्तरपरत्वमुपनीयते ? त्वयाऽप्यर्थान्तरपरत्वमेवास्या व्यवस्थपितमिति चेद् ब्राह्मणस्मृत्याद्येकवाक्यतया वममर्थं व्यवस्थापयामः। भवता तु केवलं श्रुतीनां प्रामाण्यमभ्युपयताऽर्थान्तरपरता दुरभ्युपगमा। यच्चेदमर्थान्तरमभ्युपगतमृग्भाष्यभूमिकायाम्—

"अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति, बलवीर्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति, कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनो ऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम्, पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्तमानोऽजायत-जायते इति वेद्यम्' इति। इतोऽर्थात् परमेश्वरस्य विद्यादिगुणेभ्यो ब्रह्मादिषु विद्यादिगुणानामुत्पत्तिः प्रसिद्ध्यति। तत्रेत्थमनुयुज्यते—न खलु भवद्दर्शने जीवोऽयमीश्वरस्यांश ईश्वरादुत्पन्नो वा, जीवप्रकृतीश्वराणां वस्तुतः पृथग्भूतानामेव नित्यत्वस्य भवद्भिरुपगतत्वात्, ततश्च कथं वेश्वरस्य विद्यादिगुणेभ्यो जीवस्य विद्यादिगुणानामुत्पत्तिः ? कारणगुणानामेव कार्यगुणोत्पादकतायाः प्रसिद्धत्वात्। उपदेशद्वारेण जीवे समुत्पादिताः परमेश्वरेणैते गुणा इति चेत्तथा सति मुखं ब्राह्मण इत्याद्युपचारासंभवः प्रथमो दोषः। उपादानगुणानामुपादेयगुणैरभेदोपचारस्य दर्शनेऽपीतरत्र तथात्वासंभवात्। विद्यादीनां चोपदेशे कथंचिद्धेतुत्वेऽपि बलव्यापारादीनामुपदेशे हेतुत्वगन्धस्याप्यभावाद् बाहू राजन्य इत्याद्युपचाराः सर्वथाऽसंगतार्थाः प्रसज्जेरन्। क्व चेमे जड़बुद्धित्वादयो गुणाः शूद्रस्योपदिष्टाः ? इत्यपि प्रदर्शनीयमापतति। सति च समानेऽप्युपदेशे कुतः क्वचिदेव केषांचिद् गुणानां वैशेष्यात्प्रादुर्भाव इत्यपि कारणासंभवाद् दुर्वचम्। स्वभावात्तत्र तत्र विभिन्नानां गुणानामुत्पत्तिरिति चेत्स्वभाव एव तर्हि तत्तद्वर्णत्वे हेतुर्नेश्वरोपदेश इतीश्वरबाहुत्वादिकमेषामसंगतं प्रसक्तम्। न चेदानीन्तनेभ्यस्तत्तद्वर्णेभ्य ईश्वरः साक्षादुपदिशतीति तद्गुणानामीश्वरगुणजन्यत्वासंभव एव। तस्मान्मदुक्तपूर्व एवार्थोऽस्य मन्त्रस्य स्वारसिकः। ईश्वरांशत्वाज्जीवस्य तद्गुणानामीश्वरगुणजन्यतायाः सुतरां स्वारसिकत्वात्। सा चेयं जीवगुणानामीश्वरगुणजन्यता सृष्ट्यादौ स्वत एव, तदुत्तरन्तु पित्रादिपरम्परयैव पुत्रादिषु तत्तद्गुणोत्पत्तिरिति योनिसिद्ध एवायमापतितो वर्णविभागः।

ननु च भोः किमेतद् भूयो भूय उद्घुष्यते—पित्रादिगुणजन्याः पुत्रादिषु ते ते गुणा इति, सर्वथा विरुणद्धि मतमिदं ते सर्वानपि दार्शनिकान्। शरीरमात्रनिष्ठो हि पुत्रपित्रादीनां कार्यकारणभावो, न तु कथमपि जीवनिष्ठः। पुत्रजीवस्य पितृजीवजन्यतायाः केनाप्यनभ्युपेतत्वात्। ततश्च स्थूलशरीरगताः केचन गुणाः पित्रादीनां पुत्रादिषूपसंक्राम्यन्तु नाम, विद्यादयः शक्तिविशेषास्तु नैव

कस्यापि कुत्राप्युपसंक्रमितुमर्हन्तीति निरुपपत्तिकोऽयं योनिसिद्धो वर्णविभाग इति चेन्मैवं वोचः। नास्ति यद्यपि जीवानां परस्परं कार्यकारणभाव इति सत्यमेतत् गुणा अपि त्विमे वर्णत्वप्रयोजकतया भवद्भिरभ्युपगम्यमाना न हि जीवमात्रनिष्ठा भवितुमर्हन्ति, परमात्मजीवात्मनोरुभयोरपि केवल्योर्निर्गुणत्वस्यैव वेदान्तसिद्धान्तसिद्धत्वात्। ततश्च शरीरत्रयविशिष्टे त्रितयान्यतमविशिष्ट एव वा जीवे ते ते गुणा आस्थेयाः। तत्र यद्यपि स्थूल एव शरीरे मुख्यः पितृपुत्रयोः कारणकार्यभावः, अथापि तु मृगमदवासितवसन इव सौरभं सूक्ष्मादिशरीरशक्तिविशेषा अपि पुत्रादिष्ववश्यमुपसंक्राम्यन्तीति प्रत्यक्षसिद्धो दुरपन्हवोऽयमर्थः। अत एव च—

'वाचं मे त्वयि दधानि'

'मनो मे त्वयि दधानि'

इत्याद्या श्रुतिरपि संगतार्था भवतीति कृतं बहुना। ततश्च सर्वथोपपत्तिसिद्धो मन्त्रसिद्धश्चायं मे वर्णानां योनिकृतो विभागः। अन्यत्रापि च बहुत्र वर्णानां विभागः श्रूयते मन्त्रेषु, ब्राह्मणादीनां क्रमिक उत्कर्षोऽपि तत्र तत्र श्रूयत एव—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
(अ. २०. २५)

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥
(अ. ५. १८. ६)

तथा च मन्त्रभागस्य पर्यालोचनादऽपि जन्मसिद्ध एव वर्णविभागः प्रसिद्ध्येत्,—नतु गुणकर्ममूलके जातिभेदे तत्र किमपि मानमुपदर्शयितुं शक्यम्; सुदृढतामापन्न एव हि विभागे।

'ब्राह्मणोऽस्यमुखम्'।

'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'

'न ब्राह्मणो हिंसितव्यः'

इत्यादयो व्यपदेशाः प्रवर्तितुमर्हन्ति नेतरथेति स्वयमेव तावदालोच्यत दरमुकुलितनेत्रम्।

शाब्दिकाचार्यमूर्धन्याः पाणिनिमुनिप्रभृतयोऽपि चेमे ब्राह्मणादिशब्दव्यवहारं जन्मसिद्धमेव द्रढयन्ति। तथाहि—भगवान् पाणिनिस्तावद् ब्राह्मणशब्दसंसिद्धये—

'ब्राह्मोऽजाताविति'

पर्युदस्यन् ब्राह्मणशब्दस्य जातिवाचकत्वं स्फुटमेवाभ्युपैति। कात्यायनोऽपि—

'शूद्रा चामहत्पूर्वाजाति'

रिति वार्तिके शूद्रपदस्य जातिवाचकत्वमभिदधत् पुंयोगव्यावृत्तये क्रियमाणेन जातिग्रहणेन शूद्रभार्याऽप्यशूद्रजातिर्भवतीति स्फुटमुपदर्शयँश्च जन्मसिद्धमेव वर्णविभागं वाचिकमेवाभ्यनुजानाति ।

'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्यं'
जातिलक्षणं वृषलादिषु संगमयतो
'योनिर्विद्या कर्मचे'

त्यादि पूर्वोक्तां स्मृतिमन्यत्रोदाहरतश्च भाष्यकृतस्तु कैव कथा गुणकर्ममूलक वर्णविभागाभ्युपगमं प्रति । अथोच्येत–आरोपिता एवैत आचार्याणामेषां ब्राह्मणादिषु जातिव्यवहारा इति, तत्रेत्थं प्रतिवक्तव्यम्, सन्तु नामारोपिता एव, सत्त्वयमारोपः किंहेतुक इति पृच्छामः ? न खलु सादृश्यमन्तरारोपः क्वापि दृष्टचरः । तत्तत्कर्मविशिष्टेषु बहुषु ब्राह्मणादिष्वेकबुद्धिप्रयोजकत्वमेव जातिसादृश्यमिति चेत्तदेतदबोधविजृम्भितम् । कर्मणां स्वत एवैकबुद्धिप्रयोजकतयाभ्युपगमात्तत्र जातित्वारोपे स्वारस्यानुपलब्धेः । जातिर्गुणः क्रिया यदृच्छा चेति चातुर्विध्यमाहुरुपाधेः शाब्दिकाचार्याः, अत एव शब्दानामपि चातुर्विध्यमेवाभ्युपगतं भगवद्भिर्भाष्यकृदादिभिः । यदि कर्मैव प्रवृत्तिनिमित्तमवलम्ब्य ब्राह्मणादिशब्दा इमे प्रवर्तेरन्—तत्तर्हि क्रियाशब्दत्वमेषां प्रसज्जेत न तु जातिशब्दत्वं कथमपि । न हि बहुषु पाचकेषु समानबुद्धिं प्रयोजयन्त्यपीयं पचिक्रिया जातिरित्यनुमन्यते केनापि सचेतसा । ततश्च जननसिद्धत्वमेव जातिसादृश्यं ब्राह्मणत्वादीनां निर्विवादमुररीकार्यम् । यश्चाप्ययं कर्मकरेषु लोहकारादिषु जातिव्यवहारः सोऽपि जननसिद्धत्वनिबन्धन एवेति कृतमतिशायितेन विस्तरेण ।

तदित्थं मन्त्रब्राह्मणोपनिषत्स्मृतिपुराणसूत्रभाष्यादिभिः सर्वैरपि जन्मसिद्ध एव विभागो वर्णानां प्रसिद्ध्यतीति बहुधैतद् विचारितम् ।

अथैवं श्रुतिस्मृत्यादिभिः प्रमाणैः प्रसाधितेऽपि जन्मसिद्धे ब्राह्मणादिजातिविभागे ये तावच्छब्दमात्रेऽप्यविश्वसन्तः केवलाभिरुपपत्तिभिरेव धर्माधर्मविनिर्णये कृतसंनाहा युक्त्यावनतिहेतुतां जातिविभागेऽस्मिन्नारोपयन्तः प्रत्यवतिष्ठन्ते, तान् प्रत्यपि किञ्चिद्वक्तुमिच्छामः । तत्र तावद्वर्णविभागफलभूतमिदं विभज्य कार्यकरणं कथमपि नावनतिसाधकं प्रत्युतोन्नतय एव परमुपयुज्यमानमिति संप्रतिपद्येत सर्वैरपि प्रज्ञाचणैः । न हि परस्परमङ्गाङ्गिभावमननुप्राप्तानि विद्याबलव्यापारादिकार्याण्येकेनैव पुरुषेण शक्यानि सर्वाणि प्राधान्येन संपादयितुम् । यद्यपि स्वंशतः सर्वा अपि शक्तयः सर्वत्रैव कार्येषु कथंचन समपेक्ष्यन्त इति सत्यम्—व्यापारे बलविद्ययोर्बलेऽपि विद्याया विदुषोऽपि च योगक्षेममात्रकृते बलव्यापारादीनां शुश्रूषायामपि च सर्वेषामपेक्षायाः सुस्पष्टमनुभवसिद्धत्वात् । न ह्यन्यासामेकान्ततो

विरह एकैकशक्तिकृतानि कार्याण्यभ्युदयमापादयितुमर्हन्तीति। अथापि तु प्राधान्याप्राधान्यकृतः सुमहान् विशेषः सर्वत्रैवानुसन्धेयः। न हि प्राधान्येन सर्वा अपि शक्तयः क्वचनैकस्मिन् विकाशमासादयेयुः, न च तत्तच्छक्तिसाध्यानि प्रधानकार्याणि कश्चिदप्येक एव संपादयितुं प्रगल्भेत। यस्तु क्वचित्कदाचिदालोक्यते सर्वासामपि शक्तीनामेकत्र विकाशः सोऽयं महामहिमताप्रयोजकः क्वचिदुपलभ्यमानतयैवाप्राकृत इति प्राकृतव्यवस्थायामपरिगण्य एव। प्राकृतास्तु वैशिष्ट्यभाजोऽपि जना गुणभावेनान्याः शक्तीरुपयोज्यैकैकशक्तिकार्याण्येव विदधानास्तत एव च परं वैशिष्ट्यमाप्नुवन्त उपलभ्यन्त इति सर्वेषामपि दृग्गोचरोऽयमर्थः। सर्वासामपि चासां प्रधानशक्तीनां प्राधान्येनैव विकाशस्तत्तद्देशानामुन्नतौ प्रयोजक इति तत्संसिद्धयेऽवश्यं विभज्य कार्यकरणमेव समपेक्षितं भवति। अत एव च सर्वेष्वप्युन्नतेषून्नमत्सु च देशेषु समालोक्यत इयं विभज्य कार्यकरणपरिपाटी। न हि क्वापि विद्याबलव्यापारादीन्येकेनैवालम्ब्यन्ते, विभज्यैव त्ववलम्ब्यन्त इति। शिल्पान्यपि च तानि तानि विभज्यैव सर्वैः सर्वत्र संपाद्यन्ते। ततश्च वर्णजातिविभागस्य मुख्या शैलीयं तावन्न कथमपि विरुद्धा स्याद्युपपत्तेरुपपत्तिशीलानां वा। केवलन्त्विदमवशिष्यते विचारयितुम् जन्मसिद्धत्वमस्य वर्णजातिविभागस्य यद्भारतीयैश्चिरादुपगम्यते, तदिदमुन्नतावुपयुक्तं ततो विरुद्धं वेति। तत्र सर्वथोन्नतेर्विरुद्धोऽयं जननसिद्धो जातिविभाग इति बहूनामाधुनिकानां बुद्धिः। अनुकूल एव त्वयमुन्नतेरिति पुरातनपथपरिशीलिनोऽभ्युपयन्ति। तथा हि उन्नतिविरोधिनाऽस्मिन् जननसि जातिविभागे फलबलाद्वा कल्प्यत उपपत्तिबलाद्वा। यदि ह्यवनतमिदानीं भारतमवलोक्य तत एव तद्धेतुताऽस्मिन् जातिविभाग आरोप्यते तर्हि तदिदमन्याय्यं विपरीतं च। यदा हि सर्वशक्तिसमृद्धिभाजो भारतस्य सर्वाङ्गपूर्णा समुन्नतिरासीदिति सर्वैरपि समुद्घुष्यते तदापि (पुरातने काले) सुदृढोऽयमासीज्जन्मसिद्धो जातिविभाग इतीतिहासादिभिः प्रत्यपादयाम। यदिहि जातिविभाग एवायमुन्नतेः प्रतिबन्धकोऽभविष्यत्—कथंकारं तत्तर्हि पुराप्यस्य भारतस्योन्नतिः समघटिष्यत। प्रत्युत येदानीमियमवलोक्यतेऽवनतेः परा काष्ठा-सेयं वर्णविभागशैथिल्यमूलिकैवेति शक्यतेऽभिधातुम्। यत एव प्रभृति तत्तद्वर्णोचितेषु कार्येष्वौदासीन्यमालम्बितं भारतीयैस्तत एव सुदृढमिमे निबद्धाः पारतन्त्र्यशृङ्खलयेति क एतन्निषेद्धुं शक्नुयादितिहासतत्त्वान्वेषकः। वर्णधर्मौदासीन्ये तु हेतुर्बौद्धादिविविधमतप्रचार इति विजानन्त्येव विज्ञाः।

इदं तु तावदाधुनिकानां केषांचनमहानुभावानां परप्रतारणमात्रं यदिने तत्तत्स्वाभिमतधर्मप्रचारमभिलष्यन्तस्तदभावकृतामेव सांप्रतिकीमवनतिं भारतस्योद्घोषयन्तीति। अत एव केचन विधवानां पुनरुद्वाहं कामयमानास्तदभावादेव भारतमवनमन्ति। परे तु प्रतिमा एव प्रतिद्विषन्तस्तदर्चाया एव शिरसि सर्वा-

मवनतिमारोपयन्ति। तथैवान्ये जातिविभागमेवोच्छेत्तुमुत्साहवन्तस्तमिममवनतिहेतुं ब्रुवत इति कथमेतदुपपत्तिविनाकृतं श्रद्धीयेत? वस्तुतो विद्याद्रविणाध्यवसायैक्याद्यभावस्यैवावनतिप्रयोजकता विज्ञसंमतेति। तस्मात् फलबलाज्जातिविभागस्याव-नतिहेतुता नैव शक्यते समर्थयितुम्। अथोपपत्तिबलादुच्येत, तदपि नैव विचारसहम्। यदा हि विभज्य कार्यकरणमुन्नतावुपयुक्तं सर्वसिद्धं तदा तस्य कुलपरम्परा-नियतत्वे कोऽयमुन्नतिविरोध इति नैतज्ज्ञातुं प्रभवामः, प्रत्युत परित्यज्य कुलपरम्परानियतत्वं यदीच्छयैव सोऽयं विभागो नियम्येत, तर्ह्यवरकर्मसु प्रायेणेच्छाया अनुदयादवरकर्मकराः सुदुर्लभाः संपद्येरन्। अयोग्यानामपि चोच्चकक्षो-चितेष्वेव कर्मस्विच्छया प्रवृत्तिः स्यात्, तानि च कर्माणि शक्त्यभावाद्यथावत्सं-पादयितुमनर्हास्त इतो भ्रष्टस्ततोभ्रष्ट इति न्यायमेव पदे पदे चरितार्थयेयुः। प्रवृत्तायां च सर्वतोमुख्यां विशृङ्खलतायां क्वोन्नतेः प्रत्याशापि। अथ परीक्ष्यैव तत्तत्कार्योचितास्तत्तत्कार्येषु समाजव्यवस्थया नियम्येरन्निति चेत्तदिदं परीक्षाकार्यं कीदृशं गुरुतरं कष्टसाध्यं संभवितुमपि कथं शक्नोतीति दरमुकुलितनेत्रं भवन्त एव विचारयन्तु, किंच तत्तच्छक्त्युपचयोपयोगिनः संस्कारा आहारविहारा-दयश्चाबाल्यमेव तत्तद्वर्णानां भारतीयैर्विभिन्नतया नियम्यन्त इति कथं तदात्वे योग्यतापरीक्षणं प्रसरेत्? अथ ब्रूयुः—विभिन्नाहारविहारादिकथैवेयमप्रयोजि-काऽवनतिसाधिका च, तदभावेऽपि बहुषु देशेषु प्रचुरतरोन्नतिदर्शनादिति, तदिद-मेकान्ततोऽनवधेयमेव धर्मैकजीवितानां भारतीयानाम्। न खलु भारतीया ऐहिकोन्नतिमात्रेण कृतार्थमन्याः। परलोकेऽपि प्रतिपदं सुदृढतरोऽमीषां विश्वासः। अत एवैते विशुद्धसत्त्वादिसंरक्षणाय विरुद्धतत्तद्धर्मोपसंक्रमणनिवृत्तये च नाहारा-दिसांकर्यं रोचयन्ते। देशप्रकृतिमनुसृत्य चैषां तत्तच्छक्त्युपचयाय विभिन्नाना-मेवाहारविहारादीनामपेक्षेति नैतदप्रकृतमिह विस्तरभयाद्विवरीतुमिच्छामः। ततश्चैवं विधविवेकशालिन्यत्र भारते कुलपरम्परानियतेनैव वर्णविभागेन संभवति गतिरिति सुसूक्ष्ममालोच्यतां सुधीभिः। एकस्मिन्नेव कुले पितृपुत्रादीनां विभिन्नवर्णता यदि स्यात्—कथं तर्हि तत्तदनुकूलाहारविहारादिसांमञ्जस्यमुपपद्येत। अभिनवमतकर्ण-धारोऽपि स विद्वानाशङ्कितवानिमां विशृङ्खलाम्। "शूद्रत्वाद्युपगता ब्राह्मणादीनां सुताः कथं वा पित्रादि कार्याणि निर्वाहयेयुः, कथं च सत्स्वपि सुतेषु कुलानि न नश्येयुरिति।" आग्रहवशंवदस्तु परतो "ब्राह्मणादयः समाजव्यवस्थानुरोधे-नान्यान् स्वानुरूपान् पुत्रान् प्राप्नुयु" रिति समादधे। अहो स्वीयशुक्र-शोणितसंभूतानां सर्वथा स्वीयानां वर्णान्तरतया परित्यागोऽन्येषान्तु सर्वथाप्य-संबद्धानां पुत्राणां स्वनिर्वाहायोपसंग्रहणमिति कियदिदं समाजव्यवस्थायाः सामञ्जस्यं प्रदर्शितं द्रष्टव्यमुद्घाट्य चक्षुषी। किं चान्यत्—'कारणगुणाः कार्यगुणा-नारभन्ते' इति प्राकृतिकनियमानुगृहीतं कुलपरम्परायातशक्तीनां वैशिष्ट्यमपि

वर्णविभागेऽस्मिन्मूलभूततया बहुशः प्रागेव समुद्घुष्टमिति तद्विहाय प्रकृतिविरुद्धयादृच्छिकनियमाभ्युपगमे किं निदानमिति चिन्त्यमिदम्। यत्तु वदन्ति—अनेकशोऽनुभूतव्यभिचारोऽयं नियमः, बहूनामेव ब्राह्मणादिकुलजातानां ब्राह्मण्यादियोग्यतानुपलब्धेः, बहूनाञ्चावरवर्णानामप्युच्चतरयोग्यतोपलब्धेः। अत एव तु परित्याज्योऽयं जन्मसिद्धो जातिविभागः, अयोग्यानां तत्तत्कर्मसु प्रवेशनेन योग्यानां च प्रवेशप्रतिबन्धेन तत्तत्कार्योन्नतेः प्रत्याशाया अपि दूरापेतत्वात्। किञ्च सत्कुलजननमात्रेण कृतार्थमन्यास्तावन्मात्रेण चाभ्यर्हामवाप्यालस्यवशंवदा उच्चवर्णा न स्वोचितेषु कार्येषु कथमप्यवदधतीति सेयमपि दुरवस्था जन्मकृताज्जातिविभागादेव। कर्मकृते विभागे कर्मणामवश्यविधेयतैव भवेदादरकामुकानामिति नायं दोषः प्रसरेत्। न च योनिमात्रगर्विता उत्तमंमन्या वर्णा अवरवर्णेषु वाङ्मात्रेणाप्यादरं दर्शयितुमुररीकुर्वन्तीति क्व वराकी पारस्परिकप्रेमकथा। परस्परप्रेमवञ्चिताश्चानवरतमनैक्यमवलम्बमाना अवनतेरेव भवन्ति भोज्या इति समुत्सारणमेवायमर्हति जन्मसिद्धो जातिविभाग इति।

अत्रेत्थं प्रतिवक्तव्यम्। अवश्यं वर्तमानेऽस्मिन् समये दुर्दैववशात्प्रभूता इमे दोषाः, समुत्सारणीयाश्चैतेऽवश्यमुन्नतिकामुकैरिति सर्वेऽप्यभ्युपगच्छन्ति विचारदक्षाः। केवलन्तु दोषमात्रं समुत्सार्य रक्ष्यं रक्षणीयमिति मतिमतां पन्थाः। न तु दोषाः संभूता इति व्यवस्थैव समुत्सारणीया। अव्यवस्थायां हि दोषाः प्रसरन्तीति दोषानपनेतुकामैर्व्यवस्था सुदृढं नियम्या, न तु कथंचनावशिष्टापि सा समूलमुन्मूल्येति केनापि प्रेक्षावतानुमन्येत। समाजसंस्कारस्तावदिदानीं नव्यानामिव प्राक्तनपरिपाठीप्रणयिनामप्यभीप्सित एव। उभाभ्यामपि च संस्काराय यत्नोऽप्यवश्यमेवास्थेयः। न ह्यन्तरेण यत्नं केनापि प्रकारेण यत्किञ्चिद्विधोऽपि संस्कारः सेत्स्यतीति। तथा च तेनानेन यत्नेन पूर्वसिद्धैव सुव्यवस्था नियम्यताम्, न त्वद्यापि स्थितायास्तस्याः प्रथमं समुत्सारणे तदुत्तरं चाभिनवायाः प्रवर्तने द्विगुणो यत्नभरः शिरस्यारोप्यतामिति मतिमतां दर्शनम्। पूर्वसिद्धसुव्यवस्थाप्रचारे च सुनियते स्वधर्मावलम्बनेऽवश्यमेव तत्तत्कुलेषु तत्तद्योग्यताभाज एव सुताः समुत्पद्येरन्। उपपत्तिसिद्धस्य प्राकृतिकस्य नियमस्य व्यभिचारस्तावदवश्यं दोषादिजन्म एव वक्तव्यः। न सन्ति ब्राह्मणादिषु सुदृढाः स्वस्वोचितशक्तिसंस्कारा इत्येव ते सुतादिषु नासादयन्ति विकासम्। अस्यामपि तु दुरवस्थायां बहुशः कुलसंस्कारा अनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते इति सुस्पष्टमनुभवदक्षाणाम्—प्रतिपादितं च प्रागपीदम्। कर्मणां च तत्तद्वर्णोचितानामवश्यानुष्ठेयत्वमस्मच्छास्त्रेष्वेव सुदृढं नियमितमिति यथार्थधर्मप्रचारे कार्यं कर्मालस्यदोषोऽनुविन्देत्पदमपि। आस्तां च कर्मालसानां समाजकृतः परिभव इति तदपि शास्त्रानुकूलमेव। न च यथार्थभूतायां व्यवस्थितौ वर्णानां पारस्परिकविद्वेषकथापि कथंचित्प्रचलेत्। यत्र

चयमीश्वरेणोत्पादितास्तदेव कर्मास्माभिरवलम्ब्यमिति यथार्थविश्वस्तानामवर वर्णानामीर्ष्यानुदयात्, प्रत्युताव्यवस्थायामेव प्रसरति विद्वेषकारणी भूता सेयमीर्ष्या। उत्तमवर्णैरप्यवरवर्णेषु दर्शनीयं सौहार्दमेव तदधीनबहुतरकार्यभारैः। न हि भोजनाद्यैक्य एव संभवति सौहार्दम्, न चावरवर्णेषु प्रकटनीया घृणेति कोऽपि वर्णविभागोपयुक्तः शास्त्रसिद्धो नियमः। आलम्ब्यतां यथार्थधर्मपरायणैः सर्वैरपीदं श्रुतिवाक्यम्।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।

सर्वेभ्य एव कल्याणी वाङ् निगद्येत्याज्ञापयति भगवानृषिः। तस्मादुपपत्त्यापि नास्ति कोऽपि विरोधोऽस्मिन् वर्णविभाग इति शिवम्।

तदित्थमुपपत्त्यापि चातुर्वर्ण्यस्य युक्तता।
प्रदर्शितैव दिङ्मात्रमलं सुविदुषां कृते ॥ १ ॥
वस्तुतो धर्मतत्त्वानामुपपत्त्या विडम्बनम्।
न शास्त्रापेतया न्याय्यं मतिमात्रसमुत्थया ॥ २ ॥
सुविचार्य ततो धीरैः श्रुतिस्मृत्यनुमोदितः।
सम्यगालम्ब्यतामध्वा भगवान् वः प्रसीदतु ॥ ३ ॥

प्रमीतपतिकाधर्मालोचनम्

इह खलु लोकान्तरगतपतिकायाः स्त्रियाः को धर्म इति जिज्ञासायां—

'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यमन्वारोहणं वा'

इत्यादि वचनजातमनुरुन्धानाः सनातनार्यधर्मानुयायिनो विद्वांसस्तावद् ब्रह्मचर्यानुकूलानेव तां स्तान् धर्मानुपकल्पयन्ति, तत्र तु विप्रतिपद्यमानाः केचिदिदानीन्तना विचक्षणाः पुनरप्युद्वाहं तासामनुमन्वते। आयतते च विषयेऽस्मिन्नवस्थितिः समाजस्येति बहुभिरेव विद्वत्प्रकाण्डैर्बहुधा विचारितो विचार्यमाणश्चापि विषय एष पुनरपि विचारचक्रमारोपणीय एव। तत्र तावत्केचन धूर्तप्रकल्पितेयमिति समुत्सृज्य शास्त्रमर्यादां समाजान्तरनिदर्शनैस्तर्कावष्टम्भैश्च बहुविधैः पुनरुद्वाहं विधवानां प्रमाणयितुमुद्युञ्जते, तदभावमेवं च समाजविप्लवहेतुमुररीकुर्वते स्वतन्त्रप्रज्ञाः। अपरे तु धर्मशास्त्राणि कथंचित्प्रमाणयन्तोऽपि तत एव तमर्थं साधयितुं संनह्यन्ति। तत्राद्यानां मतं तर्कावष्टम्भैरेव परतो विचार्यम्, धर्मशास्त्राणि तु विषयेऽस्मिन्ननुकूलानि प्रतिकूलानि चेति तावद्विविच्यते। तत्रानुकूल्यवादिनां त्रिधा विभज्यते समुदायः। तथाहि केचित्तावदविशेषात्सर्वासामपि विधवानां पुनरुद्वाहो धर्म एवेत्यातिष्ठन्ते। अप्राप्तपुरुषसंगानामक्षतानामेव तु पुनरुद्वाहो धर्म्य इत्यपरे प्रतिजानते। अन्ये तु पुनरुद्वाहं प्रतिषेधन्तोऽपि नियोगेन सन्तत्युत्पादनं सर्वदा धर्म इति ब्रुवते, तदेतन्मतं तत्र क्रमेणैवेहालोच्यम्। ये चैषामवान्तरा बहुधा भेदास्तेऽपि तद्विवेचन एव स्फुटीभविष्यन्ति।

तत्र सर्वविधानामपि विधवानां पुनरुद्वाहमभ्युपगच्छन्त आद्यास्तावदाहुः प्रमीतपत्नीकानां पुरुषाणामिव प्रमीतभर्तृकाणां योषितामपि पुनरुद्वाहस्तुल्यन्यायेन समुचित एव, उभयोरपि त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) संसाधने परस्परापेक्षत्वात्। ये तु केचिदाधुनिकाः पुरुषाणां पुनरुद्वाहमनुजानन्तोऽपि योषितां तं प्रतिषेधितुं संनह्यन्ति त इमे स्फुटं पक्षपातग्रहग्रहिला न्यायमुत्सृज्य तास्वत्याचरन्तीति कः प्रेक्षावान्नानुमन्येत। न हि श्रुतयः स्मृतय इतिहासा वा पुनरुद्वाहं स्त्रीणां सर्वथा प्रतिषेधन्ति, अपि तु तत्र तत्रानुमन्यन्त एव। तथा हि श्रुतिस्तावत्—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमितासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्त्वमेतत्पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ॥

(ऋ० सं० मं० १०. २. १८. ८)

मृतस्य पत्युः समीप उपविष्टायाः पत्न्या देवरादिभिरुत्थापने विनियुक्त एष मन्त्रः। तथोक्तं गृह्ये—'तामुत्थापयेद्देवरः, पतिस्थानीयोऽन्तेवासी, जरद्दासी वोदीर्ष्व

नार्यभिजीवलोकमिति' (आ० गृ० सू०) अस्यार्थस्तु 'हे नारि इतासुम् (मृतम्) एतं (पतिमुद्दिश्य किं) शेषे (स्वपिषि) उदीर्ष्व (उत्तिष्ठ) जीवलोकमभिलक्ष्य उपैहि (पुनरस्मिन् जीवलोके प्रवृत्ता भवेति यावत्)। (इदानीं) त्वं हस्तग्राभस्य (पुनस्ते हस्तं ग्रहीष्यतः, तवोद्वाहं करिष्यतः इति यावत्) दिधिषोः (गर्भनिधातुः) पत्युः (भविष्यतस्ते स्वामिनः) एतद् जनित्वम् (जायात्वम्) अभिसंबभूथ (प्राप्ताऽसि)।

मृतमिमं पतिमुत्सृज्योत्तिष्ठ, यः कश्चित्त्वामभिलष्यति तस्य पत्यन्तरस्य संबन्धं चाप्नुहीति स्फुट एवास्यायमाशयः। तथा चात्र पुनरुद्वाहः श्रुतौ स्पष्टं विहित एव। अन्यच्च—

कुहस्विद्दोषा कुहवस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ॥
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
(ऋ० १०. ४०. २)

मन्त्रोऽयं यद्यपि देवताविशेषावश्विनौ विषयीकृत्य प्रवृत्तः, अथापि दृष्टान्तविधयाऽत्र द्वितीय उद्वाहो विधवानां सूच्यत एव। तथा च मन्त्रस्यास्यायमर्थः—'हे अश्विनौ युवां रात्रौ क्व भवथः, दिवा वस्तुं क्व भवथः, क्व वाभिप्राप्तिं कुरुथः, क्व वसथः। को यजमानः सहस्थाने (वेद्यां) युवां आकृणुते—परिचरणार्थमात्माभिमुखीकरोति। तत्रैव दृष्टान्तद्वयमेतत्—यथा विधवा शयने देवरमभिमुखीकरोति, यथा वा सर्वाऽपि योषा मनुष्यमभिमुखीकरोति तद्वत्' इति। तथा च स्पष्टमस्मिन्नपि मन्त्रे विधवायाः पुरुषान्तरानुवृत्तिरुक्ता। न चात्र देवरस्यैवानुवृत्तिवर्णनान्नियोगपरत्वमस्य घटेत, न तु विवाहपरत्वम्—विवाहस्य येन केनापि पुरुषेण सह जायमानतया तत्र देवरानुवृत्तिनियमाभावादिति भ्रमितव्यम्। देवरशब्दस्यात्र यौगिकत्वेन द्वितीयवरसामान्यबोधकत्वात्। तदाहैतन्मन्त्र एव निरुक्तकारो भगवान् यास्कः 'देवरः कस्माद्, द्वितीयो वर उच्यते' इति। तस्माद्देवरशब्दस्यात्रद्वितीयः पुरुष एवार्थः, तथा चास्य मन्त्रस्यापि विधवोद्वाहबोधकत्वं निर्विवादम्। तथैव किल विवाहकालिकेन्द्रप्रार्थनयाऽपि बहुपतित्वं स्त्रीणां सूचितम्—

'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि' ॥
(ऋ० १०. ८५. २५)

अत्र ह्येकादशपर्यन्तं योषितः पतयो भवन्तीति सूच्यते। न चात्र दशभिः पुत्रैरेव पत्युरेकादशसंख्यापूरणं न्याय्यम्—उपस्थितत्वात् तथाचैक एव पतिरिति फलतीति वाच्यम्। विजातीयैः पुत्रैः पत्युरेकादशत्वसामञ्जस्यविरहात्। सजातीयेनैव

किल सजातीयसंख्यापूरणमुचितम् न तु विजातीयेन। न ह्येको ब्राह्मण एकश्च प्रस्तर इति संयोज्य द्वित्वं केनचित्प्रकल्प्यते। पुत्राणां चाधिकानामपीष्टत्वसंभवात् तत्रैकादशनियमाघटनात्। तस्मात्पतिगतैवेयमेकादश संख्या, ततश्च सिद्ध्यत्येव पुनः पुनः स्त्रीणामुद्वाह इति निर्विवादमेतत्। अन्यच्च—

> या पूर्वं पतिं हित्वाथान्यं विन्दते परम्।
> पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वियोष्वतः।
> समानलोको भवति पुनर्भुवा परः पतिः।
> यो ३ जं पञ्चौदनं दक्षिणा ज्योतिषं ददाति।
>
> (अथर्व० २ अनु० २ सू०)

इह पूर्वं पतिं परित्यज्यान्यमाश्रितवतीं पुनर्भूपदपरिभाषितां प्रति बलिप्रदानादिकं विधीयते उच्यते चोत्तरस्मिन् पुनर्भ्वा सालोक्यमपि तत्पतेः। तेन च सुस्पष्टं प्रसिद्ध्यत्येव श्रुतिकालेऽपि विधवानां पुनरुद्वाह इति विवेच्यतां विद्वद्भिरुत्सृज्य पक्षपातम्।

किं च 'तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सह पतयः' इतीयं ब्राह्मणश्रुतिरपि सह शब्दोपादानाद् युगपदनेकपतिकत्वं नारीणां प्रतिषेधन्ती पर्यायेणानेकपतिकत्वमनुजानातीव, सर्वदापि पत्यन्तरनिषेध इष्यमाणे सहशब्दवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तस्मादितोऽपि पतिविरहितानां स्त्रीणां पुनरुद्वाहः प्रसिद्धो भवति। मन्त्रे च स्वयं पत्युरेव स्वस्यासामर्थ्यादिदशायां पत्नीं प्रति पत्यन्तरकरणानुशासनं श्रूयते 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' इति। ततश्च श्रुतिसिद्धोऽयं विधवानां पुनरुद्वाहः सर्वथा धर्म्य इति स्पष्टमेतत् सिद्धम्. इह च 'विधवाविधातृका भवति' इति निरुक्तव्याख्यानानुरोधेन पालनादिकर्तृविरहितैव विधवाभिप्रेयते, तेन च सन्नपि यस्याः पतिः प्रव्रजनेन देशान्तरचिरप्रवासेन क्लैब्यपातित्यादिना वा न पालनादिषु क्षमः स्यात् सापीह विधवेव विवाहन्तराधिकारिणीति विज्ञेयम्। तदेतत्सर्वंस्पष्टमेव विवृतं स्मृतिषु, तथा च 'कलौ पाराशरी स्मृति' रिति न्यायेन विशेषतः कलियुगोचितानेव धर्मान् विवृण्वन् भगवान् पाराशरस्तावदाह—

> नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
> पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ इति।

अत्र नष्टश्चिरादपरिज्ञात वृत्तान्तः प्रोषितः। तद्विषये च प्रतीक्ष्यकालावधिमपि नारदः स्पष्टमुपपादयति—

> अज्ञातदोषेणोढाया निर्दोषा नान्यमाश्रिता।
> बन्धुभिः साभियोक्तव्या निर्बन्धुः स्वयमाश्रयेत्॥

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥
अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम्।
अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रयेत्॥
क्षत्रिया षट् समास्तिष्ठेदप्रसूता समाश्रयम्।
वैश्या प्रसूता चत्वारि द्वे वर्षे त्वितरा वसेत्॥
न शूद्रायाः स्मृतः कालो न च धर्मव्यतिक्रमः।
विशेषतो प्रसूतायाः स्त्रियाः संवत्सरात् स्थितिः॥
अप्रवृत्तौ स्मृतः काल एष प्रोषितयोषिताम्।
जीवति श्रूयमाणे तु स्यादेष द्विगुणो विधिः॥
प्रजाप्रवृत्तौ नारीणां वृत्तिरेषा प्रजापतेः।
अतोऽन्यगमने स्त्रीणामेष दोषो न विद्यते। (नारदस्मृतिः)

अप्रवृत्तौ—प्रोषितस्य वार्तायामश्रूयमाणायामेषोऽष्टवर्षादिकः कालो नियमितः, जीवतो वार्तायां श्रूयमाणायान्तु तद् द्विगुणः कालः स्यात्। तदुत्तरं तु सर्वथान्यस्य पत्युराश्रयणं न दोषावहम्, मृत-प्रव्रजित-क्लीब-पतित-पत्नीनां च पत्यन्तराश्रयणं धर्म एवेति स्पष्टमनयाऽपि स्मृत्या ख्यापितम्। नारदस्मृतिश्चेयं मनूक्तानामेवार्थानां विवरणमिति तदुपक्रम एव स्पष्टमभिहितम्, ततश्च भगवतो मनोरप्यनुकूल एवाय-मर्थः। इह प्रतिपादिता चेयं प्रोषितस्य कालप्रतीक्षा संक्षेपेण भगवता मनुनापि निदर्शिता—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥

इति। तदुत्तरं चान्यः पतिराश्रयणीय इत्यर्थानुगुण्यान् नारदस्मृतिसंवादाच्च प्रसिद्ध्यत्येव। ततश्चैकदेशानुमत्या पञ्चस्वप्यापत्सु पुनरुद्वाहोऽयं भगवतो मनोः स्पष्टमभिमतः सिद्धः। कात्यायनस्तु भगवानन्येष्वपि कारणेषु पुनरुद्वाहमाह। तथा च तदीयं वचनम्—

स तु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीब एव वा।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा।
ऊढापि देया सान्यस्मै सप्रावरणभूषणा।

इह चान्येनोढाप्यन्यस्मै देयेति वचनस्वारस्यात्पित्रादेरेव पुनरपि दातृत्वं सिद्धं भवति, तेन च विवाहात्पूर्वमेव क्लीबादीनां प्रतिगृहीतायामपि भार्यायां स्वत्वं नैवोत्पद्यते। विवाहादुत्तरन्तु क्लीबपतितमृतादीनां पूर्वमुत्पन्नमपि स्वत्वं विनश्यति। ततश्च पूर्वस्य स्वामिनः पित्रादेरेव तत्र स्वत्वमिति तस्यैव तत्प्रदानेऽधिकार इति

विज्ञायते। एतेन पितुः स्वत्वस्य पूर्वप्रदानेनैव विनाशात्पत्युश्चास्वत्वाद्विधवायाः प्रदाने कस्याप्यधिकारो न सिद्ध्यतीत्याद्यनर्गलं प्रजल्पन्तो निरस्ता वेदितव्याः। स्मृत्यानुकूल्यात्पितुरेव प्रदानाधिकारसिद्धेः। 'परतोऽन्यं समाश्रयेत्' इत्यादि नारदस्मृत्यक्षरानुगुण्यात्तु पत्यन्तरकरणे स्त्रिया एव स्वातन्त्र्यमिति सिद्ध्यति। तदेवैतदाह देवलोऽपि—

नष्टः प्रव्रजितः क्लीबः पतितो राजकिल्विषी।
लोकान्तरगतो वापि परित्याज्यः स्त्रिया पतिः॥
मृते भर्तरि जीवे वा स्त्री विन्देतापरं पतिम्।
सन्ततस्थनाशार्थतया न स्वातन्त्र्येण योषितः॥
(शूद्रकमलाकरे)

अत्राप्यपरपतिवेदने स्त्रिया एव कर्तृत्वोक्त्या तत्स्वातन्त्र्यं ध्वन्यत इव। ततश्च बालायाः पित्रैव पुनः प्रदानं प्रौढायास्तु स्वातन्त्र्येणैव पुनः पत्यन्तरमित्यादि व्यवस्थानुसन्धेया। न च स्त्रीणां विवाहे सर्वथा स्वातन्त्र्यं नास्त्येवेति भ्रमितव्यम्—

'गम्यं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात् स्वयं वरम्।' (याज्ञवल्क्यः)
'ऋतुत्रयमुपास्यैव कन्या कुर्यात्स्वयं वरम्।' (विष्णुः)

इत्यादिभिः स्मृतिवचनैः प्राप्तवयस्कानां स्त्रीणां स्वात्मप्रदाने स्वातन्त्र्यस्यापि बोधनात्। सर्वथापि तु पुनरुद्वाहः पतिविरहितानां स्त्रीणां स्मृतिसिद्ध इति स्पष्टमेतत् प्रतिपादितम्।

एवमितिहासपुराणादिभिरप्यर्थ एष शक्यते साधयितुम्। तथा हि महाभारते नलोपाख्याने तावन्नष्टपतिकायाः पतिव्रताशिरोमणेरपि दमयन्त्याः पुनः स्वयंवरार्थं पत्रिकाप्रेषणम्, तदवगत्य राजर्षेर्ऋतुपर्णस्य तद्विवाहार्थमागमनं, तेनैव सहायातस्य पूर्वपतेर्नलस्य दमयन्त्या समागमश्चेत्यादि सर्वं सुस्पष्टमभिहितम्। तेन च तस्मिन्नपि काले स्त्रीणां पुनरुद्वाह आसीत् प्रचलित इति स्फुटं शक्यमनुमातुम्। कथमन्यथा दमयन्ती पत्रं तादृशं प्रेषयेत्, कथं वा स राजर्षिरश्रुतपूर्वां तादृशीं कथां श्रद्दध्यात्। न च दमयन्त्या नलान्वेषणायैव स प्रयत्न आरब्धस्तथा च नातस्तथा प्रचारः प्रसिद्ध्यतीति वाच्यम्।

आस्तां दमयन्त्याः कथमपि स प्रयत्नः, ऋतुपर्णस्तु राजर्षिः प्रातः स्मरणीयः कथं तादृशे धर्मादपेतेऽर्थे बुद्धिपूर्वकं प्रवर्तेत। तस्मादवश्यं विधवानां पुनरुद्वाहस्तदात्वे धर्मत्वेनैव गृह्यते स्मेति निर्विवादमस्मादाख्यानात् प्रसिद्ध्यति। अत्यन्तं धर्मपरायणस्य पाण्डवस्यार्जुनस्य परपूर्वाया नागकन्याया उलूप्याः स्वीकरणकथाप्येतद्बोधयत्येव—तदुक्तम्—

अर्जुनस्यात्मजः श्रीमानिरावान्नाम वीर्यवान्।
सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता॥

ऐरावतेन सा दत्ता ह्यनपत्या महात्मना।
पत्यौ हृते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना॥
भार्यार्थं तां च जग्राह पार्थः कामवशानुगः।

एवमेष समुत्पन्नः परक्षेत्रेऽर्जुनात्मजः। इति (म० भा० भीष्मप०)

किंच स्त्रीणां पुनर्भूत्वप्रख्यापकस्मृतीनां द्वादशविधपुत्रप्रतिपादकस्मृतीनामपि च पर्यालोचनेन पुनर्विवाहस्य पुराप्रचरितत्वं शक्यमनुमातुम्—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः।

इति ह्याह भगवान् याज्ञवल्क्यः। वसिष्ठोऽपि च—

'या च क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा—सा पुनर्भूर्भवति' इति।

तथा चासीदेव पुरा योषितां पुनः संस्कार इति क एतत् प्रतिषेद्धुं शक्नुयात्। ननु भो अस्ति पुनर्भूप्रतिपादनं शास्त्रेषु, निन्दापि तु तासां तत्र तत्र स्मर्यत एवेति नैतेन पुनर्विवाहस्य धर्मत्वं प्रसिद्धं भवतीति चेन्मैवं वोचः। कथंचिन्निन्दा-श्रवणेऽपि स्वैरिणीभ्यस्तासां वैलक्षण्यप्रतिपादनस्य तत्र तत्र जागरूकत्वात्। त्रैविध्यं हि पुनर्भूणां चातुर्विध्यं च स्वैरिणीनामन्वाह भगवान्नारदः—

परपूर्वाः स्त्रियस्त्वन्याः सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम्।
पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा॥
कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता।
पुनर्भूः प्रथमा नाम पुनः संस्कारकर्मणा॥
देशधर्मानवेक्ष्य स्त्री गुरुभिर्या प्रदीयते।
उत्पन्नसाहसान्यस्मै सा द्वितीया प्रकीर्तिता॥
असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते।
सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता॥
स्त्री प्रसूताऽप्रसूता वा पत्यावेव तु जीवति।
कामात्समाश्रयेदन्यं प्रथमा स्वैरिणी तु सा॥
कौमारे पतिमुत्सृज्य या त्वन्यं पुरुषं श्रिता।
पुनः पत्युर्गृहं यायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता॥
मृते भर्तरि तु प्राप्तान् देवरादीनपास्य या।
उपगच्छेत्परं कामात् सा तृतीया प्रकीर्तिता॥
प्राप्ता देशाद्धनक्रीता क्षुत्पिपासातुरा च या।
तवाहमित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता॥ इति।

इह हि तावदुत्तरप्रतिपादितचतुर्विधस्वैरिणीभ्यः पूर्वप्रतिपादितानां त्रिविधानां पुनर्भूणां वैलक्षण्यं स्फुटमेवानुभूयते। तच्चेदं वैलक्षण्यं संस्कारनिबन्धनमेव वक्तव्यम्, संस्कृताः पुनर्भ्वः, असंस्कृतास्तु स्वैरिण्य इति। संस्कारस्त्वयं शास्त्रैकमूलः कथं नाम शास्त्रादत्यन्तं विरुद्धे कर्मणि प्रवर्तेत। तस्मान्नास्त्येव पुनरुद्वाहस्यैकान्तेन शास्त्रविरुद्धत्वम् अनुकल्पमात्रं त्विदं स्यात्। ब्रह्मचर्येणावस्थानं हि विधवानां प्रशस्यतमम् तदभावे तु विवाहोऽपि शक्य एव विधातुमिति। मुख्यकल्पातिक्रमणमूलिकैव चात्र कथंचिल्लेशमात्रतो निन्दा स्मर्यत इति सर्वं समञ्जसम्। तस्मात्पुनरुद्वाहोऽयं नात्यन्तं शास्त्रविरुद्धं कर्म, अपि त्वनुकल्पमात्रमित्यतोऽपीदं सिद्धमेव। अत एव द्वादशविधेषु पुत्रेषु पौनर्भवोऽपि परिगण्यत एव तत्र तत्र।

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥ इति॥ (मनुः)
अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः।
(याज्ञवल्क्यः)

अस्यापि च पौनर्भवस्य व्यभिचारजाभ्यां कुण्डगोलकाभ्यां भेदः सुस्पष्टमेव स्मृतिकृतामभिमतः, कुण्डगोलकयोर्दायभागानर्हत्वात् अस्य च दायभागेऽधिकारस्य स्फुटं तत्र तत्र प्रतिपादनात्। ततोऽपि हि नास्त्येतत् पौनर्भवसुतोत्पादनमत्यन्तं शास्त्रविरुद्धम्, अनुकल्पमात्रं त्वेतदित्यपरोक्षमेतत्। सर्वथाऽपि चैवंविधाभिः स्मृतिभिरैतिहासिकदृष्ट्या पुरा प्रचरितत्वं विधवोद्वाहस्य नैव शक्यं प्रतिषेद्धुम्, तथा सत्येवंविधवर्णनस्यैव तत्रोपलम्भयोग्यत्वाभावप्रसङ्गात्। स्मृतिकृतामपि च काले यद्यासीत्प्रचरितः पुनरुद्वाहस्तदा कृतमिदानीन्तनानां तन्निरोधायासेनेति विचार्यतां मनागेतत्।

अथ चेत्किञ्चिदुच्छृङ्खलां दृष्टिमैतिहासिकरीत्या पुराणादिषु प्रचारयामस्तदा नैवं विधेर्थे धर्मविरोधसंशयलेशोऽप्यवतिष्ठते नाम। तथाहि—अस्ति तावन्महाभारत आदिपर्वणि (१०४ अ०) महर्षेर्दीर्घतमस एकाकथा, सेयं सुस्पष्टमवबोधयति ततः पूर्वं स्त्रीणां यथेच्छकामचारापरपर्यायमनावृतत्वम्। दीर्घतमसैव तु महर्षिणा स्वीयभार्याकर्तृकादतिक्रमाद् दुःखितेनैकपतिमर्यादेयं प्रवर्तितेत्युक्तं तत्रैव—

'अद्यप्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता।
एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम्॥
मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्नरम्।
अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः॥ इति।

इत्थं चैकेनार्तेन पुरुषेण कृतेयमेकपतिकत्वव्यवस्थैव तावत्कथं नाम धर्मो भवितुमर्हति, अपौरुषेयश्रुतिवाक्यविहितमेव किलार्थं धर्मं इत्युपगच्छन्त्यार्याः, अत

एव चानादित्वमार्यधर्माणाम्। पुरुषेण तु केनचित्प्रवर्तितोऽर्थो यदि धर्मत्वेनाभिमन्येत तत्तर्हीदानीन्तनैर्बहुभिराप्तैः प्रवर्त्यमानोऽयं विधवोद्वाहोऽपि कुतो न गृह्यते धर्मत्वेनेति विचार्यतां यावद्दूरमुकुलितनेत्रम्। तस्मात्क्षम्यतामनुरुध्यैव बहुपतिकत्वं नारीणां समाजे प्रतिषिद्धं न तु धर्मेण सह कोऽप्यस्य सम्बन्ध इति सिद्धमेतत्। प्रमीतपतिकानान्तु योषितां पुनरुद्वाहोऽयं न तदात्वेऽपि प्रतिषेद्धुं पारितः सामाजिकैरपितु कलियुगारम्भपर्यन्तमयं निष्प्रत्यूहं प्रचरति स्मेति बोधयन्ति पुराणेषु दृश्यमानानि कलिवर्ज्यवचनानि—

ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा।
कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्॥

इति हेमाद्रिकृतायां चतुर्वर्गचिन्तामणौ परिदृश्यमानं वचनमिदं सामान्येन निवृत्तविवाहानां स्त्रीणां पुनरुद्वाहं प्रतिषेधत्ततः पुरातनेषु युगेषु प्रचरितत्वं तस्य सुदृढमनुमापयति।

'दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च'

इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुरित्यादिकन्तु वचनजातमक्षताया अपि पुनरुद्वाहं प्रतिषेधति—एवमेव—

'देवराच्च सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः'

इत्यादिवचनानि नियोगमपि कलौ प्रतिषेधन्ति। तदिदमत्र रहस्यं स्फुटमवभासते यत्पुरातने काले धर्मत्वेन सामाजिकैर्गृह्यमाणा लोकोपयोगिनोऽपीमेऽर्थाः क्रमेण नैष्ठुर्यमवलम्ब्य कलियुगोत्पन्नैरल्पप्रज्ञैः स्वर्थमात्रपरायणैर्जनैर्यतः कुतोऽपि कारणात् स्वार्थविघातमाशङ्कमानैर्बलात्कोमलप्रज्ञान् प्रतार्य प्रतिबद्धा इति।

इतिहासा अपि ननु निष्पक्षपातमालोच्यमाना द्रढयेयुरिमामनुमितिम्। अस्ति हि महाभारतस्योद्योगपर्वणि गालवस्यैकाख्यायिका, तत्र ययातिदुहितुर्माधव्याः पतिचतुष्टयस्वीकारस्तेभ्यश्चतुर्णां सुतानामुत्पत्तिस्तदुत्तरमपि च पित्रा स्वयंवरविधिनोद्वाह्यमानायास्तस्या अनिच्छन्त्या अरण्यप्रस्थानमुपाख्यातम्। यस्तु प्रसूतायास्तस्याः पुनः पुनः कन्यात्वलाभस्तत्र प्रतिपादितः, सोऽयमर्थः सर्वथा प्रकृतिविरुद्ध इति न श्रद्धेयः प्रेक्षावताम्। केवलन्तु पुरुषान्तरपरिग्रहस्तदानीं नारीधर्मविरुद्धतया परिगण्यमान इत्येव तात्कालिकी स्थितिराख्यानेनानेनानुमेया। तथैव सत्यवती—कुन्ती—द्रौपदीप्रभृतीनां प्रातःस्मरणीयानामपि सुप्रसिद्धान्युपाख्यानानि पुरुषान्तरपरिग्रहस्यादूषणीयत्वमनुमापयितुमलम्। ननु च भो नैता विधवाः, यदेतासां निदर्शनेन पुनरुद्वाहं विधवानां समर्थयितुमध्यवसितोऽसीति चेन्न वयं निदर्शनैरेभिर्विधवोद्वाहं समर्थयामहे। पुरातने काले नासीत् स्त्रीणां पुरुषान्तरपरिग्रहोऽत्यन्तमधर्मायेत्येव तु पूर्वानुमितमर्थं द्रढीकुर्मः। तथा च समाजा-

नुरोधेनैव कस्मिंश्चित् काले प्रवर्तितेयं भवेदेकपतिकत्वव्यवस्थेति समाजानुरोधेनै-वेदानीं परिवर्त्य तां प्रचारणीय उद्वाहो विधवानामित्युक्तं भवति । यथा तु समाज इदानीमत्यावश्यकत्वं विधवानां पुनरुद्वाहस्य, तथैतद्युक्तिप्रकटनावसरे निपुणं प्रतिपादयिष्यामः । तदित्थं सर्वविधविधवानां पुनरुद्वाहं समर्थयमानानां मतमुपदर्शितम् ।

अत्रैव केचिदेकदेशिनोऽनपत्यानामेव विधवानां पुनरुद्वाहमभिप्रयन्ति न सर्वासाम् । पूर्वोक्तवाक्येष्वेव 'सन्तत्यनाशार्थतया' 'प्रजाप्रवृत्तौ नारीणां वृत्तिरेषा प्रजापतेः' इत्यादिस्मरणादौचित्याच्च । जातापत्या हि स्त्रियोऽपत्यवात्सल्यादिनैव शक्ष्यन्ति यापयितुमिति न तासामत्यावश्यक उद्वाहः । नापि च जातापत्या नार्यस्तथाविधकामवासनावशगा भवन्ति । पुनरुद्वाहप्रचारे च तासां बालापत्या अपि स्त्रियोऽपत्येन सहैव पुरुषान्तरमाश्रयेयुरिति पूर्वस्य पत्युः सन्तत्युच्छेद-प्रसङ्गादिना दोषबाहुल्यमप्यत्राशङ्कितसंभवम् । एवमपत्यानां दुरवस्थापि बहुत्र प्रसज्जेतैव विरलाश्च जातापत्यानां स्त्रीणामुद्बोढारोऽपि भवन्तीति न तासां विवाहेऽ-त्यन्तं निर्बन्धनीयम् । इच्छया तु तासां दृष्टदोषाप्रसक्तौ कथंचिदनुमन्तव्यो वा न वा पुनरुद्वाहः, अनपत्यानां तु सोऽयमवश्यं निर्बन्धात्प्रवर्तनीयः, तासामनुद्वाह एव बहुविधानर्थसंभवात्, न ह्यनपत्यानां विधवानामुदरपोषणमात्रमपि सुकरम् । धार्मिकंमन्यैरपि च पितृकर्माद्यर्थं सन्तत्यविच्छेदमुररीक्रियमाणैरवश्यं सोऽयमनु-मन्तव्य इति दिङ्मात्रमेतन्मतान्तरवादिनाम् । त एतेऽपि प्रथमस्यैव पक्षस्यैक-देशिनोऽनुसन्धातव्याः ।

अथ द्वितीयस्तु समुदायः सर्वविधविधवानामुद्वाहप्रचार उदासीनोऽप्यप्राप्त-पुरुषसंसर्गाणामक्षतानां पाणिग्रहणमात्रदूषितानां विधवानां पुनरुद्वाहं निर्बन्धा-त्प्रचारयितुं बद्धपरिकरः । एषा ह्येतन्मतवादिनां प्रतिपत्तिः, विधवानां स्त्रीणां धर्मत्रयं तावदुपदिष्टं स्मृतिषु—पुनरुद्वाहो वा, ब्रह्मचर्यं वा, अन्वारोहणं वा । तदेतत्क्रमेण सम्यक् प्रत्यपादि भगवता पराशरेण ।

> नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
> पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ३० ॥
>
> मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
> सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ ३१ ॥
>
> तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।
> तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥
>
> (परा० स्मृ० अ० ४)

एषु चैकत्रैव क्रमेणोपदिष्टेषु त्रिषु प्रकारेषूत्तरोत्तरस्योत्तमत्वं स्वर्गादिफलविशेषानुकीर्तनाद्भगवतः पराशरस्यानुमतं प्रतीयते। तत्र सर्वोत्तमत्वेनानुमतऽस्यान्वारोहणस्येदानीं राजप्रतिषिद्धतयासंभवेऽपि संभवति पूर्वोक्तं प्रकारद्वितयम्। तत्र चेत्थं व्यवस्था या तावत्स्वर्गादिफलार्थिनी भर्तुरुपकारार्थिनी लौकिककारणान्तरवशंवदा वा शक्नोत्यनुपालयितुं ब्रह्मचर्यं सा सुखमनुपालयतु। या तु न शक्ता तथा विधातुं सा सत्यावश्यकत्व आपद्धर्ममनुरुध्य विवाह्यतां नामान्येन पुरुषेण सह तत्संबन्धिभिः। इतरबहुविधानर्थापेक्षया विवाहपक्षस्यैवोत्तमत्वात्। इदं तावद्विधवाविषये यात्वप्राप्तपुरुषसंसर्गा केवलं पाणिग्रहणदूषिता सा तावद्विधवापदवाच्यैव भवितुं नार्हतीति तस्यास्तु कुमार्या इवावश्यकतमो विवाहः। न हि विवाहमन्त्रप्रयोगमात्रेण कन्यायाः कन्यात्वं निवर्तते, अपि तु मन्त्रप्रयोगपूर्वकं पुरुषसंसर्गादेव। तदेतदुक्तमाप्ततमेन तत्रभवता भगवता व्याकरणमहाभाष्यकृता पतञ्जलिमुनिना 'कन्याशब्दोऽयं पुंसाभिसम्बन्धपूर्वके संप्रयोगे निवर्तते' इति।

कन्यायाः कनीन च (४। १। ११६) इतिसूत्रभाष्यम्।

अत्र हि पुरुषसंप्रयोग एव कन्याशब्दनिवृत्तिर्दर्शिता, न तु मन्त्रप्रयोगमात्रेण। "शास्त्रोक्तो विवाहोऽभिसंबन्धस्तत्पूर्वके पुरुषसंयोगे कन्याशब्दो निवर्तते" इति च स्पष्टं भाष्यं विवृण्वानः कैयटोपाध्याय आह। ततश्च शाब्दिकाचार्याणामेषां मतेनाप्राप्तपुरुषसंयोगा कन्यैवेति किं तद्विवाहे प्रतिबन्धकं स्यात्। यौक्तिकोऽनुभवसिद्धश्चाप्ययमेवार्थः, कुतो हि नाम पुरुषसंयोगमन्तरैव कन्यात्वं विनश्यतु? मन्त्रप्रयोगाद्याः सर्वा अपि क्रियाः प्रधानभूतसंयोगनिर्वृत्त्यर्था इति प्रधानाभावे कथं ताः फलवत्यः स्युः? अत एवस्मृतयोऽप्येकमुखेनाक्षतानां पुनरुद्वाहमुद्घोषयन्ति। तथा हि—

> सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
> पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति। (मनुः)
> पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
> सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति॥ वसिष्ठः।
> उद्वाहितापि सा कन्या न चेत्संप्राप्तमैथुना।
> पुनः संस्कारमर्हेत यथा कन्या तथैव सा॥ नारदः।
> यदि सा बालविधवा बलात्त्यक्ताथवा क्वचित्।
> तदा भूयस्तु संस्कार्या गृहीता येन केनचित् (ब्रह्मपुराणे)

यद्यप्यप्राप्तपुरुषसंसर्गा न विधवा, तथापि लौकिकीं ख्यातिमनुरुध्यौपचारिकोऽत्रप्रयोगः। विदेशं गतेऽपरिज्ञातवृत्तान्तेऽपि पत्यावस्या विवाह उक्तः—

> वरयित्वातु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा।
> ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्यान्यं वरयेद्वरम्।

(कात्यायनः पराशरश्च)

अत्र हि नष्टे मृत इत्यादाविव नाशशब्दार्थो विदेशगमनेनापरिज्ञातवृत्तान्तता, मरणार्थकत्वे तावत्कालप्रतीक्षाया अनुपयोगात्। न चात्र वरित्वेति श्रवणाद्वाग्दत्तापरमिदम् वाचा स्वीकारस्यैव वरणत्वादिति भ्रमितव्यम्। तावन्मात्रे ऋतुत्रयपर्यन्तमुपासनस्यानर्थरूपत्वात्। आवश्यको हि स्त्रीणामृतुकालात्पूर्वमेव विवाह इति बहुशः स्मृतिकृतां डिण्डिमः। ततश्च कथं वाचाभ्युपगममात्रेण ऋतुत्रयपर्यन्त विवाहः प्रतिबद्धः स्यात्। कन्यास्वातन्त्र्यमपि चेतो वचनात् 'कन्या वरयेदिति' कर्तृत्वनिर्देशेन प्रतीयमानं विवाहात्पूर्वमनुपपन्नतरम्। तस्माद्वरयित्वेत्यस्य विवाह्येत्ये वात्रार्थः। एवं न केवलं मन्त्राः कन्यात्वनिवृत्तौ कारणमित्यत्रापि स्फुटीभवति—

वरश्चेत् कुलशीलाभ्यां न युज्येत कथंचन।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत्॥
समाच्छिद्य तु तां कन्यां बलादक्षतयोनिकाम्।
पुनर्गुणवते दद्यादिति शातातपोऽब्रवीत्॥
(शातातपः)

अत्र मन्त्रा विवाहमन्त्रा एव, पूर्वं वाग्दानादौ मन्त्रानुपयोगात् विवाहमन्त्रेभ्यः पूर्वं क्षतयोनित्वसंभवाभावेनाक्षतयोनिकामिति पदस्वारस्यभङ्गापत्तेश्च। ततश्च यदा वरस्य वैगुण्येऽप्यक्षतयोनिकायाः कन्यायाः पुरुषान्तराय प्रदानं न विरुद्धं स्मृतिकृतां तदा कैव कथा प्रणाशादाविति विभाव्यतां भावुकैः। पराशरेणाप्युक्तमेतदेव—

हीनस्य कुलशीलाभ्यां हरन् कन्यां न दोषभाक्।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत्॥
(प० मा० आचार काण्डे)

तदित्थं पुरुषसंयोगविरहितस्य मन्त्रप्रयोगमात्रस्य नास्ति कन्यात्वनिवर्तकत्वमिति संसिद्धम्। अत एव मनुस्मृतिव्याख्यातृमूर्धन्य आसतमः कुल्लूकभट्टमहाशयोऽपि "ताः क्षतयोनयो वैवाहिकमन्त्रैः संस्क्रियमाणा अपि यस्मादपगतधर्मविवाहादिशालिन्यो भवन्ति, नासौ धर्म्यो विवाह इत्यर्थः।"

इत्यादिकं वदन् क्षतयोनिविवाहस्यैवाधर्मत्वं मनोरभिमतमुपदर्शयन्नक्षतयोनीनां पुनरुद्वाहमनुजानातीव। याज्ञवल्क्योऽपि च भगवान् 'अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनरिति' वाक्ये क्षतायाः पृथगक्षतां प्राङ् निर्दिशन् तस्याः पुनः संस्कारयोग्यतायां प्राधान्यमभिव्यञ्जयति। नारदोऽपि च त्रिविधासु पुनर्भूषु प्रथमामक्षतामेवोपन्नुवंस्तत्प्राधान्यमुररीकरोति। विष्णुश्च "अक्षता पुनः संस्कृता पुनर्भू" रित्यक्षतामेव पुनर्भुवमन्वाह। पुनर्भूश्च पुनः संस्कारादेव भवतीत्यस्याः

पुनः संस्कारः सर्वेषां स्मृतिकृतामभिप्रेतः प्रतीयते। ननु च भोः त्वन्मते तु कन्यात्वमेवाक्षतायामवस्थितमिति पुनर्भूत्वं तस्याः कुतस्त्यम्? पुनर्भूत्वस्वीकारे त्वस्यां अपि स्मृतिदृष्ट्या निन्दितत्वमेव जातमित्यन्यविधविधवाभ्यो निर्विशेषप्रसक्तिरिति चन्मैवम्। पूर्वमपि संस्कृता पुनरपि संस्क्रियत इति पुनः संस्कारमात्रेण पुनर्भूव्यवहारप्रवृत्तेः। निन्दापि पुनर्भूणां स्मृतिदृष्टा पुनः संस्कारमात्रेण कथंचिदत्राप्यनुयोज्या। सा च सकृत्संस्कृतापेक्षया किंचिन्न्यूनतायामेव पर्यवस्यतीति न तावन्मात्रेण मुख्यपक्षे विवाहराहित्यरूपं ब्रह्मचर्यमासामपि विहितं शङ्कनीम्। स्फुटमासां कन्यात्वात् स्मृतिकृदादिभिरभ्युपेतत्वात्, कन्यानां विवाहराहित्यस्य शास्त्रनियमविरुद्धत्वाच्च। अस्यां च पूर्वोक्तवाक्यादिभिर्नास्ति पत्युः पूर्णस्वत्वमिति पित्रादेः स्वत्वस्यानपायात्प्रदानमप्यस्या उपपन्नतरम्। यत्तु—

"पाणिग्रहणका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे (मनुः १२६)

इत्यादिवचनान्यनुरुध्य सप्तपद्यन्तरमेव पूर्णं पत्युः स्वत्वं पित्रादेः स्वत्वनिवृत्तिं, कन्यात्वनिवृत्तिं चाभ्युपगच्छन्ति केचित्तदसत्। विवाहसंस्कारोपयुक्तानामेव मन्त्राणां निष्ठापरपर्यायाः पूर्तेः सप्तमपदेऽत्राभिहितत्वात्। निवृत्तायां हि सप्तपद्यां विवाहसंस्कारः पूर्णो भवति, स चायं संस्कारो कन्यायां वोढुः स्त्रीत्वसंपादन उपकरोतीत्येवास्याक्षरानुगुणे तात्पर्यम्। न तु विवाहमात्रेणैव पत्युः स्वत्वनिष्पत्तिः कन्यात्वनिवृत्तिर्वा शक्यापादयितुम्। पूर्वोक्तवचनजातविरोधापत्तेः। किं च सप्तपदीमात्रेण भार्यात्वनिष्पत्ताविमान्यपि वचनानि स्फुटं व्याकुप्येरन्—

कन्यादानं शचीयोगो विवाहोऽथ चतुर्थिका।
विवाहमेतत् कथितं नाम कर्मचतुष्टयम्। (अग्निपु०)
विवाहे चैव निर्वृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु।
एकत्वमागता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके। (लिखितः)
चतुर्थीहोममन्त्रेण त्वङ्मांसहृदयेन्द्रियैः।
भर्त्रा संयुज्यते पत्नी तद्गोत्रा तेन सा भवेत्। (बृहस्पतिः)

एतानि हि वचनजातानि चतुर्थीकर्मानन्तरमेव पत्युः पूर्णं स्वत्वमनुशासति। सप्तमे पद एव तु दारत्वनिष्ठायां तानीमानि स्फुटं विरुध्येरन्, श्रुत्यानुगुण्यं चैषां वचनानाम्—श्रूयते हि चतुर्थीहोममन्त्रेषु—"प्राणैस्ते प्राणान् संदधामि, अस्थिभिस्तेऽस्थीनि संदधामि, मांसैस्ते मांसानि सन्दधामि, त्वचा ते त्वचं संदधामि" इत्यादि। एतेनेह चतुर्थीकर्मणैव तावदैक्यं पत्या पत्न्याः संपादनीयं भवतीति सुस्फुटं प्रतीयते, तेन च सप्तपद्यां नास्ति दारत्वनिष्ठेति सुव्याख्यातम्। नन्वास्तां तर्हि चतुर्थीकर्मणि दारत्वनिष्ठा तथापि विधवानामुद्वाहे तवाभिप्रेते किमायातमिति

चेच्छ्रूयतामवधीयतां च। चतुर्थीकर्मापि यासां नाभूत्तथाभूतानां बालविधवानां पुनरुद्वाहस्तु निष्प्रत्यूहं प्रसाधितः। अथ चैषां भार्यात्वनिष्ठानुबोधकानां मन्त्राणां परस्परविरोधेनार्थान्तरपरत्वप्रसक्तया चोपकारकत्वमात्रमेषां कर्मणां भार्यात्वसंपादने, निष्पत्तिस्तु संप्रयोगादेवेत्यपि सुसाधम्। तेन चाक्षतानां विधवाभासानां पुनरुद्वाहो मदभिप्रेतः सिद्धः। युक्तं चैतत्—न हि चतुर्थीकर्मोपयुक्तमन्त्राणां प्रयोगमात्रेणैक्य-संसिद्धिरपितु तद्बोधितप्रक्रियानुष्ठानेनैव। ततश्च परस्परं त्वङ्मांसादियोगेऽस्थिपुरुष-भैत्रक्यं जायते—पत्युः पूर्णं स्वत्वमुत्पद्यते, कन्यात्वं च निवर्तते न तु पुरुषसंप्रयोग-शून्यास्वक्षतासु कन्यात्वं निवृत्तम्, ऐक्यं वा पत्या जातमित्येष एव शास्त्रार्थः।

[उत्तरपक्षः]

तदिदं परस्परोपमर्दाद् विप्रत्तिपत्तिजर्जरीभूतं जीर्णं वसनखण्डमिव प्राज्ञंमन्यैः परि-णतप्रज्ञाविरहितैरितस्ततः समाकृष्यमाणतया त्रुट्यत्प्रायमुत्तमप्रज्ञानां कृते—'स्वरूप-व्याक्रियैव पराक्रियेति' न्यायेन स्वरूपतोऽनूदितमपि शब्दतोऽर्थतश्च व्याहतं विधवोद्वाहमतं मा भूत् कोमलप्रज्ञानां प्रज्ञाभ्रान्तिजनकमिति भूयोऽपि क्रमेणा-लोचयितुमुपक्रम्यते।

(श्रुतिव्यवस्थाप्रकरणम्)

तत्र या तावदादौ श्रुतिरुपन्यस्ता—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमितासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ॥

(ऋ० सं० मं० १०–१८–८)

नैषा पुनरुद्वाहं विधवानां साधयितुं कथमप्युत्सहते। विवाहविधेरत्र लेशतोऽप्यदर्शनात्। इह हि "उदीर्ष्व" इति "एहि" इति च विधी, तौ चोत्थानमा-गमनं च विधत्ता न पुनरुद्वाहम्। अत एव च मन्त्रलिङ्गानुसारिणा सूत्रकृता-प्युत्थापन एवेयं विनियोजिता। "तामुत्थापयेद्देवरः" (आ० गृ० सू०) इत्यादिना सूत्रेण। आपस्तम्बोऽपि "प्रेतं चितिमारोप्य, इयं नारीति प्रेतपत्नीं प्रेतसमीपं नीत्वा, उदीर्ष्वेति मन्त्रेण प्रेतपत्नीमुत्थाप्य ततः सुवर्णमिति प्रेतहस्ते सुवर्णेन संमृज्य" इत्युत्थापन एवास्या विनियोगमाह। मृतस्य पत्युरुपस्थायिनीं शोकाकुलां भार्य्यां देवरादिरुत्थापयेदित्येव तत्तात्पर्य्यम्। तथा च विनियोगानुरोधेनाऽप्युत्थापनमेवेयं श्रुतिर्विदध्यात्, न तूद्वाहकथामपि। अथ प्रकरणमपि परीक्षामहे—तत्र ऋग्वेदसंहितायां तावद्दशमस्य मण्डलस्याष्टादश-सूक्तान्तर्भूतोऽष्टमोऽयं मन्त्रः, सूक्तञ्चेदं मृत्युसम्बन्धमेव विषयीकरोति। तथा चानुक्रमणिका—"परं मृत्योः संकुमसुकः (ऋषिः) चतस्रो मृत्युदेवताः—परा धात्री, परा त्वाष्ट्री, पराः पितृमेधाः" इति। तदित्थं पितृमेधोऽस्य मन्त्रस्य दैवतमिति पितृमेधसम्बन्धेनैव क्रियाविशेषोऽत्र विधित्सितः स्यात्। न च मृतस्य पत्न्याः

पुनरुद्वाहोऽपि पितृमेधस्यैव सम्बन्धी, तदात्व एव वा समुत्सृज्य सकलकार्याणि पूर्वमेवासौ विधेय इति कोऽपि सचेता एतदनुमन्येत । इतश्च पूर्वेण मन्त्रेण—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु ।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥

इत्यन्यासां सधवानां गृहनारीणां घृताक्तनेत्राणां गृहप्रवेशनमाश्वासनविहितम् । इत उत्तरेण च–

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम ॥

इति मृतस्य हस्ताद्धनुष आदानं विधत्ते, ततश्च मृतसंस्कारेऽत्रसर्वतः प्रक्रान्ते को नाम विवाहस्य प्रसङ्ग इत्यालोचयन्तु मनाक् सुधियः । तस्मात् 'हे नारि ! मृतस्य पत्नि ! उदीर्ष्व उत्तिष्ठ, जीवलोकममि जीवानां स्थूलशरीरविरहितानां लोकं यमलोकं प्रति, इतासुं गतप्राणं, एतं पुरुषं, त्वम् , उपशेषे तस्य समीपे तिष्ठसि, तन्नोचितमिति भावः । यद्वा जीवलोकं जीवतां पुत्रपौत्रादीनां लोकं स्थानमभिलक्ष्य उपेहि । गतप्राणमेतं किमुपशेष इत्येवं भाष्यमनुसृत्य व्याख्येयम् । यतस्त्वं हस्तं गृहीतवतः, दिधिषोर्गर्भस्य निधातुः, तवास्य पत्युः (सम्बन्धि) इदं वर्तमानम् , जनित्वं जायात्वम् , अभिसम्बभूथ प्राप्तवत्यसि, अनुभूतवत्यसीति वा । पूर्वं जीवतोऽस्य जायात्वं त्वयाऽनुभूतम्—यदाऽयं गर्भनिधातासीत् । इदानीन्तु मृतस्यास्य समीपोपस्थानं तवाऽकिञ्चित्कर' मित्यर्थकस्यास्य मन्त्रस्य स्फुटमाश्वासकत्वमेव प्रतीतिसिद्धमुचिततमञ्च, न तु विधवोद्वाहवार्तालेशोऽप्यत्र प्रतीयते नाम । भाष्यकृतः सायणाचार्यास्तु भर्तुरनुगमनविधायकत्वमस्य व्यञ्जयन्तीव । यतस्तैर्व्याख्यातमुत्तरार्द्धम्-यस्मात्त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतो दिधिषोर्गर्भस्य निधातुस्तवास्य पत्युः सम्बन्धादागतमिदञ्जनित्वं जायात्वमभिलक्ष्य सम्बभूथ—सम्भूतास्यनुमरणनिश्चयमकार्षीस्तस्मादागच्छेति' ।

अथर्वसंहितायाञ्चाम्नातस्य मन्त्रस्यास्यानुमरणविधायकता प्रकरणादपि स्फुटमिव प्रतीयते, तथा हि तत्रत्यः सन्दर्भः (अथ० १८ का० ३ मनु० आरंभे) 'पूर्वत एव पितृमेधे प्रक्रान्ते—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणञ्चेह धेहि ॥ १ ॥
उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमितासुमेतमुपशेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसम्बभूथ ॥ २ ॥
अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत्प्राक्तो अपाचीनमनयं तदेनाम् ॥ ३ ॥

प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसञ्चरन्ती ।
अयन्ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधिरोहयैनम् ॥ ४ ॥

अत्र हि प्रथमं मन्त्रं "आद्यया (ऋचा) चितो भार्यां प्रेतेन सह संवेशयेत्" इति सूत्रानुसारेण भार्यायाश्चिति संवेशने विनियोज्य व्याचख्युर्माधवाचार्याः— "इयं-पुरोवर्तिनी, नारी—स्त्री, पतिलोकम्—पत्या अनुष्ठितानां यागदान-होमादीनां फलभूतं स्वर्गादिस्थानं, वृणाना—सहधर्मचारिणीत्वेन संभजमाना, हेमर्त्य ! मरणधर्मन् मनुष्य ! प्रेतम्—अस्माद् भूलोकाद्विनिर्गतम्, त्वा उपनिपद्यते—समीपे नितरां गच्छति । अनुमरणार्थं प्राप्नोतीत्यर्थः । कस्माद्धेतोः पुराणं पुरातनमनादिशिष्टाचारसिद्धं धर्मं सुकृतमनुपालयन्ती । आनुपूर्व्येण संप्रदायाविच्छेदेन पालनमनुपालनम् । स्मर्यते हि—

भर्तारमुद्धरेन्नारी प्रविष्टा सह पावकम् ।
व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात् ॥

तस्यै अनुसरणं कृतवत्यै स्त्रियै इहास्मिन् भूलोके जन्मान्तरे लोकान्तरेऽपि प्रजां पुत्रपौत्रादिकां द्रविणं धनं च धेहि प्रयच्छ । अनुमरणप्रभावाज्जन्मान्तरेऽपि स एव तस्याः पतिर्भवतीत्यर्थः" । [माधवीयं भाष्यम्]

तदनन्तरम् उदीर्ष्वं नारीति भार्यामुद्दिश्यैव पत्युरनुगमनं विधीयते । ऋग्वेदभाष्यमनुसृत्य मन्त्रार्थः प्रागभिहित एव । तदुत्तरं चापश्यमिति स्फुटं पतिमनुगच्छन्त्याः पतिव्रताया वृत्तमुपवर्ण्यते । नीयमानां पत्या सह प्राप्यमाणां, जीवां जीवन्तीं, युवतिं, मृतेभ्यः मृतमुद्दिश्य (छन्दसि व्यत्ययेन बहुवचनम्) परिणीयमानाम्—समर्थ्यमाणामहमपश्यम् । यदियमन्धेन तमसा शोकाख्येन, प्रावृता—आच्छादितेवासीत्—तत् तस्मात्, एनां प्राक्तः पूर्वस्मात् स्थानात्—अपाचीं—लोकान्तराभिमुखीमनयमिति, तद्देवरपुत्रादिराह । उत्तराऽप्यतो भूयसे निर्वचनायास्यैवार्थस्य—हे अघ्न्ये—निष्पापे—जीवानां लोकं स्वर्गं प्रजानती, देवानां मार्गमनुसंचरन्तीं (स्वपातिव्रत्यमाहात्म्याद्) त्वं योऽयं ते गोर्वाच इन्द्रियाणां वा पतिः स्वामी तं जुषस्व—सेवस्व । स्वर्गं लोकं चैनमभि प्ररोहय, इति भार्यामेवोद्दिश्य वाक्यम् । पतिव्रतामाहात्म्येन तत्पतिरप्यक्षयं स्वर्गसुखमुपभुङ्क्त इति हि स्फुटं स्मृतिपुराणेषु ।

तदाह भगवान् व्यासः कपोतिकाख्याने—

पतिव्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ।
तत्र चित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्वपद्यत ॥
ततः स्वर्गं गतः पक्षी भार्यया सह संगतः ।
कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे च सह भार्यया ॥

स्मृतिश्च ।

व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात् ।
तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते ॥

तदित्थमथर्वसंहितायाः सन्दर्भशुद्ध्या मन्त्रस्यास्यानुगमनविधायकता स्फुटीभूतेव । ततश्च यदेतत् 'जीवलोकमभिलक्ष्य उपैहि—जीवलोके पुनः प्रवृत्ता भव, हस्तग्राभस्य—हस्तं ग्रहीष्यतः दिधिषोस्त्वयीदानीं गर्भं निधातुमिच्छोस्तव पत्युः पुरुषान्तरस्य जनित्वं जायात्वं त्वया प्राप्तमिति यथेच्छं व्याचक्षते, साधयन्ति च पुनरुद्वाहम्—तत् सर्वथाप्यसमञ्जसमनुचितं हेयमेव प्रेक्षावताम् । उपदर्शितप्रकरणविरोधात्, अथर्वसन्दर्भविरोधात्, विनियोगसूत्रविरोधात्, दैवतानुक्रमणीविरोधात्, ब्राह्मणेष्वेवंविधविधेरनुपलम्भात्, भाष्यविरोधात्, अक्षरस्वारस्यविरुद्धत्वाच्च । इदं जनित्वमभिसंबभूथेति हि वर्तमानं जायात्वं लक्ष्यीक्रियते, तच्च मृतस्य पूर्वस्य पत्युरेव सम्बन्धि, नतु पुरुषान्तरसम्बन्धि, तस्येदानीं यावदनुत्पन्नत्वात् । यदि हि पुरुषान्तरनिरूपितं जायात्वमुत्पन्नमभविष्यत्, कुतस्तर्हीयं मृतस्य सविधेऽस्थास्यत् । "त्वमेतत्पत्युर्जनित्व' मिति तैत्तिरीयाणामध्ययनेऽपि 'एतद् जायात्वमिति पूर्वोक्तार्थो न व्यभिचरितः । किंच "अभि संबभूवेति नायं विधिः, लोडाद्यदर्शनात्—अनुवादस्त्वयम्—भूतकालनिर्देशात् । ततश्च यत्पुरा प्राप्तं जायात्वं तदेवात्रानूद्यते, न त्वभिनवं पुरुषान्तरनिरूपितं तद्विधीयते । नहि पुरुषान्तरस्य जायात्वं साद्य यावत् प्राप्ता, अथ यदि प्राप्ता, नायं तर्हि विधिरप्राप्तप्रापकाभावाद् इति नात्र पुरुषान्तरपरिग्रहकथा कथमपि सामञ्जस्यं समश्नुते ।

अत्राहुः—

पुनर्भूर्दिधिषू रूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः ।
स तु द्विजोऽग्रे दिधिषूः सैव यस्य कुटुम्बिनी ॥
(अम० को० मनुष्य व० ५८६)

इति कोशाद्दिधिषुपदस्यात्र पतिविशेषणत्त्वेन श्रुतस्य पुनर्विवाहकर्तृपरत्वमेवाध्यवसीयेत, अस्तु वा छान्दसह्रस्वत्वेन, तर्वेत्यस्य विशेषणं तत्, पुनर्भूभूतायाः पुनर्विवाहसंस्कारमाप्स्यन्त्यास्तव पत्युरित्यर्थसामञ्जस्यात् । उभयथाऽपि रूढ्यर्थेन पुनर्विवाहोऽत्रार्थतः सिद्धो भवति, इतरथा दिधिषुपदस्य रूढार्थभङ्गापत्तेः । आहुश्च लौकिकाः "रूढिर्योगाद्बलीयसीति' 'रूढिर्योगार्थमपहरतीति' च । मीमांसका अपि च शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणे प्रसिद्ध एव पदानामर्थः कल्पनीयो न तु व्याकरणादिसहाय्येनाप्रसिद्धयत्किञ्चिदर्थकत्वं कल्प्यमिति स्फुटं व्यवस्थापयन्ति । तदाह—'चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन' । (मी० सू० १ । ३ । १०) इति सूत्रं व्याचक्षाणः शबरस्वामी—'अपि च' निगमादिभिरर्थे कल्प्यमाने अव्यवस्थितः

शब्दार्थो भवेदिति'। लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकरणे च वेदे लोकभिन्नार्थतां प्रतिषेधन्ति। तथा च सूत्रम्—

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्' (मी० सू० १।३।३०।) इति निषादस्थपत्यधिकरणे रथकाराधिकरणेऽपि च रूढ्यर्थे लाघवाद् रूढिरेवादर्तव्येति स्फुटो मीमांसकसिद्धान्तः। 'परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी-सू. १।१।३२) इत्यादौ तु व्यक्तिविशेषसंकेतितानां संज्ञानामेव श्रुतावर्थान्तरपरता प्रतिपाद्यते, नतु रूढशब्दानामैकान्तिकोऽभावः। ततश्च लौकिककोशसाहाय्येन दिधिषुपदस्याप्यर्थे प्रक्लृप्ते श्रुत्यैव प्रकरणादिभ्योऽतिबलीयस्या पुनर्विवाहः प्रसाधितो भवति। प्रकरणमपि च न नः प्रतिकूलम्। 'इयं नारीति' मन्त्रस्यापि पुनर्विवाहप्रापकत्वात्। इयं हि तस्य समीचीना व्याख्या "हेमर्त्य, हेसजीव पुरुष! पतिलोकं पतिसुखं वृणाना कामयमाना इयं नारी, प्रेतं प्रकर्षेण लोकान्तरमितं पतिं (विहायेति शेषः) यद्वा मृतं पतिमनु तदनन्तरं यदि पतिस्थानं वृणाना, त्वा उपनिपद्यते प्राप्नोति पुराणं प्राचीनम् अनादिं धर्मं पुनर्विवाहरूपं स्वीकुर्वती, तस्यै अस्मिन् लोके प्रजां सन्ततिं द्रविणं धनं च धेहि देहीति"। द्रविणसन्तत्यादिप्रार्थना च स्फुटमस्यां व्याख्यायामेवानुकूला, मृतमुद्दिश्य तथा प्रार्थनायाः सर्वथा असामञ्जस्यात्। अथ तैत्तिरीयारण्यके (६ प्र. १ अनु.) श्रुतस्यास्यैव मन्त्रस्य (उदीर्ष्वेत्यादेः) माधवीयंभाष्यमप्यस्मदनुकूलम्—तत्र हि "इयं नारी' 'उदीर्ष्व नारि' 'सुवर्णं हस्तादाददाना मृतस्य' 'धनुर्हस्तादाददाना मृतस्य' मणिं हस्तादाददाना' इत्येष मन्त्रसन्दर्भः। 'त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतः, दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः, पत्युः, एतद् जनित्वं जायात्वम्, अभि संबभूथ आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि' इति च माधवीयं भाष्यम्।

तथाच पुनर्विवाहेच्छोः पत्यन्तरस्य भार्यात्वं स्फुटमत्र स्त्रियमुद्दिश्य भाष्यकृता विहितम्। अभिसंबभूथेति लिटश्च व्यत्ययेन लोडर्थकता तेनैवाभ्युपगतेति सोऽयमपि विधिर्नानुवादः। कल्पसूत्रकृतापि चाश्वालायनेन (तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो) वेति देवरस्य पतिस्थानीयतामभिदधतातत्प्रवक्तृकत्वं चास्य मन्त्रस्य विदधता पत्यन्तरकरणमुक्तप्रायमेव। देवर इति हि द्वितीयो वर उच्यते इत्यवोचाम।

ततश्च सुदृढं संसिद्धमस्य मन्त्रस्य पुनर्विवाहप्रापकत्वमिति।

तदेतत्सर्वमपि मनोराज्यविजृम्भितमात्रम्। प्रमाणाभाससंदब्धत्वात्। तथा हि—

(दिधिषूशब्दार्थः)

स्यादप्येतदेवं यदि हि दिधिषूपदस्य शास्त्रेषु पुनर्भूसमानार्थकत्वे दृढं प्रमाणं स्यात्। तदेव तु नोपलभामहे। प्रत्युत विपरीतमेव स्मरन्ति स्मृतिकाराः। तथाहि—

भगवान्मनुस्तावच्छ्राद्धप्रकरणे निषिद्धब्राह्मणेषु स्वप्रयुक्तं दिधिषूपतिपदं स्वयं व्याचक्षाण आह—

"भ्रातुर्मृतस्य भार्य्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेया, दिधिषूपतिः॥"

(मनु० ३ । १३७ इति ।)

ततश्च धर्म्यनियोगे धर्ममुत्सृज्य कामतः प्रवृत्तस्य पुरुषस्य दिधिषूपतित्वं ततोऽस्त्रयास्त्वर्थद्दिधिषूत्वमुपलब्धं भवतीति न प्रकृतमन्त्रे तादृशरूढार्थग्रहणसंभवः। तस्यार्थस्य प्रकृतेऽन्वयासंभवात्। नहि नियुक्तस्य त्यक्तमर्यादस्य मन्त्रेऽस्मिन् ग्रहणे किमपि प्रमाणमस्ति, वैधस्य मुख्यपत्युरेव श्रुतौ ग्रहणौचित्यात्। तदर्थाभ्युपगमेऽपि च 'दिधिषोस्तव'—धर्मेण नियुक्तायास्ततस्त्यक्तमर्यादायाः कामेन प्रवृत्तायास्तव, पत्युरित्यर्थः स्यात्—कथं चायं समंजसः, न हि मर्यादाव्युत्क्रमं श्रुतिरेव बोधयेन्नाम। ततश्च नास्ति मनूक्तार्थस्यात्र कथमपि संभवः। अथ स्मृत्यन्तरेष्वन्यथैव दिधिषूशब्दार्थो निरूपितः—

"ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा।
सा चाग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता॥

(मिताक्षरावीरमित्रोदयादिनिबन्धेषु लौगाक्षिदेवलश्च)

एवं च यथा ज्येष्ठे भ्रातर्यनूढे कृतविवाहः कनिष्ठः परिवेत्तृशब्देन, स ज्येष्ठश्च परिवित्तिशब्देन धर्मशास्त्रे परिभाष्यते, तथैव ज्येष्ठायां भगिन्यामनूढायां विवाहिता कनिष्ठा भगिनी अग्रेदिधिषूपदेन सा ज्येष्ठा च दिधिषूपदेनात्र परिभाषिता द्रष्टव्या। व्युत्पत्तिरप्यस्मिन्नर्थे प्रदर्शिताऽभियुक्तैः, "दिधिं धैर्यं स्यति"—इति (शब्दकल्पद्रुमे) अधैर्यवशात् पूर्वमूढेति यावत्। भगवान् गौतमोऽपि 'परिवित्ति-परिवेत्तृ-पर्याहित-पर्याधात्रग्रेदिधिषूपति-दिधिषूपतीनां संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्य्यम्' इति परिवित्त्यादिप्रकरण एव दिधिषूपतिं निर्दिशंस्तत्समानं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयन्नुक्तार्थमेव दिधिषूपदं स्फुटमभिप्रैति। तथैव च प्रायश्चित्तप्रकरणे वसिष्ठोऽपि। तदित्थं विवाहक्रमवैपरीत्यं निमित्तीकृत्य परिभाषितस्यास्य रूढस्य शब्दस्य नैवास्ति प्रकृतमन्त्रे कोऽप्युपयोग इति पांसुलपादोऽप्येतद्विजानीयात्। आप्तानां च तत्रभवतां स्मृतिकाराणां विरुद्धः कोशेऽमरेणाभिहितः पुनर्भूरूपो रूढार्थः कथङ्कारं प्रामाण्यकोटिमारोढुमीशीत। शिष्टानां हि शब्दार्थः प्रमाणम्—तदेतदुक्तम्—

"शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्" (मी० सू० १ । ३ । ९)

इति मीमांसासूत्रं व्याचक्षाणेन भाष्यकृता शबरस्वामिना "यः शास्त्रस्थानां स शब्दार्थः। के शास्त्रस्थाः शिष्टाः। तेषामविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु च वेदेषु च। तेन शिष्टा निमित्तं श्रुतिस्मृत्यवधारणे, इति। शिष्टाश्च यथा तत्रभवन्तो मनुगौत-

मादयो महर्षयस्तथा नायममरः । ततश्च पुनर्भूपर्य्यायता दिधिषूपदस्य कोशे प्रतिपाद्यमाना सर्वथैवाऽप्रामाणिकी । ननु च भो यथा मनूक्ते देवलायुक्ते चार्थे भिन्नं प्रवृत्तिनिमित्तद्वयं तथैव कोशोक्तमपि पुनर्भूत्वमन्यतप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दस्यास्य प्रकल्प्यताम्—तेन स्यादिदमपि शब्दस्यास्यार्थान्तरमिति चेत्तदयुक्तम् । तथाभूतार्थे प्रमाणाभावात् । शास्त्रे ह्येव परिभाषितोयं शब्दो न लौकिकः, लोकव्यवहारे प्रयोगानुपलम्भात् । यत्र च परिभाषितस्तत्र यथा विवृतस्तदर्थक एवाभ्युपगन्तव्यो न त्वर्थान्तरं मनसैव कल्पनीयं किमपि । किमन्यत् साक्षाच्छ्रुत्यापि भगवत्या स्मृत्यनुमोदित एव शब्दार्थो ध्वन्यते । तथा हि तैत्तिरीयब्राह्मणे (३ का० ४ प्रपा०) पुरुषमेधमुपक्रम्य "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यम्, मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्, तमसे तस्करम्, नरकाय वीरहणम्, पाप्मने क्लीबम्" इत्याद्युक्त्वा 'सन्धये नारम्, गेहायोपपतीम्, निर्ऋत्यै परिवित्तिम्, आर्त्यै परिविविदानम्, आराध्यै दिधिषूपतिम्, पवित्राय भिषजम्' (४ प्र०) इत्यत्र आम्नातम् । एष पञ्चाहः पुरुषमेध इत्याहापस्तम्बः । अत्र चतुर्थ्यन्ता देवताः द्वितीयान्ताः पशवः, आलभत इति सर्वत्रानुवर्त्तते । ब्रह्मब्राह्मणजात्यभिमानी देवस्तस्मै कंचिद् ब्रह्मवर्चसयुक्तं ब्राह्मणमालभते । आराध्यै कर्मसिद्धिप्रतिबन्धाभिमानिन्यै दिधिषूपतिमालभते, इत्यादि व्याचचक्षे भाष्यकृत् । अत्र च परिवित्तिपरिवेत्तृभ्यां समुपनिबद्धोयं दिधिषूपतिशब्दस्तत्साहचर्य्येण विवाहक्रमव्यत्यासमेव निमित्तीकृत्य प्रवृत्तः स्यादिति स्फुटं शक्यमभिधातुम् । यत्तु "आराध्यै दिधिषूपतिम्, इत्यत्रैव दिधिषूपदमात्रे गृध्रापनिपातमुपनिपतन्तोऽनेनैव श्रुतिप्रमाणेन पुनरुद्वाहं सिसाधयिषन्ति महात्मानोऽर्थानभिज्ञास्त इमे सर्वथा प्रणम्या एव । अभ्युपगतेऽपि दिधिषूपदस्य पुनरुदूढापरत्वे कथमनया श्रुत्या पुनरुद्वाह आज्ञप्तो भवतीति पृच्छामः । दिधिषूपदप्रयोगेणैव तादृशव्यवहारस्य शिष्टानुगृहीतत्वबोधनादिति चेज्जारपदमुपपतिपदं क्लीबपदं चाप्यत्र प्रकरणे प्रयुक्तं किं न पश्यसि ? तत्किं ज्ञाताज्ञातजारव्यवहारः क्लीबतापि च श्रुत्यनुमोदितौ शिष्टानुगृहीतौ भवताम् ? आस्तामप्रकृता एवंविधाः प्रलापाः । प्रकृते तु पुनरुदूढार्थकत्वं दिधिषूपदस्य श्रुत्यापि विरुद्धमसाधयाम । वस्तुतस्तु कोशकृतोऽमरसिंहस्याप्यत्र तात्पर्य्यान्तरमेव समुन्नेयम् । तथा हि—एवंविधविवाहक्रमवैपरीत्यविषये पुनरुद्वाहो वसिष्ठेन प्रायश्चित्ततया विहितः ।

"परिविविदानः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत, तामेवोपयच्छेत, अग्रादिधिषूपतिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशत, तां चेवोपयच्छेत । दिधिषूपतिः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेतेति (वसिष्ठस्मृतिः) ।

परिविविदानः ज्येष्ठे भ्रातर्यकृतदारपरिग्रहे स्वयं कृतदारः कनिष्ठः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ व्रतविशेषौ विधाय—तस्मै ज्येष्ठाय तां स्वभार्यां दत्वा—गुरवे भैक्ष्यीमव

निवेद्य–पुनस्तदनुज्ञया निविशेतविवहेत्, तामेव पूर्वपतिगृहीतां भार्यां ज्येष्ठाय वाङ्मात्रेण निवेदितां पुनर्गृह्णीयात्। इति पूर्वस्यार्थः। उत्तरस्य त्वर्थमुपनिबन्ध मित्रमिश्रः।

"अग्रेदिधिषूपतिः कनिष्ठापतिः कृच्छ्रं कृत्वा तां ज्येष्ठामन्योढां समुद्वहेत्, दिधिषूपतिर्ज्येष्ठापतिः स्वोढां ज्येष्ठां कनिष्ठापतये दत्त्वा स्वयमन्यामुद्वहेदिति" (वीरमित्रोदये विवाहप्रकरणे)'।

अस्तु वात्रापि परिवेत्रादाविव निवेदनमात्रम्, पुनश्च तयैव स्वयमूढया पुनर्विवाहः। सर्वथापि पुनः संस्कारोऽत्र प्रायश्चित्ततया विहितो न शक्योऽपलपितुम्। ततश्च या दिधिषूः सा द्विवारमूढा भवति; वैधत्त्वेऽपि चास्य विवाहस्य पुनः संस्कारमात्रं'निमित्तीकृत्य पुनर्भूशब्दोप्यवश्यमत्र प्रवर्त्ततेति तदभिप्रायेणैवेदममरसिंहेन "पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्वि' रित्युपनिबद्धम्। तदित्थमुक्तप्रकारेण द्विरूढत्वाद्दिधिषूः सर्वापि पुनर्भूर्भवति, पुनर्भूस्तु सर्वा दिधिषूर्न भवति, विवाहक्रमवैपरीत्यमन्तरा पुनर्विवाहेऽपि दिधिषूशब्दाप्रवृत्तेः। तथा च क्वचित् सामानाधिकरण्यं च क्वचिद्वैयधिकरण्यं चानयोः शब्दयोर्लब्धम्। सामानाधिकरण्यमात्रमादायोपपन्ना कोशव्यवहृतिः। एवमेव मनूक्तमपि नार्थान्तरम्। किन्तु— यथैषोऽग्रे दिधिषूपतिर्ज्येष्ठामन्योढां समुद्वहन् परपूर्वायाः पतिर्भवति, मर्यादां चातिक्राम्यति; तथैव नियुक्तोऽपि देवरादिर्यदि परपूर्वायाः पतिर्भवेन्मर्यादां च जह्यात्तर्हि तथाभूते सादृश्येन दिधिषूपतिपदं भगवता मनुनाऽऽग्रेपदं विलोप्य प्रयुक्तम्। तदित्थं सर्वत्राप्यैकार्थ्येनैव सामञ्जस्येऽनेकार्थकल्पनाऽऽननुगमदोषपराहतेति निपुणमिदं विभाव्यतां परीक्षकैः। एवंविधस्य च परिभाषितस्य दिधिषूपदस्य पितृमेधक्रियायां सामान्येन विनियुक्ते प्रकृतमन्त्रे नास्ति सम्बन्धसंभव इत्यगत्या रूढ्यर्थमुत्सृज्य भाष्यकाराद्यभिमतो योगार्थ एव शरणीकरणीय आपतितः।

प्रयुक्तं चान्यत्रापि यौगिके धारणाद्यर्थ एव दशतय्यां दिधिषुपदम्।

'अश्वासो न ये ज्येष्ठास आशवो दिधिषवो न रथ्यः सुदानवः'

(ऋग्वेद १० मं० ७८ सू० ५ म०)

इति हि मारुते सूक्ते 'ये मरुतोऽश्वा इव ज्येष्ठाः, आशवः शीघ्रगमनाः, दिधिषवो न वसूनां धारका इवे' त्येवंरीत्या धारणार्थक एव दिधिषुशब्दो व्याख्यायते। "मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। भ्रातेन्द्रस्य सखा मम,' (ऋ० सं० ६ मं० ५५ सू० ५ म०) इति च पौष्णे मन्त्रे 'मातुर्निर्मात्र्या-रात्रेर्दिधिषु— पतिं, पूषणमब्रवम्, स्वसुरुषसो जारश्च पूषा नोऽस्माकं स्तोत्राणि शृणोतु' इत्यादिरीत्या सामान्यतः पत्यर्थकमेव दिधिषुपदं सर्वैरप्युररीक्रियते व्याख्यातृभिः।

गत्यन्तराभावात्। अन्यत्रापि च श्रीभागवते "ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषुं पुरुषादेन भक्षितम्" (९ स्कं० ९ अ० ३४ श्लो०) इति कल्माषपासकथायां गर्भाधानेच्छुः पतिरेव दिधिषुपदेनाभिहितः, परिभाषितस्य तत्र ग्रहणे पूर्वापरसम्बन्धेः। तदेव-मन्यत्र बहुत्र यौगिकेऽर्थं एव प्रयुक्तं पदमिदमिहापि तथैवोपगन्तुं सांप्रतम्। ततश्च दिधिषुपदमात्रावलम्बेन क्रियमाणमिदं साहसमभित्तिचित्रायितमेव। इदमपि न विस्मरणीयम्—पुनर्भूपदमिव परिभाषितं दिधिषूपदमपि निन्दार्थकत्वेनैव स्मृति-कोशादिषूपात्तमिति। ततश्च तथाविधार्थस्य श्रुतावाग्रहेण ग्रहणेऽपि निन्द्यव्यवहार-स्यान्ववसर्गमात्रं श्रुत्या बोध्येत, न त्वयं विधिः स्यात्। विधिसंस्पृष्टेऽर्थे निन्द्यत्वा-सम्भवात्। अथ विधिसंस्पर्शादेव नास्ति निन्द्यत्वमित्येव ब्रूमह इति चेत्तथासति स्मृतिकोशाद्यभिमतरूढार्थता दिधिषुपदस्य परित्यक्ता भवेत्। तैर्निन्द्येऽर्थं एव प्रयुक्तत्वात्—श्राद्धार्हतानिषेधप्रायश्चित्ताद्यभिधानात्।

परित्यक्ते च तदभिमतेऽर्थे स्वकल्पितार्थे न स्यात् किमपि प्रमाणमित्येकमभि-संधित्सतोऽपरं च्यवते। किं च अथर्वसंहितायां दिधिषोरित्येव पाठ इति तत्र नास्त्येव योगातिरिक्तस्य कस्यापि रूढ्यर्थस्य संभवः। दिधिषुपदस्य रूढ्यर्थानु-पलब्धेः। तच्छाखैकवाक्यतया चान्यत्रापि योगार्थकतैवोचितेत्यलमतिमात्र मृदितमर्दनेन।

अथ यदिदमियं नारीति पूर्वतनमन्त्र व्याख्यान्तरं स्वपक्षानुकूलमित्युपन्यस्तम्, तदप्यापातरमणीयम्। 'प्रेतं त्वा उपनिपद्यते' इति स्फुटं प्रतीयमानं सामानाधि-करण्यमपलप्य प्रेतं विहायेत्यैच्छिकशेषकल्पनायाः श्रद्धाजडैरेव श्रद्धेयत्वात्। न हि सुन्दरं बालकमानयेत्यादौ सुन्दरं जहि, बालकं चानयेत्येवमर्थं प्रकल्पयन् कश्चिद् दृष्टचरः। न वा ग्रामं गच्छेत्यादौ ग्रामं दह, अरण्यं च गच्छेति शेषः केनापि क्लृप्तपूर्वः। सर्वव्यवहारवैयाकुलीप्रसङ्गात्। विहायेति शेषं प्रकल्पयंस्तत् कर्मणो द्वितीयान्ततां ल्यब्लोप इत्याद्यनुशासनविरुद्धामनाकलयंश्च सुष्ठु खलु वैयाकरणो भवान्। 'प्रेतं पतिमनु त्वा उपनिपद्यत' इत्यपि निःसारम्। उत्तरार्द्ध-घटकस्यानूपसर्गस्यैवमाकृष्यान्यत्र सम्बन्धकल्पनाया वैदिकशैली विरुद्धत्वात्। तस्मात् प्रेतं त्वा उपनिपद्यते—इति मृतं पुरुषमुद्दिश्योक्तिरेव ज्यायसी। मर्त्येति संबोधनमपि मरणधर्मतामावेदयँस्तत्रैव समञ्जसम्। न च मृतस्य संबोध्यत्वाऽऽ-संभवः, 'पूषात्त्वेतश्च्यावयतु' 'अत्रैव त्वमिह वयं सुवीराः' इत्यादिषु पितृमेध-मन्त्रेषु सर्वत्रैव मृतस्य संबोध्यत्वावगमात्। पितृमेधप्रक्रमेऽन्यस्य कस्यापि पुरुषस्य संबोध्यत्वप्रकल्पना त्वियमेकान्ततः प्रकरणविरुद्धा। उक्तं च भगवता यास्केन "न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः", इति न हि कथंचिदेकमन्त्रस्याकृष्यार्थान्तरप्रदर्शनमात्रेण प्रकरणानुकूल्यं प्रदर्शितं भवति। पूर्वापरसर्वार्थावधारणाधीनत्वात् प्रकरणस्य। ततश्च पूर्वमुत्तरत्र च

प्रक्रान्तस्य मृतसंस्कारस्यैव सम्बन्धेनैतस्यार्थो वक्तव्यः। न च पुरुषान्तरकर्तृको विधवायाः पुनरुद्वाहो मृतसंस्कारसम्बन्धीत्यवोचाम। किं च 'आद्यया चितौ भार्यां प्रेतेन सह संवेशयेत्' इत्येवं कौशिकसूत्रानुगतेन विनियोगेनापि भाष्यधृतेन स्त्रियाश्चितिसंवेशनं मन्त्रस्यास्य विषय इति तदनुकूल एवार्थो वाच्यः स्यात्। प्रकरणसूत्राद्यननुरुध्य यस्य कस्यापि यत्किञ्चिदर्थकल्पने तु सर्वेऽप्यनर्थव्यवहाराः श्रुत्यैव प्रसाधिताः स्युरित्यन्यत्र विस्तरेणाभिधास्यामः। किं चात उत्तरस्मिन्नु-दीर्ष्वेति मन्त्रं मृतस्य सविधे शयाना पत्नी समाश्वास्यते, (इतासुमेतमुपशेष) इत्यंशस्य भवद्भिरपि तथार्थकताया एवोपगमात्। यदि तु सा पूर्वमेव पुरुषान्तर-मुपनिपन्ना (प्राप्ता) कुतस्तर्ह्युत्तरमन्त्रे मृतस्योपशयनाभिधानम् समाश्वासनं चेति विचार्यतां मनाग् दरमुकुलितनेत्रम्। किं चान्यत् पुरुषान्तरपरिग्रहस्यास्य 'विश्वे पुराणमनुपालयन्तीति' सनातनधर्मत्वाभिधानमपि युक्तिविरुद्धं स्वीयोक्ति-विरुद्धं च। आपद्धर्मताया एव विधवोद्वाहस्य त्वदीयैरप्यभ्युपगतत्वात्। मृत-मुद्दिश्य द्रविणसन्तत्यादिप्रार्थना तु यथा न प्रतिकूला तथा पुरस्तादुपदर्शित एतन्मन्त्रभाष्य एव सुस्पष्टम्। यद्वा—'प्रजां—सन्ततिं द्रविणं च पूर्वं वर्त्तमानमेव धेहि धारय—अनुजानीहीति यावत्' इति धारणार्थकस्य धातोः प्रयोगसामञ्जस्येनार्थं उपकल्प्यताम्।

पूर्वं द्रविणसन्तत्यादौ भर्तुर्मुख्यं स्वत्वम्, स्त्रिया भर्तृपारतन्त्र्यात्, इदानीं तु भर्तृसम्बन्धादस्या एव नार्यास्तत्र स्वत्वमुत्पस्यत इति तदनुज्ञा भर्तुः प्रार्थ्यते। ततश्चोपपन्ने सूत्राद्यविरुद्धेऽर्थेऽर्थान्तरकल्पने विडम्बनमात्रमेवैतत्। यदपि माधवी-यस्य तैत्तिरीयभाष्यस्य स्वपक्षानुकूल्यख्यापनं तदप्यभिप्रायानवबोधात्। 'पुनर्विवा-हेच्छोरेतद् जनित्वं जायात्वमाभिमुख्येन प्राप्नुहीति' तावद् भाष्यकृतोक्तम्। तदिदं जायात्वं न पुरुषान्तरसम्बन्धि, तस्योत्पत्स्यमानस्यैतच्छब्देन निर्देशायोगात्। नहि पुरुषान्तरस्य जायात्वं तस्यामेतन्मन्त्रप्रयोगात् प्रागुपपन्नं यदेतच्छब्देन वर्तमानतया निर्दिश्येत। निर्दिष्टं च भाष्यकृता तथैव। तेन च स्पष्टमेतत्—न पुरुषान्तरस्य जायात्वविधाने भाष्यकृतस्तात्पर्य्यम्, किं तर्हि, तस्यैव मृतस्य पत्यु-र्लोकान्तरे पुनरपि त्वामेव जायामिच्छतो यज्जायात्वमेतत्त्वयि वर्त्तमानं तदेव पुनरप्यनुमरणेन प्राप्नुहीति" स्फुटतरोऽयं भाष्यार्थः। अनुमरणप्रभावेण पुनस्तेनैव पत्या सा संयुज्यत इति पूर्वमेवैतदवोचाम। इहापि च भरद्वाजबौधायनकल्प-सूत्रानुसारिणा भाष्यकृतैव "अथास्य भार्यामुपसंवेशयति—इयं नारीति, तां प्रगिगतः सव्ये पाणावभिपाद्योत्थापयति—"उदीर्ष्व नारीति·सुवर्णेन हस्तौ संमार्ष्टि" इत्यादिना उत्थापनमात्रे मन्त्रस्यास्य विनियोग उक्तो न तु पुनरुद्वाहकथायामपि। ततश्च कल्पसूत्राननुमतं स्वकीयर्ग्वेदाथर्ववेदभाष्यविरुद्धं च पुनरुद्वाहमेतं कथमत्र परमास्तत्रभवान् माधवाचार्य्योऽभिदध्यादिति सुधीभिरेवालोच्यम्। यदपि

अभिसंबभूथेति लिटो लोडर्थकत्वेन विध्याश्रयणं तदपि न विचारसहम्;—एवं विधेषु मन्त्रेषु विधित्वकल्पनाया मीमांसकैर्दूरतो निरस्तत्वात्। तथा हि—भगवान् जैमिनिस्तावद् मन्त्राभिधायकत्वाधिकरणे—

"विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्"

(मी० सू० २।१।३०) इति सूत्रेण ब्राह्मणानामिव मन्त्राणामप्यविशेषेण विधायकत्वं—पूर्वपक्षीकृत्य तदुत्तरेण—

"अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्",
(मी० सू० २।१।३१)

इति सूत्रेण तत्तत्प्रयोगे विनियुक्तानां मन्त्राणामभिधायकत्वमात्रमनुजानन् विधायकत्वं प्रतिषेधति। "तस्मान्न मन्त्रगतो भावशब्द एवंजातीयको विधायकः" इति च तदीयं भाष्यम्। एवंजातीयकस्तत्तत्कर्मसु विनियुक्त इत्यर्थः। विनियुक्तश्च मन्त्रोऽयमपि कल्पसूत्रकृद्भिरुत्थापन इति न ततोधिकमर्थं विदध्यात्। इमां च विधिशक्तिप्रतिबन्धकतामनुगमयन्तस्तत्रभवन्तो वार्तिककृतो भट्टपादास्तन्त्रवार्तिके प्रकृतसूत्रव्याख्यायां—

"येषामाख्यातशब्दानां यच्छब्दाद्युपबन्धनात्।
विधिशक्तिः प्रणश्येत्तु ते सर्वत्राभिधायकाः"॥

इति सामान्यतोऽभिधायकयच्छब्दोपहितत्वमामन्त्रणविभक्ति यदिशब्दादिकं च विधिशक्तिप्रतिबन्धकानाहुः। श्रूयते च प्रकृतेऽपि मन्त्रे "नारि" इत्यामन्त्रण-विभक्तिः, तत्समानश्च त्वंशब्दोऽपि। तेन नात्र विधायकत्वसंभवः। अथैतत्सूत्रं विवृण्वानाः शास्त्रदीपिकाकृतः पार्थसारथिमिश्रा अपि "यानि च निमित्तादिप्रति-पादनेनाख्यातान्तरैरेकवाक्यतां गतानि तान्युदाहरणम्। आमन्त्रणविभक्तेश्च वक्त्रभिमुखश्रोतृविषयत्वात्, वेदे च वक्तुरभावाद्विधेश्चाभिमुखानभिमुखपुरुष-साधारणत्वाद्विरुद्धस्वभावेनामन्त्रणेन विधिशक्त्यवलोपः' इति प्राहुः। प्रकृते च मन्त्रे 'उदीर्ष्व' 'एही' त्यनयो राख्यातयोर्निमित्तमेव प्रतिपाद्यते "अभि संबभूथे, ति। 'यतस्त्वं पूर्वं दिधिषोरेवास्य जनित्वमभिसंबभूथ। न त्विदं मृतशरीरं ते पतिरतो हेतोरुत्तिष्ठेति' स्वारस्येन भाष्यकृदादिभिरभिहितत्वात्। 'नारी' ति चामन्त्रणविभक्तः त्वमिति चाभिमुखमुद्दिश्य प्रतिपादनमिति सर्वस्या अपि विधित्व-प्रतिबन्धकसामग्र्याः सत्त्वेऽपि विधिप्रकल्पना शोभते मीमांसानभिज्ञानामेव वरमिति कृतमनल्पजल्पनेन। अथैवं सत्युदीर्ष्वेत्यपि विधिर्न स्यादिति चेन्नास्त्येव स विधिः, कल्पसूत्रोक्तविधेरभिधायक एवैष मन्त्र इति स्फुटोऽध्वा मीमांसापरिशीलिनाम्। तदनवगच्छतां तु कृते 'उदीर्ष्वे' ति विधिं प्रागवोचाम सामान्येन। तस्मादभि संबभूथेति लिटो लोडर्थकता दूरतरमपास्ता। यदपि 'पतिस्थानीयो देवरः' इत्याश्व-

लायनोक्त्या द्वितीयस्य पत्युर्देवरशब्दवाच्यस्य पतिस्थानीयतामुत्प्रेक्ष्य पुनर्विवाह प्रसाधनं तदपि कुशकाशावलम्बनम् । पतिकर्तृकपुंसवनादिगृह्योक्तसंस्कारेषु प्रातिनिध्यमात्रेण पतिस्थानीयताया व्याख्याकृद्भिरुपपादितत्वात् । देवरशब्दस्य च सामान्येन द्वितीयपत्यर्थकतानुपदमेव प्रतिषेत्स्यते । साधितं चानुपदमेव रूढ्यार्थ-ग्रहणौचित्यं पूर्वपक्षे सोपपत्तिकमिति रूढ्यार्थाभिधायकतैव देवरशब्दस्य सर्वथा समुचिता । पत्युचितरक्षणादिकार्यकारित्वादिनापि च पतिस्थानीयत्वं सूपपादम् । न हि पतिस्थानीय इति पत्युः सर्वाणि कार्याण्यपि तेन विधेयानि । 'मातृवत् परदारेष्विति' नहि सर्वाः परदाराः पितृपत्न्योऽपि भवन्ति । किं च यदि द्वितीयो वर एव देवरस्तर्हि नूनं स पतिरेव, तस्य किमिति पतिस्थानीयता सूत्रकृता विहिता । तस्मादेवंविधार्थप्रकल्पना नितरां शास्त्रार्थगन्धशून्यानामेव सञ्जृम्भते । तदित्थं कथंचिदापाततः संभवति मन्त्रस्यास्य पुनरुद्वाहार्थे सर्वथोपपत्तिभिः प्रतिषिद्धे येयं विदुषामुपहासास्पदीभूताऽभिज्ञंमन्यानां याहच्छिकी हठादाकृष्यार्थप्रकल्पना "हे (विधवे) नारि एतं गतासुं गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं (त्यक्त्वा) अभिजीवलोकं-जीवन्तं (देवरं द्वितीयवरं पतिम्) एहि प्राप्नुहि । उपशेषे—तस्यैवोपशेषे (सन्ता-नोत्पादनाय वर्तस्व) (तत्सन्तानं) हस्तग्राभस्य विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः 'स्यात्' । (यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि) दिधिषोः तस्यैव सन्तानं भवेत् । तवेदम् इदमेव विधवायास्तव, जनित्वे सन्तानं भवति । हे विधवे विगत-विवाहस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं) उदीर्ष्व—(विवाहितपतिमरणानन्तर-मिमं नियोगमिच्छ) तथा अभि संबभूथ—सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखं संयुक्ता भवेति, । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, नियोगप्रकरणे) सा स्वरूपव्याक्रिययैव पराकृता । यदृच्छया तत्तदध्याहृत्य यत्किञ्चिदर्थप्रकल्पनं नामेदं कः सचेता अनुमन्येत । यथाहि कश्चिद् 'अग्निमीळे पुरोहितम् , यज्ञस्य देवमृत्विजम् , होतारं रत्नधातमम्' इति मन्त्रस्यास्य 'अग्निं गृहेषु क्षिप, अहं त्वामीडे, पुरोहितं यज्ञस्य मध्ये देवं प्रकाशमानमृत्विजं जहि; रत्नधातमम् अतिशयेन धंनवन्तं होतारमुल्लुण्ठे' त्यादि यत्किञ्चिदर्थं प्रकल्पयेत्—स एवायमप्यध्वा । स्फुटं परस्परं प्रतिभासमानसम्बन्धानि पदानि याहच्छिकशेषकल्पनया स्वबुद्धयैवान्यथा योज्यन्ते इति कथमसौ वेदार्थः । स्वकल्पितं किमप्येतद्वेदशिरस्यारोप्यत इति सत्यम् । तदाहुर्भट्टपादास्तन्त्रवार्तिके (१ अ० २ पा० ७ सू० व्याख्यायाम्) "यदि ह्यक्षरानुपात्तोऽप्यर्थोऽस्मदादि-भिरेवं कल्प्यते, यस्माद्वयं प्रयत्नेन धारयामस्तस्मादस्य पुरुषार्थतेति, तथा सत्या-त्मचेष्टितवशेन प्रामाण्यमभ्युपगतं स्यादिति' । इह ह्युक्तेऽर्थे उदीर्ष्वेत्यस्य नियोग-मिच्छेति सर्वथा प्रमाणविरुद्धोर्थः । त्यक्त्वेति, देवरमिति, सन्तानोत्पादनायेत्यादि, चाप्रामाणिकोऽध्याहारः । जनित्वमिति सन्तानार्थेऽवाचकम् । 'यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् , (ऋ० १ म० ६६।८) इत्यादौ "कन्यकानां

जारो जरयिता, यतो विवाहसमयेऽग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्वं निवर्तते। तथा जनीनां जायानां कृतविवाहानां भर्त्ता पालयिता, यतोऽयमनुष्ठितैर्योगैः फलं प्रयच्छती' त्येवमादिना जायार्थकत्वेन्नेव जनिशब्दस्य व्याख्यातव्यत्वात्। तत्त्रैव जनित्वमुत्पत्स्यमानमिति व्याख्यामनुसृत्य सन्तानार्थकता संभाव्येत सोऽयं भिन्न आद्युदात्तो जनित्वशब्दस्त्वन्प्रत्ययान्तः। प्रकृते च त्वप्रत्ययान्तोऽयमन्तोदात्त इति स्फुटं वैषम्यम्। तथैव च—इतासुमुपशेषे—इति स्फुटं भासमानस्यान्वयस्य परित्यागः। उपशेषे—इति स्वरसामञ्जस्यादिनावधृतस्य तिङन्तस्य सुबन्तत्व प्रकल्पनमिति दोषशतं सुधिय एव परामृशन्तु। कृतमतिविस्तरेण। तदित्थं प्रथमो मन्त्रस्तावदविरुद्धार्थे व्यवस्थापितः।

अथ यदिदं मन्त्रान्तरं विधवोद्वाहे प्रमाणमित्युपन्यस्यते—

> कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
> को वा शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषां कृणुते सधस्थ आ॥
>
> (ऋ० १०-४०-२)

तदपि नाभीप्सितसाधनाय प्रभवति। अनुक्रमणिकायामश्विदैवतत्वेन घोषायाः काक्षीवत्या आर्षत्वेन चानुक्रान्ते 'यो वां पारज्मेति त्रीणि त्रिश्विनो अद्य' (आ० श्रौ० सूत्र, ४, १५) इति भगवताश्वलायनेन प्रातरनुवाकाश्विनशस्त्रयोर्विनियुक्तेऽस्मिन् मन्त्रे न हि किमपि लिङादिकं श्रूयते—येन पुनरुद्वाहो विधीयेत नापि विध्याक्षेपः सम्भवति, तादृशसामग्र्या अभावात्। अथ 'शयुत्रा विधवेव देवरम्' इत्युपमानेन 'यथा विधवा—मृतभर्तृका शयुत्रा—शयने, देवरमभिमुखीकरोती' त्यर्थकेन तादृशव्यवहारानुपपत्त्या सम्भवत्येव विध्याक्षेप, इति चेदत्र केचिच्चिरन्तनाः—भवतु यथा कथंचिद्विध्याक्षेपः, न त्वयं पुनरुद्वाहविधिः। पुनरुद्वाहे देवरेणैवोद्वाह इति नियमे प्रमाणानुपलब्धेः। विवाहोत्तरं तस्य देवरशब्दवाच्यत्वानुपपत्तेश्च। नियोगे तु 'देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया' इत्यादि स्मृतिप्रामाण्यानुरोधादस्ति देवरस्य प्राधान्यम्। सत्यपि च नियोगे क्षेत्रस्वामिन एव स्वत्वमभिमन्यन्ते स्मृतिकारा इति देवरशब्दोपपत्तिरपि। तस्मान्नियोग एवास्या उपमायाः सामञ्जस्येन तृतीये पक्षे भवेदस्य मन्त्रस्य कथंचित् पक्षपातो न तु प्रथमे। अथोच्येत—देवरशब्दोऽयं प्रकृतमेव मन्त्रं व्याचक्षाणेन भगवता यास्केन 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' इत्येवं निरुक्तः (नि० अ० ३ पा० ३) तथा च नहि देवरशब्दोयं भर्तृभ्रातरि रूढः श्रुतावत्रोपगम्यते, अपि तु द्वितीयवराभिधायकः—उपदर्शितनिरुक्तप्रामाण्यादिति द्वितीयस्य वरस्य विवाहमन्तरेणासम्भाव्यतया स्फुटमेवोपमेयं द्वितीयं विवाहमत्रबोधयेदिति। तदेतदप्यर्थानवबोधविजृम्भितं साहसमात्रम्। निरुक्तमार्गानवबोधात्।

(निरुक्तव्युत्पत्तिरहस्यम्)

न हि निरुक्तकृतः शब्दव्युत्पत्तिः प्रसिद्धं प्रवृत्तिनिमित्तं व्याहन्ति, अपि तु यत्रैव यः शब्दः प्राक्तनैः प्रयुज्यते, तदनुगुणा व्युत्पत्तिस्तस्य शब्दस्य निरुक्तकृतोपदिश्यते। निर्वचनक्रियारम्भे हि 'अर्थनित्यः परीक्षेत' 'विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' इत्यादि स्पष्टमुद्घुष्टं तदेतन्निरुक्ते (२ अ० १ ख०)। तत्रेदमाकूतम्—यस्य कस्यापि शब्दस्य येन केनाप्यर्थविशेषेण सुप्रसिद्धः सम्बन्धः सर्वोपि सहेतुक इति प्रतिजानते तत्र भवन्तो नैरुक्ताः। चिरन्तनसंकेतितस्यापि शब्दार्थसम्बन्धस्य निर्हेतुकत्वानुपपत्तेः। ततश्च सन्त्येव तेषु तेष्वर्थेषु केचिद्धर्मविशेषा यान्निमित्तीकृत्य ते ते शब्दास्तेष्वर्थेषु चिरन्तनैः संकेतिताः। त एव धर्मा यत्नतः शब्दान् व्युत्पादयतोपपरीक्ष्या इति तदर्थमेवेयं निरुक्तविद्योपयुज्यते नाम। ते तु शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूता धर्मा यद्यर्थान्तरेष्वप्युपलभ्यन्ते, काममुपलभ्यन्तां नाम। नतु तावता स शब्दस्तत्रापि प्रयुज्येत। व्यवहारमूलको हि शब्दप्रयोगः, व्यवहारश्च चिरन्तनप्रसिद्धिबलमात्र-लभ्य इति। अत एव प्रथमाध्याये 'सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति' प्रतिज्ञायां "अथ चेत् सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युः, यः कश्च तत् कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्वं तथाचक्षीरन्, कश्चनाध्वानमश्नुवीत—अश्वः स वचनीयः स्यात्, यत् किञ्चित्तृन्द्यात्तृणं तदिति", वैयाकरणानां पूर्वपक्षः, "पश्यामः समानकर्मणां नाम-धेयप्रतिलम्भमेकेषाम्, नैकेषाम्—यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिजः इति" इत्येवं समाहितो भगवता निरुक्तकृता, न त्वभ्युपगमेन। सर्वेषां प्रातिपदिकानां व्युत्पत्तावभ्युपगतायां यत्र यत्र व्युत्पत्तिसिद्धधर्मयोगस्तत्र सर्वत्रैव तस्य शब्दस्य प्रवृत्तिरुचिता, तथा च 'अश्नुतेऽध्वानमित्यश्वः' इति व्युत्पत्त्यनुरोधान्मार्गेण गच्छति मनुष्यादावप्यम्बद्धः प्रयुज्येतेति पूर्वपक्षाशयः। उत्तरस्य च पक्षस्यायमभि-सन्धिः, येऽपि शब्दाश्चिरन्तनैर्व्युत्पन्ना इत्यभ्युपगताः, तेऽपि तत्तद्धर्ममात्रेण न सर्वत्र प्रयुज्यन्ते—सर्वोप्यहरहर्व्यवहारेषु यत्किञ्चित्काष्ठादिकं तष्टे, अथापि न स तक्षा भवति। सर्वोऽपि च काले काले सुहृद्बन्धून् परित्यज्य देशान्तरं व्रजति, नतु तावता परिव्राडुच्यते। इत्यादि। तथाच यत्र ते ते शब्दा व्यवहारसिद्धास्तत्रैव तां तामर्थसम्बद्धां व्युत्पत्तिमवलम्ब्य व्युत्पादनीयाः, नतु तावता सर्वत्रापि तेषां शब्दानां प्रयोगः शक्य आज्ञापयितुम्। 'सन् हि धर्मः परीक्षकेण परीक्ष्यो नतु वस्तुनियोगे प्रभुता परीक्षकस्य। सत्यपि समाने धर्मसम्बन्धे क्वचिदेव शब्दः प्रयुज्यते नान्यत्रेत्यत्र शब्दशक्तिस्वभाव एव हेतुः स्यात्। यैरिमे सङ्केतिताः शब्दा स्तेषामभिसन्धिविशेषो वा, वैशेष्यात्तत्तद्धर्मयोगो वेत्यास्तामेतदप्रकृतम्। इदं तु सिद्धम्—शृङ्गशब्दो हि यत्र विषाणरूपेऽर्थविशेषे प्रयुज्यते—तत्रैव 'शिरसो निर्गत' मित्येवं व्युत्पाद्यते, नतु यदेव शिरसो निर्गच्छति केशादि, तदपि शृङ्गं भवति। अपत्यशब्दश्च यत्रैव सन्ततिरूपेऽर्थे वृद्धैः प्रयुक्तस्तत्रैव, अपततं भवति' इति व्युत्पा-

दनीयः, नतु नीचैर्विसर्पद्वल्ल्यादिकमपि तावतापत्यं स्यात्—इत्येव भगवतो यास्कस्य सुस्फुट आशयः। अत एव च 'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्' इत्याहुरभियुक्ताः। तथा च देवरशब्दोऽपि यत्रैव भर्तुर्भ्रातरि व्यवहारसिद्धः, श्रुतिस्मृत्यनुमोदितश्च, तत्रैव 'द्वितीयो वरः, इत्येवं व्युत्पाद्यः स्यात्, नतु द्वितीये वरे यत्र कुत्रापि देवरशब्दप्रयोगो युज्येत, व्यवहारविसंवादादिति निपुणं भाव्यतां भावुकैः। भर्तुर्भ्रातरि द्वितीयवरत्वं तु 'पुंसवनादिकर्मसु पतिप्रातिनिध्यात्—इष्सित-क्रीडालापादिषु भर्तुरपरस्य तस्यैव प्राथम्यादित्यादि, पूर्वस्मिन् मन्त्र एव व्याख्यातम्।

उपपादितोपि च भवतेत्थं देवरशब्दप्रयोगे पुनः परिणीतायां विधवाशब्द-प्रयोगानुपपत्तिर्मन्त्रे, नहि 'विधवनात्' विधावनाद्वेत्यादियास्कोक्ता धर्माः परिण-योत्तरं तस्यां सम्भवन्ति। भूतपूर्वताश्रयणं त्वगतिकगतिः। अथ चान्यत् 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते', इत्येष न साम्प्रदायिको निरुक्तपाठः, अपि तु कैश्चि-दिदानींतनैः प्रक्षिप्त इति स्फुटमुपगतं तैस्तैर्विवेचकैः। अत एव च 'देवरो दीव्यति, कर्मेति व्युत्पत्त्यनन्तरमत्रैव निरुक्ते देवरशब्दस्योपलभ्यते। पूर्वमेकां व्युत्पत्तिमभि-धायानन्तरं द्वितीयापि व्युत्पत्तिरभिहिता स्यान्निरुक्तकृतेति चेन्नतु नाभिजानासि निरुक्तशैलीम्। बह्वयोऽपि व्युत्पत्तय एकस्य शब्दस्यैकत्रैव 'एवं वा, एवं वेति, रीत्या निरुक्तकृताभिधीयन्ते। नतु मध्ये शब्दान्तरं व्युत्पाद्य पुनः सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वतनशब्दव्युत्पादनं निरुक्ते दृष्टचरं क्वापि। इह तु देवरः कस्मादित्यादिपाठोत्तरं विधवाशब्दनिरुक्तिस्तदनन्तरं च पुनर्देवरो दीव्यतिकर्मेत्या-द्युक्तिरिति स्फुटं पूर्वतनस्य प्रक्षिप्तत्वम्। अत एव च प्राचीनेषु बहुषु पुस्तकेषु तादृशपाठानुपलब्धेः, देवरो दीव्यतिकर्मेति तु सर्वत्रोपलब्धम्। किं च सर्वत्रैव मन्त्रेषु मन्त्रपाठक्रममवलम्ब्यैव शब्दा निरुक्तकृता व्युत्पादिताः, इह तु 'विधवेव देवरम्', इति पूर्वश्रुतं विधवाशब्दं परित्यज्य पूर्वं देवरशब्दव्युत्पत्त्यभिधानमति-तमामसमञ्जसम्। विधवाशब्दव्युत्पादनानन्तरं 'दीव्यतिकर्मेति' व्युत्पादनमेव त्वाचार्यशैलीसिद्धं सर्वानुमोदितं चेति निर्विवादमेतत्। ततश्च क्रीडालापाद्युपयुक्ते, भर्तुर्भ्रातरि देवनादेव देवरशब्दप्रवृत्तिरिति व्युत्पत्तिमवलम्ब्यापि साहसमिदमभित्ति चित्रायितमेव। तस्मान्नियोगेऽस्य मन्त्रस्य कथंचित् प्रामाण्यसंभवेऽपि पुनरुद्वाहे न संभवत्येव प्रामाण्यमित्याहुः।

(दृष्टान्तेन विधिप्रकल्पनानौचित्यम्)

वस्तुतस्तु नियोगेऽपि न संभवत्यस्य मन्त्रस्य प्रामाण्यम्, विध्यभावात्। उपमा तु लोकसिद्धव्यवहारानुवादिकैव भवेन्न तु विधायिका। सर्वत्र हि सिद्धेन वस्तुना सिद्धं वा साध्यं वोपमीयते न तु साध्येन। तस्मादश्विस्तुतावेव मन्त्रता-

त्पर्य्यम्, 'विधवेव देवर' मित्युपमा तु लोकव्यवहारमेवानुवदति, न तु किमपि विधत्ते। अथ तथापि तादृशो व्यवहारः श्रुतिसिद्ध इत्यभ्युपगतं भवतीति चेन्नैतन्निपुणं पश्यसि, श्रुत्या विहितमेव भवेच्छ्रुतिसिद्धम् न तु श्रुत्यानूदितमपि श्रुतिसिद्धम्। अत एव 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः, इति भगवता जैमिनिना विधिवाक्यप्रकाशितस्यैवार्थस्य धर्मत्वमाख्यातम्। न चोपमादीनां सर्वत्र विध्यात्वेपकत्वमभिप्रयन्ति मीमांसकाः। ननु यावता श्रुत्या तादृशस्य व्यवहारस्य सिद्धत्वमनूदितम्, तावतैव धर्म्यत्वं तस्य सिद्धप्रायम्। न ह्यधर्म्यो व्यवहारः श्रुत्यानूद्येत, श्रुत्या चानूदितस्यापि व्यवहारस्य धर्म्यत्वमभ्युपगतन्तव्यमेव भवेत्। किं न शिष्टाचारस्यापि धर्मे प्रामाण्यमनुजानन्ति धर्मसूत्रकाराः, तथा च श्रुत्यानूदितस्य व्यवहारस्यातिपुरातनत्वसंसिद्धौ शिष्टाचरितत्वादपि भवेन्नियोगस्य प्रामाण्यमिति चेत्सर्वमेतदनर्थकम्। यत्र कुत्रचित् प्रसिद्धेनापि व्यवहारेणोपमानिर्वाहे तस्य सार्वत्रिकत्वकल्पने, शिष्टाचरितत्वप्रकल्पने वा प्रमाणाभावात्। यथाहि विधावुद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयान्वयः कल्प्यते, न तथानुवादे तत्कल्पने किमपि प्रमाणं पश्यामः। तथा च योयं द्विजेतरेषु शूद्रापध्वंसजादिषु प्रसिद्ध्यति नियोगव्यवहारः, यो वा प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामन्त्या द्विजस्त्रिया अपि कदाचन संभवेत्, स एव श्रुतौ दृष्टान्ततयानूदितः न तु तावता तस्य भवेद्धर्म्यत्वम्। विधिस्पर्शाभावेन धर्मत्वासिद्धेः। चिरन्तना एव व्यवहाराः श्रुत्यानूद्यन्त इत्यपि निःसारम्, भूत-भवद्-भविष्यतां त्रिविधानामपि व्यवहाराणां श्रुत्या प्रतिपाद्यत्वात्। अवश्यं हि वेदनित्यत्ववादिभिरिदमित्थमेवाभ्युपगन्तव्यम्—अन्यथा वेदस्यानादित्वभङ्गापत्तेः। इयमेव च वेदप्रतिपाद्येषु यज्ञ—राज्यसमाज—व्यवहारादिषु गतिरित्यास्तामेतदप्रकृतम्। किं च नायमपि नियमो धर्म्या एव व्यवहाराः श्रुतावनूद्यन्ते, श्रुतावुक्तमात्राणां व्यवहाराणां वा भवेद्धर्म्यत्वमिति। पश्यामस्तु सर्वथा धर्मविरुद्धतया सर्वैरुरीकृतानामपि व्यवहाराणां श्रुतावनुवादम्। तथा हि—

'उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती॥

(ऋ० ७।६।१०।१), (अथ० १८ का० १ अ० ३ सू०)

इति वह्निप्रार्थनापरे मन्त्रे 'जार आ भगम्' इत्युपमया जारव्यवहारस्तावदनूद्यत। एतदधिकृत्य व्याचख्यौ तत्रभवान् यास्काचार्यः—

'आ इत्याकार उपमार्थः, "जार आ भगम्" जार इव भगम्। 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः" उपसमस्य स्वसारमाह। अपि त्वयं मनुष्यजार एवाभिप्रेतः स्यात्, स्त्रीभगस्तथा स्याद्—भजतेः।

(निरु० ३ अ० १६ ख०)

तेन च जारो—जरयिता आदित्यः, भर्ग—भजनीयं, भौममान्तरिक्षं वा रसं यथा प्रेरयति तथेति, प्रसिद्धो जारः स्त्रिया भर्गं यथा प्रेरयति म्लानरूपां करोति तथेति चार्थद्वयमत्र फलितम् । तत्र द्वितीये यास्काभिमतेऽर्थे सुस्पष्टो जार व्यवहारः । तथैव च—

'प्रमिनती मनुष्या युगानि दोषा जारस्य चक्षमा विभाति,
(ऋ० १ म० ९२ सू० औषसे सूक्ते)

इत्यादावपि बहुत्रानूद्यमान उपलभ्यते जारव्यवहारः । यथा च व्यवहारानुवादमात्रेण विधिप्रकल्पकानां 'योषाभिः प्रियो जारोऽनुगन्तव्यः' इत्यपि विधिः प्रकल्पनीयः स्यात् । श्रुत्यनूदितानां च व्यवहाराणां धर्म्यत्वमेवाभिमन्यमानैर्जारव्यवहारोऽपि धर्म्य इत्यभ्युपगम्येत । ननु 'जरयतीति जारः' इति व्युत्पत्तिमनुरुध्य यौवनादिजारके मुख्ये पत्यावेव प्रयुक्तोऽयं जारशब्द इति नासद्व्यवहारः श्रुत्यानया सिध्येदिति चेत्—तर्हि 'विधवेव देवरम्' इतीहापि 'दीव्यति—रमते' इति व्युत्पत्तिमनुरुध्य मुख्यः पतिरेव वाच्योऽस्तु, विशिष्टः प्रेमातिशयेन पुरस्कर्ता धवो यस्याः सैव च सौभाग्यवती भवतु विधवाशब्दप्रतिपाद्येति नैवात्र कोऽपि नियोगादिकल्पनावसरः संभवेत् । 'मर्यं न योषे'ति पुनरुक्तमेवं सति स्यान्मन्त्र इति चेदस्तु मर्यं देवरं विधवा योषा इवेति सामानाधिकरण्येनैवान्वयः, उपमार्थकनकारद्वयप्रयोगस्तु सादृश्यदार्ढ्याय भवतु । भवतु वा 'मर्यं—मरणधर्माणमश्वं कुक्कुरं वा यथा योषा वडवा शुनी वाऽभिमुखीकरोतीति' द्वितीयेयमुपमा शब्दानां रूढिरेवं सति विरोधिता स्यादिति चेन्ननु तवापि जारशब्दस्य रूढिविरोधः शिरसि पतित एव अभियुक्तव्याख्यातृवचोविरोधश्चाप्युभयोस्तुल्य एवेति । अथ च—

'यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्'
(ऋ० १।६६।८)

इति याम्ये मन्त्रे 'कनीनां—कन्यकानां जारः—इति विशेषणबलात् कन्यकाजारत्वमपि धर्म्यमित्यभिमन्येत ।

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन ।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥
(निरु—२ अ)

इति मन्त्रे च 'मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमा इति वा' इत्येवं यास्काचार्येण व्याख्यातामुपमामनुसृत्य कन्यापरिष्वङ्गस्यापि धर्मत्वमापद्येत ।

'विभिर्द्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः'
(ऋ० ८।२२।८)

इति चाश्विदैवतेन मन्त्रेण द्वावश्विनौ विभिरश्वैश्चरतः, एकया च सह वसतः, प्रवासे यथे' ति माधवाचार्यैः कृतभाष्येण प्रवासे द्वयोः पुरुषयोरेकया स्त्रिया सह संवासो धर्मः' इति प्रकल्पनीयं स्यात्।

'एथगमन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं समागमम्।
(अथ० का० २ अनु० ५)

इति चोक्तिभङ्गीमनुसृत्य पतिकामायाः स्त्रियाः, जायाकामस्य पुरुषस्य च वडवीं कामयमानस्याश्वस्येव तत इत आहिण्डनं, प्रशस्यं धर्म्यमित्यवधार्येत। किं च—

घृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त रहसूरिवागः'
(ऋ० २।२९।१)

इति मन्त्रं 'रहसि—अन्यैरज्ञाते प्रदेशे सूयत इति रहसूः—व्यभिचारिणी, सा यथा गर्भं पातयित्वा दूरदेशे, परित्यजति, तद्वत्—हे आदित्याः आगः, मदारे—मत्तो कर्त कुरुत' इति भाष्यकृता माधवाचार्येण व्याख्यातमनुसृत्य पुरुषान्तरव्यभिचारस्य तज्जनिगर्भपरित्यागस्यापि च धर्म्यत्वं दुर्निवारमेवं सति स्यात्।

यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः।
ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां यद्देवपत्नी अप्सरसावधीतं॥
(अथ० ६, १०, ११८, ३)

इत्यस्मिंश्च मन्त्रेऽप्सरसां प्रार्थको वक्ता स्वस्मिन्नन्येषामृणधारणं परेषां स्त्रीषु गमनं च व्यवहरतीति तावता तदुभयस्य धर्मत्वं केन वार्येत।

किमन्यत्—"अत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्" (निरु० ४ अ० उद्धृतो मन्त्रा भागः)।

"प्रजापतिः स्वां दुहितरयम्यध्यायत्" (ऐतरेयब्राह्मणे)—

इत्यादिकं रूपकोपनिबद्धं व्यवहारमापाततोऽवलोक्य वचसाऽप्यनुच्चारणीयस्य कस्यापि दुष्कृतस्य धर्म्यत्वं कश्चिदल्पधीरवधारयेत्। अन्यच्च—

युवां मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषावस्तोर्हविषा निह्वयामहे।
(ऋ० १०।४०।४)

'मृगण्यवो हिंस्राः, मृगानिव वयं युवामाह्वयामः' इत्यश्विस्तुतिपरे मन्त्रे 'मृगण्यवो मृगानेव' इत्युपमयाऽनूदितो मृगयाव्यवहारः कथं न धर्म्यः स्यात्।

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात् ।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिंद्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम् ॥

(ऋ० १।१०९।२)

इति च मन्त्रे 'विजामातेति शश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते, असुसमाप्त एव वरोभिप्रेतः' इति तत्रभवतो यास्कस्योक्तिमनुसृत्य 'यस्मै कन्या दित्सिता' स कन्यादानात् प्राक् तदर्थं द्रविणं ददाति, स्यालो वा यावद् ददाति, ततोऽपि शयनेऽभिमुखीकरोति तत्पालनमात्रपरायणा भवति, न तु भर्तारमनुगच्छती'ति "बालसंवर्धनं मुक्त्वा बालापत्या न गच्छती" त्यादिस्मृत्यनुकूलः प्रथमोऽर्थः । दीव्यति—रमते, इति देवरः पूर्वः पतिरेव, ते यथा विधवा शयनेऽभिप्राप्त्यर्थं-मनुगच्छति अनुम्रियते, इत्यनुमरणविधायकस्मृतीनां तथाभूतसदाचाराणां चावबोधको द्वितीय उपमार्थः । यद्वा 'दिविरैश्वर्यवचनः' इति पङ्क्तिविंशतीतिसूत्रभाष्य-प्रामाण्येन भरणसमर्थः पिता भ्राता पुत्रः प्रत्यनुजो वा देवरः, तं यथा विधवाभि-मुखीकरोतीति—

पितृमातृसुतभ्रातृश्वश्रूश्वशुरमातुलैः ।
हीना न स्याद् विना भर्त्रा गर्हणीयाऽन्यथा भवेत्'

(याज्ञवल्क्यः)

इति स्मृत्यनुकूलोयं तृतीयोऽर्थः । 'दीव्यति—इष्टे इति देवरः साक्षादीश्वर एव, ते यथाऽभिमुखी करोति विधवा, केवलमीश्वरमाराधयतीति तद्धर्मबोधक श्चतुर्थोऽयमर्थः । "विजामातेत्यसमाप्त एव वरोऽभिप्रेतः" (नि० ६।९।१) इति यास्कोक्तमेव विशदव्याख्यानमनुसृत्य वि — असुसमाप्तः पाणिग्रहणेन पूर्णं पतिभावमप्राप्तः, धवो यस्याः सा विधवेति व्याख्यया वाग्दत्तानियोगबोधको मन्वाद्यनुकूलः पञ्चमोऽर्थः । तदित्थं संभवति स्मृत्याचाराद्यनुकूलेऽर्थपञ्चके केवल्याऽनयैवोपमया विधवासु यथेच्छमाचरितुमभीप्सन्तः कथं न साहसिकाः । रूढ्यादिभङ्गापत्त्याऽनभिमता इमेऽर्था इति चेन्ननु पूर्वोदाहृतमन्त्रेषु यथेच्छं व्याख्यास्यतस्तवापि दुर्निवार एव रूढ्यादिभङ्गः । पूर्वोदाहृतमन्त्रेष्वपि रूढ्याद्यानु-कूल्येन व्याख्याने तु तत्र तत्रोक्ता जारचौरादिव्यवहारा अपि धर्माः प्रसज्जन्ते । अनुवादमात्रेण न तेषां धर्मत्वं विध्यभावादिति चेत्समं प्रकृते विधवोद्वाहेऽपि नैव धर्मत्वम् । तस्मात्सर्वथाप्यसामञ्जस्येन नेयमुपमा विधवोद्वाहं नियोगं वा कथमपि धर्म्यत्वेन बोधयितुं प्रभवतीति सम्यगेतत् प्रत्यपीपदाम् ।

अस्यापि मन्त्रस्य यदिदं निरङ्कुशानामुन्मत्तप्रलपितमिवोत्स्वप्नायितमिव वा स्वतन्त्रं व्याख्यान्तरं तदपि परिणतप्रज्ञेभ्यस्तत्पाण्डित्यपरिचायनाय स्वरूपव्याक्रियैव पराक्रियेति न्यायेनानुवदितव्यं तद्यथा—"हे (अश्विनौ) विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ युवां (कुह) कस्मिन् स्थाने 'दोषा' रात्रौ 'वस्तोः' वसथः, (कुह०) अश्विना दिवसे क

वासं कुरुथः (क्वाभि०) कुहाभिपित्वं प्राप्तिं करतः कुरुतः (कुहोषतुः) क्व युवयो-र्निजस्थान वासो (!) स्ति । (को वां शयुत्रा) शयनस्थाने युवयोः क्वास्ति । इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्रीय कर्तुं योग्यास्ति, तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च, द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद् वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते । (विधवेव देवरम्) कं केव, यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्ता विधवा इव । अत्र प्रमाणम् देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते (निरु० अ० ३ ख० १५) विधवाया द्वितीय-पुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह । विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह तथा कुमारस्य विधवया सह (!) च । अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्, पुनरेवं नियोगश्च । नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते । पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्णे एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात् । नियोगिनौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्तेतामित्यत्राह (मर्य न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते । तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्तेयाताम्" इति (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका–नियोगविषये पृ० २२२) तदस्मिन् विद्वच्चेतश्चमत्कारावहे स्वैरव्याख्याने अश्विशब्दस्य विवाहितस्त्रीपुरुषार्थकत्वे किंवा प्रमाणम् किंवा स्त्रीपुरुषयोः शयन-स्थानजिज्ञासया वेदप्रवक्तुरीश्वरस्यान्यस्य वाकिमपि प्रयोजनम्, किं च विधवेव देवरम्, मर्यं न योषेत्युपमाद्वयाभ्यामुपमेयम्, कथं च विधवेव देवरमिति साक्षाच्छ्रु-तोपमानभावस्य स्वयमपि चोपक्रमे उपमानतयैव व्याख्यातस्य शेषे मर्यं न योषे-त्येतदुपमेयत्वप्रकल्पनम्, का च मध्येमध्ये समुद्घुष्टानां राजाज्ञानां शाब्दी गति-रित्यादि सर्वमिदमलौकिकप्रज्ञो व्याख्यातानुप्रष्टव्यः, कथं च तदाज्ञावैपरीत्यन विधवोद्वाहाय यावद्बलवैभवं विचेष्टन्त इति च तदीया अनुप्रष्टव्याः । मन्त्रस्य तु प्रामाणिकमर्थं निरुक्तकृतोऽभिसन्धिं च प्रागेव व्यवास्थापयाम इत्युपरम्यते विस्तरात् ।

अथेदं प्रमाणान्तरं विधवोद्वाहसमर्थकत्वेनावतारयन्ति—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दते परम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वियोषतः ॥
(अथ० ६ का० २० । ३ । २७)

तदग्रे च—

समानलोको भवति पुनर्भुवा परः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणा ज्यौतिषं ददाति ॥

अत्रापीदमेव प्रतिवक्तव्यम्—न श्रूयतेऽत्र पुनरुद्वाहविधिर्लेशतोऽपि। पञ्चौदन-प्रशंसाप्रकरणे समाम्नातयोस्तत्रैव मुख्यतात्पर्यवतोरनयोः पूर्वस्मिन् मन्त्रे पूर्वं पतिं परित्यज्यान्यं श्रितवतीं स्त्रियं तत्पतिं चोद्दिश्य पञ्चौदनमिश्रिताजदानं विधीयते, अवियोगश्च तत्फलत्वेनानुवर्ण्यते। उत्तरस्मिन्नपि पञ्चौदनमिश्रिताजदानं सदक्षिणमनुष्ठितवतः पुनर्भूपतेः पुनर्भूसालोक्यरूपफलसम्बन्धो विधीयते। सालोक्यं चात्र समानस्थानत्वम्, समानसुखत्वं समानोपभोगकत्वं वा। सुखे स्थाने उपभोगादौ च लोकशब्दप्रयोगस्य बहुशः श्रुतावुपलभ्यमानत्वात्। तदित्थं पत्यन्तरानुसरणं केवलमत्रानूदितम्, न तु प्राधान्येन तद्विहितम्। एवं च यथा 'श्येनेनाभिचरन् यजेते' त्यादौ यद्यभिचार-मिच्छेत्तदा श्येनेन यजेतेत्यर्थके विधिसंस्पर्शमन्तराऽभिचारस्य नास्ति कथमपि धर्मत्वमिति सुस्फुटं निर्णीतं पूर्वतन्त्रे (मीमांसायाम्)।

कार्यकारणभावमात्रं तु तत्र श्रुत्याववोध्यते श्येनयागः शत्रुमारणसाधनमिति। तथैव खलु श्येनाधिकरणन्यायेन प्रकृतेऽपि विधिसंस्पर्शमन्तरा नास्ति पत्यन्तरवेदनस्य धर्मत्वम्, कार्यकारणभावमात्रन्तु श्रुत्या बोध्येत पत्यन्तरमनुगता पञ्चौदनेनावियुक्ता भवतीति। यदेव खलु श्रुत्या विधियते तदेव धर्मः स्यान्न तु श्रुत्यानूद्यमानपि धर्मः स्यादित्यसकृदवोचाम। विधीयमानत्वं चापूर्वबोध्यत्वमेव, न च प्रकृते मन्त्रे पत्यन्तर-वेदनमपूर्वं बोध्यते 'या परं विन्दते' इति यच्छब्दादिना केवलमनूद्यत एवेति न परोक्षमिदं पण्डितानाम्। तस्मान्न संभवति विधवोद्वाहविधानेऽनयोरपि मन्त्रयोः प्रामाण्यम्।

ननु च भो यदि न स्यात्पत्यन्तरानुसरणं धर्म्यं तर्हि मन्त्रे श्रूयमाणोऽयं पञ्चौदनविधिः क्वावकाशं विन्देत्। न ह्यधिकारसंपत्तिमन्तरा कश्चिद्विधौ प्रवर्तते, अधिकारिविशेषणतया चात्र पत्यन्तरवेदनं पुनर्भूपतित्वं चानुश्रूयते, तच्चेदमुभयमपि धर्ममार्गादपेतमिति ब्रवीषि, तथा च श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यवादिनामास्तिकानां धार्मिकाणां विध्यधिकारसंपत्तिरेवासंभविनीति प्राप्तं विधिवैयर्थ्यम्। सोऽयं विधिरेवानुपपद्यमानः पुरुषान्तरवेदनं स्त्रियाः पुनर्भूपतित्वं च पुरुषस्य स्वाधिकारितासंपत्तये रथकाराधिकरणन्यायेन प्रकल्पयेत्। 'वर्षासु रथकारोऽग्निमादधीते' ति हि विधी रथकारेषु विद्यासम्बन्धमन्तरानुपपद्यमानो विद्यां तत्र प्रकल्पयतीति नैव तिरोहितो मीमांसकानां घण्टाघोषः, तथैवात्राधिकारिताप्रकल्पनं केनात्र विधेर्वार्येत इति चेन्नैतत्सम्यगनुपश्यन्ति भवन्तः। यथा हि श्येनयागादौ 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानी' ति प्रतिषेधं तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्ततयातिक्रान्त एव भवत्यधिकारी, तं च यागविशेषम-नुतिष्ठँस्तत्फलमुपभुञ्जानोऽप्यसावुत्तरकालेऽवश्यमनर्थेन युज्यत एव, धर्मातिक्रमणात्। अत एव च श्येनयागादेर्धर्मत्वं वारयितुं 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इत्यर्थपदं लक्षणे निवेशयन्तो जैमिनीयाः, अनर्थं च श्येनं ब्रुवते। तथैव तुल्यन्यायात् प्रबलकामवेगवशीकृता पुनरुद्वाहप्रतिषेधशास्त्रं शिष्टाचारं चातिक्रान्तैव पुनर्भूस्तथैव

प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रान्तस्तत्पतिश्च भवतोऽत्राधिकारिणौ । इत्थमेव सामञ्जस्येऽधिकारितासंपत्तये पुनरुद्वाहविधिप्रकल्पनस्यातिगौरवग्रस्तत्वात् प्रदर्शयिष्यमाणपुनरुद्वाहनिषेधवाक्यविरोधापत्तेश्च । यथा च पञ्चौदनानुष्ठानेन तत्फलभूतावियोगसिद्धावपि भवेदेवोत्तरकाले प्रतिषेधातिक्रमणहेतुकोऽनर्थ इति सुसूक्ष्मं विभाव्यताम् । रथकाराधिकरणे हि न विधिमन्तरा संभवति वेदाध्ययने प्रवृत्तिरित्यगत्याध्ययनं कल्प्यते । इह तु रागत एव पुरुषान्तरानुसरणादौ सिद्धा प्रवृत्तिरिति न तदर्थमपि वचनव्यापार उपकल्प्यः । ननु च रागतोऽतिक्रान्तप्रतिषेधा पुनर्भूः पातित्येन युज्येतेति कुतस्तस्यास्तत्पतेर्वा शास्त्रविहितकर्मस्वधिकारः, पतितानां शास्त्राधिकारबहिर्भूतत्वात् । तथा चाधिकारिणोऽभावात् पुनरपि विधिवैयर्थ्यं प्रसक्तमिति चेन्नैतदेवम् । सत्यपि पातित्ये निषादस्थपत्यधिकरणन्यायेन कर्मविशेषे विधिनैवाधिकारस्य कल्पनीयत्वात् । यथा हि 'निषादस्थपतिं याजयेद्' इति विधिरनुपपद्यमानतया वर्णत्रयबहिर्भूतस्यापि निषादस्य कर्मविशेषेऽधिकारितां प्रकल्पयति तद्वदेवायमपि विधिः कर्मविशेषे पुनर्भूपतेरप्यधिकारितां प्रकल्पयिष्यतीति सामञ्जस्यात् । न चैवमप्यपूर्वकल्पना शिरसि पतितैवेति पत्यन्तरानुसरणमेव धर्मत्वेन कल्प्यतामिति भ्रमितव्यम् । अपूर्वविधिप्रकल्पनापेक्षयाऽधिकारितामात्रप्रकल्पने लाघवस्य सुस्फुटत्वात् । वचनान्तरविरोधस्य चात्र कल्पेऽनवतारात् । अस्ति च प्रायश्चित्तादिविधिविशेषे पतितादेरेवाधिकारित्वं श्रुतिस्मृत्याचारसिद्धमिति तद्वदेवात्रापि कर्मणि पतितस्यैव पुनर्भूपतेरधिकारिताऽस्तु । तथा हि—मन्त्रलिङ्गमनुसृत्य प्रायश्चित्त एव भगवता कौशिकेन विनियुक्ते—

> यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः ।
> ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम् ॥
> (अथ० ६, १२, ११८, ३)

इति प्रागुदाहृते मन्त्रे पारदारिकादेरेवाधिकारित्वं सिद्ध्यति, स्मार्तेषु च द्वादशवार्षिकादिव्रतेषु ब्रह्महादेः सुरापादेरेव चाधिकारित्वं सर्वसिद्धम् । ननु प्रायश्चित्तस्य पापापनोदकत्वाद्भवतु तत्र पापिनामेवाधिकारिता, तत्कर्मविधिमन्तरा पापापनोदनस्याशक्यत्वात् । कर्मान्तरेषु तु पतिताः किमिति शास्त्रेणाधिक्रियन्ते । एवं हि शिष्टैकसमाश्रयणीयता शास्त्रस्य भज्यते, विपरीतेष्वपि च कर्मसु लोकाः प्रोत्साहिता भवन्ति इति चेद्विपरीतमिदं दर्शनम् । येऽपि खलु प्रकृत्या तमोबहुलाः कामक्रोधलोभादिनाऽनभिभवनीये वशीकृताः सात्त्विकराजसादिषु कर्मसु सर्वथा प्रवर्तयितुमशक्याः, ये वा देहात्मवाद एव परं विश्वस्ताः परलोकसम्बन्धमात्मनोऽनभ्युपगच्छन्त एव परलोकैकफलेषु कर्मसु न प्रवर्तन्ते तेऽपि परमकारुणिकेन शास्त्रेण स्वस्वाभिलषितानुकूलेषु दृष्टफलेषु तामसादिष्वेव कर्मसु कार्यकारणभावविशेषमनुबोध्य प्रवर्तयता कथंचित्स्वमर्यादाबन्धेऽनुप्रवेश्यन्ते । एवं हि दृष्टफलप्रत्ययेन शास्त्रे विश्वसन्तः क्रमेणा-

दृष्टफलेष्वपि कर्मसु प्रवर्त्स्यन्ति, शास्त्रविधिमाश्रिताश्च प्राकृतिकं तमोबाहुल्यं शनैः शनैरपहास्यन्तीति। तस्मादेतादृशतमोबहुललोकानुग्रहाय प्रवृत्तं तदर्थमेवोपयुज्यते एवंविधं शास्त्रम्। स्वप्रकृत्या विधिप्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामतश्चापि तानेव पुनः पुनरनुग्रहबुद्ध्या स्वविहितकर्मसु अधिकारमवबोध्यावबोध्य प्रवर्तयति, गुडजिह्विकयैव हि बालान् कटुकौषधपाने प्रवर्तयन्ति भिषग्वराः कारुणिकाः। शिष्टानान्तु प्रकृत्यैव शास्त्रेषु विश्वसतां प्रतिषेधशास्त्रातिक्रमणभीतानां पारदार्य-पुनर्भूपतित्वादिषु प्रवृत्तिरेव न जायत इत्यधिकारसंपत्तिविरहान्नैवंविधानि कर्माणि तेषूपयुज्यन्ते। अधिकारिविशेषणत्वेऽपि न पारदार्यादीनां धर्मत्वमिति व्यवस्थापितमेव किल प्राक्। न च शिष्टानामधार्मिकी प्रवृत्तिरिति नात्र किमप्यसमञ्जसमापद्यते नाम। अत एव च तामसानपि लोकाननुग्रहीतुं शास्त्रविधौ च कथंचित्तान् प्रवर्तयितुं मारण-मोहन-वशीकरणादीनां द्यूतविजयादीनामपि चाभ्युपायभूताः प्रयोगविशेषास्तत्र तत्र विधीयन्ते तथा हि।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यथा सपत्नीं बाधते यथा संविन्दते पतिम्।

(अथर्व० ३।४।१८।१)

इति मन्त्रे सपत्नीबाधनस्य तद्वशगस्य पत्युः पुनः प्राप्तेश्चाभ्युपायः श्रूयते। कृत्स्नमपिसूक्तमिदं पूर्वापरपर्यालोचनया सपत्नीबाधन एव व्यवतिष्ठते। मन्त्रलिङ्ग-मनुसृत्य च कल्पसूत्रकृता तत्रभवता कौशिकेनापि सपत्नीबाधनाभ्युपाय एवेदं विनियुक्तम्—"इमां खनामीति बाणापर्णी लोहिता जाया द्रप्सेन संनीय शयन-मनु परिकिरति" (कौशिकसूत्र ४।१२) इत्यादिना। 'इमां खनामीति तृतीयसूक्तेन सपत्नीजयकर्मणि बाणापर्णीरत्रचूर्णं लोहितवर्णा जाया दध्युदकेन संमिश्रय अभिमन्त्र्य सपत्नीशयने परिकिरेत्' इति चावतारितं भाष्यकृता माधवाचार्येण। न च सपत्नीबाधनं भवेद्धर्म्यम् अथापि तत्र प्रवृत्तायास्तदभ्यु-पायो विधीयत एव।

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥
आधपिर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥

(अथर्व ३।५।२५।१–२)

इदं च सूक्तं मन्त्रलिङ्गेनानुसृत्य स्त्रीवशीकरणे कल्पसूत्रकृता कौशिकेनर्षिणा विनियुक्तम्—"उत्तुदस्त्वेत्यङ्गुल्योपनुदति, एकविंशतिं प्राचीनकण्टकानलंकृताननू-क्तानादधाति। सितालकाण्डया हृदये विध्यति" (कौशि० सू० ४।११) इत्या-दिना।

यथा वृक्षं लिबुज, समन्तं परिषस्वजे ।
एवा परिष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यस्ते यथा मन्त्रापगा असः ।
(अथ० ६ । १ । ८ । १)

इदमपि सूक्तमर्थानुसारेण स्त्रीवशीकरणबोधकम्, तत्रैव श्रौते विनियुक्तं च ।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु ॥
(अथ० ६ । १३ । १३० । ४)

"देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनुशोचतु" ।

इतीदमपि सूक्तं स्त्रिया उन्मादनं स्वविषये देवान् प्रति प्रार्थयते । कौशिकेन (कौ० सू० ४ । १२) तत्रैव विनियुक्तं च ।

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वपत्वयमभितो जनः ॥
(अथ० ४ । १ । ५ सू०)

एष खलु प्रस्वापनप्रयोगः । इदं सूक्तमवतारयति भाष्यकृन्माधवाचार्यः—'सहस्रशृङ्गः' इति सूक्तेन स्त्र्यभिगमने तस्यास्तत्परिसरवर्तिनां च स्वापनार्थमुदपात्रं संपात्य अभिमन्त्र्य तेन शयनशालां प्रोक्ष्य शेषमभ्यन्तरद्वारेभिनयेत् । सूत्रितं हि—'सहस्रशृङ्ग इति स्वापनम् , उदपात्रेण संपातवता शालां संप्रोक्ष्यापरस्मिन् द्वारपक्षे न्युब्जति' (कौ० सू० ४।१२) इति । इदं च स्वापनमुन्मादनं वा परदारासक्तस्यैवोपयुज्यते—इति नैतद्विशिष्य प्रतिपादनार्हम् । न हि परदाराभिगमनं धर्मः, अथापि तदासक्तस्य तदभ्युपायो विधीयत एव ।

उद्भिदन्तीं संजयन्तीमप्सरां साधु देविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरा तामिह हुवे ॥
(अथ० ४ । ३८ । ३८ । १)

सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया ।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥
(पूर्वोक्ते सूक्ते ३)

अत्र द्यूते विजयप्राप्त्यर्थमप्सरसामाह्वानं मन्त्रार्थः प्रतीयते । कल्पसूत्रकारश्च भगवान् कौशिकस्तत्रैवास्य सूक्तस्य विनियोगमाचष्टे । "पूर्वास्वाषाढासु गर्तं खनति" इति प्रक्रम्य 'उद्भिदन्तीं संजयन्तीं, यथा वृक्षमशनिः, इदमुग्राय,—इति वासितानक्षान् निर्वपति, (कौ० सू० ५ । ५) इत्यादिना ।

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नःशपात् ।
शुने पष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रयस्यामि मृत्यवे ॥
(अथ० ६ । ४ । ३७ । ३)

केनचित्कृतस्य मारणाद्यभिचारस्य प्रत्यभिचारोऽयम्। "यो नः शपात्—इत्यनया अभिचारकर्मणि विद्युद्धतवृक्षजा एकादश समिध आदध्यात्" (कौ० सू० ६।२) इति तद्विनियोगमाह कल्पसूत्रम्। न हि मारणं प्रतिमारणं वा धर्मः, अथापि प्रतिषेधमतिक्रम्य तत्र प्रवृत्तानां तदभ्युपायो विधीयत एव।

"क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रि त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्"

(अथ० ६।१०।१३८।३)

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्।
ते ते भिनद्मि शम्ययाऽमुष्या अधिमुष्कयोः॥

(पूर्वोक्त सू० ४)

सूत्रकृताऽभिचार एव विनियुक्तयोरनयोः परस्य क्लीबतासंपादनमर्थः प्रतीयत एव। न हि चैवंविधानि कार्याणि धर्म्याणीति शक्यते केनाप्यभ्युपगन्तुम्!

तथा सत्यधर्मशब्दार्थस्यैव विलोपापत्तेः। तस्मात् क्रोधलोभादिना यः स्वयमेव कर्मस्वेवंविधेषु प्रवर्तते न शक्यते प्रतिषेधशास्त्रेण निवारयितुम्, संप्रति तत्तदभीप्सितसिद्ध्युपायमात्रं शास्त्रेण विधीयते, पातकन्तु तत्तदनुचितकार्यकरण-प्रयुक्ते नियतमेव। तत्तत्कार्याणां शास्त्रेणाविधानात्। उपायमात्रस्य विधानात्। यदि शास्त्रेण नापि कश्चिदुपायो बोध्येत, अथापि स कथमपि स्वाभीप्सितं साधयेदेव, तीव्रतरमाविश्रम्भात्। शास्त्रविधिबहिर्भूतं सर्वथात्मानं मन्यमानस्तु स चिराय पतेदेव, स्वमनीषामात्रेणोपायान्तराण्यारचयँश्चानर्थान्तराण्यप्युद्भावयेत्। शास्त्री-यैरेवोपायैर्व्यवहरंस्तु क्रमेण शास्त्रेषूपचीयमानविश्वासो विधिप्रतिषेधशास्त्राणि सर्वा-ण्यपि विश्वस्य प्रायश्चित्तादिना वीतकल्मषः सदाचारोऽपि स्यादित्येवाभिसन्धिः कारुणिकस्य शास्त्रस्येत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या।

तथा च वशीकरणदेवनाद्युपायवत् पुनर्भर्वास्तत्पतेश्चावियोगसाधनं कर्ममात्रमत्र विहितं प्रतिपत्तव्यम्, न तु पुनर्विवाहस्य धर्म्यत्वं दोषासंस्पृष्टत्वं वाऽत्र सिद्ध्यति तस्य शास्त्रेणाविहितत्वादिति चिरमिदं दरमुकुलितनेत्रमनुसन्धेयम्। यदि तु धर्मत्वं तत्राग्रहेणाभ्युपगम्येत, तर्हि पूर्वोपदर्शित-वशीकरण-देवन-मारणक्लीबकरणादिष्वपि धर्मत्वं दुर्निवारमेव प्रसज्येतेति।

केचित्तु कस्मैचिद् वाचा दत्तायास्तस्य वरस्य कस्यांचिद् विपत्तौ पुनः पुरुषान्तरेण धर्ममनुसृत्य विवाहिताया एवायं पञ्चौदनविधिः। पतिं वित्त्वा लब्ध्वा, पुनः अपरं पतिं विन्दते इति पूर्वपतिलाभमात्रानुकीर्तनात्। लाभश्च वाचा दत्ताया वाप्यभिमानमात्रेणोपपद्यत एव। अस्तु वा 'विचारणार्थकस्य विदेरिदं रूपम्। तथा च पूर्वं पतित्वेन विचार्यानन्तरं परं विन्दते लभते इति वाग्दत्ताविषयतैव सुस्फुटमुपपद्यते। व्याख्यातव्या च शास्त्रीयं नियममनुसृत्य पुनर्भूः स्मार्ते प्रकरणे।

तद्विषयतयैव मन्त्रद्वयमिदमुपपादनीयम् । यस्य कस्यापि विध्यधिकारितालाभे सर्वत्र तत्प्रकल्पनस्यानावश्यकत्वात् । ततश्च सामञ्जस्येनैव मन्त्रद्वयमिदं श्रुतिस्मृत्यविरोधेन व्यवस्थापयन्तीति, अथार्थान्तरं वा व्याख्यास्यामः । या पूर्वं पूर्वकाले, अपूर्वमिति च्छित्वा विलक्षणं स्वाभिमतमिति पतिविशेषणं वा, पतिं वित्त्वा-लब्ध्वा अथ पति-वेदनानन्तरम्, अन्यं-तदतिरिक्तं पुरुषं, परं विन्दते परत्वेन लभते परमेव जानातीत्यर्थः । अस्तु वा 'विचारणार्थकस्य विदेर्विकरणव्यत्ययेन च्छान्दसेन विन्दत इति रूपम् । तेनान्यं परमेव विचारयति, स्वपतावेव सम्यगनुरक्ता भवतीत्य-र्थेन पतिव्रतैव पूर्वार्द्धेन लब्धा । तथा च पत्युर्वियोगमसहिष्णुं तामुद्दिश्य 'पञ्चौदनं च तावजम्' इति पञ्चौदनविधानम्, अवियोगस्य च तत्फलत्वेनानुवर्णनं समञ्जसमे-वोपपन्नम् । द्वितीयेऽपि मन्त्रे 'पुनर्भुवा पुनर्भवति जायत इति तथाभूतया-द्वितीय-पत्न्या-इति यावत्, पर उत्कृष्टः धर्मशीलः, पतिः, समानलोको भवति, न कदापि वियुज्यते' इत्येवमर्थके पुरुषस्यैव द्वितीयो विवाहः कथमपि सिद्ध्यति न तु स्त्रियाः । न चैवं पुनर्भूशब्दस्य रूढिर्विरुध्येत, श्रुतौ तस्य रूढत्वे प्रमाणाभावात् ।

सनाद्दिवं परिभूमा विरूपे पुनर्भुवा युवती स्वेभिरेवैः । (ऋ० १।६२।८) इत्यादौ हि सर्वैरेव पुनः पुनर्जायमाने युवती रात्र्युषसी इति पुनर्भूशब्दार्थो यौगिक एवाख्यायते । तथैवात्रापि, नन्वस्तु यौगिक एव द्वितीया स्त्रीति पुनर्भूशब्दार्थः । तेन स्त्रियाः पुनर्विवाहं सर्वथैव न विषयीकरोति मन्त्रद्वयमिदमिति । अन्येऽपि स्वय-मूह्याः सुधीभिरर्थभेदाः, युक्तायुक्तता च तयोर्विवेच्येति तृतीयमपि सम्यक् परीक्षितं प्रमाणम् ।

तदित्थमापाततः कथंचिद्विधवोद्वाहपरत्वेन संभाव्यमानेषु मन्त्रेषु विस्तरेण स्फुट-वास्तविकार्थबोधनेन तदविधायकतया व्याख्यातेषु याः काश्चन श्रुतयः केवलं मन्द-मतीन् प्रतारयितुमुपन्यस्यन्ते तत्पक्षपातिभिस्ता अपि संक्षेपतो याथार्थ्ये व्यवस्था-प्यन्ते । तत्रेयं विवाहकालिकी वरकर्तृकेन्द्रप्रार्थना—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ।
(ऋ. १०, ८५, ४५)

अस्यार्थः—मीढ्वः-सेचनकर्तः! इन्द्र! त्वमिमां स्त्रियं सुपुत्रां सुभगां च कृणु-कुरु । अस्यां दश पुत्रानाधेहि—उत्पादय, एकादशं च पतिं कृधि-कुरु, रक्षेति याव-त् । देवा एव मनुष्याणां रक्षितारस्तत्तच्छक्तिप्रदातारश्चेति वैदिकं दर्शनम् । 'देवा-नामिदवो महत् तदावृणीमहे वयम्' (ऋ. ८ । ८४ ।१) 'देवानां सख्यमुपसे-दिमा वयं देवान आयुःप्रातरन्तुजीवसे' (ऋ. १ । ८९ । २) इत्यादिभिर्भूयोभि-र्मन्त्रैर्बहुशो देवकर्तृकस्य रक्षणस्य प्रार्थ्यमानत्वात् । देवनामेवचाध्यात्ममपि तत्त-

च्छक्तिप्रयोजकत्वात् । तथैवात्रापि त्रिजगदधीश्वरादिन्द्रात्पत्यो दशपुत्रोत्पादन-योग्या प्रजननशक्तिः, स्त्रियां गर्भधारणशक्तिः पत्युश्चिरजीविता च संप्रार्थ्यंत इति नात्र किमप्यधिकं वक्तव्यं पश्यामः । न ह्यस्मिन् मन्त्र पुनर्विवाहस्य नियोगस्य वा गन्धमात्रमपि प्रतीयते—इति स्फुटमक्षरमुखानामपि । यत्तु पत्यौ श्रूयमाणेयमेकाद-शसंख्या सजातीयैः पतिभिरेव पूरणीया, न तु विजातीयैः पुत्रैरिति पत्युरेकादशत्व-सिद्धये पुनरुद्वाहो नियोगो वावश्यमुररीकार्यं इति, तदेतदत्यन्तमुपहासाय प्रेक्षाव-ताम् । 'त्रयो वयं गृहे निवसामः, एकोऽहम् द्वितीया माता, तृतीयश्च पितेत्याद्या-पामरं प्रसिद्धं व्यवहारे पितुस्तृतीयत्वोक्त्या न हि कश्चिदपि त्रीन् पितॄन् प्रतिपद्यते । न वा 'गृहे मे द्वे महिष्यौ, तृतीया च गौः' इत्युक्ते तिस्रो गाव एव लोकेऽवबुध्यन्ते केनचिदपि । शास्त्रेऽपि 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमीत्याद्युपक्रम्य 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् (छान्दोग्योपनिषत् ७ प्रपा. १ ख.) 'वेदानध्यापयामास महाभारत-पञ्चमान्' इत्यादौ विजातीयरेव संख्या पूर्यते, अवबुध्यते च सम्यक् तथैव सर्वैरपि । ततश्च सजातीयैरेव संख्यापूरणमिति कुतस्त्योयं नियमः । तस्माद् 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' इत्युपस्थितां पुत्रसंख्यां परित्यज्याश्रूयमाणानामनुपस्थितानां दशानां पतीनां प्रकल्पनं सर्वथैवाप्रामाणिकम् । न चात्रैकादशपतयः श्रूयन्ते, किन्त्वेका-दशः पतिः । पूरणप्रत्ययान्तशब्दोपादानात् । ततश्चैकादशस्य पत्युरेव केवल-मनेन विधानेन द्वितीयादीनां दशमान्तानां पतीनां किं विधायकमस्तु ? कश्चेदं विवाहे प्रार्थयते वरः आचार्यो, ब्रह्मा, वधूः, अन्यो वा तत्सम्बन्धी । न तावद् वधूः, तस्याः 'अस्यां पुत्रानाधेहि' इति प्रथमपुरुषत्वेन श्रूयमाणत्वात् । नापि वरस्य युज्यत इयं वध्वा एकादशपतिप्राप्तिप्रार्थनामुखेन स्वस्याविलम्बितं यमसदनगमनप्रार्थना । आचार्यब्रह्मादयोऽन्ये वा वरसंबन्धिनः कथमेतत् प्रार्थयन्ताम् । भूयो भूयो विवाहे दक्षिणाधिक्यलोभेन प्रार्थयन्ते चेद् ब्रह्मादयः क एषां हताशानामेवंविधां प्रार्थनामनुमन्येत । अहो ! यत्र विवाहे आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम' 'मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः पुत्रान् विन्दावहै बहून् । अपैतु मृत्युरमृत न आगात्' 'मया पत्या प्रजावति त्वं जीव शरदः शतम्' 'जीवेम शरदः शतम्' 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि' 'जीवपत्नी पतिलोके विराज' इत्यादिभि; प्रतिपदमनुप्रार्थ्यते मङ्गलं वरवध्वोश्चिरजीविता च 'अश्मेव त्वं स्थिरा भव' 'एना पत्या तन्वे संसृजस्व' 'ध्रुवास्त्री पतिकुले इयम्' सा मामनुव्रता भव' 'यदिदं हृदयं तव' इत्यादिभिश्च शतशोऽन्यागामिता प्रार्थ्यते वध्वाः, तत्रैवेमामेकादशपति-प्रार्थनामुपन्यस्यता सम्यगुपदर्शितं बुद्धिवैभवम्, परा तु शास्त्रगन्धज्ञतेत्यलमेवंविधकुट्टितेन ।

यत्तु व्याचक्षते ईश्वर आज्ञापयति । हे इन्द्र-विवाहितपते ! मीढ्वः— हे वीर्यदानकर्तः ! त्वमिमां विवाहितस्त्रियं (वीर्यसेकेन) गर्भयुक्तां कुरु । तां)

सुपुत्रां श्रेष्ठपुत्रवतीं सुभगां अनुत्तमसुखयुक्तां कृणु कुरु। अस्यां विवाहितस्त्रियां दश पुत्रानाधेहि-उत्पादय। (नातोऽधिकमिति। ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम्। तथा) पतिमेकादशं कृधि-(हे स्त्रि त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्यन्तं नियोगं) कुरु। (अर्थात् कस्यां चिदापत्कालावस्थायां प्राप्तायामेकैकस्या अभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्यन्तं नियोगं कुर्यात्। तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति। इच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम्)" इति। सेयं व्याख्या मन्त्रानुक्तस्वकपोलकल्पितार्थसंदब्धा मुखमस्तीति वक्तव्यम्, इति न्यायमालम्ब्य प्रवृत्ता कुमाराणामपि यद्यप्युपहासायैव तथापि कौतुकायैव मनाक् परीक्ष्यते कंचिद्विशेषमर्थमभिधातुम्।

(वेदमन्त्रार्थशैली)

भवति खलु वेद ईश्वरेणैव सर्वशक्ति-सर्वज्ञत्वादिविशिष्टेनोपदिष्ट इत्यास्तिकानां दृढतमो विश्वासस्तथापि तपस्यतां तत्तेषामृषीणां बुद्धिक्षेत्रेऽयमाविर्भूतस्तन्मुखाद्विनिःसृतश्चेति तत्तन्मन्त्रार्थानुसन्धानकाले स ऋषिरेव वक्तृत्वेनानुसन्धेयो भवति। अत एव मन्त्राणां स्वाध्याये कर्मणि वा विनियोगे तत्तदृषिदैवतस्मरणमावश्यकमामनन्ति "यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा, स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते, प्रमीयते वा पापीयान् भवति, तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्याद्" इत्यादिश्रुतिषु।

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः॥

इत्यादिस्मृतिषु, 'एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते, जपति, जुहोति यजते-याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवती'त्यादि शुक्लयजुर्वेदीयानुक्रमणिकादिषु च। तत्र ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, येषां मनसीश्वरप्रेरणया मन्त्रार्था मन्त्रा वा आविर्भूताः। तदाह ब्राह्मणप्रमाणेन निरुक्तकृद् भगवान् यास्कः 'ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते (ब्राह्मणम्) (निरु-अ-२ ख. ११) अन्यत्रापि च।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायंस्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् इति।

(ऋ. १०।७१।३)

'मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि' इति च। (मुण्डकोपनिषत्)।

"तद्वा ऋषयः प्रतिबुबुधिरे, य उ तर्हि ऋषय आसुः' (शतपथे २।२।१।१४) 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' (निरुक्त १ अ.) इत्यादिषु च तत्तदर्थापरोक्ष-द्रष्टृत्वमुक्तमृषीणाम् । त एते मन्त्रादिद्रष्टारोऽनुक्रमणिकादिषूपनिबद्धाः ।

देवता च मन्त्रप्रतिपाद्योऽर्थः । तदुक्तं निरुक्ते 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' इति (निरु.अ.७ख.१) आर्थपत्य-स्वप्रयोजनाभिसम्बन्धमित्यर्थः । ततश्च यथा लौकिकेषु वाक्येषु सम्यगर्थ-विज्ञानाय वक्तुर्वक्तव्यस्य च ज्ञानमावश्यकं भवति तथैव मन्त्रेष्वपि सम्यगर्थविज्ञानाय वक्तुर्ऋषेर्वक्तव्यस्य दैवतस्य च विज्ञानमावश्यकमित्येव मन्त्रार्थनिर्वाचकानां दृष्टिः । तथा च तत्तन्मन्त्रदर्शकस्य ऋषेरेव वक्तृत्वमभिसन्धाय मन्त्रार्थे प्रवर्तितव्यमिति सुस्फुट एवायमर्थः । कर्मसु विनियुज्यमानानां तु मन्त्राणां प्रयोक्त्रा स्वस्यैव तद्व-क्तृत्वमनुसन्धातव्यं स्यात्, तत एव तत्तत्कर्मफलानां स्वस्मिन्ननुसन्धानमुपपद्येत । मन्त्रदर्शकेन तेन तेन ऋषिणाप्यनुष्ठितान्येव तानि कर्माणि, स खलु येन येन विज्ञानेन यथा यथानुसन्धानेन यथा वा स्तुत्या स्वस्य कर्मणः फलेनाभिसंबद्धस्तथैव सर्वमप्यस्मदादिभ्योऽप्युपदिदेशेति तच्छिक्षयास्मदादिभिरपि स्वस्य वक्तृत्वमभि-मन्यमानैस्तथैव स्तोतव्यम्, तथैव भावयितव्यम्, तथैव चानुसन्धातव्यम्, येन फलेनाभिसंबध्नीयाम । ईश्वरोक्तत्वानुसन्धाने तु नेश्वरस्य फललिप्सा, न वा तेन तानि कर्माण्यनुष्ठितानि इति तत्तन्मन्त्रार्थवैयाकुली प्रसज्येत । वेदार्थनिर्वचनमेव हि लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्तेन भगवता यास्केनापि वेदप्रतिपाद्यान् विषयान् संक्षेपतः समुपदर्शयता 'अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः' 'अथाप्याशीरेव न स्तुतिः' 'अथापि शपथाभिशापौ' 'अथापि निन्दाप्रशंसे' इत्याद्यभिधायान्ते 'एवमुच्चावचैर-भिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' इत्युपसंहृतम् (निरु. दैव. का. १ अ.-३ ख.)। तेन मन्त्रदर्शकानामृषीणामभिप्राया एव वेदार्थनिर्वचने सहकारिणः, तन्मुखादेव मन्त्राणां विनिःसृतत्वादिति स्फुट एव तस्य सिद्धान्तः ।

ब्राह्मणेष्वपि चैतरेयादिषु मन्त्रार्थमवतारयितुं 'तदेतदृषिः पश्यन्नभ्यनूवाच' इत्यसकृदभिहितम् । तेन मन्त्रार्थनिर्वचनकाले ऋषीणामेव वक्तृत्वमनुसन्धातव्यमिति ननु ख्यापितमेव । युक्ततरं चैतत् । धन-पुत्र-शत्रुनाशादियाचनापराणां, पूर्वा-परकालसम्बन्धबोधकानां, वक्तृषु क्रोध-द्वेषादिविकारबोधकानां, वक्तृषु दुरितादि-सम्बन्धं पितृपुत्रादिसम्बन्धं च ख्यापयतां, स्वस्मिन्नज्ञानादिसम्बन्धं विविधधर्मसम्बन्धं च प्रकाशयतां, नामग्राहं प्रश्नस्तुतियाचनाद्यभिदधतां, पारस्परिकं संवादमाचक्षतां, शपथाद्यर्थकानां च मन्त्राणां नहीश्वरस्य वक्तृत्वमभिसन्धाय सामंजस्येनार्थ उपपद्येत । एवमर्थका एव प्रायेण वेदचतुष्टय्यां मन्त्राः, दिङ्मात्रं तूदाहरिष्यामः ।

१ 'सुचक्षा अहमाक्षीभ्यां सुवर्चा मुखेन सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' (निरुक्तो-द्धृतो मन्त्रभागः)

या वः शर्म शशमानाय सन्ति, त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि ।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वियन्त रयिं नो धत्त वृषणःसुवीरम् ॥
(ऋ० मं० १ सू० ८५ मन्त्र १२)

मा नो वधीरिन्द्र मा परादा मानः प्रिया भाजनानि प्रमोषीः ।
आण्डा मा नो भगवञ्छक्र निर्भेन्मा नः पात्रा भेत्सह जानुपाणि ॥
(ऋ० सं० १। १०४। ८)

इत्याद्याः प्रार्थनाः । बहुलं चैतास्तत्र तत्र । क एतत्सर्वं प्रार्थयते ईश्वरः ऋषिः, इदानीन्तनः (कर्मसु) मन्त्रोच्चारयिता वा । तत्र ऋषिरिदानीन्तनो मन्त्रोच्चारयिता चेत्येव युक्तमिति सुगमः पन्था । प्रार्थयितुरेव चास्मच्छब्दवाच्यता, तस्यैव च वक्तृत्वानुसन्धानेन सामञ्जस्यमर्थस्य ।

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम् ।
(ऋ० १। १। १)

इत्याद्याः स्तुतयः, सर्वं एव मन्त्राः प्रायेण स्तुतिघटिताः । स्तोतुरेवात्राप्यस्मच्छब्दवाच्यता वक्तृत्वानुसन्धानं च युक्तिमत् ।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । (ऋ० १। १। २)
अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् । ये ते पूर्वं पिता हुवे ।
(ऋ० १। ३०। ९)

आभोगयं प्र यदिच्छन्त ऐतनापाकाः प्राञ्चो मम केचिदापयः ।
सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनागच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम् ॥
(ऋ० १। ११०। २)

कियात्या यत्समया भवाति या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान् ।
(ऋ० १।११३।१०)

निष्टौग्र्यं पारयथः समुद्रात्पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानन् ।
(ऋ० १।११८।६)

इत्यादिषु वक्त्रपेक्षया पूर्वकालोऽप्यर्थे स्फुटमवभासते । स च द्रष्टणामृषीणामपेक्षयैव पूर्वः संभवेन्नतु कर्तुर्जगदीश्वरस्यापेक्षया ।

ये मां क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।
तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥
(अथ. ४।३६।७)

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेनाप्यायस्व ।
आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥
(अथ. ७ का. ८१।५)

ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यव इषुं न सृजत द्विषम् ।
(ऋ० १।३९।४)

वधीर्हि दस्युं धनिनं धनेन । (ऋ० १।३३।४)

इत्यादिभिर्वक्तृषु क्रोधद्वेषादयो विकाराः प्रतीयन्ते सर्वथा येषामसंभवो भगवति भवे । तथैव—

इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि ।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥ (ऋ० १।२३।२२)

इत्यादौ प्रतीयमानो वक्तरि दुरितसम्बन्धोऽपि सर्वथाऽसंभवी जगदीश्वरे ।

'अस्मे वृद्धा असन्निह' (ऋ० १।२८।१५)

येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो ।
गा अविन्दन् । (ऋ० १।६२।२ ऐन्द्रे सूक्ते)

ईशानासः पितृवित्तस्य रायः । (ऋ० १।७३।९ अग्नेः प्रार्थना)

मा नो वधीः पितरं मोत मातरम् । (यजुः १६।१५)

मानः स्तोके तनये मान आयुषि मानो गोषु मानो अश्वेषु रीरिषः ॥
(यजुः १६।१६)

सपत्नीं मे पराणुद (अथ० ३ का० ४ अ० १८)

इत्यादिषु वक्तुः पितृमातृपुत्रादिसम्बन्धः स्फुटं प्रतीयते ।

इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षरे । (यजुः ४०।१४)

इत्यादौ चान्यस्मादध्ययनं वक्तुः प्रतीयत । सर्वमिदमीश्वरस्य वक्तृत्वमभिसन्धायासंभवी । ऋषीणान्तु वक्तृत्वानुसन्धान उपपत्तिमत् ।

मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से ।
(ऋ० १०।५।४)

यजाम देवान् यदि शक्नवाम (ऋ० १।२७।२३)

यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परस्यामुत स्थः ।
(ऋ० १।१०८।१)

को अद्धा वद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
(ऋ० १०।१२९।६)

यो अस्या अध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद वा न वेद ।
(ऋ० १०।१२९।७)

न किर्दवा मिनीमसि न किरा योपयामसि ।
नन्त्रश्रुत्यं चरामसि (ऋ० १० । १३४ । ७)

इत्यादिषु बहुत्र स्वस्याज्ञानमशक्तिर्मन्त्राननुसृत्य कर्मकारित्वं च प्रकाश्यते । नैतत्सर्वज्ञे सर्वशक्तौ जगदीश्वरे संभवदुक्तिकम् ।

काऽरुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम ।
इन्द्रायेन्दो परिस्रव । ऋ० ७११३ । ३

इत्यादौ स्वस्य स्वपुत्रस्य दुहितुश्च विविधकर्मकारित्वं प्रख्याप्यते,—"षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपे मे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो विधेहि यतिधा सखिभ्यः ।

(अथ० ८।१।९।७)

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्टं हव्यवाहन ।
यं कण्वो मेधातिथिर्धनस्पुतं यं वृषा यमुपस्तुतः ॥
(ऋ० १।३६।१)

कण्वासो वां ब्रह्म कृण्वन्त्यध्वरे तेषां सुशृणुते हवम् ।
(ऋ० '।४७।२)

याभिः कण्वमभिष्टिभिः प्रावतं युवमश्विना ।
(ऋ० १।४७।५)

अकारि त इन्द्र गोतमेभिर्ब्रह्माण्योक्ता नमसा हरिभ्याम् ।
सुपेशसं वाजमाभरा नः प्रातर्मक्षू धिया वसुर्जगम्यात् ।
(ऋ० १।६३।९)

इत्यादिषु शतशो मन्त्रेषु ऋषीणां नामग्रहणपूर्वकं स्तुति—प्रार्थना—प्रश्नादिकमनुश्रूयते । कथमेतत्तत्तदुक्तित्वमनभ्युपगम्य संभवेत् ।

सखाय आनिषीदत सविता स्तोम्यो नु नः । (ऋ० १।२२।८)

आ त्वेता निषादतेन्द्रमभि प्रगायत ।
सखायः स्तोमवाहसः । (ऋ० १।५।१)

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् ।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् (ऋ० १।४।४)

इत्यादिषु परस्परस्य संवादः प्रत्यभिज्ञायते ।

(यजमानं प्रति ऋत्विजः)

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततपपूरुषस्य अधा स वीरैर्द-शभिर्वियूया यो मामोघं यातुधानेत्याह ।

(ऋ० ७।१०४।१५)

इत्यादौ च शपथ उल्लिख्यते। कुतः श्रुतिसमुद्रावगाहनेऽस्मादृशां शक्तिः, स्वयमालोच्यतामधिके जिज्ञासुभिः । सर्वमप्येतन्मन्त्रद्रष्टॄणामृषीणां कर्मसु दीक्षितानां वा वक्तृत्वमनुसन्धाय मन्त्रार्थकरणं समुपपद्येत, न तु जगदीश्वरस्य वक्तृत्वमनुसन्धाय कोऽप्येषामर्थः स्यात् । ननु जगदीश्वर एवास्मदादीनेवं स्तोतुमेवं प्रार्थयितुमेवमुल्लेखितुं च शिक्षयतीति न तस्य वक्तृत्वं हीयत इति चेन्ननु को ब्रूते नेश्वरः शिक्षयतीति । सर्वथैवाशक्तोऽल्पज्ञश्चायं जीव ईश्वरपरतन्त्रो न स्पन्दितुमप्यल तदनुग्रहमन्तरा किं पुनर्विज्ञाननिधिमेवंविधं वेदं द्रष्टुं कर्तुं वा । ततश्चेश्वरप्रेरणयैवाधिगतो वेदो महर्षिभिरिति निरस्तसंदेहमस्मुब्धं दृढतमं विश्वसिमः । येषान्तु मुखादीश्वरेण प्रकटिता मन्त्रास्त एव तद्वक्तार ऋषयः, तेषामेव चोक्तिरियमित्यनुसन्धाय तत्तन्मन्त्रार्थं उपपद्यत इत्येव केवलं प्रतिपादयामः । अस्मच्छब्दादिना च तत्तन्मन्त्रसंबन्धेनानुक्रमणिकादिषूक्तानां तेषामृषीणामेव ग्रहणम्, कर्मणि मन्त्रप्रयोक्तुर्वा प्रार्थनादिषु वक्तृत्वमनुसन्धीयते, स्वसम्बन्धेनैव तत्तद्वस्तुनः प्रार्थ्यमानत्वात् । ततश्च य इदानीन्तना 'ईश्वर आज्ञापयती' त्याद्यवतार्य मन्त्रार्थे प्रवर्तन्ते ते नितान्तं भ्रान्ताः । लौकिकेष्वपि वाक्येषु वाक्यप्रयोक्तुस्तदभिप्रेतस्य (कविनिबद्धवक्तुः) वा कस्यचिद्वक्तृत्वानुसन्धानमर्थबोधकाले दृश्यते, न तु प्रेरयितुः कस्यचित्सत्त्वेऽपि तदुक्तित्वं केनाप्यवधार्यते । अस्मच्छब्दादिना च तयोरेवोभयोरन्यतरस्य ग्रहणं भवति, 'मदीयः पुत्र आगतः' तेनोक्तम्—'मम शिरसि पीडे' त्यादौ । यस्माज्जगन्नियन्तुः प्रेरकत्वेऽपि न तस्य वक्तृत्वं मन्त्रार्थेऽनुसन्धेयम्—अपि तु ऋष्यादीनामेव । सर्वेषां मन्त्राणामेकया शैल्यार्थनिर्वचनसंभवे क्वचिज्जीवोक्तिः क्वचिदीश्वरोक्तिः क्वचिदन्यस्य कस्यचिदुक्तिरिति निष्प्रमाणकस्य वैषम्यस्य नितरां कल्पयितुमयुक्तत्वात् । न ह्युपदर्शितमन्त्राणामीश्वरोक्तित्वेऽभ्युपगते संभवति कथमप्यर्थ इति प्रत्यपादयाम । अत एवेश्वरोक्तित्वमभिसन्धायार्थे प्रयतमानानां क्वचिदीश्वर आज्ञापयति, क्वचिच्चेश्वरप्रेरिता वयं ब्रूमः—इति स्वेच्छापरिकल्पितं प्रमाणरहितमर्द्धजरतीयं पदे पदे शिरसि पतितम् । किमन्यत्-एकस्मिन्नेव सूक्ते क्वचित्कस्यचिद्वक्तृत्वमाश्रितम्, क्वचिच्च कस्यचिदिति तद्भाष्यं पर्यालोचयतामपरोक्षमिदं विलक्षणं चरितम् । अस्माकं तु ईश्वरस्य प्रेरकत्वम्, वक्तृत्वं तु ऋषीणामेवेत्यभिसंधाय प्रवर्तमानानां न क्वचिदपि शैलीभङ्गः । येऽपि खलु 'संगच्छध्वं संवदध्वं' समानी व आ कूतिः समाना हृदयानि वः' इत्यादय उपदेशा ईश्वरप्रवक्तृकत्वेन परैरभिसंहितास्तेऽपि ऋषीणामीश्वरप्रेरणयोपदेशकत्वमाश्रित्य सर्वेऽपि सम्यगुपपद्यन्ते । आप्ताश्च तत्रभवन्तो माधव-

महीधरप्रभृतयो वेदभाष्यकृतः सर्वत्रैव ऋष्यादीनां वक्तृत्वमनुसन्धाय मन्त्रार्थे प्रवृत्ता इत्यलमनया प्रसङ्गपतितया बहुतरं वितन्यमानया कथया ।

ततश्च प्रकृतेऽपि (इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः) इति मन्त्रे ईश्वर एतदनुशास्तीत्याद्युपक्रम्योपन्यस्तं व्याख्यानं सर्वथा न श्रद्धेयमेव प्रेक्षावताम् । अपि तु कर्मण्यस्य विनियुक्तत्वान्मन्त्रस्यास्य प्रयोक्ता विवाहकर्ता वर एव ऋषिणा वक्तृत्वानभिमतोऽत्र प्रार्थकत्वेनानुसन्धेयः । न च स स्वातिरिक्तमेकादशं पतिं स्त्रियाः प्रार्थयेतेति पूर्वमुपपादितमेव विस्तरेण । एवम् 'इन्द्र' 'मीढ्वः' इति पदाभ्यां विवाहितपतेः संबोधनमपि निरर्थकं प्रलपितमश्रद्धेयं प्रेक्षावताम् । इन्द्रवरुणाग्न्यादीनां विलक्षणानामेव देवानां मन्त्रेषु स्तुतिर्न मनुष्याणामेव तत्तन्नामभाक्त्वमित्यर्थस्य सर्वसंमतत्वात् । स खल्विन्द्र इव तुष्टूषितो यो 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' (ऋ० १।३२।१)

इत्युपक्रम्य श्रुत्यैव भगवत्या वृत्रहन्तृत्व—स्थावरजङ्गमाधिपतित्वादिना संकीर्तितः । यश्च 'नेन्द्रादृते पवते धाम किंचन' इति सर्वत्र व्यापकत्वेन मन्त्रे स्तुतः 'स जना स इन्द्रः' (ऋ० २।१२ सू०) इति च बहुभिरुपलक्षणैरुपपादितः । 'वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः' (निरु० अ० ७) इति भगवता यास्केन चान्तरिक्षस्थो य आख्यातः ।

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्मज्योतिरमृता अभूम ।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः ।

'चित्रं देवानामुदगादनीकम्'

इत्यादिषु बहुषु मन्त्रेषु स्फुटं देवानामिन्द्रादीनां दिवि वान्तरिक्षे वा स्थितिराख्यातेति मनुष्याणामेव देवत्वकल्पनं किमन्यत् स्यात्प्रमादात् । वेदस्यानादिताभङ्गभयादितिहासान् वेदेषु नाभ्युपगच्छसि, विवाहकर्तृमनुष्यादीनां संबोधनं त्वभ्युपगच्छसि मन्त्र इत्यहो ते बुद्धिकौशलम् । मनुष्याः किमु श्रुतेः पूर्वमेव जाताः ? विवाहाश्च किं पूर्वमेव प्रवृत्ताः ? अथ भविष्यन्तोऽपि श्रुत्या लक्ष्यीकृतास्तर्हि कुतो न मनुष्यविशेषाणामितिहासा अपि लक्ष्यीकृताः ? अल्पज्ञा किमु श्रुतिर्न तान् विजानातीत्यहो श्रुतौ भक्तिः । अथ 'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्रानाधेहि' इति पादत्रयमीश्वरेण पुरुषं प्रत्याज्ञप्तम्, 'पतिमेकादशं कृधि' इति चतुर्थस्तु पादः स्त्रियं प्रत्याज्ञप्त इति केन स्वप्ने सर्वज्ञस्तत्र भवानुपदिष्टः ? यदि चेश्वरस्य सामान्येनेयमाज्ञा, तर्हि कुतोऽस्यापद्धर्मत्वम् ? कुतो वा नैकादशभिःपतिभिर्व्यभिचरन्ती सुशीला वराकी विमुखेयमीश्वराज्ञाया इति पतितेति न विगीयते ? आस्तामिदं तुषकुट्टनम् । नायमपि मन्त्रः कथमपि प्रमाणं विधवोद्वाहे इति प्रसाधितम् ।

अथ नद्याः प्रवाहपतिताः कुशकाशमवलम्ब्य जिजीविषव इव परे विधवोद्वाहं समर्थयितुकामा इदं मन्त्रखण्डमवलम्बन्ते ।

'अन्यांगच्छस्व सुभगे पतिं मत्' ।

व्याध्यादिना क्लीबत्वादिना वा अशक्ततामुपगतः पतिः स्त्रियं रिरंसमानामिदमाह 'सुभगे सौभाग्याभिलाषिणि, मत् मत्तः, अन्यमपरं, पतिमिच्छस्व, अहं त्विदानीमशक्तस्तव मनोरथानां प्रपूरण' इति तदीया व्याख्या । नैतत्कृतबुद्धिभिर्दृष्टिपथमप्युपनेतुमर्हं प्रमाणम् केवलं पूर्णो मन्त्रः प्रकरणं चैतदीयमालोच्यम् ।

ऋक् संहितायाः किल दशमे मण्डले दशममिदं सूक्तम् 'ओचित्सखायं सख्या ववृत्त्या' मित्यादि । यत्प्रकृत्याख्यायतेऽनुक्रमणिकायाम् 'ओचित् षड्ना (विंशतिः) (चतुर्दश मन्त्रा इह सूक्त इति भावः) वैवस्वतयोर्यमयम्योः संवादः । षष्ठ्ययुग्भिः (षष्ठ्या ऋचा, अयुग्भिश्च प्रथमातृतीयादिभिॠग्भिरित्यर्थः) यमी मिथुनार्थं यमं प्रोवाच स तां नवमीयुग्भि (नवम्या युग्भिश्च) रनिच्छन् प्रत्याचष्टे' इति । तथा च भ्रातृभगिन्योर्यमयम्योरुक्तिरूपमिदं सूक्तम् । पूर्वमेकयर्चा यमी बालिशतया भ्रातरं यमं स्वोपयमार्थं प्रार्थयते अथ परया अभिज्ञो यमो भ्रातृभगिन्योः परस्परं विवाहे दोषमुपदर्श्य तदुक्तिं निराकरोति । अयमेव तावदनुक्रमणिकायामुक्तोऽर्थो—

> किं भ्राता सद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निॠतिर्निगच्छात् ।
> काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥ ११ ॥

(यस्मिन् भ्रातरि सति भगिन्यादिकमनाथं भवति, तेन किम् , यस्यां च भगिन्यां सत्यां भ्रातरं निॠतिर्दुःखं निगच्छति तया भगिन्यापि किम् । कामेन मूता मूर्च्छिताहमेतद्बहु रपामि प्रलपामि, मे तन्वा तन्वं स्वशरीरं संपिपृग्धि संयोजयेति यमी) ।

> न वा उ ते तन्वा तन्वं संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
> अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १२ ॥
> (यमः)

> वतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
> अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥ १३ ॥
> (यमी)

> अन्यमूषु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
> तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥१४॥
> (यमः)

इत्येवमादिभिरेतत्सूक्तघटिताभिर्ऋग्भिरपि सुस्पष्टं प्रतीयते । भ्रातृभगिन्योरेवेमे उक्तिप्रत्युक्ती तत्र चानौचित्यादेव प्रत्याख्यानं न त्वशक्ततयेति नैष दुरवबोधश्च-क्षुष्मतामर्थः । निरुक्तकारोऽपि च भगवान् यास्क एतत्सूक्तसम्बन्धिनम्, अन्यमूषु इत्यादिमन्त्रं व्याचक्षाण आह "यमी यमं चकमे, तां प्रत्याचचक्षेत्याख्यानम्" इति । (निरु० दै० का० ५)

अथ काविमौ यमीयमाविति चेत्स्वर्गवासिनौ सूर्यपुत्रौ शरीरिविशेषौ चेतनौ देवावित्यैतिहासिका ब्रूयुः । अहर्यमः, रात्रिर्यमी न तयोः कदापि समागमो भवतीत्यत्र सूक्ते ख्यापितमिति रूपकरसिकाः । सहजातौ भ्रातृभगिन्यावेव ताभ्यां शब्दाभ्यामुच्येते, न हि तयोर्विवाहः शिष्टानुमोदित इत्येतल्लोकमात्रनिष्ठाः । बृहदारण्यके हि प्राणविशेषाणामेव देवत्वमाख्यातमिति प्राणविशेषावेव यमीयमौ, न च तयोः कदापि एकत्रावस्थितिर्भवतीति सोऽयमेवार्थो रूपकविधया भ्रातृभगिन्यो रुद्वाहं प्रतिषेद्धमत्राख्यात इति विज्ञानकुशलाः । अतिगभीरं देवविज्ञानमिदं नात्रान्यपरे लघुनिबन्धे प्रपञ्चयितुमर्हम्, भ्रातृभगिन्योः संवादरूपेणैवात्रोक्तिप्रत्युक्ती इति तु मन्त्रार्थपर्यालोचकैर्नापलपितुमर्हं कथमपि । तदित्थं सर्वथा भ्रातृभगिन्योः संवादरूपतया सिद्धेऽस्मिन् सूक्ते दशमीयमृक्—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

'यत्र येषु कालेषु, जामयो भगिन्यो, अजाम्यभ्रातरं पतिं कृणवन् करिष्यन्ति, तान्युत्तराणि युगानि कालविशेषाः, आगच्छान् आगमिष्यन्ति (इतो भाविनि समये स्त्रियः पतिवरणं करिष्यन्तीति भावः) (दैवसृष्टिकाले मैथुनजन्यायाः प्रजाया अभावादियं भविष्यत्कालोक्तिः संभवेत्) यस्मादेवं तस्माद्धे सुभगे त्वमिदानीं मत्तोऽन्यं भर्तारमिच्छस्व कामयस्व तदनन्तरं वृषभाय तव योनौ रेतःसेक्त्रे पुरुषा-यात्मीयं बाहुमुपबर्बृहि शयनकाल उपबर्हणं कुरु'—इत्येतदीया भाष्यकृन्माधवोक्ता समीचीना व्याख्या । निरुक्तकृतापि च व्याख्यात एष मन्त्रः—'आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामि कर्माणि । (जाम्यतिरेकनाम, बालिशस्य वा, असमानजातीयस्य वोपजनः) उपधेहि वृषभाय बाहुम्, अन्य-मिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम् । (निरु० अ० ४)

जामिशब्दार्थं विनिश्चेतुं प्रवृत्त एष निरुक्तग्रन्थः । तत्राभिभाषितेषु त्रिष्वर्थेषु असमानजातिबोधकोऽत्र जामिशब्द इति भगिनीमाह, भ्रातुरसमानजातीया स्त्री-त्वाद्भगिनी भवति इति व्याचष्टे भाष्यकृद् दुर्गाचार्यः । येषु जामयः—भगिन्यः, भ्रातृणाम् 'अजामि' योग्यानि मैथुनसम्बन्धीनि 'कर्माणि' करिष्यन्ति । कलियुगान्ते हि तादृशः सङ्करो भवति, न चेदं कलियुगं वर्तत इत्यभिप्रायः—इत्येतदीया

दुर्गाचार्यकृता व्याख्या। अस्त्युभयोर्व्याख्ययोरजामिशब्दार्थे मतभेदः, अथाप्युभयथापि भ्रातृभगिन्योरेवायं संवाद इति प्रकरणानुक्रमणिकानिरुक्तादिसिद्धोऽयमर्थो न शक्यते कथमप्यन्यथा कर्तुम्। आह हि निरुक्तकृत् 'न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः'। इति।

ततश्च यथा 'आवध्नन् पुरुषं पशुम्' (पुरुषसूक्ते) इति मन्त्रखण्डमात्रमुपादाय कश्चित्पुरुषाणां पशुत्वेन बन्धनं धर्ममाकलयेत्—न तु पूर्वापरप्रकरणार्थमनुसंदध्यात्—तथैव नन्वयमंशमात्रमुपादाय नियोगादिसाधनाडम्बरोऽस्मान्मन्त्रात्। न तु कथमपि विधवाविवाहे नियोगे वा लेशतोऽपि मन्त्रसामञ्जस्यमिति कृतं कुट्टितकुट्टनेन।

अथैतदपरमपि प्रमाणं कैश्चिदवलम्ब्यते—

> उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
> ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा॥
> (अथर्व० ५।४।१७।८)

स्पष्टार्थस्यास्य मन्त्रस्य न हि यद्यपि विधवोद्वाहः साक्षात् प्रतिपाद्यः, अथापि तु अनेकैः पतिभिर्विवाह इतः प्रसिद्ध्यतीवेत्ययमपि मनागालोच्यते।

अथर्वसंहितायाः खलु पञ्चमे काण्डे (चतुर्थेऽनुवाके) 'तेऽवदन् प्रथमे'त्यादिकमस्ति सप्तदशं सूक्तम्। यद्गोहरणेऽभिचारकर्मणि विनियुक्तं भगवता कौशिकेन—'तेऽवदन्निति नेतॄणां (गवापहर्तॄणां) पदं वृश्चति, अन्वाह' (कौ० श्रौ० सू० ६।२) इत्यादिसूत्रेण। अस्मिन्नेव सूक्ते ब्रह्मजायाविषये बहूक्त्वा ब्राह्मणप्राशस्त्यरूपेणेदमुपक्रान्तम्—

> उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
> ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा॥ ८॥
> ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः।
> तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥ ९॥
> पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः।
> राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥ १०॥

इत्यादि। तदत्र विनियोगबोधकश्रौतसूत्रपर्यालोचनया पूर्वापरमन्त्रपर्यालोचनया च पूर्वोक्तं मन्त्रे स्त्रीपदेन प्रकरणप्राप्तगोत्वविशिष्टा स्त्री (स्त्रीगवी) प्रतिपाद्यत इति प्रतिभाति। "यदि स्त्रियाः स्त्रीत्वविशिष्टाया गोः (धेन्वाः) पूर्वं अब्राह्मणा दशापि पतयो भवेयुः, अथापि चेद् ब्रह्मा—ब्राह्मणः, हस्तमग्रहीत्—(हस्तमग्रहणमत्र स्वीकारमात्रं विवक्षितम्—लक्षणया) तदा स एव तस्याः पतिः—स्वामी मन्तव्यः (८)। राजन्यवैश्यादिसमवायेऽपि गवादेर्धनस्य ब्राह्मण एव मुख्यः

पतिर्भवति इति सूर्य एव भगवान् सर्वेभ्यो मानवेभ्यो बोधयति (९) अत एव ये ब्राह्मणद्रव्यं गवादिकं गृह्णन्ति देवमनुष्याद्यास्ते पुनरेव प्रत्यर्पयन्ति राजानश्चापि गृहीतं ब्राह्मणद्रव्यं सत्यं परीक्ष्य पुनर्ददति दापयन्ति च (१०) इत्युपपद्यतेऽत्र मन्त्रार्थः। अत एव च सूक्तस्योपान्त्ये मन्त्रे—

नास्मै पृश्निं विदुहन्ति, येऽस्य दोहमुपासते।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाऽचित्त्या ॥ १७ ॥

इति दोहनं गोलिङ्गभूतमेव स्पष्टं श्रूयते। ये जनाः, अस्याः ब्राह्मणस्य गोः, दोहमुपासते, यत्र च राज्ये ब्रह्मजाया ब्राह्मणस्य गौः, निरुध्यते, अस्मै पृश्निं न विदुहन्ति, पृश्निरादित्यो भवतीति भगवान् यास्कः, तेनादित्यं न विदुहन्ति वृष्टिस्तत्र न भवति तेन पापेनेति तात्पर्यम्। अन्ते च—

नास्य धेनुः कल्याणी नानडवान् सहते धुरम्।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥

इति गोविरहितो ब्राह्मणो यत्र वसति, तत्र कल्याणी धेनुः, धूर्वहोऽनड्वांश्च न भवति तस्माद् ब्राह्मणाय गौः प्रदेयैव, इति तात्पर्यमुपपद्यते। तदित्थमत्र सूक्ते स्त्री जायादिशब्दैर्धेनुबोधने सर्वं समञ्जसम्।

सर्वः स्वं ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च (मनु)
राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद् द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः।
विद्वानशेषमादद्यात् स सर्वस्य प्रभुर्यतः। (याज्ञवल्क्यः)

'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यम्'

इत्याद्यासु स्मृतिषु यद् ब्राह्मणस्योत्कृष्टं स्वत्वं, तद्द्रव्यस्यानपहार्यता च प्रतिपाद्यते—तत्सर्वमेतदादिश्रुतिमूलकमेवेति। स्त्री-जायादिशब्दानां पत्नीवाचकत्वे तु गोऽपहारप्रकरणेऽप्रक्रान्तार्थता प्रथमो दोषः! 'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः' इति च क्षत्रियवैश्यादीनां सर्वथाप्यविवाह एव प्रसज्जेत, तेषां पतित्वस्य श्रुत्या प्रतिषिध्यमानत्वात्। 'राजानः पुनर्ददु' रिति चाप्यनुपपन्नम् परस्त्रीग्रहणस्यैव राज्ञां सर्वथा अप्राप्ततया पुनर्दानविधेरसामञ्जस्यात्। गोविषये तु चौरादिभ्यो राज्ञस्तद्ग्रहणमुपपद्यत एव। 'येऽस्या दोहमुपासते' (म० १७) इति च सर्वथाऽनुपपद्यमानार्थकमेव भवेत्। 'विजानिर्यत्र ब्राह्मण' (म० १७) इत्याद्यपि विपरीतार्थकम्, यत्र यत्र ब्राह्मणो वसेत्तत्र तस्मै जाया प्रदेयेति कल्पनापातप्रसङ्गात्। तस्मात्सूत्रकृदुक्तिमनुसृत्य गोऽपहारे विनियुक्ते सूक्ते स्त्रीजायादिशब्दैर्धेनुरेव बोध्येति नास्य मन्त्रस्य प्रकृते कोऽपि संबन्धः।

अथापि कथंचित् प्रसङ्गात् साक्षात्स्त्रीविषयकत्वमेवास्य व्याख्यायेताग्रहेण, तथापि किं भवता मन्त्रेणानेन साधनीयम्। 'यस्याः दद्यापि पूर्वे पतयः स्युः,

अथापि यदि ब्राह्मणस्तां गृह्णाति तर्हि स एव मुख्यः पतिर्भवति, तथा च सर्वेषां दारापहारे ब्राह्मणानामधिकारः सिद्ध्येत्, न चैतदिष्टं स्यात्कस्यापि। पूर्वपूर्व-पतिमरणे क्रमेणैकादशपतिकरणन्तु न कथमपि मन्त्रादस्माल्लभ्यम्, अस्य मन्त्रस्य केवलं ब्राह्मणोत्कर्षख्यापकत्वेन विवाहविधावेकादशपतिविधायकत्वानुपपत्तेः। तथाभूतेऽर्थे कल्प्यमाने ब्राह्मणपदस्यानुपयोगात्। सर्वोऽपि हि भवन्मते परः परः पतिरेव मुख्यो भवतीति किं ब्राह्मणग्रहणेन। उत्तरस्य च मन्त्रस्य न किमपि तात्पर्यमुपपद्येत। तस्माद् 'यदि पूर्वं दशभ्योऽपि पतिभ्यो (भविष्यद्वृत्त्या पतिशब्दप्रयोगः) अब्राह्मणेभ्यो वाग्दानं भवेत् अथापि यदि ब्राह्मणो हस्तं गृह्णीयात् तर्हि स एव पतिर्मन्तव्यः' इति ब्राह्मणाय कन्यादानस्य प्राशस्त्यमयं मन्त्रो बोधयेन्नान्या कापि कल्पना सामञ्जस्येनोपपद्येत। उत्तरार्द्धे 'हस्तमग्रहीत्' इत्युक्त्या च पूर्वेषां पतीनां हस्तग्रहणपर्यन्तसंस्काराभावो गम्यत इति वाग्दानसं-प्रदानान्येव ते भवेयुः।

तथा च—'दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्'

इत्यादिना याज्ञवल्क्यादिभिस्तदुत्कृष्टस्य वरस्य लाभे वाग्दत्तायाः पूर्वस्मा-द्वरादपहारस्तस्मा अप्रदानरूप उक्तः, सप्तपद्यान्तु जातायां निष्ठा विवाहस्योक्ता, तदेव मन्त्रादप्यस्माल्लभ्यम्। ब्राह्मणपदस्योत्कृष्टब्राह्मणपरत्वात्। क्षत्रियकन्या-दीनां वा ब्राह्मणवरलाभस्योत्कृष्टता पूर्वेतिहासदृष्टा मन्त्रतात्पर्यविषयास्तु, विधवो-द्वाहस्य तु नास्त्येव कोऽप्यत्र संबन्ध इति स्वयमेव विचार्यम्।

केचित्तु पूर्वे दश पतयोऽब्राह्मणाः, ब्राह्मणपदस्योपलक्षणत्वादमनुष्या अर्था-द्देवा भवन्ति, अनन्तरं च ब्रह्मा-ब्राह्मणादि कश्चित्पुरुषो हस्तं यो गृह्णाति, स एव मुख्यः यावज्जीवनं पतित्वकार्यनिर्वाहको भवति—इति मन्त्रार्थं व्याचक्षते दश देवांश्च—

> इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा।
> भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुता ब्रह्म सोम
> इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु (अथर्व १४ १ ५४)

इति मन्त्रोक्तान् स्त्रियाः पतीनाहुः। एते च दशदेवाः 'सोमः प्रथमो विविदे' इति व्याख्यास्यमानमन्त्रोक्तानां त्रयाणां देवानामेवाङ्गभूता विस्तरेण निर्दिष्टा इति न कश्चिद्विरोधः। 'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः' इत्युत्तर-मन्त्रोक्त्या च ब्राह्मणस्यैव पतित्वं मुख्यम्—क्षत्रियादिषु तु गौणम्—तेन क्षत्रिया-दिभिः कदाचिन्नियोगादिकमापद्यनुष्ठितमपि, ब्राह्मणानां तु न क्वाप्ययं दृष्टो धर्म इत्यादिरीत्या प्रकरणमनपेक्ष्यापि व्यवस्थापयन्ति। अस्तु यथाकथंचित्, विधवो-द्वाहेन तु न कोऽपि मन्त्रस्यास्य संबन्ध इति सुस्थिरीभूतमिदम्।

अथ ये—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः।
सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीरसूर्देवृकामा॥
स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य। (१०, ८५, ४४)

इति विवाहविधौ विनियुक्ते मन्त्रे 'देवृकामे' ति पदं दृष्ट्वा देवरेण विवाहं नियोगं वा धर्म्यमाकलयन्ति, ते तु 'पुत्रकामे' ति दृष्ट्वा पुत्रेणापि सहावाच्यमकर्म कारयिष्यन्तीति दूरत एव ते प्रणम्याः। इयं भार्या देवरमपीच्छतु, देवरा मे भवन्त्वित्याशास्तु, देवरेषु स्निग्धा भवतु, मा देवरविद्रोहिणी भूदित्येव मन्त्रेण प्रार्थनीयमिति तु स्थूलधियामपि सुखेनावबोध्योऽर्थः। प्रवृत्ते विवाहकर्मणि देवरमपीयं नियोगार्थं कामयतामिति तु वरकर्तृकैवाशंसा कियद्विन्दते सामञ्जस्यमिति विचारं सहृदयेष्वेव निक्षिप्य तूष्णीमास्महे। तदित्थं विधवोद्वाहलालसैः स्वाभीष्टसमर्पकत्वेन समाश्रिताः श्रुतयो याथार्थ्येन व्याख्याताः।

अथाग्रहग्रहिलतया वैयाकुलीमुपगता इव खे खेलितुं गर्तं खनन्त इव केचिद्विपरीतप्रज्ञा विरुद्धार्थाभिधायीन्यपि कानिचिच्छ्रुतिवाक्यानि स्वपक्षसमर्थकत्वेनाददते। तान्यपि मनाक् कौतुकाय पर्यालोच्यन्ते। तत्र केचित्—

नैकस्यै बहवः सह पतयः' (ऐ. ब्रा. १२ अ० १२ ख०) इत्यैतरेयश्रुतौ सहशब्दं साहचर्याभिधायकत्वेन तुल्यकालार्थकं व्याख्याय 'तुल्यकालमेकस्याः स्त्रिया बहवः पतयो न भवन्ति' 'तेन भिन्ने तु काले बहवो भवन्त्येवे' त्याशयमुद्घाटयन्तो विधवोद्वाहं समर्थयन्ते। अहो दुःसाहसिकाः! तस्माद् दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्' (ऐ० ब्रा० १ अ० ६ ख०) इतिश्रुतेर्दीक्षाधारणाभावकाले यज्ञकर्मणोऽन्यत्र मिथ्यावादविधाने तात्पर्यं किमु भवन्तोऽवधारयेयुः? 'रुजार्तो न पीडनीयः' इति चोपदेशमाकर्ण्यान्योऽन्यत्र पीडनीय एवेत्येव किमु भवतां बुद्धिरध्यवस्यति? सुवर्णस्तेयं महापातकमभिमन्यमानाः स्मृतिकाराः किमु सुवर्णातिरिक्तं द्रव्यमपहर्तुमनुजानन्ति? वयन्तु पश्यामः दीक्षितस्य सत्यवदनविधिः सत्यवदनं यत्नातिशयेन ग्राहयति, न त्वन्यत्रासत्यभाषणाभ्यनुज्ञायां तात्पर्यम्, अन्यत्रापि यदि कश्चिदसत्यं वदेत्, अवश्यं स प्रत्यवेयात्। रोगार्तस्य पीडने सुवर्णस्तेये च पापबहुत्वं ख्याप्यते, अन्यस्यापि पीडनेऽन्यद्रव्यस्तेयेऽपि चास्त्येवाधर्मः—तथैव 'नैकस्यै बहवः सह पतयः' इत्यनुवादेनापि सामर्थ्यान्निषेधमाक्षिपता तुल्यकालं बहुपतिपरिग्रहस्यात्यन्तप्रतिषिद्धता पापबहुत्वं वा तत्र ख्याप्येत, भिन्नेऽपि तु काले सर्वथाप्यधर्म एव स इति कल्पनायां नेदं वचनं प्रतिकूलम्, दूरे त्वनेन वचनेन विधवोद्वाहस्य धर्म्यत्वप्रकल्पना। ननु वचनान्तरैरन्यदाप्यसत्यभाषणादीनां पातकत्वं सिध्यति, न तूदाहृतैः प्रमाणैरिति चेत्—इहापि यथा वचनान्तराण्यभ्यनुजानन्ति तथैव व्यवस्थाप्यताम्, व्यर्थमस्य वचनस्य शरणग्रहणम्।

वस्तुतस्तु वचनमिदं सर्वदा बहुपतित्वं प्रतिषेधतीति विधवोद्वाहसाधकानां परं प्रतिकूलम् । यथा हि प्रकरणमेतदीयम्—

'ऋक् च वा इदमग्ने साम चास्ताम्, सा–एव नाम ऋगासीद्, अमो नाम साम । सा वा ऋक् साम उपावदद्–'मिथुनं संभवाव प्रजात्यै–इति । नेत्यब्रवीत् साम–'ज्यायान् वा अतो मम महिमेति' । ते द्वे भूत्वोपावदताम्, ते न प्रति चन समवदत । तास्तिस्रो भूत्वोपावदन्, तत्तिसृभिः समभवत् । यत्तिसृभिः समभवत्—तस्मात्तिसृभिः स्तुवन्ति, तिसृभिरुद्गायन्ति, तिसृभिर्हि साम संमितम् । तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सह पतयः । यद्वै तत् सा चामश्च समभवतां तत्सामाभवत् । तत् साम्नः सामत्वम् ।' इतीयमाख्यायिका श्रूयत ऐतरेयब्राह्मणे (१२ अ० १२ ख०) ।

अयमत्राभिप्रायः—बह्व्य ऋच एकेन साम्ना साम्यं विन्दन्ति । साम्नो हि गेयतया महांस्तस्य कालपरिच्छेदः, ऋचः पाठे स्वल्प एव तदपेक्षयापेक्ष्यते कालः । तस्यास्य साम्नः पुरुषत्वमृचां च स्त्रीत्वं परिकल्प्य तद्दृष्टान्तेन बह्व्यः स्त्रिय एकस्य पुरुषस्य संभवन्ति, एकस्य साम्न इव संमितास्तिस्र ऋचः, बहवस्तु पुरुषा नैकस्याः स्त्रियाः संभवन्ति, एकस्या ऋच इव बहूनि सामानीति ख्यापितं श्रुत्या । तदत्र दृष्टान्ते न कदाचिदपि कालभेदे वा कालैक्ये वा ऋच एकस्या बहूनि सामानि भवन्तीति तुल्यन्यायात् स्त्रिया अप्येकस्या न कदाचिदपि पुरुषैर्बहुभिर्भवितव्यम् । 'नैकस्यै बहवः सहपतयः' इति सहशब्दश्चायं सदृशवचनोऽर्थानुगुण्यात् । तेन सदृशाः एकविधाः बहवः पतय एकस्या न भवन्ति, वक्ष्यमाणाः सोमगन्धर्वादयस्तु न मनुष्येण सदृशाः देवत्वात्, तेषां च पतित्वस्यौपचारिकत्वात्, तेन तेषां बहूनामपि सत्त्वे न क्षतिः । ये वा पालकत्वेन पतय उच्यन्ते, पितृभ्रातृनृपादयस्तेऽपि न पाणिग्रहीत्रा समानाः, तेषां पतित्वस्यान्यविधत्वात्, प्रजोत्पादकः पुरुषस्तु पतिर्यावज्जीवमेक एव स्त्रिया धर्म्य इत्येव तात्पर्यं श्रुतेः ।

अतएव तैत्तिरीयसंहितायां सहशब्दमन्तरेणैव श्रूयते यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति, तस्मादेको द्वे जाये विन्दते यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते, इति ।

(तैत्ति० सं० ६ का० ६ प्रपा० ४ अनु० ख३)

इह हि यूपरशनादृष्टान्तेनोक्त एवार्थः समर्थितः । यत्रे ह्येकस्मिद् यूपे द्वे रशने बध्येते, एका तु रशना न कदापि द्वयोर्यूपयोर्बध्यते । तथैव पुरुषस्यैकस्यानेका अपि स्त्रियो भवन्ति, स्त्रियास्त्वेकस्या न पुरुषैर्बहुभिः कदापि योगः संभवति । इह नैव सहशब्द उपात्त इति सर्वदैव सर्वथैव पत्यन्तरप्रतिषेधोऽस्मादुन्नीयेत ।

दृष्टान्तेऽपि च नैकस्मिन् काले नापि वा भिन्नयोः कालयोरेका रशना यज्ञे कदापि यूपयोर्द्वयोर्बध्यते। तस्मादेक काले कालभेदेन वा नैव स्त्रिया एकस्याः पतिद्वयमपि श्रुतिरनुमन्यत इति का कथैकादशानाम्। एतत्संहितैकवाक्यतया च पूर्वोक्ताया-मैतरेयब्राह्मणश्रुतावपि नहि सहशब्दस्तुल्यकालवचनः, इतरथा ह्येका सर्वथापि पातिद्वयं प्रतिषेधति अपरा चैकस्मिन्नेव काले प्रतिषेधतीति श्रुत्योर्विसंवादः-प्रसज्येत। तस्मादेकवाक्यत्वाय दृष्टान्तानुगुण्याय च सर्वकालसम्बन्धेनैव पतिद्वय-प्रतिषेधः प्रत्यक्षमस्याः श्रुतेर्बोध्य,इत्येतद्विरुद्धा सर्वापि कल्पना श्रुतिविरोधादेवा-प्रामाण्यगर्ते निखननीयेत्यलं पल्लवितेन।

अथैतानपि विवाहविधौ वरकर्तृकोच्चारणे विनियुक्तान् सुस्पष्टं पुनरुद्वाहप्रति-षेधकरानपि मन्त्रान् केचन साधकत्वे नोपस्थापयन्ति।

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
(ऋ० सं० ॥८५॥ ४०)

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददद्ग्नये।
(अथ० १४।२ अनु २ सू०)

रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्।
(ऋ० १०।८५।४१)

इत्थमत्र व्याचक्षते—ईश्वरः स्त्रियं प्रतिबोधयति। 'हे स्त्रि! ते प्रथमः पतिर्यो विविदे—प्राप्तः, स सुकुमारत्वादिगुणयोगात्सोमसादृश्यात्सोमपदाभिधेयः। उत्तरः, द्वितीयश्च यो नियोगेन विवाहान्तरेण वा प्राप्तः, स एकया स्त्रिया पूर्वं संयुक्तत्वा-त्कामकलाप्रावीण्येन गन्धर्वपदेनाभिधेयः। अथ यस्तथैव तृतीयः प्राप्तः, सोऽत्युु-ष्णतायोगादग्निपदेन वाच्यः। अग्रे तुरीय इत्युपलक्षणम्, चतुर्थमारभ्यैकादश-पर्यन्ता ये पतयस्ते मनुष्यजाः भवन्ति, मनुष्यपदेनैव साधारणेनाभिधातव्यः'। एष एवार्थ उत्तरयोरपि मन्त्रयोः शब्दान्तरैरभिहितः। तथा च प्रथमस्य पत्युः सोमसंज्ञा, द्वितीयस्य गन्धर्वसंज्ञा, तृतीयस्याग्निसंज्ञा, तुरीयप्रभृतीनां च सामान्या मनुष्यसंज्ञैवेति स्फुटमभिप्रायं मन्त्रस्योपवर्ण्य पुरुषबहुत्वमेकस्याः स्त्रिया साधयितुं संनह्यन्ति।

इत्थमत्र समालोच्यम्—उक्तार्थपर्यालोचने क्रमेण स्त्रियैकया संयुज्यमानान पुरुषानुद्दिश्य सोमगन्धर्वादिसंज्ञाः श्रुत्यानया विहिताः स्युः। किमर्थं तदिदं संज्ञा

विधानमिति पृच्छामः ? संज्ञा हि सर्ववस्तूनां व्यवहाराय विधीयन्ते बहुत्र तत्तद्विधिसौकर्याय वा शास्त्रकाराः स्वशास्त्रे काश्चित्संज्ञाः परिभाषन्ते—पाणिनिरिव गुणवृद्ध्यादिसंज्ञाः ।

न चात्र लोकेऽन्यत्र शास्त्रेषु वा तादृशपुरुषविषये सोमगन्धर्वाग्न्यादीन् व्यवहारान् पश्यामः । न हि कश्चिदपि कश्चिदपि विवाहितं प्रथमं पतिं सोमपदेन संबोधयन् दृष्टः, नियुक्तं वा गन्धर्वाग्निपदाभ्याम् , नापि शास्त्रे दृष्टस्तथा व्यवहारः क्वापि । न च श्रुतावपि तथाविधान् सोमादीनुद्दिश्य क्वचिद्धर्मान्तरं विधीयमानं दृष्टं येन पाणिन्यादीनामिव परिभाषाप्रकल्पनं संभाव्येत । ततश्च व्यर्थमिदं संज्ञाविधानं कथं श्रुतिसंरम्भगोचरं स्यात् ? कथं वा व्यर्थप्रायैर्वंविधप्रलापशतसंदब्धा श्रुतिरीश्वरप्रणीतेति गौरवास्पदं स्यात् ? किं च नामान्येव केवलं श्रुत्याऽनया विधीयन्ते, उत पत्यन्तराभिगमनमपि तदाक्षिप्तम् ? अन्ते पत्यन्तरमनभिगच्छन्ती यावज्जीवमेव पतिपरायणा श्रुतिविरुद्धकारिणीति पतिता भवेत् , न चैतदिष्टं भवदीयानामपि । इच्छन्त्या नियोगं श्रुतिर्विधत्त इति चेन्नैतन्मन्त्रे श्रुतम्, तत्र हि स्फुटं सर्वविषयिणी भवेदियमाज्ञा । तथा च संध्यामनुपासितेव ब्राह्मणादिर्नियोगमकुर्वाणा योषिदवश्यं पतेदिति साधुधार्मिकोऽध्वानुसृतः स्यात् । नाममात्रविधानपक्षे तु पत्यन्तरविधाने न श्रुतेर्व्यापार इति कथं विधवोद्वाहो वा नियोगो वा सिद्धिमनेन मन्त्रेण विन्देत । असति पत्यन्तरे कस्य भवेन्नामेति तदर्थं पत्यन्तरमाक्षेप्तव्यमित्येवं विधा तु कल्पना 'कुहस्विद्दोषेति' 'यापूर्वं पति'मिति च मन्त्रव्यवस्थायां सुदूरमुत्क्षिप्ता पूर्वम् । या शास्त्रमतिक्रामन्ती व्यभिचरति, तत्रापि नामविधिसंभवात् । दृश्यन्ते हि चौरजारादीन्यपि नामानि शास्त्रेषु न हि तावता तत्कार्याणां धर्मत्वं भवतीति । तथा च विधिविवेकशून्यतया मन्त्रोऽयमनर्थकप्रलाप एव प्रसज्येत । तदित्थं श्रुतिवचनानां स्वारस्यं कुत्रेति कुशलप्रज्ञा विचारयन्तु ।[1]

---

१. अपूर्ण एव संप्राप्तोयं निबन्धः ।—सम्पादकः ।

स्पर्शादौ शास्त्रीया व्यवस्था

इह खल्विदानीमस्पृश्यतया शिष्टसम्प्रदाये गृहीतानां केषाञ्चित् चर्मकारादीनां प्रतिलोमसंकरजातीयानां विधर्मिभिः समाजसंशोधकमानिभिश्च कथञ्चित् बुद्धिभेदं प्रापितानां, यवनखेष्टादिभिः समं व्यवहरतामपि केषाञ्चित् वर्णाश्रमानुयायिनां स्वेष्वसंव्यवहार्यतामालोक्य हिन्दूसमाजान्तर्गतत्वे स्वेषामपमानमिव विभावयतां हिन्दूसमाजं परित्यज्य मतान्तरं प्रविविक्षूणां परितोषं व्यवस्थाप्य तेषां हिन्दूसमाजान्तर्गतत्वरक्षणेन गोरक्षकतां सुस्थिरीकर्तुमस्ति कश्चिच्छास्त्रानुमतः पन्था नवेति बहुशो हिन्दूसमाजहितैषिभिर्व्यथितान्तरैर्विचार्यते। तत्र च किमिदमसंव्यवहार्यत्वमस्पृश्यत्वं वा शास्त्रानुमतमास्ते न वा? सत्त्वेऽपि चैवं विधास्वापत्सु सापवादं नित्यं वा? अपवादाश्चेत् कीदृशाः? केषु च स्थानेषु कथं विधा संव्यवहार्यता कथंचिच्छास्त्रेणानुमन्यते? कथं विधानि च संव्यवहारे प्रायश्चित्तानि स्मर्यन्त इत्याद्या बहूनां जिज्ञासाः समुत्तिष्ठन्ते लोकानाम्। तत्र तावदाहुः केचिदिदानीन्तनाः यत् सर्वेषामपि मनुष्याणां समानाधिकारताया औचित्येन कस्याश्चिज्जातिविशेषस्य सवर्थाप्यसंव्यवहार्यतायाः प्रकल्पनं नितरां न युक्तिसहम् प्रत्युत तज्जात्युपमर्दनः द्वेषमूलकोऽयमत्याचारः। नाप्ययं श्रौतो धर्मः, तत्र—

> 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'।
> 'समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः'॥
>
> 'समानो मया सह वोऽन्नभागः'

इत्यादिभिर्वचनजातैः समानस्यैवाधिकारस्य प्रतिपादनत्वात् परस्परं सह भाव-सहभोजनोपदेशाच्च। स्मृतिषु तु क्वचित्तथाविधवचनान्युपलभ्यमानानि श्रुतिविरुद्धतया न प्रमाणकोटिमारोढुमीशते, अपितु द्वेषपक्षपातादिवशीभूतैरर्वाचीनैः प्रकल्पितानि परित्यागार्हाण्येव। तस्मात् समानमेव सहासन-सहभोजनादिभि सर्वैः सह यथेच्छं संव्यवहर्तव्यम्, येन पारस्परिकप्रेमवृद्ध्या समुन्नतिरस्मत्समाजस्य संसिद्ध्येदिति।

तदिदं श्रुतिस्मृत्यनुयायिनो धार्मिका न संमन्यन्ते। आहार-निद्रा-भय-कोप-कामादिषु केषुचित् कर्मसु सर्वमनुष्य साधारण्येन स्थितेष्वपि कर्माधिकारभेदप्रयोजकस्य योनिहेतुकस्य योग्यताभेदस्य प्रत्यक्षं परिदृष्टत्वात्। स्पर्शादिसंव्यवहारे परस्परप्रभावसंक्रमस्य विज्ञानानुमोदितत्वाच्च। न ह्ययमसंव्यवहारो-

नाम कथंचिदपि परेष्वत्याचारः, अपितूच्चवर्णानां स्वप्रभावशक्त्यादिसंरक्षण-फलक आत्मसंयमः, तच्चेदं शक्तिसंरक्षणं वर्णव्यवस्थोपयोगितया समाजहितायैवेति न कथञ्चिदपि पक्षपाते द्वेषे वा पर्यवस्यति। अत एवोच्चवर्णानां प्रतिलोमसंकरैः संव्यवहारेन न प्रतिलोमसंकराणां कोऽपि दण्डः स्मर्यते, अपितूच्चवर्णानामेव प्रायश्चित्तमिति कथमिदमत्याचारतया परिगण्यताम्। तत एव च नेयमसंव्यवहार्यता पारस्परिकधर्मसंरक्षणोद्देश्येनानुष्ठीयमाना पारस्परिके प्रेम्णि कथमपि प्रतिबन्धकतामाप्नुयात्, कर्त्तव्यपालनस्य विरोधजनकताया दूरापास्तत्वात्, भोजनस्पर्शादिसंव्यवहारस्य प्रीतिप्रयोजकताया व्यभिचरितत्वाच्च। द्वेषादिर्बुद्धिभेदस्तु शास्त्राननुमतेः परित्याज्य एव। न चेदमसंव्यवहार्यत्वमशास्त्रीयमिति शंकितव्यम्।

न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥
(वर्णसंकरप्रकरणे मनुः–१०।५३)

न संवसेच्च पतितैर्न चण्डालैर्न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च।
आसंवत्सरात् पतितेन सहाचरद् पतति,
यह यानासनाभ्याम्, योनिश्रौतसंबन्धात् सद्य एवेति॥
(वि० पु०)

न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत।
(गौतमः अ० ९।१)

एकशय्यासनं भाण्डं पङ्क्त्यन्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापनं योनिस्तथा च सह भोजनम्॥
नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽधमैः सह।
(बृहस्पतिः)

संलापस्पर्शनिश्वासात् सह शय्यासनाशनात्।
याजनाध्यापनाद्यौनात् पापं संक्रमते नृणाम्॥
(देवलः)

चण्डालस्पर्शने सम्भाषायां दर्शने च दोषः।
(आपस्तम्बः)

इत्यादिभिः शतशः स्मृति वचनैः संव्यवहारस्य स्फुटं प्रतिषिद्धत्वात्।

'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्।'

इति मीमांसकाद्मविरुद्धया स्मृत्या श्रुत्यनुमानं साटोपं संसाधयतां विच-क्षणास्तेषां वर्णानामधिकारभेदं तारतम्यञ्च श्रुतिरिव भगवती सुस्फुटं प्रतिपादयति संव्यवहारनिषेधं च। यज्ञमनुतिष्ठतो यजमानस्य 'तस्माद्यद्येनं शूद्रेण संवादो विन्देत्, एतेषां (ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामक्रान्तानाम्) एवैकं ब्रूयादिमामिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्वेति'।

(शतपथ ब्रा० ३।१।१।८, ९)

इत्याद्याभिः श्रुतिभिः शूद्रसम्भाषणादेः स्फुटं प्रतिषिद्धत्वात्। किमन्यत्—यज्ञशालायामन्तर्गमनमपि शूद्रादीनां स्फुटं प्रतिषिद्धं श्रुतिषु।

(शतपथ ३।१।२)

संगच्छध्वमित्याद्या श्रुतिस्तु परस्परं सहानुभूतिलक्षणं प्रेमाणमेव विदधाति, न तु संव्यवहारमपि।

'सं वो मनांसि जानताम्', 'समाना हृदयानि वः' इत्यादेर्मनःसम्बन्धस्य दिष्टत्वात्।

'समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः समनियोक्ते सहवो युनक्मि।'

(अथर्व० ३।६।३०)

इत्याद्यासु तु श्रुतिषु—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो समाम्नाताम्नातरंद्विषन्'

इत्याद्येककुटुम्बविषयं प्रक्रम्य प्रवृत्तासु प्रकरणादेककुटुम्बान्तर्गतानामेकत्र भोगदानादिकं विधीयते न तु सर्ववर्णजातीनाम्। तस्मादसंव्यवहार्यत्वमिदं शास्त्रानुमतमित्यविवादोऽयमर्थः। कीदृशस्तु संव्यवहारः क्व प्रतिषिध्यते, कथं तत्र प्रायश्चित्तम्, क्व चापवादः, कथं च कालेऽस्मिन् निर्वाहयोग्यतेति विशेषास्तु संक्षेपेण विचार्याः। तत्र च विस्तरभिया पूर्वपक्षादिपद्धतिं परित्यज्य सिद्धान्त मुखेनैव प्रवर्तामहे।

द्वैविध्यं खल्वस्पृश्येषु स्मर्यते अन्त्यजाश्चान्त्यावसायिनश्च। तदुक्तं स्मृतिषु—

रजकः चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च।
कैवर्त भेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजाः स्मृताः॥

(यमः, अत्रिः)

चण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहकस्तथा।
मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिनः॥

(अङ्गिराः)

तत्रान्त्यावसायिनामपेक्षयान्त्यजानां संव्यवहारे प्रायेण प्रायश्चित्तास्तत्र-तत्र स्मर्यते। चाण्डालस्याज्ञातस्य गृहनिवासे विज्ञाते द्वादशदिनं व्रतं गृहदाहादिश्च, कामतश्चान्द्रायणं पराको वा, अन्त्यजानां तु तथा निवासे तद् न च गृहदाहः, चाण्डालानामन्त्यजानां चोच्छिष्टभक्षणे चान्द्रायणम्, चाण्डालस्त्रीषु कामतो गमने गुरुतल्पसमं, सकृद्गमने कामतः कृच्छ्राब्दम्, अकामतस्तु चान्द्रायणद्वयम्, अन्त्यजासु तु कामतश्चान्द्रायणद्वयम्, अकामतस्तु चान्द्रायणम्, चाण्डालान्न-भोजने चान्द्रायणद्वयम्, अन्त्यजान्नभोजने तु चान्द्रायणम्, चाण्डालोदकपाने षड्रात्रव्रतम्, अन्त्यजे तदर्धम्। चाण्डालभाण्डस्योदकपाने बुद्धिपूर्वके सान्तपनं विप्रस्य, अन्त्यजभाण्डोदकपानं तु ब्रह्मकूर्चोपवासः। उच्छिष्टास्यं चाण्डालस्पर्शे कामतः प्राजापत्यं, अकामतस्त्रिरात्रव्रतम्, गायत्र्यष्टसहस्रजपोऽपदाशतजपः पञ्चगव्यं च, अन्त्यजान्नतूच्छिष्टेन स्पर्शे कामतस्त्रिरात्रं, तैरप्युच्छिष्टैरुच्छिष्टस्य स्पर्शे षड्रात्रम्, इत्यादेः प्रायश्चित्तविशेषस्य तत्र-तत्र स्मर्यमाणत्वात्। किं च प्रायश्चित्तमयूखे प्रायश्चित्तविवेके च शूलपाणिकृते चाण्डालाद्यपेक्षयान्त्यजानां संव्यवहारेऽर्द्धं प्रायश्चित्तमिति स्फुटमेव मुखेन व्यवस्थापितम्। स्पर्शविषयेऽपि चाण्डालस्य साक्षात् स्पर्शे सचैलं स्नानमिति सर्वेषामेव स्मृतिकाराणामुपदेशः—

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति॥

(मनुः)

चाण्डालपुल्कसम्लेच्छभिल्लपारसिकादिकान्।
महापातकिनश्चैव स्पृष्ट्वा स्नायात् सचैलकः॥

(मयूखदधृतयाज्ञवल्क्यवचनम्)

चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत्।

(पराशरः)

इत्यादिः। कामतस्तु चाण्डालस्पर्शे—

पतितं सूतिकामन्त्यं शवं स्पृष्ट्वा च कामतः।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥

इति विशेषोऽपि बृहस्पतिना दर्शितः। अग्निस्पर्शो महाव्याहृतिहोम इति मयूखकारादयः। वचनेऽस्मिन्नन्त्यपदं चाण्डालाभिप्रायकमिति सर्वेषामपि निबन्ध-काराणामभिमतम्। अथ शास्त्रमनादृत्य कामतोऽभिनिवेशेन स्पर्शे-अकामतोऽभ्यासे वा कैश्चिद् सचैलमम्भोऽवगाह्योत्तीर्याग्निमुपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेत्, घृतं प्राश्य पुनः स्नात्वा त्रिराचमेत्।

(च्यवनः)

रजस्वलां सूतिकां वा चाण्डालं पतितं तथा ।
पाखण्डिनं विकर्मस्थं श्वैवं स्पृष्ट्वाप्यकामतः ॥
गोमयेनानुलिप्ताङ्गः सवासा जलमाविशेत् ।
गायत्र्यष्टशतं जप्त्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ।

(वृद्धहारीतः)

इत्यादिर्विशेषोऽप्यभिहितः अयं तु विशेषः वर्णाश्रमोत्तमादर्शरक्षिणां साग्नीनामत्यन्तपवित्राणां व्रतस्थादीनां वा सम्भाव्यते, सचैलस्नानमात्रस्यैवेदानीं शिष्टसमाजादृतत्वदर्शनात्, मन्वादिभिस्तथैव प्रतिपादितत्वाच्च । सर्वाङ्गीणो चण्डालस्पर्शे त्रिरात्रमपि पूर्वोक्तगुणवतां व्रतयज्ञादिस्थानामेव च संभाव्यते इति कृतं प्रपञ्चेन । चाण्डालस्पृष्टेन चेतनभिन्नेन वस्त्रादिना स्पर्शे आचमनाच्छुद्धिः, एककाल एवैकस्रस्तराद्यासने तु साक्षादस्पर्शेऽपि स्नानमेव ।

एकशाखां समारूढश्चाण्डालादिर्यदा भवेत् ।
ब्राह्मणस्तत्र निवसन् स्नानेन शुचितामियात् ॥

(आपस्तम्बः)

मूढः स्रस्तरे वाऽसंस्पृशन्नपि तान् प्रपतो मन्यते ।

(आपस्तम्बसूत्रं शूलपाणिधृतम्)

इत्यादि वचनात् । अथ चाण्डालस्पृष्टेन मनुष्यादिना चेतनेन स्पर्शे तु मतभेदः, आचमनमात्रमिति केचित्—

'संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्'

(याज्ञवल्क्यः)

इत्यादिवचनात् । अशक्तविषयमेतद् वचनम्, अशक्त्यभावे तु तत्रापि स्नानमेव, तृतीयेऽपि स्नानम्, चतुर्थेस्त्वाचमनमिति बहवो निबन्धकृतः । इदं सर्वमन्त्यावसायिस्पर्शे, रजकचर्मकाराद्यन्त्यजस्पर्शे तु—

चर्मारं रजकं वेणं धीवरं नटमेव च ।
एतान् स्पृष्ट्वा द्विजो मोहादाचमेत् प्रयतोऽपि सन् ॥ (संवर्तः)

रजकश्चर्मकृच्चैव व्याधजात्योपजीविनौ ।
निर्णेजकः सौनिकश्च ठकः शैलूषकस्तथा ॥
मुखे भगस्तथा श्वा च वनिता सर्ववर्णगा ।
चक्री ध्वजी वध्यघाती ग्राम्यशूकरकुक्कुटौ ॥
एभिर्यदङ्गं संस्पृष्टं शिरोवर्जं द्विजातिषु ।
तोयेन क्षालनं कृत्वा आचान्तः शुचितामियात् ॥ (शातातपः)

इत्यादि वचनान्यवलम्ब्य अकामतः स्पर्शे आचमनमात्रम्, कामतः स्पर्शे स्पृष्टाङ्गक्षालनपूर्वकमाचमनम्, शिरःस्पर्शे तु स्नानमिति शूलपाणिः प्रायश्चित्तविवेके व्यवस्थापयति मयूखेऽप्येवमेव। मिताक्षराकृदादयस्त्वन्त्यजस्पर्शनं विचारयन्त्येव। इत्थं च—

चण्डालं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शवमन्त्यजम्।
सूचिकां सूतिकां नारीरजसा च परिप्लुताम्॥

श्वकुक्कुटवराहांश्च ग्राम्यान् संस्पृश्य मानवः।
सचैलं सशिरः स्नात्वा तदानीमेव शुद्ध्यति॥

(मयूखे शातातपः)

इत्यादिषु यत्क्वचित् अन्यजस्पर्शे स्नानमुक्तम्, तच्छिरःस्पर्शविषयतयैवोपसंहर्तव्यम्-कर्मकालपरतया यायजूकविशिष्टब्राह्मणपरतया वा नेयम्, पूर्वोक्तवचनैकवाक्यत्वात्। तथैव च व्यवस्थापितं शूलपाणिमयूखकृदादिभिः। क्वचित्त्वन्त्यपदमन्त्यजपदं वा चाण्डालबोधनायापि प्रयुक्तमुपलभामहे—

तथाहि—

पतितं सूतिकामन्त्यं शवं स्पृष्ट्वा च कामतः।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति॥

(बृहस्पतिः)

इति वचने, चण्डालपरमेवान्त्यपदं मयूखादिषु निबन्धेषु व्यवस्थापितम्।

अन्त्याजानां तु गमने भोजने संप्रमापणे।
पराकेण विशुद्धिः स्याद् भगवानङ्गिराब्रवीत्॥

इति पराशरभाष्यावधृते च वचनेऽन्त्यजपदं चण्डालपदतयैव विद्वान्सो नयन्तीति। तदित्थं अन्त्यजशिरसि स्पृष्टे स्नानम्, चण्डालेन तु यथाकथंचित्स्पर्शेऽपि स्नानमेव व्यवस्थाप्यते। अतएव नैमित्तिकस्नानप्रकरणे प्रायेणनिबन्धकृद्भिश्चण्डालादिस्पर्शएव सस्नाननिमित्तकोपात्तः, न तु सर्वान्त्यजस्पर्शं इति। यत्तु व्यासेन—

चर्मकारो भटो भिल्लो रजकः पुष्करो नटः।
वरटो मेदचाण्डालौ दाशश्वपचकौलिकाः॥
एतेऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः।
एषां संभाषणात् स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम्॥

इति बहूनन्त्यजानुक्त्वा सर्वेषां सम्भाषणेऽपि स्नानमुक्तम्, यद्वा तत्रैव पाठभेदेन—

वर्द्धकी नापितो गोप आशाय: कुम्भकारकः ।
वणिक्किरातकायस्थ - मालाकार - कुटुम्बिनः ॥
वरटो मेद-चाण्डाल-दास-श्वपच-कौलिकाः ।
एतेऽन्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः ।
एषां सम्भाषणात् स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम् ॥

इति वर्द्धकिनापितगोपकुम्भकारमालाकारादीनप्यन्त्यजेषु गणयित्वा सर्वेषां संभाषणमात्रेऽपि स्नानमुक्तम्, तत्र संभाषणे संपृक्तानां भाषणमिति विग्रहात्यन्तं सन्निकृष्टाङ्गयोरव्यवधानस्थापितमुखयोः परस्परं कर्णे यदुपांशुभाषणं तदेव स्नाननिमित्ततया व्यवस्थापनीयम् । सामान्यदूरतः परस्परं व्यहरणमात्रेऽल्पस्य प्रायश्चित्तस्य बहुभिः स्मृतिकृद्भिरुपदिष्टत्वात् । तथाहि—

श्वपाकं वापि चाण्डालं विप्रः सम्भाषते यदि ।
द्विजसंभाषणं कुर्याद् सावित्रीं तु सकृज्जपेत् ॥
(इति पराशरः)

द्विजसम्भाषणाभावे गायत्रीजप इति विकल्पेन माधवो व्याचष्टे इति । हारीतश्चापि—'गायत्रीं वा जपेत्' इति सुस्पष्टं द्विजसम्भाषण—गायत्रीसकृज्जपयोर्विकल्पमाह ।

'चण्डालस्पर्शने संभाषायां दर्शने च दोषः । तत्र प्रायश्चित्तमवगाहनमपामुपस्पर्शनम्, संभाषायां ब्राह्मणसंभाषा, दर्शने ज्योतिषां दर्शनमिति ।
(आपस्तम्बः, सुमन्तुश्च)

स्मृत्यन्तरेष्वप्येवं द्रष्टव्यम् । तथा च चाण्डालसम्भाषणेऽपि यदा सम्भाषणमात्रं प्रायश्चित्तत्वेन स्मृतिकाराणामभिमतम्-तर्हि सर्वान्त्यजसम्भाषणमात्रे स्नानं कथं युक्तिसहं स्यात्, अन्त्यजानां चाण्डालापेक्षया द्वैगुण्येनोत्कर्षस्य दर्शितत्वात् । किञ्च—यदान्त्यजस्पर्शेऽप्यङ्गक्षालनपूर्वकमाचमनमात्रमुपदर्शितम्, स्मृतिकृदभिप्रेतम्—तदा सम्भाषणमात्रे स्नानकथा दूरापास्ता तस्मात् प्रायश्चित्तगौरवान्निमित्तगौरवमुन्नेयमिति न्यायेन यथोक्तसम्भाषणशब्दार्थं उन्नेयः । तत्र च युक्तमेव स्नानमिति । इह च स्मृत्यन्तरेषु सच्छूद्रत्वेन निर्णीतानां गोपनापित-वणिक्-कायस्थमालाकारादीनामन्त्यजेषु गणनाजात्यन्तराभिप्रायेण स्यात्, प्रसिद्धयन्ति हि बहुत्रैकनाम्नैवानेका जातयः, कायस्थ इति हि प्रतिष्ठिता क्षत्रियेभ्य उद्भूता जातिरप्यभिधीयते, कर्णमलशोधका, नेत्रावरणोत्पाटकाश्च प्रतिलोमसंकरविशेषापि कायस्थ इत्यभिधीयन्ते, नापिता अपि सन्ति केचिदुच्चाः, सन्ति केचित् नीचकर्मपराः प्रतिलोमजन्मानोऽपि । तथैव गोपवणिङ्-मालाकारादयोऽपि केचिदन्त्यजाः प्रसिद्धाभ्यः आभ्यो विलक्षणा एव क्वचिद्देशेषु तथा प्रसिद्धा भवेयुः ।

व्यासवाक्येऽन्त्यजपदम्—'अन्तमदो ऽन्त्यः, अन्त्याज्जायतेऽन्त्यजः' इति व्युत्पत्त्या शूद्रसामान्यबोधकं वा स्यादिति कृतमप्रकृतप्रपञ्चेन ।

अथ यत् सामान्येन शूद्रमात्रस्पर्शस्यापि मिताक्षरा–मयूखादिषु निषेध उक्त-स्तत्र च स्नानमभिहितम्, तत्तु संध्याग्निहोत्रपूजादिकर्मकाले, व्रतस्थस्यो-च्छिष्टादिदशाविशेष एव विज्ञेयम्, न तु पञ्चमहायज्ञाद्यधिकारित्वेन भोज्यान्न-त्वेनार्द्रसीरित्वादिविशिष्टयोग्यसम्बन्धत्वेन च स्मृतिकृद्भिः स्वीकृतानां पात्राद-बहिष्ठितानां सर्वेषामपि शूद्राणां सामान्येनास्पृश्यत्वे सम्भवति, तथा सति सर्व-व्यवस्थावैयाकुलीप्रसङ्गात् । अत एव मदनपारिजात-प्रायश्चित्तविवेक-स्मृति-तत्त्वादिषु गौडमहानिबन्धेषु न क्वचिदपि सामान्येन शूद्राणामस्पृश्यता व्यवस्था-पिता, न वा तत्स्पर्शे स्नानं प्रायश्चित्ततयोक्तम् । यच्च मिताक्षराकृता शूद्रस्य स्पर्शनिषेधे—

'अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंपर्कदूषिता ।'

इति मानवीयं लिङ्गमुक्तम्—तदपि ब्राह्मणस्य शूद्रस्पर्शे प्रतिषेधदशाविशेष एव प्रागुक्ते स्पर्शप्रतिषेधं सूचयति, न तु सर्वत्र ।

अनुच्छिष्टेन शूद्रेण स्पर्शे स्नानं विधीयते ।
तेनोच्छिष्टेन संस्पृष्टः प्राजापत्यं समाचरेत् ॥

इति पराशरवचनं चोच्छिष्टेन शूद्रेणोच्छिष्टस्य द्विजस्य वा स्पर्शे प्रायश्चित्तम् वदतीति स्फुटमेव माधवाचार्येण व्याख्यातम्—

"यद्यप्यनुच्छिष्टोच्छिष्टशब्दौ शूद्रविशेषणतया श्रुतौ, तथापि विधीयमान-स्नानप्राजापत्यानुसारेण विप्रेऽपि तौ योजनीयौ" इत्यादि वदनात् ।

तथा चोच्छिष्टस्पर्शमेव तद्वचनं प्रतिषेधति; न तु शूद्रस्पर्शमात्रम् । तथैव च शूलपाणिरप्याह—

शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् ।
विकर्मस्थान् द्विजाञ्शूद्रान् सवासा जलमाविशेत् ॥
उच्छिष्टः संस्पृशेद् विप्रो मद्यं शूद्रं शुनोऽशुचीन् ।
अहोरात्रोषितः स्नात्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥

इति शातातपवचनमपि चोच्छिष्टस्यैव स्पर्शे प्रतिषेधति न तु सार्व-कालिकम् ।

शूद्रं स्पृष्ट्वा निषादं च शुद्ध्येदाचमनाद् द्विजः ।
न तद्धीनस्पर्शनाद्यस्मात्प्राणायामैस्तपोबलात् ॥

इति प्रायश्चित्तमयूखधृतं गार्ग्यवचनं च—

एडकं कुक्कुटं काकं श्वशूद्रान्त्यावसायिनः ।
दृष्ट्वैतानाचमेद् वर्म स्पृष्ट्वा तान् स्नानमाचरेत् ॥ इति—

मयूखधृतेनैव वचनेन कर्मकालविषयतयोपसंहरणीयम् । 'कर्म इति कर्मकाले' इति मयूखेनैव व्याख्यातत्वात् । अन्त्यावसायिप्रभृतीनां तु स्पर्शप्रतिषेधो न कर्मकालविषयतयोपसंहर्त्तुं शक्यः बहुस्मृतिवचनव्याकोपप्रसंगात् । असच्छूद्रान्त्यजपरमेव वा वचनयोरनयोः शूद्रपदमस्तु—अन्त्यजादीनामपि शूद्रवर्णेऽन्तर्भावस्य सर्वसम्मतत्वात् । अत एव शूद्रकमत्यावश्यकेऽपि स्पष्टमुक्तम् । यत्तु याज्ञवल्क्यः—

'विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलमाविशेत्' ।

इति शूद्रस्पर्शे स्नानमाह—

तद्दासादिभिन्नशूद्रपरम्, निषृत्तपरं वा । (शूद्रान्नानिवृत्तविशिष्टब्राह्मणपरं वेत्यर्थः) अन्यथा—

'मूल्यकर्मकराः शूद्रा दासी दासस्तथैव च ।
स्नाने शरीरसंस्कारे गृहकर्मण्यदूषिताः ॥
सद्यः स्पर्शो गर्भदासो भक्तदासस्त्र्यहाच्छुचिः ।

इत्यादि विरोधादिति । शूलपाणिना चान्त्यजापेक्षया शूद्राणां त्रैगुण्येनोत्कर्ष उक्तः, तद्यदाऽन्त्यजस्पर्शेऽपि स्पृष्टाङ्गक्षालनपूर्वकमाचमनमेव, तदा दूरे शूद्रस्पर्शे स्नानं कार्यम् । तथा च यज्ञपूजादिकाल एव सामान्येन शूद्रस्पर्शनिषेधो न तु सार्वकालिक इति सुनिष्पन्नमिदमिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तनेन । तदित्थम्—सामान्येन साक्षादन्त्यजस्पर्शे अकामकृत आचमनमात्रम्, कामकृते तदङ्गक्षालनपूर्वकमाचमनम्, शिरःस्पर्शे स्नानम्, परम्परासम्बन्धे त्वन्त्यजानां न कश्चिद्दोष उक्तः । चाण्डालस्य तु यथा कथंचिदपि साक्षात् स्पर्शे सचैलस्नानम्, कामकृते व्याहृतिहोमाद्यपि, अचेतनपरम्परास्पर्शे आचमनमात्रम्, चेतनपरम्परास्पर्शे स्वशक्तस्याचमनमिति, शक्तस्य तृतीयपर्यन्तं स्नानमिति प्रामाणिकनिबन्धव्यवस्था सप्रपञ्चं निदर्शिता ।

अथैतस्य स्पर्शदोषस्यापवादः स्मर्यते—

ग्रामे तूभयसंसृष्टियात्रायां कलहादिषु ।
ग्रामसंदूषणे चैव स्पृष्टिदोषो न विद्यते ॥

(शातातपः)

ग्रामे—राजमार्गादाविति तद्व्याख्यानं मदनपारिजाते—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञेषु प्रकृतेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेष स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति ॥

(मदनपारिजाते षट्त्रिंशत्)

परिहितस्य कार्यासनन्तु वस्त्रस्य च स्पर्शों साक्षात् स्पर्श इवेति ।

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टि न विद्यते ॥

(अत्रिः)

तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे ।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति ॥
आपद्यपि च कष्टायां सामये पीडिते तथा ।
मातापित्रोर्गुरोश्चैव निदेशे वर्तनात्तथा ॥

(बृहस्पतिः)

कूपकुण्डे शिलाखण्डे नौकायां गजमस्तके ।
विवाहे तीर्थयात्रायां स्पर्शदोषो न विद्यते ॥

(व्याघ्रपात्)

संलग्नेषु तु काष्ठेषु संलग्नेषु तृणेषु च ।
संलग्नेषु च पर्णेषु स्पर्शदोषो न विद्यते ॥

(स्मृतिसारसमुच्चये)

आसनं शयनं पानं नावः पथि तृणानि च ।
चाण्डालपतितस्पृष्टं मारुतेनैव शुद्धयति ॥

(बौधायनः)

अत्रासनं वस्त्रभिन्नं काष्ठकटादिशयनं च वस्त्रविरहितं शय्यामात्रमिति युक्तं प्रतिभाति । चाण्डालादिस्पृष्टपूर्वासनादेरनन्तरं स्पर्शे न दोषः, एकासनोपवेशने तु दोष उक्त एव प्रागिति । यत्तु वचनान्येतान्येवं विषेष्ववसेरष्वपि न साक्षात्स्पर्शापवादकानि, अपि तु 'य ब्राह्म अनेन स्पृष्ट इति प्रत्यक्षज्ञानं नास्ति तद्विषयकाणि' इति मतम् , तन्न रोचयामहे । 'स्पृष्टास्पृष्टि न दुष्यति', 'स्पर्शदोषो न विद्यते' इति स्फुटमुक्तस्य स्पर्शदोषप्रतिषेधस्यैव मानाभावात् ।

'वाक्शस्तमम्बुनिर्णिक्तमज्ञातं च सदा शुचि' इति सामान्येनैव वचनेनाज्ञाते स्पर्शे दोषप्राप्तेरेवाभावात्तत्रापवादवचनवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च तावन्मात्रापवादत्वे हि बहूनीमानि वचनान्यज्ञातदशानुवादानि प्रसज्जेरन्निति, अनुवादकत्वे लक्षणप्रामाण्यमेषु समारोपितं स्यात् । न च सम्भावन्त्यांगतावनुवादकत्वमनुमन्यन्ते

मीमांसादक्षाः । किं चैवं देवयात्राविवाहादिषु नास्त्यज्ञातस्य स्पर्शस्य दोष इत्यन्यत्राज्ञातस्यापि दोषत्वं प्रसज्जेत, कथं च सर्वथा ज्ञातस्य प्रायश्चित्तमनुष्ठीयतां शिष्टैः, सर्वदा दोषसम्भावनया सततप्रायश्चित्तपरैर्वा भाव्यमिति सर्वकार्यान्तरोच्छेदप्रसङ्गः । किं च सर्वत्रैष्ववसेरष्वज्ञानं न सम्भवति, नौकायां, संगमे, पीडितादौ च तथाविधस्याज्ञानस्याप्रसक्तेः । न च रोगाक्रान्तः कश्चिच्चाण्डालत्वादिना विशेषणाज्ञान एव रक्षणीयो न तु ज्ञात इति, कश्चिदपि धर्माभिज्ञो धर्माभिमानी वाऽभ्युपगच्छेत् । सततमेवापन्नरक्षणस्य धर्मशास्त्रैर्मुख्यकर्त्तव्यतयोद्घुष्टत्वात् । ततश्चैकत्रैव वचने कश्चिदंशोऽज्ञातदोषाभावानुवादकः, कश्चित्तु सर्वस्पर्शापवादक इति वाक्यभेदप्रसङ्गो दुरुद्धरो दोषः स्यात् । अत एव श्रीरघुनन्दनभट्टाचार्यशूलपाणिप्रामाणिकमूर्धन्या अविशेषेण स्पर्शदोषापवादकतां वचनानामेषामिच्छन्ति । ततश्च स्पर्शदोषापवादकत्वमेव वचनानामेषां सुव्यवस्थितं मन्यामह इति सुधीभिरेव विचार्यतामवधानेन । तदेषां वचनानामवलम्बेन राजनीतिसम्बन्धिनीनां सामाजिकीनां धार्मिकीणां वा समानाणामुत्सवेषु न प्राप्नोत्येव स्पर्शदोषः, 'उत्सवेषु च सर्वेषु' इत्यविशेषेणात्रिणा स्पर्शदोषस्यादोषितत्वात्, यत्रैवंविधवहुजसमुदायसम्भवस्तत्र सर्वत्र स्पर्शदोषापवादे सिद्धे तुल्यन्यायेन सभास्वप्यपवादप्रसरस्य वारयितुमशक्यत्वात् । तथा च सामाजिककर्त्तव्यधर्माद्युपदेशार्थं यत्रावश्यकता, तत्रावश्यमस्पृश्यानामप्यधिकारः सभाप्रवेशस्य देयः, एकासनपरिहारस्यावश्यकत्वेऽपि विभिन्न एकतमे प्रदेशे तेषामवस्थितौ धर्मकोपशंकानवतारात्, तत्र गच्छतां यथा कथञ्चित् वनागते साक्षात् परम्परया वा तत्स्पर्शेप्यपवादवचनाश्रयेण तत्र दोषानुत्पत्तेः सिद्धत्वाच्च । ये तूत्तमवर्णाश्रममर्यादादर्शरक्षिणस्तादृशसभाभ्यो विनिर्गता स्नानाचमनादिकं प्रायश्चित्तमन्तरेण चान्तरपरितुष्टास्तथा विधातुमिच्छन्ति, ते विदधतु यथेच्छं प्रायश्चित्तम्, दोषाभावस्य शास्त्रेण सुहृद्बुध्या सौकर्यार्थमनुज्ञातत्वेऽपि प्रायश्चित्तमनुतिष्ठतां दोषस्याबोधितत्वात् । अनुज्ञावाक्यानामतिक्रमणे हि न पातकोत्पत्तिशंका, प्रत्युत यद्यप्युत्तमादर्शरक्षणप्रयुक्तं गौरवमेवेति न कस्याप्यत्र विवादः । येषां त्वपवादवाक्येषु विश्वसतां चेतसि न मनागपि शंकातंकक्लेशः, तेषां न तत्र प्रायश्चित्तयोग्यता, अधिकारदानं तु तद्बुद्धिभेदं निराकृत्य तेषां स्वधर्मे रक्षणाय सर्वेषामप्यावश्यकमिति सर्वं चतुरस्रम् । यत्र तु कर्मकारादिषु विशेषेण दोषः स्मर्यते, तत्र सर्वेषामपि स्पर्शपरिहारः, जाते वा स्पर्शे प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तमेवेति । तथैवाधुनिकेष्वाङ्गलभाषादिविद्यालयेषु, यत्र विद्यादाने नास्ति वर्णाश्रमव्यवस्थाप्रयुक्तः कोऽपि नियमः, सुमुखश्च यथाध्येतुं प्रभवन्ति । विधर्मिणां कुमारा अपि, तत्रैषामन्त्यजजातीनां कुमारा अपि श्रुत्याद्यतिरिक्तं किमप्यधीयीरंश्चेद् न तत्र दोषं पश्यामः । विधर्मिणामपेक्षयैषां कथमप्यवरत्वाभावात्, प्रत्युत गोरक्षकत्वेन श्रेयस्त्वादिति ।

किञ्च द्विजकुमाराणां तादृशविद्यालयेषु प्रवेशः केवलमापद्धर्ममनुसृत्यैव वाच्यः, इतरथा वेदमनधीतवतां विविधभाषाज्ञानरूपकलाशिक्षायां प्रविशताम्—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

इत्यादिस्मृत्यनुसारेण—

'न पठेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि ।'

इत्यादिशिष्टप्रसिद्धवचनानुसारेण च पातित्यप्रसङ्गात् । आपदि चापोदित एव स्पर्शदोष इति तेषां धर्मरक्षणबुद्ध्या तत्र विद्यालयेष्वनुज्ञाप्रदाने नावतरति दोषशंका । अत्रापि येषामुक्तधर्मादर्शाभिलाषिणां ग्लानिर्मनसि भवेत् तैरधीत्य इत्यावृत्ताः कुमाराः स्नानाचमनादिना शोधनीया इत्यास्तां तावत् ।

अथास्पृश्यत्वेनाभिमतानामप्याधिव्याधिप्रभृतिरागभूतानां रक्षणमिच्छतां तदा पदं निवार्य परिरक्षणन्तु सर्वथाप्यवश्यकर्त्तव्यमेव । तस्य मुख्यधर्मत्वात्—

श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्यासुराचनम् ।
पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥

इति भगवता याज्ञवल्क्येन निर्विशेषं रोगिपरिचर्यादेरुत्कर्षख्यापनात्—

नाभिरक्षन्ति ये शक्ता दीनं चातुरमाश्रितम् ।
आर्तं न चानुकम्पन्ते ते वै निरयगामिनः ॥
(पराशरमाधवधृतं स्कन्दपुराणवचनम्)

इत्यरक्षितुः पातकश्रवणात्—

चाण्डालो वा श्वपाको वा काले यः कश्चिदागतः ।
अन्नेन पूजनीयश्च परत्र हितमिच्छता ॥
चण्डालोऽथवा पापः शत्रुर्वा पितृघातकः ।
देशकालाभ्युपगतो भरणीयो मतो मम ॥
(अपरार्के विष्णुधर्मोवाचः)

इत्यादिषु स्पष्टं चाण्डालादीनां हितकरणभरणत्वादीनामाख्यातत्वात् । तस्मादापदि मनुष्यमात्रस्य यथाशक्ति रक्षार्थं प्रयतनमावश्यको धर्म इति निर्विवादम् ।

अथ—

'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः ।
विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः ॥
(स्कान्दे)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(भगवद्गीतासु)

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकंका यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(श्रीभागवते)

इत्यादिभिर्भूयोभिर्वचनैर्भगवद्भक्तौ मनुष्यमात्रस्याधिकारः सुस्पष्टं सिद्धयति, भक्तेश्च—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवद्भक्त्या तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥

इति नवाङ्गानि स्मर्यन्ते—इति स्मरणोपयोगिविष्णुप्रतिमादर्शनादावपि मनुष्यमात्रस्याधिकारः सिद्धयेदेव ।

चतुर्वर्णैस्तथा विष्णुः प्रतिष्ठाप्यः सुखार्थिभिः ।

इति च देवीपुराणे सर्वेषां वर्णानां विष्णुप्रतिष्ठापनेऽप्यधिकारः उक्तः, किंपुनर्दर्शने । ब्राह्मणादीनां पूज्याः प्रतिमा नान्येन स्प्रष्टव्या इत्यादिनियमास्तथापि विशिष्टप्रतिमान्तं दूरतो दर्शनेऽधिकारो न केनापि निवारयितुं शक्यते । तथा च विशिष्टेषु मन्दिरेषु दूरे छायापानशंकाविरहिते स्थाने स्थितिं प्रकल्प्यान्त्यजानां देवदर्शनाधिकारः प्रदेयो येन भक्त्युदयेन सुसंस्कारसिद्धौ धर्मान्तरसिद्धौ धर्मान्तरप्रवेशशंका तेषां समूलमुन्मूल्येत भक्त्याणभागित्वं च तेषां भवेदिति । तथैव तेषां स्वधर्मोपदेशेऽपि धार्मिकैरवश्यमवधेयमेव, धर्मज्ञानमन्तरेण धर्मपालनस्याशक्यत्वात्-तत एव च धर्मान्तर ग्रहणशङ्कोदयात् । विधर्माणो हि जनाः प्रकाररीत्या सर्वानपि मनुष्यान् स्वीयं धर्मं बोधयन्ति वयन्तूदासीना इत्येव धर्मान्तरेऽस्मदीयानां प्रवेश आपतति । न चायं धर्मोपदेशः सर्वकल्याणसाधकः कथमपि शास्त्रविरुद्धः—

'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' ।

इत्यविशेषेण ब्राह्मणात् सर्वमानवानां धर्मशिक्षाग्रहणस्योपदिष्टत्वात् । धर्मसंबंधप्रतिषेधस्तु श्रौतोपनयनादिविषयतयैव नेय इति ।

अथ कूपसम्बन्धे तु स्मृतिषु निबन्धकृतामपि च मतद्वैधमिवाभाति, तथाहि द्रव्यशुद्धिप्रकरणे—

अन्त्यैरपि कृते कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते॥

इति शातातपवचनमुदधृत्य 'चाण्डालादिकृते तडागादौ तु न दोषः, इति मिताक्षराकृद् व्यवस्थापयति। कूपशब्दस्य मिताक्षरायामनुपादानेऽपि वचने तस्य तदभावात्र वचनावलम्बिन्यां व्यवस्थायामादिपदेन कूपग्रहणस्य नाप्राप्तत्वात्। तेन च चाण्डाल कृते कूपादावपि यदि न दोषस्तर्हि चाण्डालस्पृष्टे तस्मिन् दोषवृथा दण्डापूपिकान्यायेनैव दूरापास्ता।

खलक्षेत्रेषु यद्धान्यं कूपवापीषु यज्जलम्।
निभोज्यादपि तद् भोज्यं पञ्चगोष्ठगतं पयः॥

इति बौधायनवचने, तत्समानार्थके—

खलक्षेत्रगतं धान्यं वापीकूपगतं जलम्।
अभोज्यादपि तद्ग्राह्यं पञ्चगोष्ठगतं पयः॥
प्रपास्वरण्ये कटके च सौरे द्रोण्यां जलं कोशविनिःसृतं वा।
श्वपाकचण्डालपरिग्रहेषु पीत्वा जलं पञ्चगव्येन शुद्धयेत्॥
(आपस्तम्बः)

चण्डालपरिगृहीतं यदज्ञानादुदकं पिबेत्।
तस्य शुद्धिं विजानीयात् प्राजापत्येन नित्यशः॥
(अंगिराः)

इत्यादिषु स्वीकृत-परिग्रह-परिगृहीतादि शब्दस्मरणमुपपद्यते। एषां शब्दानां तत्तत्स्वामिकत्व एव प्रयोगसामञ्जस्यात्। सर्वार्थमुत्सृष्टे च कस्यापि स्वामित्वाभावादेवारण्यकेषु कूपेष्वदोषः स्मर्यते—तत्र प्रायेण दुष्टानामेव सद्भावाभिभवात्।

अत एव च—

कूपैकपानदुष्टा ये तथा संसर्गदूषिताः।
सर्वानेवोपवासेन पञ्चगव्येन शोधयेत्॥

इति संवर्तापस्तम्बयोर्वचनं मयूखकृता गृहनिवाससांकर्यप्रकरणे व्याख्याय गृहकूपादिपरतामेव नीतम्।

अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तडागा वाप्य एव च।
एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुद्धयति॥

इत्यापस्तम्बवचनमपि च पराशरस्मृतिभाष्ये माधवेनान्त्यजस्वामिके कूपे स्नानाद्यभ्यासे प्रायश्चित्तबोधकत्वेन व्याख्यातम्। 'चण्डालपरिगृहीतं यदज्ञानादुदकं

पिबेदिति' प्रागुक्तं च वचनं चाण्डालेन भाण्डं गृहीत्वा स्वीकृतस्य जलस्य पाने प्रायश्चित्तबोधकमिति माधवेनैव व्यवस्थापितम्। 'चाण्डालखातवापीषु, इत्यादिकं चापि पूर्वोक्तं वचनं चाण्डालस्वामिकवाप्यादिविषयकमेवेति माधवेनैवोक्तम्।

चाण्डालकूपभाण्डस्थं नरः कामजलं पिबेत्।
प्रायश्चित्तं कथं तत्र वर्णो वर्णो विनिर्दिशेत्॥
चरेत्सांतपनं विप्राप्राजापत्यन्तु भूमिपः।
तदर्धन्तु चरेत हि यः शूद्रेण विनिर्दिशेत्॥

इत्यापस्तम्बवचनमपि कूपस्थितचाण्डालभाण्डस्थादिव पाने प्रायश्चित्तबोधकमिति माधवोऽभिप्रैति। तत एव च—

चाण्डालघटसंस्थन्तु यत्तोयं पिबति द्विजः।
तत्क्षणात् क्षिपते यस्तु प्राजापत्यं समाचरेत्॥
यदि न क्षिपते तोयं शरीरं यस्य जीर्यति।
प्राजापत्यं न दातव्यं कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्॥
चरेत् सान्तपनं विप्रः प्राजापत्यमनन्तरः।
तदर्द्धन्तु चरेद्वैश्यः पादं शूद्रस्तथा चरेत्॥

इति पराशरवचनैरेकवाक्यतापस्तम्बवचनानामुपपद्यते। उभयत्र समप्रायश्चित्तस्मरणात्—पराशरेण च स्पष्टं घटपदस्य गृहीतत्वात्।[1]

---

१. अपूर्ण एवायमपि संप्राप्तो निबन्धः।—सम्पादकः।

पितृविवेकः

इह खलु पञ्चयज्ञानुष्ठानमार्याणां धर्मैकजीवितानां प्रधानो धर्मः, तदन्तःपाती चैष प्रात्यह्निकमासिकवार्षिकादिविविधभेदभिन्नः श्राद्धापरपर्यायः पितृयज्ञ इति नैतत्परोक्षं विदुषाम्। तेन यज्ञेन तर्पणीयाः क इमे पितरः! केषां प्रीत्यर्थमिदं श्राद्धमितीदानीं विवेचयितुमावश्यकम्। बहुधा विप्रतिपत्तेस्तत्र संशयदर्शनात्। तथा हि–य इमे पितृपितामहादिशब्दा जनकादिवाचकत्वेन लोके निरूढास्त एव यथाक्रमं श्राद्धप्रक्रियायां स्मर्यन्त इति रूढ्या तत्रापि तेषां जनकादिवाचकत्वं तावत्प्राप्तम्, तत्र च तेषां जीवतामेव पितृशब्दादिवाच्यत्वसामञ्जस्यादिहैव श्रद्धा (भक्ति) पूर्वकं पित्राद्यभ्यर्हणं श्राद्धमिति केचिदर्वाचीना अभिप्रयन्ति। लोकान्तरगतान् पित्रादीनुद्दिश्य यद्दीयते तच्छ्राद्धमिति तु स्मार्तप्रक्रियानुसारिणां प्राचां सरणिः। ततश्च विप्रतिपत्तेः संशय्यते–कइमे पितरः, केषां च प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (१)

अथ केचिदिदानीन्तना रूढिमप्यसहमानाः 'पान्तीति पितरः' इति व्युत्पत्तिमेवानुरुन्धाना रक्षकसामान्ये एव पितृशब्दप्रयोगमाचक्षते–अत एव—

> अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः।
> मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः॥
>
> (ऋग्वेद ९. ८३. ३.)

इतिमन्त्रं व्याचक्षाणो वेदभाष्यकारः सायणाचार्योऽपि पितरः पालका देवाः पितरो जगद्रक्षका रश्मयः' इति पालकत्वसामान्येनैव सूर्यरश्मीनां पितृत्वमुपपादयामास। बहुत्र च मन्त्रेषु पालकत्वसामान्येन पितृशब्दः प्रवृत्तः। युक्तं च रक्षकाणामन्नादिभिरभ्यर्हणमिति य इमे चौराद्युपप्लवेभ्यः प्रजाः परित्रायन्ते तदुद्देश्यक एव पितृयज्ञस्तत्र तत्र विहितो न तु लोकान्तरगतपित्राद्युद्देश्यक इति तेषां विप्रतिपत्तिः। ततश्च जायतेऽयं संशयः-क इमे पितरः केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (२)

मृतकश्राद्धवादिनोऽपि च केचन 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ती'त्याद्यनुरोधात् पितृलोकस्थितानामेव पितृपितामहादीनां श्राद्धेन तृप्तिमाचक्षते। अपरे तु स्वस्वकर्मानुरोधेन तास्ता योनीरुपगतानामेव तेषां तृप्तिमभिप्रयन्ति। तदाह देवलः—

> देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
> तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
> गान्धर्वे भोग्यरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
> श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति॥ इति।

तयानयाऽवान्तरविप्रतिपत्त्या विजायते संशयः, क इमे पितरः केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (३)

सर्वत्र च शास्त्रेषु सर्गप्रकरणे पितृणां ब्रह्मण उत्पत्तिः स्वातन्त्र्येण श्रूयते स्मर्यते च, तथा हि—

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ॥

(अथर्व ११. ९. २७)

सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्।
पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे ॥
उत्ससर्ज पितॄन् सृष्ट्वा ततस्तामपि स प्रभुः।
सा चोत्सृष्टाभवत्सन्ध्या दिननक्तान्तरस्थितिः ॥

विष्णुपुराणम् । (१. ५)

कालिकापुराणादिषु तु सन्ध्याशरीरादेव पितृणामुत्पत्तिरुक्ता संख्या च तेषां व्यवस्थिताभिहिता।

सहस्राणां चतुःषष्टिरग्निष्वात्ताः प्रकीर्त्तिताः।
षडशीतिसहस्राणि तथा बर्हिषदो द्विजाः ॥

इत्यादिना भगवान्मनुरपि सृष्टिप्रकरण एषामुत्पत्तिमन्वाह—

यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग् गणान् ॥

इति। (१. ३७)

यदि स्वस्माल्लोकात्प्रेता एव पितरोऽभविष्यँस्तर्हि नैव तेषां सर्गादौ पृथगुत्पत्तिरभ्यधास्यत। अभिहिता तु सर्वत्र स्वातन्त्र्येणैवोत्पत्तिरिति संशय्यते क इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (४)

पितृस्वरूपान्वाख्यानेऽपि च बहुधालोक्यते विप्रतिपत्तिः, तत्र तावद्भगवा मनुरेकत्र पितृणां मरीच्याद्यृषिपुत्रत्वमन्वाह—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥
विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥
सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः ॥

इत्यादिना (मनु० ३ अ०)

अपरत्र तु वस्वादिरूपत्वमेषामाचख्यौ—

वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी।
(३. २८४)

वस्वादयश्चेमे प्रसिद्धा देवाः। न तु मृतानां पितॄणां मरीच्यादिपुत्रत्वं वस्वादिरूपत्वं वा कथमपि संभवतीत्युत्पद्यते संशयः क इमे पितरः, केषां प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति। (५)

तथैव पितॄणामेषामृतुरूपत्वमपि दृष्टम्—"ऋतवः पितरः" (शतप० श्रु०)

'ऋतवः पितरो देवा इत्येषा वैदिकी श्रुतिः'।
(वायुपुराणे)

मासाश्च पितरो ज्ञेया ऋतवश्च पितामहाः॥
संवत्सरः प्रजानां च सुष्ठैकः प्रपितामहः।
(आदित्यपुराणे)

भगवान् मनुरपि च श्राद्धप्रक्रियायां—

'षडृतूंश्च नमस्कुर्यात्पितॄनेव च धर्मवित्'।
(३. २१७)

इत्यभिदधत् पितॄणामृतुत्वं व्यञ्जयतीव। महीधरोऽपि—

'नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय।
यजुः सं (२. ३२)

इति मन्त्रभाष्ये पितॄणामृतुत्वं व्याचख्यौ। कथन्तु मृतानां पितॄणामृतुरूपत्वं संभवेदिति संदिह्यते क इमे पितरः, केषां प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (६)

ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥
(३. २०१)

इत्याचक्षाणो भगवान् मनुः पितृषु देवानामपि जनकत्वमभिप्रैति, देवानां च मनुष्यादिसकलजगत्कारणत्वमन्वाह। ततश्च कथमितः प्रेतानां मनुष्याणां पितृत्वं संभवेत्-मनुष्यसत्त्वादपि पूर्वं तत्कारणानां देवानां ततोऽपि च पूर्वं तत्कारणानां पितॄणां प्रसिद्धेः। तस्मात् सुदृढोऽयं संशयः—क इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (७)

अथेयमितरथैव पितॄणामुत्पत्तिः श्रूयते शतपथश्रुतौ—"महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः, ते नो एव व्यजायन्त—येयमेषां विजितिस्ताम्। अथ यानेवैषां तस्मिन् संग्रामेऽघ्नंस्तान् पितृयज्ञेन समैरयन्त—पितरो वै त आसंस्तस्मात् पितृयज्ञो नाम।

तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः—एते ते ये व्यजायन्त । शरद्धेमन्तः शिशिरस्त उ ते यान् पुनः समैरयन्त" (२ का० ६ अ० १ ब्रा०) इति । इह हि पूर्वं वृत्रेण हतानां देवविशेषाणामेव शिष्टैर्देवैः पितृयज्ञाख्येन कर्मणा पुनः समागतानां पितृत्वं व्याहृतम्, तदुत्तरं चैषामृतुरूपत्वमेव प्रागुक्तमुपसंहृतम्—न तु कथमपीतः प्रेतानां मनुष्याणां पितृत्वं श्रुतमिति समुदेति संशयः—क इमे पितरः केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (८)

अथ तत्रैवाग्रे पितृविशेषाणां नामनिरुक्तावन्यथैवेदं प्रतीयते—"तद्ये सोमेनेजानास्ते पितरः सोमवन्तः, अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः, अथ ये ततो न्यतरच्चन यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ता एत उ ते ये पितरः" इति । इह हि सोमयज्ञदानाग्निहोत्रादिकारिणां मनुष्याणामेव पितृत्वमाख्यातम् । "अग्निरेव दहन् दहन् स्वदयती" त्युक्त्याग्निदग्धानां मृतपुरुषाणामेवेह पितृत्वं युक्तमुक्तमिति तु न भ्रमितव्यम् । तथा सति सर्वेषामेव पितॄणां भवन्मतेऽग्निदग्धत्वाविशेषाद्विभागत्रयस्यासंगतत्वापत्तेः । तस्मात्सोमयागदानादिविरहिते केवलाग्निहोत्रिणि गौण एवंविधः प्रयोगः इत्यवश्यमुपगन्तव्यम् । ततश्च तथाविधानां मनुष्याणामेव पितृत्वमत्र ख्यापितं भवतीति विप्रतिपत्तेः संशय्यत एव—क इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति (९)

हरिवंशे तु पितॄणामुत्पत्तिरियं विलक्षणैवाख्यायते—(अ० १७) ·

देवानसृजत ब्रह्मा मां यक्ष्यन्तीति भार्गव ।
तमुत्सृज्य तथात्मानमयजंस्ते फलार्थिनः ॥ २२ ॥
ते शप्ता ब्रह्मणा मूढा नष्टसंज्ञा दिवौकसः ।
न स्म किंचिद्विजानन्ति ततो लोकोऽप्यमुह्यत ॥ २३ ॥
ते भूयः प्रणताः शप्ताः प्रायाचन्त पितामहम् ।
अनुग्रहाय लोकानां ततस्तानब्रवीदिदम् ॥ २४ ॥
प्रायश्चित्तं चरध्वं वै व्यभिचारो हि वः कृतः ।
पुत्रांश्च परिपृच्छध्वं ततो ज्ञानमवाप्स्यथ ॥ २५ ॥
प्रायश्चित्तक्रियार्थं ते पुत्रान् पप्रच्छुरार्त्तवत् ।
तेभ्यस्ते प्रयतात्मानः शशंसुस्तनयास्तदा ॥ २६ ॥
प्रायश्चित्तानि धर्मज्ञा वाङ्मनः कर्मजानि वै ।
शंसन्ति कुशला नित्यं चक्षुर्भ्यामपि नित्यशः ॥ २७ ॥
प्रायश्चित्तार्थतत्त्वज्ञा लब्धसंज्ञा दिवौकसः ।
गम्यतां पुत्रकाश्चेति पुत्रैरुक्ताश्च ते तदा ॥ २८ ॥
अभिशप्तास्तु ते देवाः पुत्रवाक्येन निन्दिताः ।
पितामहमुपागच्छन् संशयच्छेदनाय वै ॥ २९ ॥

ततस्तानब्रवीद्देवो यूयं वै ब्रह्मवादिनः ।
तस्माद्यदुक्तं युष्माकं तत्तथा न तदन्यथा ॥ ३० ॥
यूयं शरीरकर्तारस्तेषां देवा भविष्यथ ।
ते तु ज्ञानप्रदातारः पितरो वो न संशयः ॥ ३१ ॥
अन्योन्यं पितरो यूयं ते चैवेति न संशयः ।
देवाश्च पितरश्चैव तद्बुध्यध्वं दिवौकसः ॥ ३२ ॥
ततस्ते पुनरागम्य पुत्रानूचुर्दिवौकसः ।
ब्रह्मणा छिन्नसंदेहाः प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ ३३ ॥
यूयं वै पितरोऽस्माकं यैर्वयं प्रतिबोधिताः ।
धर्मज्ञाः कश्च वः कामः को वरो वः प्रदीयताम् ॥ ३४ ॥
यदुक्तं चैव युष्माभिस्तत्तथा न तदन्यथा ।
उक्ताश्च यस्माद्युष्माभिः पुत्रका इति वै वयम् ॥ ३५ ॥
तस्माद्भवन्तः पितरो भविष्यन्ति न संशयः ।
यानिष्ट्वा तु पितॄन् श्राद्धैः क्रियाः काश्चित्करिष्यति ॥ ३६ ॥
राक्षसा दानवा नागाः फलं प्राप्स्यन्ति तस्य तत् । इत्यादि ।

अनेन च प्रकरणेन देवानां पुत्रा देवविशेषा एवं स्वपितृभ्यो विद्याप्रदानेन पितृत्वमापुरिति स्फुटमेव प्रतीयते । भगवता मनुनापि संक्षेपतः, सूचितोऽयमर्थः—

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥

(म. स्मृ. अ. २)

इत्यादिना । ततश्च विशिष्टविद्याशालिनां मन्त्रार्थानुपदिशतामेव केषांचिद्देव विशेषाणामितरेषां वा पितृत्वमितः प्रसिद्ध्येन्न तु सामान्यतो मृतपुरुषाणामिति समुदेति संदेहः—क इमे पितरः, केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति । (१०)

अथापि च पिण्डपितृयज्ञप्रक्रियायां श्रुतौ—"आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः" (य० सं०)

"सर्वांस्मानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे" (अथ० सं०)

इत्यादिषु मन्त्रेष्वावाहनलिङ्गदर्शनात्पितॄणां यजमानसन्निधौ प्राप्तिः प्रतीयते—तेनच देवा इव भवयुः केचन पितरोऽपि विलक्षणशक्तिमन्तश्चेतनविशेषाः, मीमांसकप्रक्रियामनुसृत्य मन्त्रमयादिविग्रहा वा—इति प्राप्नोति । पूर्वोक्तेः "तस्यान्नममृतं

भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति" इत्यादिभिः स्मृतिवचनैस्तु यजमानदत्तस्यान्नस्यैव, पितॄणां संनिधौ प्राप्तिः प्रतीयते—इति पूर्वजन्मनि यजमानपित्रादीनां तत्तद्योनिगतानामेव पितृत्वं भवेदिति प्राप्नोति। इतश्च बहुविधाभिराभिर्विलक्षणाभिर्विप्रतिपत्तिभिः सुदृढोऽयं संशयः क इमे पितरः केषां वा प्रीत्यर्थं श्राद्धमिति। (११)

तदित्थं श्रुतिस्मृतिप्रामाण्येन पितृपदार्थनिर्वचनस्यावश्यकत्वे प्रसक्ते केचिदिदानीन्तनास्तावदित्थमातिष्ठन्ते—मृतान् प्रपित्तादीनुद्दिश्य प्रतिमासं प्रतिवत्सरं वा पिण्डादिप्रदानं ब्राह्मणादिभोजनं चेति सर्वथा प्रमाणशून्यत्वादुपपत्तिविरुद्धत्वाच्चाज्ञानकल्पित एवायं केषांचिदाधुनिकस्मार्तानां पन्थाः। तथा हि—स्वकृतमेव कर्म स्वेनैवोपभुज्यत इत्यस्ति तावदीश्वराज्ञासिद्धः सर्वथाऽव्यभिचरितः प्राकृतिको नियमः सर्वैश्च तैर्थिकैरभ्युपेतः। प्रतिपादितं हि यजमानस्यैव कर्मफलभोक्तृत्वं महताडम्बरेण पूर्वमीमांसायाम्, उररीकृतं चैतदेव सर्वैरपि दार्शनिकैः। इह तु पुत्रादयः कर्मकृतः, पित्रादयश्च तत्फलभाज—तति सुस्पष्टं नियमस्यास्य व्यतिक्रमः प्रथमो दोषः। इतश्च प्रेतोऽयं जन्तुः स्वकृतकर्मोपस्थापितास्ता योनीरुपसरिष्यँस्तदात्व एव शरीरान्तरमुपगृह्णातीत्युक्तं श्रुतिस्मृतिषु 'तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्यात्मविद्यां गमीयत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति, (बृहदारण्यकोपनिषदि ७.४.३) इति श्रुतिः।

> 'व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
> यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः॥ (श्री भाग० १०, १)

इति तदनुगामिनी स्मृतिश्च तृणजलूकानिदर्शनेन जीवस्य पूर्वदेहमपरिजहत एव देहान्तरसम्बन्धं बोधयन्ती देहान्तरप्राप्तौ कालविलम्बं वारयति।

> जीर्णानि वासांसि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
> एवं शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (भ. गी)

इत्यादावपि वासोदृष्टान्तेन झटित्येव देहान्तरपरिग्रहः स्मर्यते। देहान्तरमुपगतस्य च देहिनो यथाकर्मैवान्नपानादयस्तत्र तथैव विधात्रोपपाद्यन्त इति प्रत्यक्षमेतदनुभवामः। न हि क्वापि केऽपि जन्तवोऽन्नाद्यलभमानाः पौर्वभवीयपुत्रादिकृतं श्राद्धमपेक्षमाणाश्चास्माभिरनुभूयन्ते। भवेयुश्च केचिदस्मदादीनामपि पूर्वजन्मसम्बन्धिनः पुत्रादय इति तत्कृतं श्राद्धं वयमपि कदाचिल्लभेमहि, 'आयन्तु नः पितरः' इत्यादिभिर्मन्त्रैराहूताश्च तदन्तिकमुपसरेम नत्वेतदेवं कदाप्यनुभवाम इति नान्येऽपि जीवास्तथानुभवन्तीति स्वदृष्टान्तेनैवाध्यवस्यामः। तथा च देहान्तरसम्बन्धमुपगतान् जीवान् प्रति श्राद्धमिदमप्रयोजकं सिद्धमेव। यदपि मनुष्यशरीरेष्वाविश्य केचन पिशाचाः शुद्धिमभ्यर्थयमानाः श्रूयन्त इति तदर्थमेव भवे-

च्छ्राद्धमिति केपि समादध्युस्तदप्येतदबुधजनवञ्चनामात्रम्। पिशाचानां तदावेशानामपि च विद्याविहीनग्राम्यजनमात्रश्रद्धेयत्वात्। लोकवञ्चनामेव परमं पुरुषार्थमभिमन्यमानानामन्यजीवनोपायविरहितानां केषांचिदलसधूर्तानां मायामात्रमियं पिशाचलीलेति क एतदुक्तिं प्रमाणकोटौ प्रवेशयेत् प्रज्ञाचणः। अभ्युपगमवादेऽपि च येषामेव पितरः पिशाचत्वमुपगतास्त एव श्राद्धं कुर्वन्तु, अन्ययोनिगतपितृकाणां तु श्राद्धमिदं सर्वथा व्यर्थमिति नैतन्नित्यकर्मतयावस्थापयितुं शक्येत। न हि सर्वेषामेव पितरः पिशाचत्वमुपयान्तीति सांप्रतं वक्तुम्, इतरसर्वविधभूतसृष्टिविलोपप्रसङ्गात्। न च पिशाचत्वमनुभूयैव तत्तासु योनिषूपसरणं वाच्यम्, मानाभावात्-झटिति देहान्तरसंबन्धबोधकपूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिविरोधापत्तेश्च, कर्मानुसारिणी जीवगतिश्चैवं सति विरोधिता स्यादिति यत्किञ्चिदेतत्। तथा च क्षयाहोत्तरं दशदिनपर्यन्तं गात्रपरिकल्पनार्थं दशगात्राभिधेयं पिण्डादिप्रदानम्, मृतस्य पित्रादेः पितामहादिभिः संयोजनाय सपिण्डीकरणमित्याद्युपपत्तिशून्याः सर्वा अपीमाः श्रुतिस्मृतिविरुद्धाः कुकल्पना निरस्ता वेदितव्याः। जननान्तरेषु गात्राणां शुक्रशोणितादिभिरेवोत्पादनीयत्वात्, स्वकर्माण्यनुसृत्य यत्र कुत्राप्यवस्थितैः पितामहादिभिः पित्रादीनां संयोजनस्य श्राद्धशतेनाप्यशक्यत्वाच्च। न च क्वापि श्रुतौ मन्त्रादिस्मृतिष्वपि वा गात्राद्युत्पत्तिरेवंविधाभिहितेत्यलमप्रामाणिकप्रकल्पनाखण्डनायासेन। अभ्युपगतेऽपि च सर्वेषां जीवानां कियत्कालपरिमिते प्रेतत्वे नेदं श्राद्धं नाम कर्म नित्यं सिध्येत्, तत्तद्योनिप्राप्तेरनन्तरमस्याप्रयोजकतायाः प्रतिपादितत्वात्। नित्यमेव तु श्राद्धमभिप्रयन्ति स्मृतयो न तु नियतकालमिति नेदं मृतपित्राद्यर्थं स्यात्। ननु भो नित्यपितर इमे वस्वादयो देवास्तत्तद्योनीरुपसृतानपि मृतान् पित्रादीनुपतर्पयन्तीति वयमभिप्रेमः—तदेतदुक्तं भगवता याज्ञवल्क्येन—

> वसुरुद्रा दितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
> प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄनाज्येन तर्पिताः॥ इति।

प्रत्यक्षसिद्धं चैतत्, देवा एव खल्वेतेऽस्मदादिभ्यः अन्नाद्युपहरन्ति सर्वत्र। सूर्यादिदेवानामेव जगच्चक्रप्रवर्तकत्वोपगमात्। न खल्वग्निवाय्वादित्यादिदेवेष्वननुकूलेषु कश्चिदपि कृष्यादिजन्यमन्नमीशीत लब्धुम्; देवाश्चैतेऽस्मदादिभिर्यज्ञैराराधिता एवोपयान्त्यनुकूलतामिति सविस्तरं समर्थित एषोऽर्थो भगवद्गीतासु—

> 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'॥
> 'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
> यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः'॥

'एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति' ॥

इत्यादिना—अन्यत्रापि च स्मृतिषु 'आहुत्याप्यायते सूर्यः' इत्यादिना। वसून् वदन्ति तु पितॄनित्यादिना च भगवता मनुना देवानामेषां श्राद्धेऽपि संप्रदानत्वं नन्वभ्युपगतमेव। तथा च श्राद्धयज्ञेनास्मदादिभिराराधिता इम आदित्यादयो देवा एव पर्जन्यादिद्वारान्नाद्युत्पाद्यास्माकं पित्रादींस्तत्र तत्रावस्थितानप्युपतर्पयन्त्येवेति किमनुपपन्नमिति चेदहो भ्राम्यन्ति भवन्तः। अवश्यं वस्वादित्यादिदेवानामेषां जगच्चक्रप्रवर्तकत्वं सांप्रतं वक्तुम्, न तु तत्र प्रवर्तनायां किमपि वैषम्यमुपपादयितुं शक्यम्, वैषम्यमन्तरा च व्यर्थमेवेदं श्राद्धं नाम कर्म। सूर्यादयो देवा हि सामान्येनैव जगदिदमुपकुर्वन्ति न तु श्राद्धकर्तुरधिकं तदकर्तुरल्पं वा फलं प्रदातुमीशते, जडत्वात्, सर्वसाधारण्येनैवैषां प्रवृत्तेरनुभवसिद्धत्वाच्च। ततश्च श्राद्धविधाता तदविधातापि च तुल्यमेव फलं यदि लभेयाताम्—कृतं तर्हि शत्रशरीरोद्वर्तनायमानेन निष्फलप्रयासेन श्राद्धेन नामानेन कर्मणा। न चेदपि वयं श्राद्धं कुर्याम, अवश्यं तदपीमे सूर्योदयोऽस्मत्पित्राद्यर्थमन्नाद्युपहरेयुरेव निर्वाहणायैव किल जगच्चक्रस्य परमेश्वरेणेम उत्पादिता इति, ततश्च किमस्माकं श्राद्धविधानेन फलमिति कृतधिय एवैतद्विचिन्वन्तु। न चायं नियमस्तत्रास्थातुं शक्यो यच्छ्राद्धेऽस्मद्दत्तमन्नपानाद्यस्मत्पितर एवोपभोक्ष्यन्तीति चेतनस्य हि कस्यचित्प्रापकस्य सत्त्वे तद्यथा भवेदपि। अचेतनास्तु सूर्यादय इत्यसकृदवोचाम। ततश्च जगदुपकारबुद्ध्यैव हवनादिषु प्रवृत्तिः कथंचिच्छ्रेयसे स्यात्, पित्राद्युपभोगमुद्दिश्य प्रदानं त्विदमात्मनः परेषां च प्रतारणमात्रमेवेति विज्ञायतां विज्ञैः।

अथापि केचन ब्रूयुः मन्त्रसामर्थ्येनैवास्मद्दत्तमन्नपानाद्यस्मत्पित्रादीनुपस्थातुमर्हतीति, त एतेऽपि ननु स्वीयमज्ञानं मन्त्रेष्वारोपयन्तीत्युपेक्ष्या एव। न हि मृतेभ्यः पित्रादिभ्योऽन्नपानाद्यनुप्रापयामीति कस्यापि मन्त्रस्यार्थः शक्यते समुपदर्शयितुम्। यदि च भवेदेवंविधं मन्त्रेषु वस्तुप्रापणसामर्थ्यं तर्हि जीवद्भ्योऽपि विदेशावस्थितेभ्य इष्टेभ्यः किमपि वस्तु मन्त्रेण संप्रेष्य परीक्षणीयं तदेतत्। सोऽयमत्र कर्मणि प्रत्यवतिष्ठमानानां चिरन्तनः प्रवादः।

मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
प्रस्थितानां हि जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम् ॥ इति—

किञ्च मृतेभ्योऽनुप्रदीयमानमिदं पिण्डाद्यत्रैव यथापूर्वमवस्थितं पश्याम इति किं कुत्र मन्त्रेण नीतम्? गोब्राह्मणादीनामुदरसात्कृतमेव त्विदमन्नादि पितॄन् समुपेयादिति नात्र कल्पनामात्रे किमपि बीजमनुप्रपश्यामोऽन्यत्राज्ञानात्। एतेनैवाग्निहोत्रादिसाम्यमप्यत्रापादयन्तो निरस्ता वेदितव्याः। अग्नौ प्रक्षिप्तानां हि

हविषां सूक्ष्मीभूयान्तरिक्षादिगमनं विज्ञानानुमोदितमपि स्यात्, ब्राह्मणादिभुक्तानान्तु क्वान्यत्र गमनं संभवेदिति विविच्यतां किञ्चित्। तस्मादुपपत्तिविरोधन्नास्त्येव मन्त्रेषु तथाविधं सामर्थ्यम्, न च कोऽपि मन्त्रो मृतश्राद्धे कथञ्चिदप्यनुकूल इति यत्किञ्चिदेतन्मन्त्रसामर्थ्यख्यापनं नाम। किञ्च नेदं मृतश्राद्धं नाम कर्म वेदसिद्धमनादीति स्फुटं ख्यापयति पुराणेषूपलभ्यमानाख्यायिका। तथा हि महाभारतस्यानुशासनिके पर्वणि—

"केन संकल्पितं श्राद्धं कस्मिन् काले किमात्मकम्।
भृग्वङ्गिरसके काले मुनिना कतरेण वा" ॥

(अ० ९१)

इत्येवं युधिष्ठिरेण पृष्टः पितामहो भीष्म आह स्मेतिहासं पुरातनम्। स्वायंभुवस्यात्रेर्वंशे दत्तात्रेयसुतो निमिर्नाम तपस्वी स्वपुत्रे श्रीमति निधनमुपयाते भृशं शोकातुरमानसोऽमावास्यायां ब्राह्मणानाहूय पुत्रस्येष्टमन्नपानाद्यभोजयत्। ततश्च दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु नामगोत्राद्युदाहरन् पिण्डस्थापनमप्यनुविदधे, कृत्वा तु सर्वमेतत्कर्म पश्चादनुततापं चिन्तयामास च—

अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनुष्ठितम्।
कथं नु शापेन न मां दहेयुर्ब्राह्मणा इति ॥ इत्यादि।

तदनु तु समागतस्तत्रभवान् भगवान् वंशप्रवर्तकोऽत्रिः सर्वमप्येतद् ब्रह्मणैव पुरा दृष्टम्, तदेतत्कर्म भवताद्य प्रवर्तितमिति मा भैषीद् भवानित्यादिना परितोष्य गत इति। वराहपुराणेऽपि समुपलभ्यते सपरिकरा सेयमाख्यायिका, उक्तञ्च तत्राप्येतदेवानुतप्तेन निमिना नारदं प्रति—

शोकस्नेहप्रभावेण एतत्कर्म मया कृतम्।
न च श्रुतं मया पूर्वं न देवैर्ऋषिभिः कृतम् ॥
भयं तीव्रं प्रविशामि मुनिशापात्सुदारुणात्। इति।

तयानयाख्यायिकया, स्फुटमेतत्प्रसिद्ध्यति, यत्पुराऽस्य कर्मणो नासीच्चर्चापि क्वचित्। शोकानुतप्तेन तु निमिना पुत्रस्नेहात्तदिष्टमन्नपानादि तत्प्राप्तिबुद्ध्या ब्राह्मणेभ्यः प्रदत्तम्। सेयमज्ञानजन्यस्नेहवशंवदानां नैसर्गिकी प्रवृत्तिर्न त्वेव धर्मो भवितुमर्हति, गतानुगतिकतया तु लोकैः सेयमेव प्रमाणीकृतेति मोहविलसितमेतत्। यदि त्वनादिसिद्धा भगवती श्रुतिः कर्मैतदभिप्रैष्यत् तर्हि मुनिः स निमिर्न च श्रुतं मया पूर्वं न देवैर्ऋषिभिः कृतमिति नाभ्यधास्यत्। तत एवावगम्यते नेदं श्रुतिसिद्धं कर्मेति।

अनन्तरं तु यदिदं 'ब्रह्मणैव पुरायं विधिर्दृष्टः' इति ख्यापितं, सेयं शैली पुराणानाम्। अर्वाक्प्रवर्तितमपि हि कर्म पुरातनतममेवात्र ख्याप्यते। ब्रह्मणा

तु यद्ययं विधिर्दृष्टः स्यात्, कथं न तर्हि ततः पुरातनैर्ऋषिभिरप्यवगतः स्यात्। अस्याश्चाख्यायिकायाः सत्ययुगीयत्वाख्यानमपि पुराणशैलीप्रसिद्धमेव। वस्तुतस्त्वर्वाक्तनैरज्ञानवशंवदैरेव कर्मेदमनुप्रवर्तितम्, केवलं तु कर्मणोऽस्य श्रौतत्वाभाव एवाऽऽख्यायिकयाऽनया साधनीयः। श्रौतत्वाभावे च सिद्धे सर्वथानुपादेयमिदमुपपत्तिविरुद्धं मृतश्राद्धं नाम कर्मेति सिद्धमेव। अभ्युपगते चास्मिन् कर्मणि पापपरायणा अपि जनाः पुत्रादिकृतेन श्राद्धेन सुखं स्वर्गं लप्स्यामह इति निःशङ्काः स्युः। स्वधर्मनिरताश्चाप्यसत्सु पुत्रादिषु दरिद्रताभावादिनाऽसंभवत्यपि वा श्राद्धे नरकभीरुतामापद्येरन्निति महतीयं समाजदुरवस्था प्रसज्जेत। तस्मान्नैव खलु श्राद्धसंप्रदानभूता मृताः पित्रादयः, न वा तेषां प्रीत्यर्थमिदं श्राद्धं नाम कर्म। के तर्हि पितरः श्राद्धसंप्रदानभूता इति चेत्तत्रैवमाहुः। अनेकधाऽयं पितृशब्दः प्रसिद्ध्यति, सन्ति ननु पितृपितामहादिशब्दा जनकादिषु निरूढाः, अस्ति च 'पान्तीति पितरः' इति नैरुक्तानां विवृतिमुपजीव्य पालकत्वसामान्येन पितृशब्दः प्रयुक्तः। सोऽयं तस्करादिविविधभीतिभ्यः प्रजाः परित्रातुमर्हत्सु रक्षकादिषु विविधाविष्कारादिभिर्जगदुपकुर्वत्सु विविधविद्याचार्येषु च पितृशब्दः स्थाने प्रवृत्तः। त इमे मनुष्यपितरः। क्वचित्तु पालकत्वसामान्यविवक्षयैव जडेष्वप्यग्निवाय्वादिषु वसन्तादिषु सूर्यकिरणादिषु वान्यत्रान्यत्रापि वा भवेदयं पितृशब्दः प्रयुक्तः। स त्वयं पितृशब्दः सर्वत्रापि क्रियाशब्दः, पालकत्वसामान्येनैवास्य प्रवृत्तत्वात्। जातिशब्दत्वं त्वस्याचक्षाणाः सर्वथा भ्रान्ताः, पितृनामिकायाः कस्याश्चनापूर्वजातेरभ्युपगमे मानाभावात्, पान्तीति पितर इत्यादिनिरुक्तिविरोधाच्च। तत्र इम उभयविधा मनुष्यपितर आख्यातास्त एवास्माकं पितृयज्ञे (श्राद्धे) संप्रदानभूतास्तेषामेव च प्रीत्यर्थमिदं श्राद्धं नाम कर्म। युक्तं ह्येतत्—वार्द्धक्यमुपगतानां जनकादीनामुपकारकाणां रक्षकादीनां चाभ्यर्हणस्य सर्वथा समुचितत्वात्। तत्र यदिमे गृहावस्थिता एव पितृपितामहादयः स्वयमुपार्जयितुमशक्ताः पुत्रादिभिरन्नपानादिना श्रद्धापूर्वकमभ्यर्च्यन्ते स प्रात्यहिकः श्राद्धः। उक्तोऽयमपि स्मृतिकृद्भिः—

'कुर्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमक्षयाम्'।

'अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम्' ॥ इत्यादिना।

ये तु वानप्रस्थाश्रमगताः पितृपितामहादयो वने निवसन्ति, ये वा द्वितीयास्तस्करादितः परिरक्षितारः पितरस्तेषां श्रद्धयाऽभ्यर्चनस्यान्वहमशक्यतयाऽमावास्यायामपराह्णे विशिष्य तदर्थं श्राद्ध उक्तः। तस्मिन् हि कालेऽवश्यं ते सर्वेऽपि समानाय्य श्रद्धयाऽभ्यर्चनीया भोजनीयाश्चेति। अनेन हि पुत्रादेः सुदृढा भक्तिस्तया च सुपुत्रता ख्यापिता स्यात्। ज्ञानोपदेशादिना च ते पितरोऽस्याप्युपकुर्युः। रक्षकास्तु पितरः प्रतिपदमेवोपकुर्वन्तीति युक्तैव प्रत्युपचिकीर्षया तेषामभ्यर्हा। अत एव तु त्रिपुरुषमेवेदं श्राद्धं विधीयते सर्वत्र। पितृपितामहप्रपितामहानेवोद्दिश्य विधीयमानत्वाच्छ्रा-

द्धस्य । श्राद्धयोग्येन हि पुरुषेणान्ततस्त्रय एव पूर्वपुरुषाः शक्यन्ते जीवन्त उपलब्धुम् । वृद्धप्रपितामहादीनां हि जीवतामुपलम्भोऽसंभवप्राय एवेति । ये तु मृतानां श्राद्धमाहुस्ते त्रिपुरुषोद्देश्यकत्वं श्राद्धस्योपपत्त्या व्यवस्थापयितुं सर्वथाप्यशक्ताः । तथैव खल्विमे श्राद्धप्रशस्ताः दक्षिणमयनं शरदृतुः, कृष्णः पक्षोऽमावास्या तिथिरपराह्णो दिवसभाग इत्याद्याः समयविशेषा अप्यस्मिन्नेव कल्पे सम्यगुपपद्यन्ते । तथा हि सर्वत्रैवात्र विशिष्य विचारे प्रवर्त्यमाने स्फुटमेवेदं परिलक्ष्येत यदापूर्यमाणो दैवः कालः, अपक्षीयमाणस्तु पित्र्य इति शास्त्ररहस्यमिति । उत्तरस्यां दिश्ययमानस्य भगवतो मरीचिमालिनः समधिकमुपचीयते तेज इति स दैवः कालः । दक्षिणस्यां तु दिश्ययमानस्योत्तरोत्तरमपक्षीयत एवेति स एव विशिष्य पित्र्यः काल आख्यातः । तत्सम्बन्धादेवेदं शरदोऽपि पित्र्यत्वं व्याख्यातप्रायमेव । कृष्णः पक्षोऽमावास्या तिथिश्चेति चन्द्रसम्बन्धेन विवेच्यम् । शुक्लपक्षे हि क्रमिकामुन्नतिमधिगच्छन् पूर्णायां पूर्णतयैव विद्योतते भगवान् कुमुदबन्धुः । कृष्णे तु पक्षे प्रत्यहमपचीयमानोऽमायां नामशेषतामेवावगाहते । सर्वतोऽन्धतमसपरिव्याप्ते च संपद्यत रजनीति स एवाख्यातः पित्र्य कालः । इत्थमेव प्रातरारभ्य प्रतिक्षणमधिकाधिकं प्रसरति चण्डभानोः प्रदीप्तिरामध्याह्नमिति सोऽयं दैवः कालः । ततस्त्वपराह्णमारभ्यानुक्षणमुपक्षयमेवोपयातीति सोऽयं नियमितः पितॄणां कालः, इत्थमेव तत्रतत्र सर्वत्रालोच्यम् । अस्य च स्फुटनयमेवाभिप्रायो यद्विद्याबलादिभिरायौवनमुपचीयमानास्तत्र तत्र प्रख्यातयशसो जना भवन्ति देवपदाभिधेयाः । तदुत्तरं तु वार्धक्येऽपक्षीयमाणबलादिविभवा भवन्तीम एव पितरः । अत एव हि 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ती' ति भगवती श्रुतिः पुत्राणामेव कालेन पितृत्वप्राप्तिमाह । त एवैते स्वयमशक्ततामुपगताः पितृत्वेनार्चनीयाः पुत्रादिभिः । ते ते समयविशेषाश्चापि तेषां प्राकृतिकसर्वपदार्थोपक्षयशिक्षणाय पुनः पुनस्तत्स्मरणेन जगदीश्वराराधनप्रवृत्तये च नियमिता इति जीवतां श्राद्धे स्फुटोपपत्तिः । ये चाप्येते रक्षकाः पितर आख्यातास्तत्सम्बन्धेनापि सम्यगेवोपपद्यतेऽयं समयादिनियमः, बहलान्धकाररजनीविशिष्टायाममावास्यायां तिथौ तस्करादिभीतिबाहुल्येन रक्षकाणामतिशयेनापेक्षणात्तद्दिने तदभ्यर्हणाया अवश्यकरणीयत्वात् । 'कार्यकारणतश्चान्ये भवन्ति हि स्फुट एव लौकिको न्यायः । यदा हि यदपेक्षा तदा सोऽयमवश्यमभ्यर्च्य इति । तमोबाहुल्यादेव चाऽमावास्यायां प्रकाशार्थं विद्युदाद्याविष्कारपटवोऽपि पितरः सुतरामपेक्ष्यन्त एव । अपराह्णकालोऽपि रात्रिसन्निहितत्वादेव पितृश्राद्धेऽपेक्षणीयतया ख्यातः । रात्रावेव विशिष्य रक्षकाणामपेक्षासिद्धेः । तदात्व एव नन्वस्मदादिगृहे कृतभोजना रक्षिपुरुषाः कथं रात्रावस्मानुपेक्षिष्यन्ते । रात्रौ विशिष्य रक्षकाणामपेक्षितत्वादेव च रात्रेरपि विशिष्य पितृसम्बन्धस्तत्र तत्र शास्त्रेष्वाख्यात उपपन्नो वेदितव्यः । अत एव च सन्ध्यायाः

पितृप्रसूरिति नाम व्यपदिशन्त्याभिधानिकाः । सन्ध्याया एव च पितृणामुत्पत्तिमाचक्षते पुराणानि । सन्ध्यामेवारभ्य रक्षकाणां प्रवृत्तेः सर्वस्यास्योत्पादकत्वात् । शरदृतुरप्ययं यच्छ्राद्धे विशिष्यादृतस्तदिदं तदात्वे धान्यादिसमुत्पत्ति बाहुल्येन बहुतररोगप्रचारादिना च रक्षकाणामधिकापेक्षासत्त्वादेवोपपत्तिमत् । वानप्रस्थाश्रमिणामपि चारण्ये निवसतां पितृणां वर्षासु गृहे समानाय्याभ्यर्हणं दुष्करमिति शरदि विशिष्य तच्छ्राद्धमुपनियमितम् । मृतश्राद्धवादिनस्तु सर्वस्यास्य कालादिविशेषस्योपपत्तिसमाख्याने बद्धमौना एव भवेयुरिति जीवतामेवोपपत्तिसिद्धं श्राद्धम् ।

योऽप्ययं श्राद्धे नामास्मिन् कर्मणि पितृसम्बन्धेन स्वधाशब्दो बहुधा प्रयुज्यते, स्वधाशब्दप्रयोगमन्तरेण च श्राद्धस्यैव वैगुण्यमभिमन्यते, तदपि कल्पेऽस्मिन् सम्यगुपपन्नं द्रष्टव्यम् । स्वधाशब्दस्य हि शब्दशास्त्रमनुसृत्य विविच्यमानस्य 'स्वा ज्ञातिधनादयः स्वे आत्मात्मीयादयो वा धीयन्ते धार्यन्त यया सा स्वधेति' विग्रहेण स्वसम्बन्धिद्रविणपुत्रकलत्रादिरक्षणपरेषु पितृणां (रक्षकाणां) कर्मसु शक्तिः सिध्यति । तथा चानया रीत्या स्वधाशब्दोऽयं भवेत्पितृकर्मवाचक इति ।

विदुषामुपाध्यायाचार्यादिशब्दवत्पितृणामेष उपाधिभूतो द्रष्टव्यः । स्वकर्मवैशिष्ट्यबोधकोपाधिसंकीर्तनेन च भवेदेव सर्वस्यापि सचेतनस्य हर्षावाप्तिरिति तत एवास्योच्चारणं पितृप्रीतिकरमिति तदुद्देश्यके कर्मणि श्राद्धे नियमितम् । यद्वा 'स्वं स्वकीयमस्तित्वं दधातीति स्वधा प्रकृतिरिति स्वभाव—स्वधर्मादिवाचकोऽयं भवेत्स्वधाशब्दः । तथा च महामहिमसु विद्वत्सु रक्षकादिषु चोत्कृष्टस्वभावधर्मादिशालिषु युक्ततम एवास्य शब्दस्य प्रयोगः । येऽपि च ब्रह्मचर्यादींस्त्रीनाश्रमान् यथावन्निर्व्यूढवन्तः स्वकीयाः पितृपितामहादयस्तेष्वप्ययमुत्कृष्टप्रकृतिधर्मादिबोधकतया सुप्रयुक्त एव । नैघण्टुकास्त्वन्नं स्वधामाहुः । तथाविधोऽप्ययमवश्यं स्वयमुपार्जयितुमशक्ता वृद्धाः पितरोऽन्नादिभिरभ्यर्हणीया एवेति शिक्षयितुं पुत्रादीन्नियमितः श्राद्ध इति सर्वथाऽप्युपपन्नतरम् । यत्तु पुराणादिषु दक्षस्य सुता पितृणां काचन स्वधेत्याख्यायते तदिदमेकस्याः स्वधायाः सर्वविधपितृपत्नीत्वं कथमुपपद्येतेति परोक्षोऽयमर्थः सुविदुषाम् । सहस्रशो हि पितरः स्मर्यन्ते, बहवश्च तेषां गणाः । ये चाप्येते प्रत्यहमुपयान्ति यमसदनं तेऽपि पितर एवाभ्युपगम्यन्त इति कथं सर्वेषामेका पत्नी भवेत् । तस्माद्यदपि पितृपत्नीत्वं तदपीदं पितृणामुपाधिरूपतया तत्सहचरत्वेन तत्प्रसादकत्वेन च पत्नीसादृश्य एव पर्यवसितमिति जीवतामेव पितृणां सम्बन्धेन तदप्येतदुपपन्नं न तु मृतपितृणां कोऽपि संबन्ध एतेन सिद्ध्यति । यश्चाप्ययं यमः पितृणां राजेत्यस्ति प्रवादः सोऽपि नास्माकं प्रतिकूलः । सूर्यस्य सुतौ यमो यमी चेति कौचन चेतनविशेषाविति हि पौराणिकानां पन्था

यद्यपि विरुध्येताऽप्यनेन, परं विशिष्टप्रज्ञास्तु पश्यन्ति यमो नाम दिवसः, यमी च रात्रिरिति। अनयोः सूर्यसम्बन्धेनैवोत्पन्नत्वात्सूर्यपुत्रतादिव्यवहारः। तदित्थमहोरात्रे प्रथमं प्रवृत्तो यमशब्दः क्रमेणाहोरात्र्याद्युपाध्युपहितस्य महाकालस्याप्यभूद् वाचकः। अत एव—

"वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानम्"।

इत्यादिश्रुतौ यमस्य वैवस्वतत्वमुक्त्वाऽपि॥

"यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किञ्चन"

इत्याद्यथर्वश्रुतौ (१८।२।३२)

यमस्य सूर्यादपि परत्वमाम्नातम्।[१]

---

१. अपूर्ण एव सम्प्राप्तोऽयमपि लेख इत्यादावेवोक्तमनुसन्धेयं कृपया पाठक-महाभागैः—सम्पादकः।

काव्यसाहित्यखण्डः

एतद् ग्रन्थरचयितृभिस्त्रिरान्महाकाव्यसंग्रहनाम्ना रघुवंशकुमारसंभवकिराता-र्जुनीयशिशुपालवधमहाकाव्यानामनेकसर्गाणामुपरि अन्वय—व्याकरण—व्याख्या—भावार्थं इत्येतत्क्रमेण व्याख्या विहिता, तत्र भावार्थेषु पद्यानां स्वातन्त्र्येण सरलेन संस्कृतेनाशयस्तथा प्रस्तुतः येन संस्कृतेनाल्पपरिचिता अपि पद्यस्थं भावं सम्य-गवगन्तुं पारयेयुः। तत्र तत्र पद्येषु व्यंग्यार्थरूपेण ये निगूढाश्चमत्काराः सन्ति तेऽपि भावार्थेषु प्रस्फुटीकृताः कामपि कमनीयां कान्तिमुद्घाटयन्ति काव्यस्थ-लानामिति बहुभिर्विद्वद्भिस्त एते भावार्थसन्दर्भा अपि रचनावल्यामस्यामवश्यं स्थापनीया इति प्रेरितेन मया निवेशिता—सम्पादकः।

रघुवंशे द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

सूर्यपौत्रस्य मनुपुत्रस्येक्ष्वाकोर्महाराजस्य वंश्यो राजर्षिर्दिलीपः प्रौढेऽपि वयसि सन्ततेरभावात्खिन्नो गुरोर्वशिष्ठस्य महर्षेराश्रमं गत्वा स्वस्यापुत्रतायाः कारणं प्रतीकारं च जिज्ञासते स्म। तेन च "स्वर्लोकादागच्छता त्वया मार्गे कामधेनुः प्रमादान्न सत्कृता, तत एव ते सन्ततेः प्रतिबन्धः। अधुना मदाश्रमस्थां कामधेनुसुतां नन्दिनीमाराधय, प्रसन्नायामस्यां फलिष्यति मनोरथः" इत्यनुशिष्टः। ततस्तदाज्ञया तत्रैवाश्रमे क्वचित्पर्णशालायां सभार्य्यो वसतिं प्रकल्प्य रात्रौ सुप्त इति प्रथमसर्गे गतम्। तदनन्तरं वृत्तमुच्यते—

१.

दिलीपः प्रातरेव कृतस्तन्यपानं नन्दिन्याः वत्सं स्वस्थाने बद्ध्वा सुदक्षिणया गन्धमाल्यादिभिः पूजितां नन्दिनीं धेनुं वने स्वच्छन्दविहारार्थं मुमोच—

२.

यथा स्मृतिः श्रुतिविहितमेव पवित्रमर्थमनुविदधती श्रुतिमनुगच्छति, तथैव पतिव्रताशिरोमणिः सुदक्षिणापि तां गामनुजगाम, तस्याः पादैः पवित्रे पथि स्वयमपि गन्तुं प्रवृत्ता बभूवेति।

३.

भूपतिः किञ्चिद्दूरं गत्वा-अनुयान्तीं प्रियां सुदक्षिणां "परिश्रान्ता मा भूत्"-इत्याश्रमं प्रति निवर्तयामास। स्वयं च येन प्रयत्नेन समुद्रमेखलां कृत्स्नां पृथ्वीं रक्षति स्म, तेनैव गामपि ररक्ष। यत इयं गौर्गोरूपधारिणी साक्षात् पृथिवीव संभाविता। अस्याः स्तनाश्च समुद्रत्वेन सम्भाविताः, उभयोः पयःप्रदत्वं मध्यस्थितत्वं च सादृश्यमिति।

४.

भूपतिः सह गच्छन्तमितरमप्यनुचरवर्गं निवर्तयांचकार। यतो व्रतनिष्ठ-

---

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥
निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥
व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

स्यास्य न प्रभावदर्शनार्थमनुचरापेक्षा, व्रते कर्मणां स्वेनैव संपाद्यत्वात्। स्वशरीररक्षार्थे तु न कदाप्यस्यानुचरापेक्षा जायते स्म, यतो मनुवंशजा आत्मरक्षणमात्मपराक्रमेणैव विदधते, परान्नापेक्षन्त एव।

५.

दिलीपः कदाचित् कोमलतृणग्रासानुपानयति स्म, कदाचिन्नखादिना गात्रं विघृष्य खर्जूं विनोदयति स्म, वनमक्षिकाणां च दूरीकरणेन सततं रक्षति स्म। न च कुत्रापि यथेच्छं गच्छन्तीं तां निवर्तयामास-इत्येवं सेवायां प्रवृत्तः। सम्राडप्येवमाराधयतीत्यहो!

६.

यथा छाया छायावति चेष्टमान एव स्वयमपि तद्वच्चेष्टते, न तु स्वतन्त्रा, तथैव दिलीपोऽपि गवि तत्तदवस्थानप्रस्थानोपवेशनादिक्रियाः कुर्वत्यामेव स्वयमपि तास्ताः क्रियाश्चकार, न तु स्वयं तां कस्यामपि प्रेरयामास।

७.

नन्दिनीं परिचरन् दिलीपो यद्यपिच्छत्रचामरादिराजचिह्नं त्यक्तवान्, तथापि केनचिदाकृतौ लक्ष्यमाणेन स्वाभाविकेन राजतेजसा "राजेवायम्" इति लोकैरन्वमीयत। यथा गण्डस्थलेऽनालक्षितमदरेखोऽपि गजेन्द्र आकारेणैव मत्त इत्यनुमीयते।

८.

दिलीप इतस्ततः प्रकीर्णान् स्वान् केशान् लतातन्तुभिरूर्ध्वं संयम्य सज्जं धनुरादाय गामनुगच्छति स्म, तत्स्वरूपेणेत्थं प्रतीयते स्म, यदयं वन्यानां दुष्टजन्तूनां प्रजासूपद्रवकारिणाम् शासनार्थमेव वने भ्रमति, गोरक्षा तु तत्र व्याजमात्रमिति।

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥ ५॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥ ६॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः॥ ७॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षाऽपदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥ ८॥

९.

यथा वरुणो जलाभिवर्षणेन समस्तं वनस्पतिजातमभिवर्धयति, तथैवायमपि महाराजो दिलीपो रक्षणशिक्षणादिना प्रजाः परिपोषयति। अत एव वरुणदेवतुल्यस्य असहायं वने भ्रमतोऽस्य पार्श्ववर्तिनो वृक्षा अस्य दर्शनेन हृष्टानां पक्षिणां कलकूजितैः स्वागतमिव कुर्वन्तो जयशब्दवादिनामनुचराणां कार्यं निर्वर्तयामासुरिति सम्भाव्यते।

१०.

नगरे हि राज्ञः प्रचारे पौरकन्या गृहेभ्यो लाजान् प्रक्षिपन्ति इत्याचारः। स एव आचारोऽत्र कन्यानामभावेऽपि वायुनान्दोलिताभिर्लताभिर्लाजसदृशपुष्पवर्षणेन संरक्षितः। अग्निः खलु वायोर्मित्रम्, दिलीपश्चाग्निसदृशः प्रभावेण पूज्यश्च, अतएवैतादृशस्य मित्रस्यातिथीभूतस्य स्वागतं कर्तुं वायुना लता प्रेरिता इति। महापुरुषस्य प्रयाणे शुभसूचकस्य मन्दस्य वायोः प्रचारः प्रकृतिसिद्धः। तत्र मित्रसदृशस्य राज्ञ आतिथ्यं हेतुतया निगूढमुत्प्रेक्षितं कविना।

११.

यद्यपि कार्मुकधारिणो दिलीपाद् बाह्यदृष्ट्या भयं संभावितम्, तथापि हरिणीनां मनसि तं दृष्ट्वा भयं न जातमिति—"विमलं कलुषी भवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च" इति न्यायेन 'दयाशीलोऽयं राजा नास्मान् हिंस्यात्' इति हरिण्यो विश्वस्ताः। तत एव च निर्भीका अतिशयेन मनोहारि शरीरमस्यालोक्यालोक्य स्वनेत्राणां विस्तारस्य साफल्यममन्यन्त।

१२.

वने विचरता दिलीपेन तत्र तत्र कुञ्जेषु वनदेवता दृष्टाः, तन्मुखादुच्चैः स्वकीर्तिगानं च श्रुतम्, वायुना निःस्वनन्तो वंशा एव तत्र गाने वंशवाद्यतामाप्ता अभूवन्।

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥ ९॥
मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम्।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ १०॥
धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः॥ ११॥
स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ १२॥

१३.

सदाचरणेन परिपूतस्य दिलीपस्य आतपजनितां श्रान्तिं स्वयं जगत्पावन-शीतलो मन्दः सुगन्धिश्च पवनो विनोदयामास ।

१४.

दिलीपस्य वने प्राप्तिमात्रेणैव तस्यालौकिकप्रभावात् तत्र तत्र स्वभावेन वने प्रज्वलन् दावानलो वर्षणमन्तरेणैव शान्तिमवाप । वृक्षाः पूर्वापेक्षयाधिकं पुष्प-फलभाजोऽभवन् । सिंहादिहिंस्रजन्तवो निर्बलमृगादिकान् नाबाधन्तेति ।

१५.

सर्वं दिनं वने विभिन्नासु दिक्षु परिभ्रम्य सायं समय आसन्ने गौरा-श्रमाभिमुखी प्रस्थिता । सूर्यप्रभापि तथैवेति तयोरेकधर्मतया सदृशत्वं प्रतिभातम् । उभयोस्ताम्रवर्णतयापि सदृशता प्रतीयते स्म ।

१६.

आश्रमं गच्छन्तीं गां दिलीपोऽप्यनुजगाम । तेनानुगम्यमाना च सा अनु-ष्ठानानुगता श्रद्धेव शुशुभे । कर्मसु केवलं श्रद्धैव न कौशलहेतुः, किन्तु "यस्तु क्रियावान् कुशलः स एव" इत्यभियुक्तोक्त्या अनुष्ठानानुगता श्रद्धा लोके विशेषेण प्रशंसामर्हति । तथैव राज्ञानुगता गौरपि विशेषेण प्रशंसास्पदं जाता ।

१७.

सूर्येऽस्तमुपगच्छति तमःप्रसारेण श्यामीभवति तत्रारण्ये स राजा क्वचि-ज्जलाशयेभ्यो निर्गच्छतो वराहान्, क्वचिच्च स्वनीडेषु गन्तुमुत्सुकान् मयूरान्, क्वचिच्च स्वैरविहाराद्विरम्य तृणहरितप्रदेशेषु विश्राम्यतो मृगान् पश्यन् वशिष्ठाश्रमं प्रति ययौ ।

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाऽऽकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ १३ ॥
शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥ १४ ॥
सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ १५ ॥
तां देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥
स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

१८.

दुग्धबाहुल्यात् स्थूलस्योधसो भारान्नन्दिनी, शरीरगौरवाच्च दिलीपः, इत्यु-भावपि मन्दगामिनौ । मन्दा च गतिः शोभते–इति तयोस्तथा गमनेन मार्गस्यापि शोभाभवदिति ।

१९.

सर्वं दिनं प्रियस्यादर्शनेन सुदक्षिणाया नेत्रयोरुपवास–इव जातः, तेन च यथा कश्चन कृतोपवासः सञ्जातकण्ठशोषस्तृष्णया करोहृत्य पयः पिबति, तथैव सुदक्षिणाऽपि धेन्वा सहायान्तं दिलीपं तृष्णातिशयेन निमेषमपि परित्यज्य पपाविव, सोत्कण्ठं ददर्शेति ।

२०.

दिलीपस्याग्रतोभूत्वा तपोवनात्प्रत्यागच्छन्तीं धेनुं सत्कर्तुं यदा सुदक्षिणा आश्रमात् कियन्ति पदानि सम्मुखे जगाम, तदा (दिलीपः पुरुषत्वात्तेजस्वितया च दिवससदृशः, सुदक्षिणा तु स्त्रीत्वात् सौम्यतया च रात्रिसदृशीति) तयोर्दम्पत्यो-र्मध्यस्थिता ताम्रवर्णा सा धेनुः दिनक्षपयोर्मध्यस्थिता ताम्रवर्णा सन्ध्येव व्यराजत ।

२१.

सुदक्षिणा तां नन्दिनीं परिक्रम्य, प्रणम्य च अक्षतादिभिस्तस्या नन्दिन्या भालमर्थसिद्धेर्द्वारं मत्वा पूजयामास ।

२२.

वनात् परावृत्य स्ववत्समालोकयितुमुत्कण्ठमानापि सा धेनुर्निश्चलभावेन सुद-क्षिणया विहितां पूजां स्वीचकार । तेन स्वविषये तस्याः प्रसन्नतामनुमाय–सुदक्षिणादिलीपौ परमानन्दं प्रापतुः । यतश्च नन्दिनी-दृशानां महानुभावानां प्रसन्नता अविलम्बितां फलसिद्धिं सूचयति ।

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥
वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥
पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥
प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥
वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

२३.

तपोवनादाश्रमं प्राप्तो दिलीपः पूर्वमरुन्धतीसहितं वशिष्ठं प्रणनाम, तदनु सायंकालिकीं सन्ध्यामुपासाञ्चक्रे, अथ दुग्धदोहनानन्तरं भूमावुपविष्टायास्तस्या एव कामदुघाया नन्दिन्याः परिचरणे तत्परो बभूव। न च तदानीं तच्चेतसि राज्यचिन्ता पदमकरोत्, यतः स पूर्वमेव स्वरिपून् उत्सादितवान्।

२४.

सुदक्षिणादिलीपावुभावपि तस्या नन्दिन्याः समीपे बलिद्रव्याणि भक्तपायसादीनि दीपांश्च स्थापयामासतुः। अथ तस्यां भूमावुपविष्टायां सत्यां स्वयमप्युपाविशताम्, सुप्तायामस्वपताम्, प्रातः पुनरुत्थितायां चोत्थितौ तथैव पूर्वदिवसोक्तं सर्वमकुरुताम्।

२५.

उक्तेनैव प्रकारेण स पत्नीसहितो दिलीपः सन्तानार्थमेकविंशतिदिनपर्यन्तं गोसेवारूपं व्रतमकरोत्।

२६.

द्वाविंशे दिने नन्दिनी दिलीपस्य भावं परीक्षितुमियेष, "सत्यमयं मद्भक्तः, कृत्रिमा वा भक्तिरिति" परीक्षेच्छया च गङ्गाप्रपातसमीपवर्तिन्यां हिमालयगुहायां प्रविवेश। अत्र हरितहरितो घासः प्ररूढ आसीत्।

२७.

"इमां नन्दिनीं प्रभावाद् व्याघ्रादयो मनसाप्याक्रमितुं न समर्थाः" इति विचार्य निश्चिन्तो राजा क्षणं पर्वतशोभादर्शनासक्तोऽन्यमनस्क आसीत्, परमन्त्रान्तरे अकस्मादाज्ञाऽदृष्ट एव कश्चन सिंहस्तामाक्रान्तवान्।

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यञ्च विधिं दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥
तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥ २४ ॥
इत्थं व्रतं धारयतः प्रजाऽर्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥
अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥ २६ ॥
सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥

२८.

सिंहेनाक्रान्ता नन्दिनी दुःखाक्रन्दनमकरोत् । तच्चाक्रन्दनं पर्वतगुहायामुच्चैः प्रतिध्वनितम् । ततश्च यथान्यमनस्कमश्वमश्वारोहो वल्गामाकृष्य कुमार्गान्निवर्त्य मार्गमानयति तथैव दीर्घं तदाक्रन्दनं नेत्रकिरणरूपां वल्गामाकृष्य राज्ञो नेत्रं पर्वतान्निवर्त्य नन्दिन्यभिमुखमकरोत् ।

२९.

यथा गैरिकधातुना रक्तवर्णायां पर्वतस्योर्ध्वभूमौ पुष्पितो लोध्रवृक्षो लक्ष्यते, तथैव रक्तवर्णां नन्दिनीमाक्रम्य स्थितः प्रसन्नमूर्त्तिः सिंहोऽपि पर्वतात् परावृत्तचक्षुषा दिलीपेन लक्ष्यते स्म ।

३०.

येन सर्वे स्वशत्रवो बलाद् विनाशिताः, तादृशः स शरणागतरक्षको दिलीपः स्वसमक्षं गवि सिंहस्याक्रमणं दृष्ट्वा स्वपराभवममन्यत । अत एव स्वपराभवकर्तुर्वधयोग्यस्य तस्य सिंहस्य वधाय तूणीराद् बाणं निष्कासयितुमैच्छत् ।

३१.

यदा दिलीपः पृष्ठभागे लम्बमानात् तूणीरात् बाणनिष्कासनाय स्वदक्षिणहस्ताङ्गुलीः पुङ्खे योजितवान्, तदाङ्गुलयस्तत्रैव संश्लिष्टा निश्चेष्टा अभवन्, बाणं बहिराक्रष्टुं नाशक्नुवन् । अत एव यथा चित्रलिखितं वस्तु स्पन्दशून्यं भाति, तथैव दिलीपस्य दक्षिणहस्तोऽपि भाति स्म ।

३२.

स्वबाहोः प्रतिरोधेन दिलीपस्य क्रोधो ववृधे । न च समीपस्थस्यापि सिंहस्य किमपि कर्तुं शक्तोऽभूत् । तेन यस्य सर्पस्य पराक्रमो मन्त्रेणौषधेन च निरुद्धः स्यात्, स यथा किञ्चिदकुर्वाणः स्वहृदय एव ज्वलति, तथैव राजापि तेजसा स्वयमेव मनसि जज्वाल, अत्यन्तं खिन्नस्तप्यमान इवाभवदिति ।

तदीयमाक्रन्दितमार्त्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥
स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥
ततोमृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥ ३० ॥
वामेतरस्तस्य करः प्रहर्त्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलि सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ ३१ ॥
बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥

३३.

दिलीपोऽभूतपूर्वं स्वभुजप्रतिरोधमनुभूय विस्मयं प्राप्त एव, पुनरपि स सिंहो मानवीं वाचमवलम्ब्य तस्याभिक्रमाश्चर्यमुत्पादयन् तं सम्बोधयामास ।

३४.

सिंहो वदति—हे राजन्! मा स्म कृथा वृथा श्रमम्, यतः प्रथमं तु स्वमस्त्रचालन एवासमर्थः, यदि कथंचिच्चालयेरपि, तथाप्यल्पबलान् हिंसितुं शक्तमपि तवास्त्रं मम न किञ्चिदपि कर्तुं शक्नोति । यथा वृक्षाणामुत्पाटने समर्थोऽपि वायोर्वेगः न पर्वतमुत्पाटयितुं समर्थः ।

३५.

हे राजन्! नाहं सामान्यः सिंहो यं त्वं हन्याः, अपि तु कुम्भोदर-निकुम्भनामानौ यौ द्वौ प्रसिद्धौ भगवतः श्रीशङ्करस्य गणौ, तयोरन्यतरोऽहम् । यदा शिवो वृषभं स्ववाहनमारोढुमिच्छति, तदानीं तस्यात्युच्चतया मम पृष्ठदेशे पादं न्यस्य तमारोहति इति मम सेवा ।

३६.

हे राजन्! सम्मुखस्थितं देवदारुवृक्षमेतमप्यवलोकसे ? एष खलु शिवेन पुत्रवन्मानितः । यतश्चायं स्कन्दस्य जनन्या पार्वत्या स्वकुचसदृशैः पयः सदृशजलपूरितैर्हेमकुम्भैः सिक्तः । अतएवायमुभयोरुमामहेश्वरयोः स्कन्दवत् प्रियः ।

३७.

एकदा कश्चनारण्यो हस्ती खर्जूपनोदाय स्वगण्डस्थलमस्मिन् देवदारौ घर्षयामास । तेनास्य वल्कलमुत्पाटितमभूत्, तच्च दृष्ट्वा पार्वती देवासुरसंग्रामेऽसुराणां शस्त्रैः क्षतं कार्तिकेयं विलोक्य यथा, तथैव शोकातुराभूत् ।

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ ३३ ॥
अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥
कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥
अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३६ ॥
कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥

३८.

यदा वन्यगजेनास्य देवदारोस्त्वगुत्पाटिता, तत आरभ्यैव वन्यगजानाम् भीत्युत्पादनार्थं महादेवो मम सिंहरूपं विधाय मामत्र न्ययोजयत्। आदिशच्च माम् यत् "त्वया स्वसमीपागतान्–प्राणिनः व्यापाद्य स्वजीवनं निर्वोढव्यम्, न पुनरिमं परित्यज्य भोजनाय क्वापि गन्तव्यम्"।

३९.

एकादश्यादिपर्वसु कृतोपवासा जना उपवासान्ते पारणां यथा विदधते, तथा चिराद् भोजनालाभात् कृतोपवासस्य मम पारणायै महादेवेन तृप्तिजननयोग्येयं गौरत्र प्रेषिता। राहुणा यथा चन्द्रमण्डलामृतं प्राप्यते, तथा मयेयं प्राप्ता।

४०.

हे दिलीप! "क्षत्रियोऽहमिमां रक्षितुं नाशकम्" इति हेतोर्मा स्म धात् पदं ते चेतसि लज्जा। यतस्त्वया यावच्छक्यमिमां रक्षितुं प्रयासं कृत्वा गुरुभक्तिः प्रदर्शितैव। अस्यास्तु गोर्विनाशो जगदीश्वरेणैव रचितः, तथा च प्रतिविधातुमशक्तस्य तव का लज्जा? न चाशक्ये वस्तुनि यशोहानिरपि। तस्माद् गृहं त्वया गन्तव्यम्।

४१.

सिंहस्य वाक्यमिदं श्रुत्वा "श्रीशङ्करप्रभावान्मदस्त्रप्रतिबन्धो जातः" इति राज्ञा ज्ञातम्। तेन या पूर्वमात्मनि तस्यावज्ञा प्रादुरासीत् "काले मदस्त्रं व्यर्थं जातम्, धिङ् माम्" इति-सा निवृत्ता। सामान्यात्पराभवो व्रीडां जनयति, न तु सर्वेश्वरादिति। अधिराजत्वेन सिंहस्य साम्याद् व्रीडाया योग्यता, परं स शङ्करस्यानुभावेन गर्वित इव निवृत्तिः।

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८ ॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ ४० ॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ४१ ॥

४२.

यद् दिलीपो गां भक्षयितुमुद्यतं सिंहं हन्तुं धनुषि बाणं संधातुं नाशकत्, तदिदं दिलीपप्रयत्नस्य प्रथममेव वैफल्यम्, इतः पूर्वं कदापि तेन शस्त्रप्रयोगे निष्फलता नानुभूता। ततश्च वज्रप्रयोगं चिकीर्षुर्महेन्द्रो महादेवप्रभावात् निश्चेष्टो यां दशामनुभूतवान् सैव दशा दिलीपस्यापि तदवसरे जाता। तेन विवशः स वाङ्मात्रेणोत्तरं दत्तवान्। अन्यथा पराभवकर्तुरग्रे क्षत्रियाणां शस्त्रेणैवोत्तरं शस्तम्, न वाङ्मात्रेण।

४३.

हे मृगेन्द्र! यद्यपि समर्थस्यैव वचस्यादरः प्रायेण सर्वेषां भवति, किमपि कर्तुमशक्तस्तु यदपि वदति, तत्केवलं लोके परिहासयोग्यं मन्यते अत एव यदहं त्वां वक्तुमिच्छामि, तच्छ्रुत्वापि "अहो अशक्तोऽप्ययं वीर इव प्रलपति" "असम्भावितमेतत्कथनम्" इत्यादिरूपेण प्राकृतो जनो मामुपहसेत्, अतो न वाच्यमन्येष्वेवम्। किन्तु त्वं शिवसेवकत्वात् सर्वज्ञोऽसि, मम वाङ्मनसयोरेकरूपतां ज्ञातुं प्रभवसि, अतस्त्वां प्रति वच्म्येव। अनुक्तमपि त्वया ज्ञायते, ततः कथने को दोषः।

४४.

हे मृगेन्द्र! अस्य देवदारोः समीपमागताः प्राणिनस्तव भक्ष्यमिति जगदीश्वरस्य भगवतः शङ्करस्य शासनं मया शिरसैव धार्यते, तेन "त्वमेनां कृपया त्यज" इति न वक्तुं शक्नोमि। किन्तु गुरोर्धननाशमपि नोपेक्षितुं शक्तोऽस्मि। गुरुश्चाहिताग्निरिति गौस्तस्य मुख्यं धनम्, हविःसाधनत्वात् एतदभावे घृतरूपहविषोऽनुपलम्भे स कथमग्निहोत्रं होष्यति?

४५.

हे मृगेन्द्र! त्वं कृपया गोः प्रातिनिध्येन मदीयं शरीरम् भुक्त्वा जीवनं निर्वह। इमां महर्षेर्धेनुं परित्यज। इदानीं सायं जातम्, एतस्याः लघुवत्स एतदागमनं सोत्कण्ठं प्रतीक्षमाणो भवेत्। स इमामदृष्ट्वा कथं जीविष्यति।

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः॥ ४२॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये॥ ४३॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्॥ ४४॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः॥ ४५॥

४६.

राज्ञः कथनं श्रुत्वा सिंह ईषद् विजहास। तदनु राजानमुवाच। हास्यकाले निर्गतैस्तद्दंष्ट्राणां किरणैर्गुहान्धकारो विनष्टः।

४७.

राजन्! त्वं यत् सत्यमिदं कर्तव्यमिदमकर्तव्यमिति विवेक्तुं न जानासि। यदेकस्या लघीयस्या गोः कृते स्वशरीरं मह्यं दातुमुद्यतोऽसि। अनेन ते साहसेन एकच्छत्रं राज्यम्, नवीनमुपभोगोचितं यौवनम्, मनोहरं शरीरम् चैतत्सर्वमपि एकपदे त्यक्तं स्यात्।

४८.

हे दिलीप! यदि त्वं प्राणिषु कृपालुतया गां रक्षितुं स्वशरीरं मह्यमर्पयसि, तर्हि मुधा ते विचारः। कुतः? त्वद्विनाशे केवलमियं मुनिधेनुर्जीवनदानेनानुकम्पिता स्यात्, किन्तु याभिस्त्वं "प्रजानाथः" इति व्यपदिश्यसे, तास्त्वदीया बहुप्राणिसंकुलाः प्रजास्त्वदभावे बहूपद्रवैराक्रान्ता नितरां पीडिताः स्युः। स्वयमेव खलु तासां पितृवद्रक्षकः इति अनेकान् पीडयित्वैकरक्षणं किं दयाधर्मः? "प्रजानाथ" इति सम्बोधनेन प्रजारक्षणहेतुके जीवने न त्वं धर्मेण स्वतन्त्र इति बोधयति।

४९.

हे नृप! यदि गोविनाशेन गुरुर्मह्यं क्रोत्स्यति, शापं च दास्यतीति तव चेतसि भयम्, तर्हि तदपि व्यर्थमेव। यतः एकस्या अस्या गोः स्थाने कोटिसंख्याका गावो भवता दातुं शक्यन्ते, अल्पस्थाने बहु लब्ध्वा च तस्य क्रोधः शाम्येदेव।

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे॥ ४६॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥ ४७॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ! पितेव पासि॥ ४८॥

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः॥ ४९॥

५०.

सिंह उपदिशति—राजन्! तस्मात्सुखसन्तानमुपभुञ्जानेन त्वया स्वशरीरं रक्षणीयमेव। गोरुपेक्षणेन स्वर्गहानिस्तु न शङ्कनीया, यतः सम्पत्तिशालिराज्य-मिन्द्रपदान्न किञ्चिदपि भिद्यते, यदि तयोः कश्चन भेदोऽस्ति, तर्हि स इयानेव यदिन्द्रो भूतलं न स्पृशति, राजा तु स्पृशतीति। (देवानां भूतलस्पर्शाभाव आगम-सिद्धः) । अन्यत्तु सुखैश्वर्यादिकं समानमेव। ततश्च प्रत्यक्षं स्वर्गं राज्यं परित्यज्य कोऽयं परोक्षस्वर्गप्राप्तेः प्रयत्न इति।

५१.

एवमुक्त्वा सिंहो यदा विरराम, तदा स एव तस्य शब्दो गुहायामुच्चैः प्रति-ध्वनितोऽभूत्। तत्र कविरुत्प्रेक्षते-यद्राज्ञि प्रेम्णा हेतुना पर्वतोऽपि "आत्मदेहं रक्ष" इति सिंहोक्तमनुवदन् राजानं मरणव्यवसायान्निवारयति स्म।

५२.

एकतः सिंहेन हितमुपदिशता शरीररक्षणायानुरोधः कृतः, अपरतस्तु तेनाक्रान्ता गौः "किमिदानीमयं वदति, अपि मां मोचयति, शरीरं वा रक्षति" इति दीनया दृष्ट्या तन्मुखं प्रेक्षते। एवं संकटावसरेऽपि झटिति स्वकर्तव्यं निर्णीय राजा सिंहं प्रति पुनर्जगाद।

५३.

हे सिंह! स्वकर्तव्यं पालयत एव पुरुषस्यैश्वर्यभोगो जीवनं च श्लाघ्ये, न तु कर्तव्यविमुखस्य लोकनिन्दितस्य। वयं हि लोके "क्षत्राः" इति व्यवह्रि-यामहे। क्षताद्-नाशात् साधून् प्राणिनस्त्रायामहे इत्येव क्षत्रशब्दप्रवृत्तिरस्मासु। तद्यदि सम्मुखे हन्यमानां गामुपेक्ष्य जीवनं रक्षेयम्-तर्हि कर्तव्यविमुखो लोक-निन्दितः स्याम्, वृथा च तथा सति मे जीवनं राज्यं चेति।

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ ५१ ॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥ ५२ ॥

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥

५४.

यत्त्वयोक्तम् "अथैकधेनोरित्यादि", तदपि न, यतः अन्यासां दुग्धवतीनां बह्वीनां गवां प्रदानेनापि महर्षेः प्रसादनम् दुष्करम्। इयं हि नन्दिनी न केवलं दुग्धदोहनमात्रोपयुक्ता, अपि त्वसौ कामधेनुः। यद्यद्दषिः कामयते, तत्सर्वमेषा दोग्धि, अतो नास्या अन्यधेनुसादृश्यम्। नन्वीदृशी चेत्कथं मद्वशगा इति मा स्म शङ्केथाः, त्वया खल्वस्या उपरि महादेवप्रभावेणैव प्रहारः कृतः। अन्यस्य नास्ति सामर्थ्यमिमां प्रहर्तुम्।

५५.

अत एव हे सिंह! एतस्या गोः परिवर्ते तुभ्यमहं स्वशरीरमुपहरामि, उचितमेवैतत्, न तु विचारमूढतालक्षणम्। स्वप्राणव्ययेनापि परस्य प्राणिनः, विशेषेण गोः, तत्राप्येवंविशिष्टायाः, तत्रापि च गुरुसम्बन्धिन्याः, रक्षणीयत्वाद्। एवं च सति तव व्रतान्तभोजनमपि न विनश्येत्, गुरोर्वशिष्ठस्याग्निहोत्रादिक्रियापि सुखं निर्वहेद्-इति द्वयोरेव न काचिद्धानिः। अहं च तथा सति स्वकर्तव्यपालनेन कृतार्थः।

५६.

हे सिंह! स्वामिपरतन्त्रस्त्वमप्येतदवश्यं जानासि, यत्सेवको मौनमास्थाय पाणिपादमस्पन्दयित्वा स्वयं कांचिदपि हानिमसोढ्वा स्वामिधनं चेन्नाशयेत्, तर्हि व्रीडावनतकन्धरो दण्डभयभीतश्च स्वामिनोऽग्रे स्थातुं न शक्नोति। यद्येवं नाभविष्यत् तर्हि त्वमपि एतद्देवदारुवृक्षविषय एवं यत्नवान् नाभविष्यः।

५७.

हे सिंह! यदि त्वं मां केनापि हेतुना "अवध्यम्" मन्यसे, तत एव मम देहरक्षणमुपदिशसि, तर्हि कृपया मे यशःशरीरं मा हिंसीः। इदं तु भौतिकं पिण्डं वपूराज्यं कामं स्वभोजनायोपयुङ्क्ष्व। विवेकिनः खलु भौतिकेषु शरीरेषु नाग्रहपराः, यतस्तेषां भूतपिण्डरूपत्वाद्विनाशोऽवश्यं भावी, यशः शरीरन्तु स्थिरं ते सर्वात्मना रक्षन्ति।

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम्॥ ५४॥
सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियाऽर्थः॥ ५५॥
भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन॥ ५६॥
किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥ ५७॥

५८.

हे सिंह ! परस्परमालाप एव सौहार्दस्य हेतुः । तत्रापि च वने, (वने साहचर्यस्य मैत्रीलक्षणेषु गणनात्)। स चालापो वने सम्मिलितयोरावयोर्जात एव। अत एवेदानीं त्वमहं च सुहृदौ भवावः। सुहृदो मे पूर्वोक्ता प्रार्थना न त्वया विफलीकरणीया । यतस्त्वं भूतनाथस्येश्वरस्यानुगः—इति भवादृशे सौहार्दवैफल्यं न सम्भाव्यत एव।

५९.

दिलीपस्य प्रार्थनां स्वीकुर्वन् सिंहः "यथा भवते रोचते, तथैव भवतु", इत्युवाच। "किमयं सत्यं ददाति देहम्, उत वाङ्मात्रमिदम्" इति परीक्षणे तत्तात्पर्यम्। तत्क्षण एव राज्ञो बाहुरपि प्रतिबन्धरहितो जातः। "अपनीते बन्धने प्राकृतजनवत्पुनरप्ययं शस्त्रचालनायां विशेषे यतेत, उत प्रतिज्ञामनुस्मरन् शरीरमर्पयेत्" इति परीक्षणे तात्पर्यम्। अथ स दिलीपस्तु शस्त्रादिकमेकतः परित्यज्य स्वप्रतिज्ञानुसारं स्वदेहं सिंहस्याग्रे न्यपातयदेव। यथा कश्चित्साधारणं मांसग्रासमखिन्न एव दद्यात्, तथैवाखिन्नस्य सुप्रसन्नस्य दिलीपस्य देहदानमिति।

६०.

सिंहस्याग्रेऽधोमुखः शयानो राजा "एष मयि निपतितः सिंह" इति सिंहाक्रमणं निध्यायति स्म। परं सिंहस्तु न निपतितः, तत्स्थाने पुष्पवृष्टिस्तद्देहोपरि निपतिता। तत्रैव हिमगिरिगुहायां स्थिताः संवादमिममाकर्णयन्तो विद्याधरा राज्ञो महत्त्वेन विमुग्धाः पुष्पाणि ववृषुरिति।

६१.

अथ नृपतिः, "वत्स ! उत्तिष्ठ" इति मधुरां गिरमुपश्रुत्योदतिष्ठत्। उत्थितश्च क्षीरं स्रवन्तीं स्वमातृसदृशीं नन्दिनीमपश्यत्। सिंहं तु नापश्यत्।

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते ।
तद् भूतनाथानुग ! नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८ ॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
सन्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥ ५९ ॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंह निपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥

६२.

अतर्कितोपतनया पुष्पवृष्ट्या सिंहस्यादर्शनेन च राजा विस्मयं गतः । नन्दिनी च तदा तमित्थमुवाच । हे परोपकारिन् दिलीप ! मयैव कपटसिंहमुत्पाद्य तव भक्तेः परीक्षा कृता । वस्तुतस्तु मां वशिष्ठप्रभावेण सर्वजीवनाशको यमोऽपि पीडयितुं न समर्थः । अन्येषां हिंसकजन्तूनां तु कथैव का ।

६३.

हे दिलीप ! गुरौ भक्तिं मद्विषयेऽनुकम्पां च निरीक्ष्य निरतिशयं प्रसीदामि । अतस्त्वं मत्सकाशात् स्वाभिमतं वरं प्रार्थयस्व 'एषा धेनुः दुग्धातिरिक्तं किं दद्यात्' इति त्वया न शङ्कितव्यम् । यतोऽहं प्रसन्ना सती यथेच्छं कामानपि पूरयितुं शक्नोमि ।

६४.

धेन्वा वरयाचनार्थं प्रेरितोऽतिवदान्यः शौर्यशाली स दिलीपो बद्धाञ्जलिर्भूत्वा वंशप्रवर्तकं यशस्विनं पुत्रं वरत्वेन याचितवान् । दिगन्तविश्रान्तजैत्ररथाः कल्पद्रुमाद् याचकेभ्योऽभिलषितं वितरीतुं समर्था अपि ऋणत्रयापाकरणाय देवानामग्रे याचनार्थं हस्तौ प्रसारयन्तीति कवेराकूतम् ।

६५.

नन्दिनी पुत्राभिलाषिणे तस्मै नरेन्द्राय "तथास्तु" इति वरं प्रादात् । तदुपायरूपेण च एकस्मिन्पत्रपुटके स्वकीयं दुग्धं दुग्ध्वा पातुं तामाज्ञापयामास ।

६६.

हे मातृकल्पे ! नन्दिनि ! यथाहं प्रजाभ्यो रक्षणानन्तरं न्याय्यं षष्ठांशं स्वोपभोगार्थमाददे, तथैव वत्सपानाद् गुरोरग्निहोत्रीययोगाच्चावशिष्टं मदर्थं न्याय्यं तव

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥ ६२ ॥
भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥ ६३ ॥
ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥
सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥
वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ! ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥ ६६ ॥

पयः पास्यामि, तदपि च गुरोराज्ञयैव अन्यथाऽननुज्ञातं गुरुद्रव्यं विशेषतश्च यज्ञार्थं तद्यज्ञात्प्रागुपभुञ्जानस्य मे पातित्यप्रसङ्ग इति ।

६७.

"वत्सस्य होमार्थविधेश्च" इति राज्ञो वचनमाकर्ण्य वशिष्ठधेनुः पूर्वतोऽप्यधिकं तुतोष । "यथा विपत्काले, तथा सम्पत्कालेऽप्ययं धर्मं रक्षति" इति धर्मनिष्ठाया-स्तोषहेतुत्वात् । ततश्च हिमालयगुहातस्तेन साकं श्रमं विनैवाश्रममाजगाम ।

६८.

मुखे चन्द्रवदुज्ज्वलां लक्ष्मीं दधत् स दिलीपो नन्दिन्या वरदानवृत्तं पूर्वं वशि-ष्ठाय पश्चात् सुदक्षिणायै च सूचितवान् । परन्तु तस्य तत्सूचनं पिष्टपेषणवज्जातम् । यतो वशिष्टः सुदक्षिणा च दिलीपकथनात्पूर्वमेव मुखप्रसादेन तद्वृत्तमन्वमिनुताम् ।

६९.

दिलीपः स्वगुरोर्वशिष्ठस्याभ्यनुज्ञां प्राप्य वत्सपीतादग्निहोत्रहोमार्थाच्चावशिष्टं नन्दिन्याः पयोऽतितृष्णया पपौ, यथास्य यशसि नितरां तृष्णा, तथैव श्वेततया यशः सदृशे प्रसादभूते तस्मिन् पयस्यपि बभूव । विशिष्टं कर्म सम्पाद्य तत्फलभूतं यशोवेदं पयोऽनेन प्राप्तमित्यपि यशः सादृश्यमभिसन्धेयम् ।

७०.

प्रभाते यदा सुदक्षिणादिलीपौ पारणां विहितवन्तौ, तदा वशिष्ठो मार्गविघ्न-परिहाराय प्रस्थानकालोचितं स्वस्तिवाचनं विधाय तौ तदीयां राजधानीं प्रति प्रैषयति स्म ।

७१.

राजा दिलीपः क्रमशो वह्निम्, वशिष्ठम्, तत्पत्नीमरुन्धतीम्, सवत्सां धेनुं

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥
तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥
स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥
प्रातर्यथोक्तव्रतपारणाऽन्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥ ७० ॥
प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्त्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

च प्रदक्षिणं परिक्रम्याश्रमात् स्वां पुरीं प्रति प्रस्थानं चक्रे। प्रतिष्ठमानस्य तस्य तेजः पूज्यपरिक्रमणस्वस्तिवाचनादिना मङ्गलाचारेणात्युत्कृष्टमभूत।

७२.

दिलीपः—सुदक्षिणया सह रथमारुह्य जगाम। स रथः पुत्रप्राप्तिलक्षणस्वीय-मनोरथसदृशोऽभूत। यथा रथस्य ध्वनिः कर्णयोः सुखकरः, मनोरथस्य श्रवणमात्रमपि कर्णसुखदम्, किं च रथो विशिष्टतया मार्गे न प्रतिहन्यते इति सुखकरोऽभवत्, मनोरथोऽपि प्रतिबन्धरहितो जात इति सुखकरः। रथः समग्रीभिः पूर्णः, मनोरथोऽपि पूर्णः सम्पन्न इति। यस्य मनोरथः पूर्णोभवति, तं मार्गश्रमं न बाधते, हर्षेणोल्लसितः सोऽनायासं गच्छतीति पूर्णस्य मनोरथस्यापि रथस्येव गमनसाधनत्वमभिसंहितं कविना।

७३.

पुरवासिनश्चिराददर्शनेन दिलीपं द्रष्टुं नितरामुत्कण्ठिता आसन्, अत एव स पुत्रप्राप्तिवरदानरूपं नवमभ्युदयं प्राप्य यदा स्वपुरीं प्रविवेश, तदा तेऽत्यादरेण तं ददृशुः। तस्य शरीरं तदा सन्तानार्थं कृतेन व्रतेन कृशमासीत्। स दिलीपस्त-दानीमेवमशोभत, यथा लोकहितार्थं स्वाः कला देवेभ्यो दत्त्वा क्षीणो नवोदितो द्वितीयाचन्द्रः, ओषधीनां नाथमित्युक्त्या चन्द्रस्य सोमरूपता ध्वन्यते। तेनच देवपानयोग्यता। देवाः कृष्णपक्षे चन्द्रकलाः पिबन्ति, तेन च वृष्ट्यादि लोकहितं जायते-इति पुराणोक्तिः[१]।

७४.

दिलीपो यदा पुरं प्रविवेश, तदानीं तत्र पौराणां भवनेषूत्सवार्थं राष्ट्रियपताका उदडीयन्त। नगरवासिनश्च तस्याभिनन्दनं चक्रुः। अथ स पूर्वं गुरोराश्रमं गच्छन् मन्त्रिणां हस्ते समर्पितं राज्यभारं पुनः स्वहस्तगतमकरोत्।

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजाऽर्थव्रतकर्शिताङ्गम्।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

---

१. ते च सोमं पपुर्देवाः पर्यायेणानुपूर्वशः—इति पुराणम्।

७५.

किञ्चिद्दिनानन्तरं दिलीपकुलविवृद्धये सुदक्षिणा गर्भं दधार, तत्रोपमा, यथा-अत्रिमहर्षेनयनयोरुत्पन्नं चन्द्ररूपं तेजोद्युलोको धत्ते, यथा वा वह्निना क्षिप्तं महादेवस्य कार्तिकेयरूपं ज्योतिर्गङ्गा दधार, तथेति। पूर्वं पार्वत्या वह्निना पुनर्गङ्गादिभिर्भगवतः शङ्करस्यवीर्यं धृतमितिषाण्मातुरस्य कार्तिकस्योत्पत्तिकथा द्रष्टव्या। किंच यतस्तद् गर्भजात एव बालको राजपदमारोक्ष्यति अत एव "अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः" इति मनुवचनानुसारमिन्द्राद्या अष्टौ दिक्पालास्तं गर्भं स्वस्वांशैरनुजग्मुः।

इति रघुवंशे द्वितीयः सर्गः।

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः॥ ७५॥

रघुवंशे त्रयोदशः सर्गः

कथासम्बन्धः

दिलीपपुत्रस्य रघोर्महाराजस्य वंशे साक्षाद्भगवान्नारायणो रावणत्रासितानां देवानां प्रार्थनया राम-रूपेणावततार। सोऽयं भगवान् पितुराज्ञया राज्यं परित्यज्य वनं गतो वनाद्धार्यां भगवतीं सीतामपहृतवन्तं रावणं सकुटुम्बं युद्धे जघान, तद्भ्रातरं च स्वशरणागतं विभीषणं शरण्यो लंकाराज्येऽभिषिषेच। अथ भार्यया सीतया, लक्ष्मणेन, सुहृदा वानरराजेन सुग्रीवेण, तदनुयायिभिरन्यैर्वानरपुङ्गवैर्विभीषणेन च सत्कारार्थमनुगच्छता स पुष्पकं विमानमारुह्य स्वपुरीमयोध्यां प्रतस्थे-इति द्वादशसर्गस्यान्तः। तदुत्तरं वृत्तमुच्यते।

१.

अथ भगवान् रामचन्द्रो वियति पुष्पकेण गच्छन् समुद्रोपरि प्राप्तः प्रियया सीतया विश्रम्भगोष्ठीविनोदमिच्छन्—तां समुद्रं प्रदर्शयन्नेवमाह।

२.

हे सीते! इमं जलनिधिं पश्य, य एष मलयाचलपर्यन्तं मया निर्मापितेन महता सेतुना मध्यस्थितेन द्वयोर्भागयोर्विभक्त इव निरतिशयं फेनायमानश्च तथा शोभते, यथा मध्ये तिष्ठता छायापथेन विभक्तं शरदि निर्मलं तारकितं नभः।

३.

हे सीते! एवं खल्वैतिहासिका आहुः, यदेकदास्मत्पूर्वजो महाराजः सगरोऽश्वमेधेन यजते स्म। भगवान् कपिलो भ्राम्यन्तं यज्ञियमश्वं रसातलमनयत्। अतस्तदन्वेषणाय यतमानाः महाराजसगरसुता इमामुर्वीमखनन्। तत आरभ्यैवायं जलनिधिरियन्तं महान्तमाकारं दधौ।

४.

इतः समुद्रादेवाप आकृष्य सूर्यरश्मयोऽम्मयं गर्भं दधति। तेनैव काले वृष्टि-

---

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच॥ १॥

वैदेहि! पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम्॥ २॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरङ्गे।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः॥ ३॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन॥ ४॥

र्धीयते। एष एव महान्तं रत्नराशिं स्वान्तरे पोषयति। एतस्यैवोदरे विद्युदिति प्रसिद्धोऽग्निस्तिष्ठति, विद्युतो जलादेवोत्पद्यमानत्वात्, समुद्रस्य च जलराशिरूपत्वात्। लोकलोचनरञ्जनश्चन्द्रोऽपीत एव जन्म लेभे, समुद्रादेव चन्द्रस्योत्पत्तेः पुराणे प्रसिद्धत्वात्।

५.

अथैकोपि विष्णुः मत्स्यकूर्मादिनानावताररूपेण, ब्रह्म-विष्णु-शिव-रूपेण, स्व-कार्यभूतभौतिकरूपेण, चानेकधा विवर्तमानः, सर्वत्र व्यापकश्च 'इत्थं भूतोऽयम्' 'इयदस्य परिमाणम्' इति च न शक्योऽवधारयितुम्, तथैवैकोऽपि विभिन्ना-कारेण विपरिणममानो दशसु दिक्षु व्याप्तोऽयं महानम्बुराशिः, परिमाणेन स्वरूपेण च सर्वथा दुष्परिच्छेदः। समुद्रो हि कदाचित्तरङ्गमालासंकुलः, कदाचिच्च प्रशान्त इवावलोक्यते, वर्णाश्चास्य विविधाः काले कालेऽनुभूयन्ते, बाष्पमेघादि-रूपाश्चावस्थामयमेव धत्ते—इतीदृक्तयावधारणं न शक्यम्। दशसु दिक्षु व्याप्ततया चेयत्तावधारणं न शक्यमिति द्वेधानवधारणे क्रमेण द्वयं हेतुत्वेनान्वेति।

६.

कल्पान्ते लोकान्संहृत्य योगनिद्रामास्थितो भगवान् विष्णुरस्मिन्नेव जल-निधौ शेते। अत्र शयानं चेमं नाभिकमलस्थितो ब्रह्मा स्तौति। यद्यपि कल्पान्ते विष्णोः शयनमन्तरिक्षरूपे समुद्र एवोपपद्यते, भूतस्य जलस्य पूर्वमेव विनाशे तदा जलरूपसमुद्रासम्भवात्, तथाप्युभयोः समुद्रयोरभेदाध्यवसायेनेदं निरूपितमिति न विरोधः।

७.

यथा शत्रुपीडिता राजानः स्वरक्षानिमित्तं मध्यस्थं धर्मप्रधानं राजानं शरण-मुपयान्ति, तथैवेन्द्रेण स्वशत्रुणा पक्षच्छेदादिभिरभिभूताः पर्वता इममम्बुराशि-मात्मरक्षायै प्रपद्यन्ते।

इन्द्रो हि पर्वतानां पक्षांश्छिनत्ति, तद्भयेनोड्डीय अत्रान्तः प्रविष्टानां तेषां पक्षच्छेदभयं निवर्तत इति भावः।

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥
नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥
पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

८.

वराहावतारे भगवान् विष्णुर्यदेमां भुवं रसातलादुज्जहार, तदनीं प्रलय-हेतुना समेधितमस्य निर्मलं जलं पृथिव्या अग्रभागमावृण्वत्तथा शोभमानं लक्ष्यते स्म, यथा वराहेण कृतोद्वाहयाऽनया पृथिव्या लज्जारक्षार्थं मुखावगुण्ठनं धृतं भवेत् । अन्यापि नवपरिणीता लज्जया मुखमवगुण्ठयति इति प्रसिद्धम् । मुहूर्तं-मात्रमियं शोभासीत्, तदुत्तरं तु भगवता वराहेण पृथिवीयमुपरि स्थापितैव ।

९.

वेगात् द्रवन्तीनां नदीनां मुखरूपाग्रभागजलं झटिति सागरे प्रविशति तरङ्ग-चालितं च सागरजलं तासु नदीष्वपि किञ्चित्प्रविशति, तत्रेत्थं कविरुत्प्रेक्षते यथा इमा नद्यः स्वाधररसं पिपासवे स्वपतयेऽस्मै स्वयमेव समुद्राय स्वमुखमर्पयन्ति, अयमपि च समुद्रः स्वाधरं पातुकामाभ्यः स्वपत्नीभ्यो नदीभ्यः स्वयमेव तरङ्ग-रूपमधरं निवेदयति, एवमेतेषामसाधारणं दाम्पत्यमाभाति । अन्यत्र पुरुषा एव प्रियाणामधररसं पिबन्ति, इह तु परस्परं पानमित्यनन्यसाधारणत्वं मल्लिनाथ आह । परस्परं स्वयं समर्पणमनन्यसाधारणमिति तु युक्तमाभाति ।

१०.

अमी तिमिनामानो महामत्स्याः स्वमुखानि व्यादाय, तेषु क्षुद्रमत्स्यादिसहितं जलमापूर्य यदा स्वोष्ठपुटं मेलयन्ति, तदानीं मुखावरोधेन तेषां मुखस्थमुदकं शिरश्छिद्रैर्वेगेनोर्ध्वगामि भूत्वा जलयन्त्रशोभां दर्शयति ।

११.

सीते ! पश्य वेगेनोच्छलद्भिर्मकरैर्द्विधा विभक्ताः समुद्रफेना एतेषाम् (मकरा-णाम्) उभयोः कपोलयोः संसर्पन्तः श्वेतवर्णसाम्यात् कर्णचामरवद् भान्ति । मकरा महत्त्वेन गजसदृशाः, गजानां च प्रशस्तानामलङ्करणार्थं कर्णयोरुपरि चामरे बध्येते इति तत्सादृश्यमत्रापि फेनैः सम्पादितम् ।

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥
मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥
ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥
मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान् द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥

१२.

वायुमासेवितुं तटमुपेता इमे समुद्रस्था महान्तो भुजगा वर्णाकारसाम्यात् पूर्वं तरङ्गा एवेति प्रतीता अपि सूर्यकिरणसम्बन्धात् सुस्पष्टं प्रकाशमानैः फणामणिभिस्तरङ्गेभ्यो भेदे सिद्धे भुजगा इति ज्ञायन्ते।

१३.

प्रिये! पश्यसि पुरः—तरङ्गवेगात् क्षिप्त एष शङ्खसमूहः प्रवालेषु पतन्, तेषामङ्कुरेषु प्रोतत्वाच्चिरं तत्रैव तिष्ठति, भूयो भूयस्तु तरङ्गपरिचालितः कथंचिच्छनैरपक्रामति। तत्रेत्थं संभावये, विद्रुमेषु तवाधरसादृश्येन ततोऽपगमने जडस्य शङ्खसमूहस्यापि क्लेश इति। अधरस्पर्धिषु इत्युक्त्या 'कामोर्मिवेगात् तवाधरे क्षिप्तस्तत्रैव च रागाच्चिरममृतमास्वादयन् स्थितः प्रोत इव, श्वेततया शङ्खसदृशो मदीयो दन्तसमूहस्ततः क्लेशादिवापसरतीति' विनोदार्थं रहोवृत्तं स्मर्यते।

१४.

जलपात्राणीव मेघाः समुद्रं गत्वा जलं गृह्णन्तीति लोकप्रसिद्धिः; तामास्थायोच्यते-समुद्राद् जलमादातुं प्रवृत्त एष घनः, आवर्तवेगाद् भ्राम्यति। भ्राम्यतैतेन एष समुद्रः तथा प्रतीयते यथायं मन्दरेण गिरिणा पुनरपि प्रमथ्यते। देवासुरैरेकदा मन्दरपर्वतेन समुद्रं प्रमथ्य चतुर्दश रत्नानि लब्धानि इति पुराणप्रसिद्धिः। मेघगिर्योः सादृश्यं चापि कविसंप्रदाये प्रसिद्धम्। तन्मूलकं पुनः प्रमथनमत्रोत्प्रेक्षितम्। देवासुरकर्तृकप्रमथनादिकं यद्यपि क्षीरसमुद्रस्य, तथापि कविसंप्रदाये सर्वेषाम् समुद्राणामैक्यमेवेत्यविरोधः।

१५.

एष समुद्रो नीलवर्णसाम्याद्वर्तुलरूपेण दृश्यमानत्वाच्च लोहचक्रवदाभाति। किं चास्य तटमुपाश्रिता सन्तैषा तमालवनपङ्क्तिर्दूरात्कृशतरा चक्रप्रान्ते सन्ततमालिन्यरेखावत् प्रतीयते।

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः।
सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः॥ १२॥
तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात्।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम्॥ १३॥
प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद् भ्रमता घनेन।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः॥ १४॥
दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा॥ १५॥

१६.

समुद्रतटे वायुनोड्डीय जानकीमुखे संलग्नं केतकीपुष्परागं विलोक्य रामः कथयति—हे आयताक्षि ! वेलानिलः केतकपरागैस्ते मुखमलं करोति । यद्यपि मुखालङ्करणमिदं मदीयं कर्तव्यम् , परमेष वेलानिलो वेत्ति, यद्दीर्घेण वियोगेनाहं तवाधरपाने निरतिशयं सतृष्णः अतएव स्वहस्तेनालङ्करणे कालक्षेपं सोढुमसमर्थः, तत एव मदीयं कर्त्तव्यमेव स्वयं सम्पादयतीव ।

१७.

वयं विमानवेगान्मुहूर्तमात्रकालेनैव विस्तीर्णस्य समुद्रस्य तटं प्राप्ताः स्मः, यत्र भिन्नाभ्यः शुक्तिभ्यो मौक्तिकपटलं विकीर्णमस्ति, फलनम्राश्च पूगवृक्षाः श्रेणिशो दृश्यन्ते ।

१८.

हे मृगनयने ! मनाक् स्वपृष्ठदिशि दृष्टिपातं विधेहि, पूर्वं समुद्रोपरि गच्छद्भिरस्माभिर्जलमेव परितो दृश्यते स्म, इदानीं तु समुद्रोऽस्माभिर्यथा यथा दूरे त्यज्यते, तथा समुद्रे दृष्टिं निपातयद्भिरित्थं प्रतीयते-यद् वनसहिता भूमिः मन्ये समुद्रमध्याद् बहिर्निस्सरति । वेगवद्यानमारूढेन भूमिवृक्षादिषु गतिः प्रतीयते-इति स्वाभाविकम् ।

१९.

सीते पश्य । एतद् विमानं यथाऽहमिच्छामि तथैव चलति । कदाचिद् भूमेरत्यूर्ध्वं व्रजति, कदाचित्ततोऽधो भवति, कदाचिच्च ततोऽप्यधो भूमेः समीपमिवागच्छति । भूमेरुपर्यन्तरिक्षे पक्षिणां मार्गः, तत ऊर्ध्वं मेघानाम् , ततोऽप्युपरि देवविमानानाम् । इदं तु सर्वेष्वपि मार्गेषु यथेच्छं गच्छति ।

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि ।
ममाक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥

क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

२०.

त्रिपथगातरङ्गसम्पर्केण शीतलः, ऐरावतगण्डसम्पर्कात्तन्मदवारिवत् सुगन्धिश्चैव मन्दं मन्दं प्रवहन् समीरस्ते मुखे—मध्याह्नजनितं घर्मोदकं शोषयति।

२१.

हे सीते! यदा त्वया कौतुकेन गवाक्षमार्गाद् हस्तं निस्सार्य मेघः स्पृष्टः, तदानीं तस्माद्विद्युन्मण्डलं प्रकाशते स्म, तेन त्वत्करे द्वितीयं वलयरूपमाभरणं न्यस्तमिव।

२२.

अमी तपस्विनः राक्षसभयादाश्रमस्थानानि परित्यज्य पुरा इतस्ततः प्रयाताः, इदानीं तु राक्षसविनाशाद् दण्डकारण्यं भयरहितं मत्वा स्वस्थानेषु पुनर्नवनवाः पर्णशाला निर्माय तेषु निवसन्ति। राक्षसविनाशादेवमेतेषां सुखं जातमिति।

२३.

अयि प्रिये! अत्र भूम्यां त्वामन्विष्यता मया तव चरणात्पतितं नीरवमेकं नूपुरं प्राप्तमासीत्। तस्य नीरवत्वे कारणं च त्वच्चरणारविन्दवियोगदुःखमेव मया सम्भावितम्। नूपुरं हि पादस्थं पादसञ्चालने शब्दायते, पादाद् भ्रष्टस्य तु नीरवता सिद्धैव, तत्र हेतुरुत्प्रेक्षितः।

२४.

हे भीरु! रावणो येन पथा त्वामपजहार, तं पन्थानं जिज्ञासमानं मां दयालव इमा लता अबोधयन्। यद्यपि वागासां नास्ति, तथापि यथा कश्चिन्मूकोऽपि हस्तचेष्टया तथा शाखानां पल्लवांस्तस्यां दिशि नमयन्त्योऽबोधयन्नेव, त्वद्गमन-दिश्येतासां पत्राणि नतान्यासन्निति। यद्वा—यस्मिन् मार्गे त्वं गता, तत्र लता वियोगदुःखाच्छुष्का आसन्, तास्तथाविधा दृष्ट्वा मे त्वन्मार्गबोधः समजनि।

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते॥ २०॥
करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते॥ २१॥
अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि॥ २२॥
सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥ २३॥
त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः॥ २४॥

२५.

इतस्ततस्तव मार्गमन्विष्यन्तं मामवलोक्य हरिण्यो दर्भाङ्कुरचरणमुपेक्ष्य दक्षिणदिशि स्वदृष्टिनिपातेन, "सीतां कश्चिद्दक्षिणस्यां दिशि निनाय" इत्येवं मह्यं तव मार्गमसूचयन्। त्यक्तकवला हरिण्योपि त्वद्गमनदिश्येव बद्धदृष्टय आसन्निति सारः।

२६.

एतत्पुरो माल्यवतः पर्वतस्य गगनचुम्बि शृंगमाभाति। यत्र वर्षारम्भे यदा मेघैर्नवं जलं वृष्टम्, तदानीमेव मेघदर्शनाद्दीपितं त्वद्विरहमसहमानेन मयाप्यश्रुजलं वृष्टम् अत्रैव वर्षा प्रारब्धा इति तात्पर्यम्।

२७.

ग्रीष्मे शुष्कप्रायेषु अल्पसरःसु नववर्षारम्भे किमपि सौरभं प्रादुर्भवति, कदम्बकुसुमानि च फुल्लन्ति, मयूराश्च नृत्यन्तः केकाः कुर्वन्ति, सर्वेन्द्रियाकर्षकमेतत्सर्वमुद्दीपनतया त्वद्वियोगार्त्तस्य पर्वतेऽस्मिन्निवसतो मे असह्यमभूत्।

२८.

अयि भीरु! पूर्वमावयोः सहस्थितौ यदा घनगर्जितमुदीर्णं भवति स्म तदा त्वं एतेन भीता सकम्पं मामाश्लिष्टवती, तत् पूर्वानुभूतं त्वदाश्लेषं स्मारयन्ति घनगर्जितानि उद्दीपनतया वियोगकाले मयातिक्लेशेन सोढानि।

२९.

ग्रीष्मे सौरतेजसा सन्तप्तायाः पृथिव्या वर्षासु धारासंपातसेकेन बाष्पमुद्गच्छतीति। स्वाभाविकी वस्तुस्थितिः। धूमाकारेण तेन बाष्पेण युक्तानि नवविकसितरक्तकन्दलीकुसुमानि दृष्ट्वाऽहं विवाहसमये होमधूमारुणयोः तव लोचनयोः शोभां स्मरन् विरहव्यथामन्वभवम्।

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि॥ २५॥
एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम्।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम्॥ २६॥
गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे॥ २७॥
पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु! तवोपगूढम्।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि॥ २८॥
आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः॥ २९॥

३०.

पुर एतत्पम्पासर आभाति । एतत्पार्श्वे वञ्जुलवनराजिः शोभते । अत्र क्रीडन्तस्तरलाः सारसा अपि दूरत्वहेतुना दृष्टिपथमीषदायान्ति, एतस्मिन् रम्ये दृश्ये दृष्टिश्चिराय निबद्धा तिष्ठति ।

यथा कश्चित् पथिकोऽध्वखेदापनोदाय जलाशयमुपगम्य जलमापिबति, तथैव दूरादस्मात्प्रदेशादत्र पम्पासरसि निपतिता मे दृष्टिः श्रमापनोदाय तज्जलं पिबतीति सम्भाव्यते ।

३१.

हे सीते ! अत्र पम्पासरसि क्रीडन्ति, प्रेम्णा परस्परमुत्पलपरागमर्पयन्ति चक्रवाकमिथुनान्यवलोक्य त्वद्विरहव्यथितोऽहम् "अहो एतेषां सौभाग्यम्, यद्यहमपि प्रियया न व्ययोक्ष्ये, तर्ह्यत्रमेव सानन्दं व्यहरिष्यम्" इति सोत्कण्ठं साभ्यसूयमिवाचिन्तयम् ।

३२.

त्वद्विरहव्याकुलोऽहं त्वामन्विष्यन् यदा स्तनसदृशाभ्यां कुसुमगुच्छकाभ्यां विनतामिमां पम्पातटस्थितामशोकलतामपश्यम्, तदा सादृश्यात् सीता प्राप्तेति बुद्धिर्मे जाता । तया च प्रेरित आलिङ्गितुं यावदहं कामये, तावल्लक्ष्मणो मां "नेयं जानकी" इति सखेदं निवारयामास ।

३३.

विमानचलने विमानलम्बिनीनां क्षुद्रघण्टिकानां स्वनं श्रुत्वा सादृश्यात् स्वयूथशब्दभ्रान्त्याकाशमुत्पतन्त्य इमा गोदावरीस्थाः सारसपङ्क्तयस्तथा ज्ञायन्ते, यथा मन्ये तव स्वागतं कर्तुं सम्मुखमायान्ति ।

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥
अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये ! सस्पृहमीक्षितानि ॥ ३१ ॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥ ३२ ॥
अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥

३४.

यत्र वयं पुरा स्थिताः, यत्र त्वयातिपरिश्रमं स्वस्यानुपयुक्तं सोढ्वापि द्रुमाः सिक्ताः, सेयं पञ्चवटी प्राप्ता। चिरादिमां दृष्ट्वा मे मानसं मोदते। अत्रत्या मृगाश्चाप्यस्मान् द्रष्टुमद्याप्युत्सुकाः।

३५.

हे प्रिये! यदत्र गोदावरीतीरे शीतलः पवनो मृगयाजनितां मे श्रान्तिमपनिनाय, किंचैकान्ते त्वदङ्के शिरो निधाय बहुधा सुखमस्वप्सम् इति सर्वं पूर्ववृत्तं मया पञ्चवटीं दृष्ट्वा स्मर्यते।

३६.

यः खलु भ्रुकुटिक्षेपमात्रेण नहुषमिन्द्रपदात् प्रच्यावयति स्म, यस्य चोदये सरित्कासारादयः सर्वे जलाशयाः स्वच्छा जायन्ते, तस्यागस्त्यमुनेस्ताराररूपेण दिवि स्थितस्यापि भूम्यामयमाश्रमो विद्यते।

३७.

हे प्रिये! आहिताग्नेस्तस्यागस्त्यस्याश्रमतो निर्गतम् विमानमार्गे सञ्चरन्तम् हविर्गन्धेव सुगन्धिमिमं धूममाघ्राय मे मनसि सत्त्वगुणोद्रेको जायते।

३८.

शातकर्णेर्मुनेरेतत् क्रीडासरो वृक्षमध्यगतं दूरात् तथा दृश्यते—यथा मेघान्तराले चन्द्रमा दृश्यते।

३९.

अत्रेदमैतिह्यमाचक्षते लोकाः—यत् पुरा किल स शातकर्णिऋषिर्मृगैः सह

एषा त्वया पेशलमध्ययाऽपि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे॥ ३४॥
अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः॥ ३५॥
भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार।
तस्याविलाम्भः परिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम्॥ ३६॥
त्रेताऽग्निधूमाग्रमनिन्द्यमूर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा॥ ३७॥
एतन्मुनेर्मानिनि! शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम्॥ ३८॥
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम्॥ ३९॥

चरन् दर्भाङ्कुरैश्च प्राणयात्रां निर्वहन् महत्तपस्तेपे। तत्तपोभीतश्चेन्द्रोभवागुरास-दृशोभिर्युवतिभिः पञ्चभिरप्सरोभिस्तं प्रलोभ्य तपोमार्गाद् भ्रंशयति स्म।

४०.

पूर्वोक्तः स शातकर्णिर्मुनिर्जलान्तर्गते प्रासादे तपसा कल्पिते सर्वैरदृष्टो निवसति। तत्राप्सरोभिः सङ्गीतेन रममाणस्य तस्य मृदङ्गघोषो वियति प्रसरन्न-स्मद्विमानेऽपि प्राप्तः, विमानस्योच्चभागस्तेन शब्दायमानो जातः परं विमानवेगात् क्षणमात्रमेवैषा घटना समपद्यत।

४१.

असौ सुतीक्ष्णाभिधस्तपस्वी चतसृषु दिक्षु प्रज्वलतश्चतुरोऽग्नीन् प्रतिष्ठाप्य, वियद्गतं चण्डरश्मिं सूर्यं पञ्चममग्निं मत्वा तन्मध्ये स्थितः पञ्चाग्नितपस्यामा-चरति। नाममात्रमस्य सुतीक्ष्ण इति कर्माणि तु परं सौम्यानि, न हि कदाप्यस्य क्रोध इति।

४२.

एतत्तपोभीतः सुरराज एनं तपोमार्गाद् भ्रंशयितुकामः एतत्सविधे सुर-सुन्दरीः प्रेषयामास, परं तासां सस्मयकटाक्षपातादयो मिषेण सुन्दराङ्गदर्शना-दयश्च विलासा नास्य मनसि मनागपि विकारमुत्पादयितुमशक्नुवन्।

४३.

बाहू ऊर्ध्वौ कृत्वा तपश्चरन्नेष सुतीक्ष्णो मुनिर्मां सभाजयितुं दक्षिणभुजमस्मदभि-मुखं सभाजनानुकूलया मुद्रया व्यापारयति। यत्र भुजे जपार्थमक्षमाला शोभते, येन भुजेन दयापरवशो मृगान् काले कण्डूयति, वैदिककर्मानुष्ठानार्थं कुशांश्च येन लुनाति। बाह्वोः पवित्रकर्मनिष्ठता विशेषणैरुक्ता। येन च तादृशेन भुजेन सभाजनप्राप्त्या स्वस्य सौभाग्यं द्योत्यते।

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥ ४० ॥
हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥
अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥
एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम्।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

४४.

यतोऽयं सुतीक्ष्णो मौनव्रती, अतो मम प्रणामं शिरःकम्पेनैव प्रत्यग्रहीत्, न तु वाचाशिषं प्रायुङ्क्त। अस्मद्विमानेन च मध्यगतेनास्य सूर्यसंलग्ना दृष्टिर्व्यवहिताभूत्, तच्चलिते विमाने पुनरेष दृष्टिं यथापूर्वं सूर्ये सङ्क्रमयति।

४५.

यथा पूताः समिधोऽग्नौ हूयन्ते, तथा मन्त्रपूतं शरीरमपि शरभङ्गेनाहुतीकृतमिति रामायणे प्रसिद्धा कथा, तस्य शरभङ्गस्येदं तपोवनम्।

४६.

यद्यपि शरभङ्गस्याश्रमे इदानीं कोऽपि न निवसति, तथापि तत्पुत्रकल्पा इमे पादपा अस्मिन्नाश्रमे समागतान् अतिथीन् घनच्छायया मधुरैश्च फलैः सत्कुर्वन्ति। सद्गृहेषु अतिथिपरिचरणं कदाचिदपि नोच्छिद्यते—इत्यभिसन्धिः।

४७.

हे सीते! दृप्त वृषभ इव शोभमान एष चित्रकूटो गिरिर्मदीयं चक्षुः स्वस्मिन्नाकर्षति। यथा दृप्तो वृषभः स्वमुखेन बलवद् गर्जति, आर्द्रं मृन्निचयमपस्किरमाणश्च विषाणयोः (शृङ्गयोः) पङ्कं धत्ते। तथैवायं चित्रकूटोऽपि मुखसदृशीभिर्निर्झरशब्दमुद्भावयन् गर्जति शृङ्गेषु (शिखरेषु) च कर्दमसदृशान् मेघान् धारयति।

४८.

हे प्रिये! चित्रकूटगिरेः पार्श्वे धीरं प्रवहन्ती दूरत्वहेतुना कृशा प्रतीयमाना निर्मलजलैषा मन्दाकिनी नदी भूमिकण्ठधृता मुक्तावलीव शोभते। पर्वतः शिर इव, तत्समीपभागः कण्ठसदृशः, तत्र मन्दाकिनी हारसदृशीति।

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते॥ ४४॥
अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्॥ ४५॥
छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु॥ ४६॥
धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि! चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः॥ ४७॥
एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः॥ ४८॥

४९.

चित्रकूटसमीपवर्त्ययं स तमालपादपो विद्यते यस्य सुरभिणा नूतनपल्लवेनाहं त्वदर्थं कर्णाभरणमरचयम् ।

५०.

हे सीते ! इदमत्रिमहर्षेस्तपोवनमस्ति । अत्र महर्षेरलौकिकप्रभावं दर्शयन्त इव दण्डभयरहिता अपि जन्तवो विनयं पालयन्ति, नहि प्रबला निर्बलान् त्रासयन्ति, वृक्षाश्च पुष्पोद्गममन्तरेणापि फलानि प्रसुवते ।

५१.

हे सीते ! एवं खल्वैतिहासिका आहुः, यदत्राश्रमे भगवती अत्रिपत्नी अनुसूया स्वस्यालौकिकेन माहात्म्येन ऋषीणां स्नानाय नूतनां गङ्गां प्रकटयाञ्चकार ।

५२.

अत्राश्रमे स्थितये कल्पितासु वेदिकासु वीरासनेनोपविश्य समाधिमभ्यस्यतामृषीणां मध्ये स्थिता अमी वृक्षा अपि समाधिस्था इव लक्ष्यन्ते । योगिनो निश्चलाङ्गा भवन्ति, इमे वृक्षा अपि वाताभावेन निश्चला वर्तन्ते ।

५३.

हे सीते ! नाम्ना रूपेण च श्यामो यो वटतरुस्त्वया पूर्वं वनगमनकाले प्रार्थितः स एव पुरस्तिष्ठति । रक्तरक्तैः फलैर्युक्तोऽयं वृक्षः पद्मरागमणिसहितानां मरकतमणीनां समूह इव शोभते । (पद्मरागसदृशानि फलानि, वटस्तु मरकतसमूहसदृश) इदानीं सिद्धमनोरथैः (सफलैः) प्रत्यावृत्तैरस्माभिरयं वन्दनीय ।

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयाऽवतंसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥
अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥ ५० ॥
अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥ ५१ ॥
वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥ ५२ ॥
त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

५४, ५५, ५६, ५७

प्रयागे गङ्गायमुनाप्रवाहयोः सङ्गमे कृष्णवर्णेन यमुनाजलेन संमिश्रितं शुभ्रं गङ्गाजलं विविधसंनिवेशवशाद् विविधां सुषमां धत्ते। यत्र वेगवशादावर्तमानं मण्डलाकारतामापद्य प्रवहति, तत्र क्वचित्सुस्निग्धप्रभं प्रतिबिम्बितसूर्यकान्ति नील-मणिभिरनुविद्धानां मौक्तिकानां हारमिव प्रतीयते, क्वचित्तु नीलकमलानुविद्धविक-सितशुक्लकमलमालाकारं विभाति, यत्र च परस्परं मिलत्सरलां रेखामाश्रित्य प्रवहति, तत्र कृष्णवर्णकादम्बसंसक्तहंसपङ्क्तिसदृशं शोभते। यत्र तु गङ्गप्रवाहस्य मध्ये यमुनाजलं प्रविष्टम्, तटप्रान्ते गाम्भीर्यस्याल्पतया च भूमिरप्यालोक्यते तत्रेत्थं विभाति—यथा भुवो नायिकाया अङ्गेषु चन्दनेन रचना कृता भवेत्, तन्मध्ये च कृष्णागुरुणा मकरिकापत्राणि रचितानि स्युः। अथ यत्र प्रवाहप्रान्तभागगतं मन्दप्रवाहं प्रशान्तमिव प्रतिबिम्बितसूर्यकान्ति च गङ्गाजलम्, यमुनाजलं तु न प्रतिबिम्बेनाभिज्वलितम्, तत्र तरुच्छायागतेन तमसा विच्छुरिता प्रसृता चन्द्रि-केवाभाति, यत्र च यमुनाजलं सूर्यप्रतिबिम्बेनाभिज्वलितम्, गङ्गाजलन्तु नाभि-ज्वलितम्, किन्तु घनतामिवापन्नं दृश्यते, तत्र तथा प्रतीयते-यथा शुक्लाः शरन्मेघा अभिव्याप्ताः स्युः, तेषामन्तराले च स्थाने स्थानेऽन्तरिक्षं कृष्णवर्णं दृश्यते। अथ यत्र प्रशान्तप्रायस्य गङ्गाजलस्योपरि कृष्णा यमुनातरङ्गाः खेलन्तस्तदावृषवत् इव, तत्र कृष्णोरगवेष्टितं भगवतः शङ्करस्य भस्मसितं शरीरमिव तद्विभाति। एतत्सर्वं भगवान् रामः सीतायै प्रदर्शयति।

५८.

तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति श्रुतिभिर्निर्णीतम्, परमत्र प्रयागे कृतस्नानानां पुरुषाणां तत्त्वज्ञानं विनापि मोक्षलाभो भवति। अत्र प्रमाणं "सितासिते सरिते यत्र सङ्गते" इत्यादि श्रुतौ स्पष्टम्।

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥ ५६ ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि ! विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥
समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥ ५८ ॥

५९.

एतद् गुहस्य पुरं प्राप्तम्, यत्रास्माभी राजवेशं विहाय आरण्यकवेशो धृतः। सुमन्त्रश्च रुदन् रथमादाय निवर्तितः।

६०.

हे सीते! एषा सरयूः प्रवहति। ऋषयः कथयन्ति यद् यथा अव्यक्ताद् बुद्धिरुत्पद्यते, तथैवैषा सरिद् ब्रह्मनिर्मिताद् मानसात् सरसः प्रभवति, यस्मिन् सरसि स्नान्तीनां यक्षसुन्दरीणां पयोधरा हेमाम्बुजपरागैरलंक्रियन्ते।

६१.

अस्यास्तीरेऽस्मत्पूर्वजैर्भूयांसोऽश्वमेधाद्या महाक्रतवोऽनुष्ठिताः, यत्प्रमाणभूता अद्याप्येतत्तीरे निखाता दृष्टिपथमायान्ति एषा चायोध्यामनुप्रवहति।

६२.

अहमिमां सरयूमुत्तरकोशलदेशवासिनां साधारणीं मातरं मन्ये। या नः सर्वान् स्वपुलिनोत्सङ्गे क्रीडयति, स्वपयोभिश्च पोषयति।

६३.

जननीव पित्रा दशरथेन वियुक्तैषा सरयूः प्रवासादागच्छन्तं पुत्रकल्पं मां वारिशीकरैः पवनं शिशिरयद्भिस्तरङ्गरूपैर्हस्तैरालिङ्गितुं यतत इव। अन्याऽपि जननी प्रोष्यागतं श्रान्तं पुत्रं कराभ्यां व्यजनपवनं सृजन्ती प्रेम्णा समालिङ्गति इति प्रकृतिसिद्धम्। पतिवियुक्तायाश्च जनन्या विशेषेण पुत्र एवाधारो भवतीति तत्रैव प्रेमातिशयप्रकटनं युक्ततरम्।

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि! कामाः फलितास्तवेति॥ ५९॥
पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति॥ ६०॥
जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि॥ ६१॥
यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम्।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम्॥ ६२॥
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव॥ ६३॥

६४.

अयि प्रिये पुरस्ताद् वियति प्रचरन्तं धूलिनिकरमवलोक्य तर्कयामि यद्धनूमता मदागमनविषये सूचितो भरतः सैन्यपुरस्सरं मत्स्वागतं कर्तुमायाति ।

६५.

ससैन्यमागच्छन्तं भरतमुपश्रुत्य 'किमसौ भरतः स्वाधिगतं राज्यं निष्कण्टकं विधातुमस्माभिः सह योद्धुमायाति' किमद्याप्यस्माकं दुर्दैवं नावसितम्' इति सम्भावितां सीतायाः शङ्कामपनोदयितुकामो रामः कथयति हे प्रिये! त्वयैतद् विश्वसनीयम्—यत् साधुमतिः स भरतश्चतुर्दशवर्षवनवासरूपां पितुः प्रतिज्ञां परिपाल्य प्रतिनिवृत्ताय मे न्यासरूपेण रक्षितां स्वयमनुपभुक्तां राजलक्ष्मीमवश्यं प्रत्यर्पयिष्यति । यथा वने खरादीन् राक्षसान् हत्वा प्रत्यागताय मे लक्ष्मणः स्वरक्षितां निष्पापां त्वां प्रत्यार्पिपत् । अत्र शङ्कितहृदयया सीतयैव राजलक्ष्मीमुपमिमानस्य रामस्येदं हृदयं—यद् हे सीते! मदनुपस्थितौ लक्ष्मणपार्श्ववर्तिन्यास्तव यथा त्वस्मिन् निष्पापत्वस्य लक्ष्मणे च साधुत्वस्य द्रढीयान् विश्वासस्तथैव भरतस्य राजलक्ष्म्यामनुरागकथापि नेति त्वया विश्वसनीयम् ।

६६.

सेनां पश्चात्कृत्वा गुरुं वशिष्ठमग्रगामिनं विधाय मन्त्रिभिः सह वल्कलवसनो हस्तेऽर्घोदकं दधानोऽसौ भरतः पद्भ्यामेव मत्समीपमागच्छति । पदात्यादिविशेषणैः पूर्वपद्योक्तं भरतस्य साधुत्वं समर्थितम् ।

६७.

यत्प्राप्तयौवनोऽप्येष भरतः केवलं मद्भक्त्या सर्वथा स्वाधीनामपि राजलक्ष्मीं न बुभुजे, तन्मन्येऽयं चतुर्दश वर्षाणि यावत् तया राजलक्ष्म्या सह उग्रमसिधाराचङ्क्रमणतुल्यं व्रतमनुष्ठितवान् । यथा असिधारायां चङ्क्रमणं दुष्करम् तथैव युवावस्थायां प्राप्तायाः युवत्या इव श्रियस्त्यागोऽपि दुष्कर इति भावः ।

विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ ६४ ॥
अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥
असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥
पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाऽप्यङ्कगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥ ६७ ॥

६८.

एतावदुक्त्वा भगवान् रामचन्द्रो विरराम। अथ तस्य भूमाववरोहणेच्छां विज्ञातवत्या विमानाधिष्ठातृदेवतया प्रेरितं पुष्पकमाकाशाद् भूमाववततार। इदानीं भूमाववतरत्तद्विमानं भरतेन सह समायाताः प्रजाजनाः साश्चर्यमुदपश्यन्।

६९.

विमाने भूमिष्ठे जाते भगवान् रामचन्द्रः सेवाकर्मकुशलेन सुग्रीवेण समर्पितं हस्तसाहाय्यमवलम्ब्य मनोहारिणा स्फटिकरचितेन सोपानपथेन तस्मादवरोहति स्म। विभीषणश्चाग्रेसरो भूत्वा तस्मै मार्गमादिदेश।

७०.

रामेण पूर्वं गुरवे वशिष्ठाय प्रणामः कृतः, तदनु भरतदत्तमर्घ्यं गृहीत्वा भरतः प्रणमन् प्रेम्णा समाश्लिष्टः, वात्सल्येन शिरस्याघ्रातश्च, तस्मिन् भरतस्य शिरसि प्राप्तोऽपि राज्याभिषेको रामस्य भक्त्यैव प्रतिबद्धः, तस्मिन् शिरसि रामस्याघ्राणम्, पर्यश्रुतयाश्रुजलेन तदभिषेकश्च युक्त एवेत्यभिसन्धिः।

७१.

अथ चिराद् रामप्रवासेन विमनायमानः, निर्वेदादकृतक्षौरसंस्कारतया प्रवृद्धकेशकलापः, विकृताकृतिर्जटिलप्लक्षपादप इव प्रतीयमानः, विद्यया वयसा च वृद्धः मन्त्रिवर्गो भगवन्तं रामचन्द्रं प्रणनाम। प्रणतांश्च कृपार्द्रया दृशा सम्भाव्य तैः सह कुशलप्रश्नपुरस्सरं मधुरं संललाप।

७२.

रामः "अयमस्माकं विपद्बन्धुर्वानरराजः सुग्रीवः" "अयं च संग्रामवीरः पुलस्तिऋषेः पौत्रो (मदर्थे गोत्रजैरपि कृतवैरो) विभीषणः" इत्येवं सबहुमानं भरतेन सुग्रीवविभीषणयोः परिचयमकारयत्। अथ भरतो भ्रातरमपि लक्ष्मणमति-

---

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥ ६८ ॥
तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः।
यानादवातरदूरदमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः॥ ६९ ॥
इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके॥ ७० ॥
श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान्।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा॥ ७१ ॥
दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे॥ ७२ ॥

क्रम्य पूर्वं विपत्सहायत्वादिना माननीयौ तावेव ववन्दे । मल्लिनाथस्तु "लक्ष्मणं व्युत्क्रम्य आलिङ्गनशिरोघ्राणादिभिरसंभाव्य" इति लक्ष्मणस्य कनिष्ठत्वमेवाभिसंधाय-व्याख्यातवान् । वस्तुतस्तु नात्रार्थे पद्यस्वरसः प्रतीयते, अकृतप्रणामस्य कनिष्ठ-स्यालिङ्गनादिना असंभावनं स्वतः सिद्धमिति तत्प्रतिपादनार्थं व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमिति वचनमपुष्टार्थमेव स्यात् । लक्ष्मणस्य ज्येष्ठत्वे तु तदतिक्रमणस्य सुग्रीवविभीषण-योर्गौरवप्रदर्शनार्थत्वाद् नापुष्टार्थता ।

७३.

इन्द्रजित्प्रहरणै यें व्रणा लक्ष्मणस्योरसि जाताः, कालक्रमेण प्ररूढाश्च तैस्तस्योरसि कठोरता जाता । प्ररूढव्रणेऽङ्गे कठोरता स्फुटं सर्वैः प्रतीयते । तयाऽनयाऽभि-नवया कठोरतया लक्ष्मणो भरतहृदयं पीडयति स्मेति सम्भाव्यते । यथा कश्चिन्मल्लः परस्याङ्गे सविशेषां कठोरतामभिमन्यमानः परस्य मल्लस्याङ्गं पीडयितुं दृढमा-श्लिष्येत्-तथैव भरतः लक्ष्मणमालिङ्गितवान् तत्र क्लेशार्थत्वं कविनोत्प्रेक्षितम् । तादृशव्रणस्पर्शेन प्रहारमनुमाय प्रेम्णा भरतस्य हृदये क्लेश इत्यप्यभिसन्धिः ।

७४.

रामेण वानरचमूपतीनां सभ्यमनुष्योचिता वेशभूषाः कारिताः, विशालेषु मत्तेषु च गजेन्द्रेषु तु आरोहिताः । तेन पर्वतरूढा इव तेऽनुभूयन्ते स्म । पर्वते यथा वारिधाराः, तथा गजेष्वपि मदजलधारा इति ।

७५.

रामाज्ञया विभीषणोऽपि सुसज्जिते रथे समुपविष्टः । तदनुगाश्चापि तथावि-धेष्वन्येषु रथेषु । यद्यपि विभीषणादीनां राक्षसानां मायानिर्मिता उत्कृष्टा रथा भवन्ति, तथापि कृत्रिमप्रसाधना अपि रामरथास्तदपेक्षया अत्युत्कृष्टा आसन् ।

७६.

प्रणामादिसम्भावनानन्तरं भरतलक्ष्मणाभ्यां सह रामः पुनः पुष्पकविमान-

---

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरः स्थलेन ॥ ७३ ॥
रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥ ७४ ॥
सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥ ७५ ॥
भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥

मारूढः। तत्र च तस्य बुधबृहस्पतियुक्तस्य सायंतनाभ्रमध्यगतस्य चन्द्रस्येव शोभाऽभूत्। अभ्रे यथा विद्युद्, विमाने तथैव पताका राजते।

७७.

सीता विमान एवारूढाभूत्, विमाने प्राप्तो भरतस्तां ववन्दे। इयं सीता कृच्छ्रगता रामेणोद्धृतास्ति। तत्रोपमाद्वयं स्पष्टम्।

७८.

सीताचरणाभ्यां भूयोभूयः प्रणमन् लङ्केश्वरोऽपि धर्मरक्षणाय तिरस्कृत इति तदतिपवित्रम्, भरतस्य शिरसा च ज्येष्ठं भ्रातरं धर्मानुकूल्येनानुवर्तमानेन राज्याभिषेकं परित्यज्य ज्येष्ठो भ्राता वने जटा बिभर्तीति, स्वयमपि जटा विधृताः तेन तदपि पवित्रतमम्। अनयोः कस्य पवित्रतायां विशेष इति तारतम्यनिर्णयस्य कर्तुमशक्यत्वेन उभयोः परस्परं पावनत्वमभिहितम्।

७९.

ततः प्रभृति प्रजाः पुष्पकस्याग्रे (व्याख्यान्तरानुसारेण तु पृष्ठतः) गन्तुं प्रवृत्ताः, तत एव पुष्पकस्य वेगो मन्दीकृतः, तेन च कियद्दूरं गत्वा रामेणायोध्याया बहिरेव पटमण्डपेषु शत्रुघ्नेन सज्जितेषु स्थितिः कृता।

इति रघुवंशे त्रयोदशः सर्गः।

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥
लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥ ७८ ॥
क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ ७९ ॥

कुमारसम्भवे प्रथमः सर्गः

१.

देवभूम्याम् उत्तरस्यां दिशि देवरूपः सर्वगिरिश्रेष्ठ एको महान् गिरिरस्ति। यः सर्वदा हिमाच्छादितत्वाद् हिमालयनाम्ना लोके प्रसिद्धः। किंच यः पूर्व-पश्चिमसमुद्रमध्यवर्तिनीं सर्वां भुवं व्याप्य तिष्ठति, अत एव भुव आयामपरिच्छेदाय प्रसारितो मानदण्ड इव लक्ष्यते। देवतात्मेत्यनेन केवलस्थावरात्मत्वं निराकृत्य वक्ष्यमाणचेतनोचितविवाहादिघटनायोग्यता सूच्यते!

२.

पुरा किल पृथुः क्षुत्क्षामदेहानां प्रजानामन्नपानाद्यभीष्टसिद्ध्यर्थं गोरूपधरा-मुर्वीं प्रजाभिरात्माभीष्टमर्थं दोहयामास। तत्र तेषु तेषु वर्गेषु यथोक्तं दोग्धारो वत्साश्च परिकल्पिता इति भागवती कथानेन पद्येन सूचिता। तदेवं दोहनप्रसङ्गे यदा पर्वतैरेषा धरित्री दोग्धुमभिलषिता तदानीं मेरुर्दोग्धाऽभवत्, हिमालयश्च दोह्यप्रस्तुतये वत्सः पर्यकल्प्यत, रत्नानि महौषध्यश्च दुह्यन्ते स्म, अनेन हिमालय-स्य वत्सत्वरूपं महत्त्वं सूचितम्। हिमवतो वत्सत्वनिर्देशाद् वत्सपीतशेषस्यैवान्यैरुप-योगाद् वसुन्धरासारभूतानां रत्नानां समृद्धिरत्रास्तीति सूचितम्। देवादीनाम-भीष्टदोहने स्वस्वजातिश्रेष्ठानां महेन्द्रादीनामेव वत्सत्वं परिकल्पितम्, अतोऽस्यापि वत्सत्वकथनात् पूर्वपद्योक्तं स्वजातिश्रेष्ठत्वं समर्पितं बोध्यम्।

३.

सर्वदा हिमाच्छादितत्वेऽप्यस्य हिमालयस्य रमणीयतागुणो न मनागपि विनष्टः। यतोऽयमनन्तानामुत्तमवस्तूनामाकरः। दृश्यते लोके यद् एको दुर्गुणो गुणराशौ दुर्लक्ष्यो भवति, जनैरुपेक्ष्यते एवेति, यथा चन्द्रमस एकः कलङ्कस्तत् किरणसमूहे लीयमानो न मात्रयापि तद् रम्यतां विहन्ति।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥ १॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं, मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च, पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥ २॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य, हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥ ३॥

४.

अस्य हिमालयस्य शिखरेषु गैरिकादिधातवः प्राचुर्येण वर्तन्ते, यान् अप्सरसः आत्मानं विलासाय प्रसाधयितुमुपयुञ्जते। किं च धातूनां रक्तिम्ना शिखराण्यपि रक्ततामुपेतानि, अत एव सम्भाव्यते यदेष पर्वतः सदातनीं सन्ध्यां धारयति। सन्ध्या हि रक्ता, स्वरक्तिम्ना मेघखण्डानि रञ्जयति च, अत्रापि सन्ध्यास्थानीया गैरिकादिधातवः, शिखराणि च मेघस्थानीयानि। धातवः शिखराणि स्वरक्तिम्ना रञ्जयन्ति इति शिखरवलाहकयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव उत्प्रेक्षाप्रयोजक इति प्रकाशिका-विवरणकारौ व्याचक्षाते। हिमालयस्योच्चैः शिखरेषु धृतानां गैरिकादिधातूनां रागो मेघखण्डेषु संक्राम्यति, तं च दृष्ट्वाऽप्सरसामकाल एव सन्ध्याभ्रमं करोति, तेन च तास्त्वरया रमणाय सज्जीभवन्त्यो मण्डनान्युपाददते—इत्यभिप्रायं मल्लिनाथ आह। उभयोः सारासारौ सुधीभिर्विवेच्यौ।

५.

एष हिमालयोतितरामुच्चतरो विद्यते। मेघमण्डलमस्य प्रत्यन्तपर्वतेष्वेव भ्रमति, जात्वप्यस्य शृङ्गाण्यधितिष्ठति। अत एव अत्र निवासिनो गन्धर्वसिद्धा-दयः ग्रीष्मेषु घर्मबाधां परिहर्तुं मेघमण्डलाधोवर्तिषु सानुषु प्रसृतां छायां सेवन्ते। मेघव्यवधानात्तत्र घर्मस्य सर्वथा अप्रवेशात्। यदा च वर्षाभिरुद्वेजिता भवन्ति, तदा मेघमण्डलोपरिवर्तीन्यातपयुक्तान्यस्य शिखराण्यधिवसन्ति। अत एव सर्वर्तु रमणीयोयं पर्वतः।

६.

अन्यत्र किराताः प्रायो हतगजानां सिंहानां शोणिताक्तानि पदचिह्नान्येव दर्शं दर्शंताननुगच्छन्ति, परमत्र हिमालयेऽनवरतहिमजलस्रवणेन शोणितस्य क्षालिततया पदचिह्नानि स्फुटं न प्रतिभासन्ते, तथापि सिंहानां रन्ध्रेषु नखेषु गजमस्तकविदारणसमये यानि मौक्तिकानि संसृज्यन्ते, गमनसमये पदविन्यास-वशात् तेषां गलनेन तान्येव दृष्ट्वा सिंहमार्गः किरातैरनुमीयते।

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां, सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्त्ति।
वलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥
आमेखलं सञ्चरतां घनानां, छायामधःसानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते, शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥ ५ ॥
पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं, यस्मिन्नदृष्ट्वाऽपि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥ ६ ॥

७.

अत्र हिमाद्रौ विद्याधरस्त्रियः स्वकामुकेभ्यः प्रेमसंदेशान् प्रेषयितुं भूर्जवृक्ष-वल्कलानि पत्रत्वेन, गैरिकादिद्रवं च मसीत्वेनोपयुञ्जते। भूर्जबाहुल्यम्, धातु-बाहुल्यम्, विद्याधरस्त्रीणां विहाराश्चानेन हिमालये वर्णितानि।

८.

अत्र हिमालये स्वभावतः कीचकवेणवो गुहानिःसृतेन वायुना पूर्यमाणाः स्वनन्ति। तत्र कविरुत्प्रेक्षते—यथा लोके कस्यचिद् नायकस्य गानारम्भात् पूर्वम-परस्तत्सहचरः 'गाता यं यं स्वरं गच्छेत्तं तं वंशेन तानयेत्' इति सङ्गीतशास्त्र-मनुरुध्य तानं प्रदातुं वेणुवाद्यं स्वमुखवायुना पूरयति, तथैवायं हिमाद्रिरपि तत्र वसतां गायकानां किन्नराणां गानारम्भात् प्रागेव दरीरूपमुखनिर्गतेन वायुना वेणुवाद्यसदृशान् इमान् कीचकान् गायकस्वरताननेच्छया पूरयति इति।

९.

अत्र हिमाद्रौ सरलाख्याः पादपाः प्रभूताः सन्ति। हस्तिनो यदा स्वगण्डकण्डूं विनोदयितुमिमान् गण्डस्थलेन घर्षयन्ति, तदैतेभ्यः सुगन्धि क्षीरं निर्गच्छति, यस्य सुगन्धेनास्य हिमाद्रेः सानुप्रदेशा अपि सुवासिता भवन्ति।

१०.

एतस्य हिमाद्रेः गुहासु निवासिनः किराता रात्रौ नगरसुलभप्रकाशसाधन-दीपाद्यभावेपि दीपफलमनुभवन्ति, यतोऽत्र पर्वते सन्त्येतादृश्यो भूयस्य ओषधयो या रात्रौ प्रज्ज्वलन्ति, अस्य गुहासु रममाणानां किरातानां ता एव दीपकार्यं निर्वहन्ति। दीपे भूयो भूयस्तैलपूरणापेक्षा, अन्यथा विलोपशङ्का, एते तु विलक्षणा 'दीपाः' विनापि तैलं विलोपशङ्कारहिता एव।

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र, भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥ ७ ॥
यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥ ८ ॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं, विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः, सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ ९ ॥
वनेचराणां वनितासखानां, दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ १० ॥

११.

अत्र हिमालये निवसन्त्योऽश्वमुख्यः किन्नरस्त्रियो यदाऽस्य प्रदेशेषु विचरन्ति, तदा घनीभूतेन शीततमेन हिमेन सुकुमारास्तासां पादाः पीड्यन्ते। शीतभावात्समग्रं पादतलं न ता मार्गेऽर्पयन्ति, कदाचिदग्रभागेन चलन्ति, अङ्गुलीषु च सुकुमारासु बाधितासु पश्चाद्भागेन पार्ष्णिना गन्तुं प्रक्रमन्ते, सोऽपि च शैत्येन बाध्यते, एवं खिन्ना अपि तु ता न शीघ्रं धावितुं प्रभवन्ति, स्थूलस्य श्रोणिभागस्य पयोधरयोश्च दुर्वहत्वेन शीघ्रं गन्तुमशक्तत्वात्। एतेन सर्वावयवसौन्दर्यं तासां व्यक्तं भवति।

१२.

अत्र हिमालये गभीरासु गुहासु सूर्यांशुसम्पर्काभावाद् रात्राविव दिवाप्यन्धकारस्तिष्ठति। तत्र कविना अन्धकारस्य गुहास्थितौ सूर्याद् भयं हेतुमुत्प्रेक्ष्य भीतायान्धकाराय शरणप्रदानेन हिमालयस्य शरणागतरक्षकत्वं सम्भावितम्, तदेव चोत्तरार्धेन समर्थितम्। ये हि उन्नतशिरसः जगति लब्धप्रतिष्ठाः (हिमालयोप्युन्नतशिखरत्वादुन्नतशिराः) ते शरणागतं क्षुद्रमपि रक्षन्तीति। दिवा भीताः—उलूका अप्यनेन गुहासु रक्ष्यन्ते—इति च श्लेषमूलयोपमया द्योत्यते।

१३.

अयं हि हिमालयो गिरिराज इति व्यवह्रियते। राज्ञश्च चामरादिसद्भावोऽप्यावश्यकः। तदत्र सततं विचरन्त्यो बह्व्यश्चमर्यो लाङ्गूलचालनेन तदग्र-भागभूतानि चामराण्यन्दोलयन्त्योऽस्य गिरिराजशब्दं समर्थयन्ते। आन्दोलितानि चामराणि दृष्ट्वा। राजत्वप्रतीतिः सर्वेषां जायत इति। लाङ्गूलानां व्यजनदण्डसाम्यं च द्योतितम्।

१४.

अस्य हिमालयस्य गुहाद्वारेषु सततं मेघमण्डलानि प्रभान्ति, तानि च सुरतकाले अपनीतवस्त्राणां किन्नरस्त्रीणां लज्जानिवारणाय जवनिकाकार्यं कुर्वन्ति।

उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्, मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्त्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः॥ ११॥
दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवाऽन्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव॥ १२॥
लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः।
यस्याऽर्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः॥ १३॥
यत्रांऽशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाऽङ्गनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥ १४॥

१५.

अत्र पर्वते मृगान्वेषणेन परिश्रान्ताः किराताः श्रमापनोदनाय गङ्गातरङ्ग-सीकरशीतलं देवदारुगन्धसुरभि मन्दं च पवनमासेव्य सुखिनो जायन्ते ।

१६.

अन्यत्राधःपातिभिः सूर्यकिरणैः कमलानि विकास्यन्ते, हिमालयस्योच्च-शिखरेभ्यस्तु सूर्यभ्रमणमार्गोऽप्यधस्तादेवेति तत्र स्थितेषु सरस्सु जातानि कमलान्यू-र्ध्वमुखैः सूर्यकिरणैर्विकास्यन्ते । सप्तर्षयश्च प्रातः-सन्ध्याकाले मुकुलितान्येव तानि सूर्यार्घ्यदानाय प्रथमं हरन्ति । उत्तरस्या दिश उच्चत्वाभिमानाद्, दक्षिणस्याश्चाधस्त्वमननाद्धिमालयाद्दक्षिणस्यामेव भ्रमतः सूर्यस्याधः परिवर्तनम् कथंचित् समर्थनीयम्, अत्युक्तिरूपं वा तदिति ।

१७.

ब्रह्मणाऽस्य हिमालयस्य पर्वतस्य यज्ञे भागः क्लृप्तः, सर्वेषां पर्वतानामधि-राजत्वे चायं स्थापितः, यतोऽयं हिमालयो यज्ञाङ्गानां सोमलतादीनामुत्पत्ति-स्थानम्, पृथिव्या धारणे (संस्तम्भने) च अस्यैव प्राधान्येन शक्तिरिति ।

१८.

हिमालयेन (पर्वताभिमानिना देवेन) मेनाया विवाहः कृतः, यद्यपि कामार्थमस्य धर्मरतस्य विवाहोपेक्षा, तथापि कुलसन्ततिमर्यादारक्षणाय धर्मरूपेण विवाह इति । इयं मेना पितॄणां मानसी कन्या, धर्मभावेन च मुनिभिरप्या-दरणीया । विवाहेऽन्यसाहाय्यस्यापेक्षितत्वेन मेरोस्तत्र साहाय्यसूचनाय मेरुसखः-इत्युक्तम् ।

१९.

स्पष्टतरः

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥ १५ ॥
सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥ १६ ॥
यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥ १७ ॥
स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः ।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥ १८ ॥
कालक्रमेणाऽथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवद् भूधरराजपत्न्याः ॥ १९ ॥

२०.

हिमालयस्य मेनायां प्रथमः पुत्रो मैनाको नाम पर्वतः (तत्पर्वताभिमानी देवः) जज्ञे। तस्य चाग्रे यत्प्रथितं महत्त्वम्, तद्भाविवृत्त्यास्मिन् पद्ये निर्दिष्टम्, यद्-यदा पर्वतानां पक्षच्छेदनायेन्द्रः क्रोधेन प्रवृत्तः, तदायं, मैनाको मित्रत्वत्वात्समुद्रेण सपक्ष एव गोपायितः। नास्य वज्रजनितवेदनायाः कदाप्यनुभवोऽभूत्। समुद्रे निमग्नश्चायं पातालस्था नागकन्या रमयामासेति। यद्यपि काव्येऽस्मिन् मैनाकवर्णनस्य न कोऽप्युपयोगः, तथापि भ्रातृमत्याः कन्याया विवाहे प्राशस्त्याद् वर्ण्यमानाया गौर्या भ्रातृमतीत्वं स्फुटीकर्तुं मैनाकजन्मोपन्यास इति व्याख्यातारः। उक्तं हि मनुना "यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया" इति।

२१.

कुमारमातुः पार्वत्याः प्रसङ्ग इत उपस्थापनीय इति तज्जन्मोपन्यासाय तत्पूर्वजन्मकथा स्मार्यते। पूर्वं हि दक्षस्य प्रजापतेः पुत्री सती भगवतः शङ्करस्य भार्याऽभूत्। दक्षेण च केनचिद्धेतुना शिवं प्रति कुपितेन स्वीये यज्ञे भगवान् शिवो न निमन्त्रितः-इति तेन पत्युरवमानेन कुपिता देवी सती पितरि प्रतीकारमनुचितं मत्वा योगेन स्वशरीरं तत्याज। सैव शङ्करेण नित्यसम्बन्धा वियोगमसहमाना तादृशातिप्रकृष्टतपस्विन्यां मेनायां पुनर्जन्मग्रहणायेच्छामकरोत्। वस्तुतः परा शक्तिः सा नित्यैव, देवानां कार्यसिद्ध्यर्थं समये समये स्वातन्त्र्येण तस्या आविर्भाव इति। एतच्च 'प्रपेदे' इति जन्मग्रहणे स्वातन्त्र्यमभिदधता सूचितं द्रष्टव्यम्।

२२.

सा पूर्वोक्ता शिवपूर्वपत्नी सती हिमालयेन मेनायां जनिता। जननमत्र प्रादुर्भाव एव, नित्यशक्तेस्तस्या मुख्यजन्मनोऽसम्भवात्। तत्रोपमा-यथा उत्साह-गुणेन नीतौ सम्यदुत्पाद्यते-तथैवेति। संपत्सिद्धौ यथा नीतेरुत्साहस्य च कृतार्थता जायते, तथैवास्या भगवत्याः प्रादुर्भावेन मेनाहिमालयौ कृतार्थतां गताविति व्यज्यते।

असूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्धसख्यम्।
क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम्॥ २०॥
अथाऽवमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे॥ २१॥
सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत्॥ २२॥

२३.

पार्वत्याः प्रादुर्भावदिवसे दिशः प्रसन्ना बभूवुः, (तेन शरीरिणाम् नेत्रसुखं) पांशुरक्षितो मन्दशीतलः पवनो ववौ, (तेन त्वक्सुखं), जन्मनः शङ्खध्वनिं हिमालयगृहे श्रुत्वा देवी-देवैः पुष्पवृष्टिः कृता, यद्वा देवैरेव शङ्खं विनद्य पुष्पवृष्टिः कृता, (तेन श्रोत्र-घ्राणयोः सुखम्) सर्वे च स्थावरजङ्गमाः प्राणधारिणः सर्वेन्द्रियैर्निर्वृत्ताः सुखमापुः। सर्वेश्वर्याः प्रादुर्भावे सर्वमिदमुपपन्नमेवेति।

२४.

प्रादुर्भूतायास्तस्या भगवत्याः स्फुरन्ती प्रभा विलक्षणैवासीत्, तेन प्रभाजालेन जनन्या अपि शोभाऽभवत्। तत्रोपमा विदूराख्य एकः पर्वतः, यत्र वैदूर्याख्या मणयो जायन्ते, वर्षारम्भे प्रथमेन मेघध्वनिना तत्र रत्नाङ्कुराः शलाकाकाराः प्रादुर्भवन्ति। ताभी रत्नशलाकाभिर्यथा गिरिप्रान्तभूमेः शोभा भवति, तथैव कन्ययानया मातुः शोभाभूदिति।

२५.

प्रादुर्भूता भगवती प्रत्यहं ववृधे। यथा चन्द्रकला प्रत्यहं वर्धमाना ज्योत्स्नामयीः कला प्रादुर्भावयति, तथेयमपि प्रत्यहं लावण्यमयान्यङ्गानि प्रादुश्चकार।

२६.

सा पर्वताज्जाता, पर्वते जाता इति वा हेतोर्बान्धवास्तस्या देव्याः "पार्वतीत्य-न्वर्थं नाम चक्रुः। अग्रे च यदा सा तपः कर्तुं प्रवृत्ता, जनन्या च तपःक्लेशमनु-माय खिन्नया 'उ मा' इत्येवं निषिद्धा, ततः प्रभृति "उमा" इत्यपि तस्या नाम जातम्। इदमाख्यानमग्रे स्फुटं स्यात्।

२७.

यद्यपि पूर्वं पुत्रादिसन्ततौ सत्यां पुनरुत्पन्नायां कन्यायां न विशेषेण

प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनाऽनन्तरपुष्पवृष्टि।
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव॥ २३॥
तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव॥ २४॥
दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि॥ २५॥
तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव।
उ मेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम॥ २६॥
महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥ २७॥

लोकानामनुरागो दृश्यते, तथापि हिमालयस्य पार्वत्यामधिकोऽनुराग आसीत्। स तां पश्यन्न तृप्तिमलभत, तत्र च तस्या एव भगवत्या अनन्यदुर्लभा गुणाः कारणम्, यथा गुणातिशयादिव सत्स्वपि वसन्तजन्येषु बहुषु पुष्पेषु सहकारमञ्जरीष्वेव भ्रमरा नितान्तमुत्कण्ठिता भवन्तीति।

२८.

उत्पन्नया भगवत्या पार्वत्या हिमालयः पूतश्चालंकृतश्च बभूव। तत्रोपमानानि त्रीणि स्पष्टानि। सर्वत्र विभूषितत्वं शोभाधिक्यप्राप्तिरेव। पूतत्वं तु दीपे तमःसंसर्गरहितता, स्वर्गमार्गे पुण्याधिक्यसम्बन्धः, मनीषिणि शुद्धशब्दप्रयोगात्पुण्यप्राप्तिः, हिमालये च भगवत्याः प्रसादान्विशुद्धान्तःकरणतया मुक्तियोग्यता।

२९.

सर्वलोकप्रकृतिभूताया भगवत्या यद्यपि न बाल्यं वास्तवम्, केवलदेवकार्यार्थे शरीरग्रहणात्, तथापि सा साधारणबालवत्तया चिक्रीड, यथा क्रीडार्थमेव तद्बाल्यं सम्भाव्यते स्म।

३०.

यथावसरमध्ययनाय नियुक्ता पार्वती आचार्य्याणां प्रयासेन विनैव सर्वा अपि विद्या गृहीतवती। तत्र हेतुः-पूर्वजन्मदृढाभ्याससिद्धा सर्वा विद्याः स्वत एवास्या बुद्धौ प्रकाशमापुः, उपदेशस्तु निमित्तमात्रमिति। तत्रोपमाद्वयम्—यथा शरदृतुं निमित्तीकृत्य गङ्गायां हंसमालाः स्वत एवायान्ति, यथा वा रात्रिं निमित्तीकृत्य ओषधीनां स्वत एव भासः प्रस्फुरन्ति इति सर्वविद्यास्वरूपाया भगवत्या विद्याग्रहणे कः प्रयास इति हृदयम्। अध्यापनन्तु लोकमर्यादामात्रम्।

३१.

क्रमेण पार्वत्या यौवनं प्राप्तम्। तच्च यौवनं त्रिधा विशेषितं कविना- एतद्धि यौवनं शरीरस्यालङ्काररूपम् (तेन शरीरे शोभाविशेषः, द्रष्टॄणामानन्दश्च व्यज्यते), परमलङ्कारान्तराणि यथा बाह्यैः सुवर्णरत्नादिभिः सम्पाद्यन्ते, तथा नेदम्,

---

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी, तया स पूतश्च विभूषितश्च॥ २८॥
मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये॥ २९॥
तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः॥ ३०॥
असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे॥ ३१॥

अपि तु स्वाभाविकम्। किं चेदं यौवनं नेत्रविलासाद्यभिव्यङ्ग्यस्य मदस्य जननम् (द्रष्टॄणां वा संमोहहेतुभूतमदजननम्) परं मदजनकद्रव्यं यथासवशब्देन व्यवह्रियते, तथा नेदम्। किं चेदं कामस्यास्त्रं-परं न पुष्परूपम्-इति (अनेनैव साधनेन कामो लोकान् जयति, यस्य यौवनं प्रादुर्भूतम्, तमेव वा जयति इति)।

३२.

यौवनेन शरीरावयवेषु समुचितसंनिवेश-लावण्यादिजननात्तस्याः शरीरं सर्वतः शोभमानमासीत्। यथा तूलिकया कृतरञ्जनं चित्रं शोभते, यथा वा सूर्यांशुविकासित पद्मं शोभते, तथैवेति।

३३.

भूम्यां चरणनिक्षेपकाले समुन्नतस्याङ्गुष्ठस्यारुणनखप्रभयैवं संभाव्यतेस्म-यद्भगवत्याश्चरणौ परिश्रमादन्तःस्थं रागमुद्वमतः। तेन च रागेण स्थलकमलशोभा तत्र प्रतीयते।

३४.

पार्वत्या गतिर्हंससदृशी दृष्टा, मञ्जीरशिञ्जितानि च हंसरुतेभ्योऽप्युत्कृष्टानि समन्वभूयन्त। तत्रेदं कविरुत्प्रेक्षते हंसैः पार्वत्यै गतिशिक्षा दत्ता, विद्यादानं च शुश्रूषाहेतुकम्, धनहेतुकम्, किंचिच्छिक्षित्वा किंचिच्छिक्षणरूपं वा भवतीति प्रत्युपकाररूपेण रुतेन मञ्जीरशिञ्जितानुकरणं तैः शिक्षितमिति।

३५.

लावण्येनैवोपादानेन भगवत्या अङ्गानि निर्मातुं विधाता प्रवृत्तः, तच्च सर्वमपि लावण्यं (यावत्तत्सविधे आसीत्) जङ्घानिर्माण एव तेन व्ययीकृतम्। ततश्च शेषाणामुपरितनानामङ्गानां निर्माणाय लावण्यमपि विधात्रा पुनरुत्पाद्यमासीदिति तदर्थमपि तस्य प्रकृष्टो यत्नो जात एव भवेदिति सम्भाव्यते।

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवाऽरविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ ३२ ॥
अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥ ३३ ॥
सा राजहंसैरिव सन्नताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरशिञ्जितानि ॥ ३४ ॥
वृत्तानुपूर्वे च न चाऽतिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः ॥ ३५ ॥

३६.

स्त्रीणामूरू हस्तिशुण्डादण्डैः कदलीभिर्वा कविभिरुपमीयेते, पार्वत्या ऊर्वोस्तु सादृश्यं सामान्येन तेषु नास्ति। नागेन्द्राणां शुण्डादण्डाः, नन्दनादिस्थिताः काश्चित्कदल्यश्च यद्यपि विशालेनाकारेण समा उपलभ्येरन्, परं शुण्डादण्डानां कर्कशत्वाद्, ऊर्वोस्तु कोमलत्वात्, कदलीनां सदा शैत्येन शीतकाले उद्वेजकत्वात्, ऊर्वोस्तु ग्रीष्मे शैत्येन शीतकाले चोष्णत्वेन सर्वर्तुसुखाकरत्वादुपमानता न युज्यत एव।

३७.

यो भगवतः शिवस्योत्सङ्गोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मनसापि कामयितुमशक्यः, अत्यन्तदुरवापतया तत्रेच्छाया अप्यनुदयात् तत्रैव पार्वत्या नितम्बः स्वयं भगवता शिवेनैवारोपितः—इत्यतोऽधिकं नितम्बस्य सौंदर्यं गुणकरत्वं गौरवं वा किमु वर्णनीयम्। अत्यन्तं जगतो विलक्षणमिति सर्वथा तेनैवानुमितिः सिद्ध्यतीति।

३८.

यौवनारम्भे नाभिरन्ध्रपर्यन्तं प्रसृता पार्वत्या रोमराजिः श्लक्ष्णकृष्णवर्णतया शोभते स्म, यथा मेखलामध्यगस्य नीलमणेः प्रभा नीवीमतिक्रम्य प्रसृता भवेदिति सम्भाव्यते स्म। उभयोर्वर्णसाम्यमुत्प्रेक्षाहेतुः।

३९.

पार्वत्या मध्ये वलित्रयं दृष्ट्वा तथा संभाव्यते, यथा पार्वतीतनौ प्राप्तं यौवनं स्वप्रभोः कामस्यागमनाय सर्वं सज्जीकुर्वत् तस्य हृदयपर्यन्तमारोहणाय सोपानपरम्परां न्यस्यतीति। पाठान्तरं तु पूर्वमेव तनौ प्रविष्टः कामः स्वसुहृदो यौवनस्यागमनं प्रतीक्षमाणः, तस्य नवत्वाद् (बालत्वाद्) आरुह्य स्तनप्रदेशादावगमने क्लेशं विचार्य सोपानपरम्परां न्यस्तवानित्यनुसन्धेयम्। अत्र च कामनिर्मितत्वेन वलित्रयस्य सौंदर्यातिशयो व्यज्यते—इति प्रकाशिका।

नागेन्द्रहस्तास्त्वचिकर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वाऽपि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥ ३६ ॥
एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।
आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम् ॥ ३७ ॥
तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥ ३८ ॥
मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ ३९ ॥

४०.

स्तनद्वयं परस्परमध्यवकाशमददद् बाधमानं तथा वृद्धिं गतम्—यथा तदन्तरे मृणालसूत्रमपि नावकाशमासादयेत्, "पाण्डु" "श्याममुखम्" इति विशेषणद्वयं यौवनावस्थाव्यञ्जकमिति व्याख्यातारः। श्याममुखेति विशेषणेनावकाशदानाभावोऽपि समर्थ्यते, नहि कृष्णमुखः (कुटिलः) कस्याप्यवकाशं कथमपि ददातीति।

४१.

पुष्पाणि कामदेवस्यास्त्राणि, तानि च प्रयुञ्जानोऽपि कामः शिवेन पराजितः, उमायास्तु बाहू अस्त्रत्वेन प्रयुज्य कामेन सफलता लब्धा, यत्ते बाहू तेन पाशरूपेण शिवकण्ठे समर्प्य शिवस्य बन्धनं कृतम्। तेन पुष्पेभ्यः प्रशस्तता बाह्वोः सिध्यति, प्रशस्तता च कामास्त्राणां सौकुमार्यादिनैवेति सर्वपुष्पसुकुमारात् शिरीषपुष्पादप्यधिकं सौकुमार्यं बाह्वोः सिद्धमिति व्याख्यातारः। कामस्यास्त्रभूतानि सुकुमाराणि पुष्पाणि शिवेन न सोढानि, (पराजितत्वात्कामस्य सिद्धमेतत्) उमाया बाहू तु पाशभूतावपि तेन कण्ठे सोढौ, तदेतत् सौकुमार्याधिक्ये लिङ्गमित्यपि युक्तं भाति।

४२.

अन्यत्र मुक्ताभूषणं कण्ठालङ्करणं भवति, कण्ठशोभाजनकत्वाद् इति सुप्रसिद्धम्। पार्वत्याः कण्ठस्य तु शोभा मुक्ताकलापेन जनितेत्येव न, अपि कण्ठेनापि मुक्ताकलापस्य शोभा जनिता। मुक्ताकलापोऽपि तत्र कण्ठे नितरां शुशुभे, तस्मादिहोभावप्यलङ्कार्यौ, उभावपि चालङ्कारौ उभयोः शोभाजनकत्वे हेतू स्तनबन्धुरत्वं निस्तलत्वं चेति।

४३.

रात्रौ विकसितस्य कमलस्य, दिवा कान्तिमतश्चन्द्रस्य चाभावो भवति। तेन सौन्दर्याभिमानिनी श्रीर्देवता यदा चन्द्रमाश्रयते, तदा कमलगुणाः सौरभसौकुमार्यादयस्तया नानुभूयन्ते—इति न्यूनतैव, यदा च पद्माश्रयते तदामृतनिष्यन्दिनी चन्द्रकान्तिस्तया नानुभूयते। तत एवोभयत्रापि पूर्णप्रीतेरभावाल्लक्ष्म्या लोलत्वं

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥ ४०॥
शिरीषपुष्पाऽधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः।
पराजितेनाऽपि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन॥ ४१॥
कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः॥ ४२॥
चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥ ४३॥

जातम्। कदाचित्तत्र गच्छति, कदाचित्तत्र गच्छतीति। यदा तु देव्याः पार्वत्या यौवनं प्रादुर्भूतम्, तदा तन्मुखे चन्द्रकान्तेः पद्मसौरभसौकुमार्यादीनां चैकत्रैवं सद्भावात्तन्मुखाश्रिता लक्ष्मीः पूर्णां प्रीतिमवाप। तेन च लोलतां परित्यज्य तत्रैव सुस्थिरतराभवदिति व्यङ्ग्यम्।

४४.

कवय ओष्ठं रक्तपल्लवेन विद्रुमेण वा, स्मितं च कुसुमेन मौक्तिकेन वोपमिमते। परं यथोपमेययोरोष्ठस्मितयोः परस्परसम्बन्धात्सुषमा, न तथोपमानयोरुपलभ्यते। न हि प्रकृत्या कुसुमरक्तपल्लवयोराधाराधेयभावः क्लृप्तः, नापि मौक्तिकविद्रुमयोः। (कृत्रिमस्तु संबन्धो न स्वाभाविकीं सुषमां लब्धुं प्रभवति) यदि प्रकृतिस्तथा विरचयेत्, तदास्य सादृश्यं स्यात्, इदानीन्तु दुर्लभं जगति पार्वत्या ओष्ठे लक्ष्यमाणस्य स्मितस्य सादृश्यमिति।

४५.

यदा पार्वती वक्तुमुपक्रमते तदा श्रोतृणां कर्णयोरमृतमिव निषिच्यते, सुप्रसिद्धमधुरशब्दा कोकिलापि च तदा सर्वैः श्रोतृभिः कर्णकठोरशब्दा प्रतीयते, यथा विस्वरं वाद्यमाना वीणा कर्णकटुः प्रतीयेत, तथेति। वक्तुमुपक्रान्तायामेव यदेयं दशा भवति, तदा निष्पन्नायां वाचि तु किं भवेदिति "प्रजल्पिता" घटकः प्रशब्दो व्यञ्जने चमत्कारी। श्रोतृमात्रमपि कोकिलां विरसां तदग्रे मन्यते— किं पुनर्विशेषज्ञाः श्रोतार इति श्रोतृपदं व्यनक्ति।

४६.

मृगीणां प्रेक्षणे पार्वत्याः प्रेक्षणे च चलन्नीलोत्पलावस्थासदृशे चञ्चले—तथा सादृश्यं प्रतीयते, यथैतदेकत्रान्यत आगतमिति स्फुटो निश्चयः, परं कया कस्या गृहीतमिति न निश्चेतुं शक्यते। अधिकज्ञो हि शिक्षकः, अल्पज्ञश्च शिक्षितो मन्यते, इह तूभयत्रापि निर्विशेषं सादृश्यमिति शिक्षकः शिक्षितो वा न निश्चेतुं शक्यः। मृगाङ्गनाभिरिति मृगाङ्गनाभ्य इति च बहुवचननिर्देशेन मृगाङ्गनानां सर्वासां संभूय पार्वती-शिक्षकत्वं सम्भाव्यते, पार्वत्यास्त्वेकस्या एव सकलमृगाङ्गनाशिक्षकत्वं संभाव्यत इति कोऽप्यतिशयः पार्वतीप्रेक्षणस्य व्यञ्जितः।

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥ ४४ ॥
स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥ ४५ ॥
प्रवात - नीलोत्पल - निर्विशेष - मधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाऽङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥ ४६ ॥

४७.

पार्वत्या भ्रुवोस्तथा संनिवेशः, यथा तयोरञ्जनशलाकया निर्माणं संभाव्यते। (शलाकानिर्मिते हि यथेच्छसंनिवेशकरणादधिकं सौंदर्यं भवतीति तथोत्प्रेक्ष्यते)। एतयोर्भ्रुवोश्चाग्रे कामधनुरपि तुच्छम्। कामधनुषि हि परप्रेरणया व्यापारः, भ्रूस्तु स्वयं लीलाचतुरेति महदेतयोरन्तरम्।

४८.

चमरीवालेभ्योऽधिकं पार्वतीकेशपाशस्य सौन्दर्यमित्ययमर्थः प्रकारान्तरेण कार्यसंभावनामुखेनोपन्यस्तः। चमर्यो हि वालेष्वत्यन्तं स्निह्यन्तीति प्रसिद्धिः, तत्रकविराह स्नेहोऽयं सर्वाधिकगुणे वस्तुनि विशेषतयोदेति, ततोऽप्यधिकगुणं च वस्तु यदि लभ्येत, तदा स्नेहे शैथिल्यं जायते, तथा स्नेहकर्तुर्मनसि लज्जा च जायते। चमरीणां चायमेवाभिमानो यदस्माकं वालाः सर्वाधिकसौन्दर्यशालिनः, तत एव तासां तत्र विशेषेण स्नेहः परं पार्वतीकेशपाशं ततोऽप्यधिकसुन्दरं दृष्ट्वा चमरीभिः स स्नेहः कुतो न शिथिलीकृत इति प्रश्ने इदमेव प्रतिभाति, यत् तिर्यक्त्वात् तासां मनसि लज्जा नास्ति, यदि लज्जा स्यात्, तर्हि केशपाशविजितसौन्दर्येषु वालेषु न स्नेहो यथापूर्वं तिष्ठेदिति।

४९.

मुखग्रीवकुचपादादीनां चन्द्रकम्बुचक्रवाकपद्मादीन्युपमानानि कविसंप्रदाये प्रसिद्धानि, अस्ति तेषूपमानवस्तुषु सौन्दर्यम् किन्तु भिन्नं भिन्नमंशमात्रं तत्र तत्र स्थितं तन्न द्रष्टुः पूर्णमानन्दमुत्पादयितुमलम्। तदस्य सर्वस्य सौंदर्यस्यैकस्मिन्नवयविनि स्थितस्य दर्शनेच्छा विधातुरुदभूत्, तत एवं यथास्थानं तान्युपमानवस्तून्येवावधानेनौचित्त्येन संनिवेश्य पार्वतीशरीरं तेनोत्पादितमिति संभाव्यते।

५०.

यथेच्छं विचरता हिमालयगृह आगतेन नारदेन कदाचित्पितुः समीपस्था

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ ४७ ॥
लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥ ४८ ॥
सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥ ४९ ॥
तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ॥ ५० ॥

पार्वतीं दृष्ट्वा, तल्लक्षणान्यालोक्य स 'महादेवस्येयमनन्या भार्या भविष्यति, प्रेम्णा तच्छरीरार्धे चास्याः स्थितिर्भविष्यति इति भावि वृत्तं न्यरूपयत् ।

५१.

पूर्वं पार्वत्या विवाहानुरूपं वयो दृष्ट्वा हिमालयस्य वरान्वेषणे प्रवृत्तिरभूत्, परं नारदोक्तौ विश्वस्य तेन वरान्तरान्वेषणाभिलाषस्त्यक्तः । युक्तश्चैवंविधायाः कन्याया एवंविधेनैव वरेण सम्बन्धः । यद्यपि सन्त्यन्येऽपि देवाः, परं न ते एतामुद्वोढुं योग्याः । यथा तेजांसि लोके बहूनि, किन्तु हविर्ग्रहणयोग्यताग्नेरेव केवलमिति ।

५२.

यद्यपि भगवते शिवाय कन्याप्रदानं हिमालयस्यात्यन्तमिष्टम्, तथाऽपि न हि शिवः स्वयं याचते, नचायाचिता कन्या देयेति शिष्टसंप्रदायः । स्वयं च समर्प्यमाणां शिवः स्वीकुर्यान्नवेति महती प्रार्थनाभङ्गशङ्का, तेन स उदासीन एव तस्थौ । एवमेव प्रार्थनाभङ्गभीताः शिष्टाः कुर्वन्तीति ।

५३.

ननु शिव एव स्वपरायणां पार्वतीं कुतो न याचितवान्, तत्र हेतुरुच्यते, दक्षसुतया सत्या यदा देहस्त्यक्तः, तदा प्रभृत्येव शिवस्य निर्वेद उदभूत्, तेन विवाहकथा दूरापास्ता सुदतीति विशेषणं यौवनावस्थाबोधकं भोगेष्वतृप्ततामावेदयन्निर्वेदयोग्यतां व्यनक्ति, अतृप्तस्य प्रियवस्तुनाशो निर्वेदाय भवतीति । पशूनां पतिरित्यनेन सर्वजीवबन्धविमोक्षकारणस्य भगवतः सङ्गो सङ्गत्यागश्च केवलं लीलामात्रमिति बोधनाय । स हि स्वकार्येण—'सति शोकहेतौ न महात्मभिः खिन्नैर्भाव्यम्, अपि तु वैराग्यं सेव्यम्, इत्युपदिदेश इत्यादिप्रकाशिकाविवरणयोः ।

५४.

तेन खलु त्यक्तपरिग्रहेण वशिनाभगवता शङ्करेण गजचर्म परिदधता हिमालयस्यैकतमे शिखर एव तपश्चर्यार्थे निवासः क्लृप्तः । (विशेषणद्वयेन तपो-

---

गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः ।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥ ५१ ॥
अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥ ५२ ॥
यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज ।
तदा प्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥ ५३ ॥
स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु ।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि किञ्चित्क्वणत्किन्नरमध्युवास ॥ ५४ ॥

योग्यता बाह्याभ्यान्तरयोः सूचिता) यस्य शिखरस्य गङ्गायाः–प्रपातः, देवदारुवृक्ष-बाहुल्यम् (एतेन प्रदेशस्य पवित्रजलच्छायादिसंपत्त्या तपोयोग्यता सूचिता) कस्तूरीमृगसंचारेण सौरभप्राचुर्यम् , (एतेन पूतिगन्धराहित्यं द्योतितम्) किन्नर-गानध्वनिश्चेति । एतेन खरशब्दराहित्यम् देवयोनिनिवासेन पवित्रता च द्योतिता । कस्तूरीसौरभेन, किन्नरगानेन चेन्द्रियविषयसंपदुक्ता, तया चोक्तया वशिनो विषय-संपदो न विभ्यतीति सूचितमित्यरुणाचलनाथः ।

५५.

भगवति शिवे तत्र स्थिते तद्गणाः प्रमथा अपि तत्रैव स्थिताः । तेषां च तत्र सुरपुन्नागपुष्पैरलङ्कारसौख्यम् , कोमलैर्भूर्जवल्कलैर्वसनसौख्यम् , मनःशिलाधातुना चाङ्गरागसौख्यं संपद्यते स्म ।

५६.

भगवति शिवे तत्र कृतनिवासे तद्वाहनो वृषभोऽपि तत्रैव तस्थौ । स च शैले सिंहध्वनिं श्रुत्वा 'कोऽयं मदग्रे गर्जति' इति अमर्षमापन्नः क्रोधाद्धिमशिलाः खुराग्रैर्विदारयन् स्वयमपि गर्जति स्म । तं च तथाविधं विशालाकृतिं गर्जन्तं दृष्ट्वा भीताः, स्वसदृशाकारेण स्वयूथ्यं मत्वा कथंचिद्विश्वस्ताश्च गवयाः कथंचिद्ददृशुरिति ।

५७.

तत्र पूर्वोक्ते हिमवच्छिखरे भगवता शिवेन तपश्चरणमारब्धम् , सर्वेषु वैदिकेषु कर्मसु अग्रे अपेक्षितत्वात्तपश्चर्यार्थोऽग्निश्च प्रतिष्ठापितः, समिदादिभिस्तत्परिचर्याऽपि समारब्धा । यद्यपि लोकानां फलार्था प्रवृत्तिः कर्मसु दृश्यते, भगवांश्चायं सर्वेश्वरः सर्वेषां स्वयं फलदाता पूर्णकाम इति नास्य फलं संभाव्यते, नाप्यस्याराधनीयो देवः, अग्न्यादीनामप्येतन्मूर्तित्वात् , नाप्यन्तःकरणशुद्धिः फलम् , ईश्वरत्वेन नित्यमुक्तत्वात् , तथापि तपश्चरणमित्यलौकिको मार्गः सर्वलोकहितायैव । अन्येपि मां दृष्ट्वा तपसि प्रवृत्ता भवन्त्विति । इममेव स्वार्थफलाभावं ध्वनयितुं 'केनापि कामेन' इति कविनोक्तम् । 'कःकामोऽस्य स्याद्' इति न चिन्तयितुं शक्यते इति ।

गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः ।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥ ५५ ॥
तुषारसङ्घातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुद्मान् ।
दृष्टः कथञ्चिद् गवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद ॥ ५६ ॥
तत्राऽग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनाऽपि कामेन तपश्चचार ॥ ५७ ॥

५८.

सर्वलोकोत्पादनसमर्थैर्ब्रह्मादिभिरप्यर्च्यमानः, वस्तुतस्तु स्वरूपेणावाङ्मनसगोचरतया केनापि पूजयितुमशक्यो भगवान् यदा स्वगृह एव प्राप्तः, तदा परंभाग्यं मत्वा हिमालयेन सोऽर्चितः, नित्यं तदर्चनाय च स्वपुत्री पार्वती सखीसहिता तेन आदिष्टा, यतः सा प्रयतेत्येवंविधानां पूजने समुचिता ।

५९.

यद्यपि विशिष्टसुन्दरी पार्वती चेतोविकारहेतुत्वात्समाधेः परिपन्थिभूता, तथापि सेवमाना सा शिवेन न निषिद्धा यतस्तस्य चेतोविकारभयं नास्त्येवेति ।

६०.

सेवायां प्रवृत्ता पार्वती प्रतिदिनं पूर्वं पूजायै पुष्पाण्यवचिनोति स्म, तदनु तपश्चर्य्यास्थानं परिष्करोति स्म, अथ जलानि बर्हींषि चानयति स्म, इत्यादिना प्रकारेण सेवानिरताभूत् । न च सुकुमार्या अपि तस्याः सेवया ग्लानिरुदभूत्, यतः शङ्करस्य मस्तके स्थितस्य चन्द्रस्याह्लादकरैः किरणैस्तस्याः खेदोऽपनीयते स्म इति ।

[इति कुमारसम्भवे प्रथमः सर्गः]

अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा ।
आराधनायाऽस्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ॥ ५८ ॥
प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ ५९ ॥

अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा
नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥ ६० ॥

कुमारसम्भवे पञ्चमः सर्गः

कथासम्बन्धः

तारकाख्येनासुरेणाभिभूता इन्द्राद्या देवास्तद्विनाशाय विज्ञापयितुं ब्रह्मणः समीपे गताः, ब्रह्मणा च 'शङ्करस्य वीर्येण जातो युष्माकं सेनापतिर्भूत्वा तारकं शमयिष्यति, तच्छङ्करस्य विवाहोपायश्चिन्त्यताम्' इत्याज्ञप्ताः। तत इन्द्रेण सबहुमानमाहूय कामः शिवस्य चेतः पार्वत्यामनुरञ्जयितुमादिष्टः, स च वसन्तसहायः कैलासं गत्वा सेवार्थमुपस्थितां पार्वतीमालम्बनीकृत्य भगवति शिवे संमोहनास्त्रं प्रायुङ्क्त। किञ्चित्परिवृत्तधैर्योऽपि शिवः संयमितया द्रुतं चेतोविक्रियां नियम्य तृतीयनेत्रानलेन कामं भस्मसादकरोत्। अथ बहु विलपन्ती मरणे कृतनिश्चया कामपत्नी रतिः 'भूयोऽपि शिवस्य कृपया कामस्य जीवनलाभो भविष्यति' इत्याकाशवाचा समाश्वासिता, तेन च बद्धाशा सा जीवनं दधारेति चतुर्थे गतम्। अथ पार्वतीवृत्तमारभ्यते।

१.

इत्थं महादेवेन कामदेवे भस्मसात् कृते पार्वती-निराशा समजनि। नारदोक्त्या यो मनोरथाङ्कुर उदभूत्, सेवानुमोदनेन यः पल्लवितः, संमोहनास्त्रप्रयोगकाले सानुरागवीक्षणेन च यः फलितः, स कामं दहता महादेवेन समूलमुत्पाटितः। महादेवमन आक्रष्टुमसमर्थमात्मनो रूपं तदा पार्वती गर्हते स्म। यतः भर्तुः प्रेमैव रूपस्य फलम्, यस्मिन् रूपे भर्ता नानुरज्यति तद् रूपं निष्फलमेवेति। धीरया पार्वत्या यद्यपि कस्यचित्पुरः पुरापि रूपविकत्थना न कृता, तथापि चेतसि तस्या रूपगर्वमासीदिति चेतसैव निन्दापि कृता।

२.

इत्थमुपायान्तरमपश्यन्ती पार्वती तपस्यया महादेवं वशीकृत्य स्वसौन्दर्यं चरितार्थयितुं निश्चिकाय। महादेवसदृशः पतिर्यो मृत्युञ्जय इत्युच्यते, तादृशोनुरागश्च—यद्वशीभूतः स मृत्युञ्जयस्तस्यै स्वशरीरार्धमपि समर्पयेत्, एते तपस्यामन्तरेण कथं भवितुमर्हतः। सर्वं दुर्लभं वस्तु तपसैव साध्यं भवति इति।

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥ १॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥ २॥

३.

भगवति मृत्युञ्जये निरतिशयमनुरक्तायाः पार्वत्या अतिकठिनतपश्चर्याव्रतोद्योगं श्रुत्वा तस्या जननी मेनका तां (पार्वतीम्) वक्षसालिङ्ग्य तपश्चर्याध्यवसायं त्यक्तुमुपदिदेश । गिरीशेऽनुरक्त्या तस्या हर्षः, तपःकष्टमनुमाय तु विषाद इति ।

४.

मेना वक्ति, वत्से ! पार्वति ! तव पितुः प्रदेशा देवभूमयः सन्ति । अत्र विद्यमाना इष्टाः शच्यादिसौभाग्यदेवता आराधय । त्वदीयं कोमलं शरीरं कठिन-तपोनुष्ठानक्षमं नास्ति । मृदुलं शिरीषस्य कुसुमं लघीयसो भ्रमणशीलस्य भ्रमरस्य भारं सोढुं शक्नोति, न पुनर्महीयसः पक्षिणोऽपि । भ्रमरो हि परिमाणे लघुः, भ्रमणशीलत्वाच्चैकत्र न चिरमवतिष्ठते—इति तत्पदं कोमलेनापि पुष्पेण सोढुं शक्यते, पतत्री तु गुरुत्वात्पक्षाघातकरत्वाच्च न सोढुं शक्य इति । गृहस्थित-देवताराधनभ्रमरयोः शिरीषपुष्पवपुषोः, पतत्रितपसोश्च मिथो बिम्बप्रतिबिम्ब-भावो बोध्यः ।

५.

मेनया पूर्वोक्तेन प्रकारेण बहुधा पार्वती समुपदिष्टा, परं न सा तपसो निश्च-याद्विरताभूत् , यः फलसिद्धौ दृढनिश्चयः आसीत् । यथा निम्नाभिमुखं जलं न केनापि विरुद्धं प्रवाहयितुं शक्यते, तथा प्राप्तव्येऽर्थे दृढमभिनिविष्टं चित्तं कश्चिदपि विपरीतं कर्तुं न शक्नोति ।

६.

हिमालयोऽपि स्वसुताया मनोरथं विवेद । अथ एकस्मिन् दिने स्ववसरे तपसि कृतनिश्चया गौरी फलसिद्धिपर्यन्तं तपश्चरितुं स्वसखीमुखेन पितुः सकाशाद् वनवासानुज्ञां प्रार्थयते स्म । न ह्येतादृशानि तपांसि गृहे संभवन्तीति ।

निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिरम्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥ ३ ॥
मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥ ४ ॥
इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥ ५ ॥
कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।
अयाचताऽरण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥ ६ ॥

७.

हिमालयः स्वसुताया योग्ये वस्तुनि अभिनिवेशं विज्ञाय संतुतोष। तपस्यां कर्तुं च तामनुजानाति स्म। गौर्यपि पितुरनुज्ञामधिगम्य हिंस्रप्राणिविरहिते शान्ते पर्वतशिखरे तपः कर्तुं प्रतस्थे, यच्च शिखरं पश्चात्तन्नाम्नैव गौरीशिखरमितिप्रसिद्धम् जातम्। 'शिखण्डिमत्' इत्युक्त्या शान्तत्वं समर्पितम्।

८.

दृढप्रतिज्ञा गौरी तपश्चर्यानुरूपं वेषं परिधातुकामा स्तनान्तरे लम्बमानं बहुमूल्यं मौक्तिकहारं परितत्याज। शरीराच्छादनाय च बालातपपिङ्गलं वल्कलं धारयति स्म। तदपि च नवम् अप्रशान्तकषायम्। अत्यन्तं दुःस्पर्शम्। (एतद् बालारुणबभ्रु-विशेषणेन बोधितम्) यच्च स्तनयोर्दुःखेन धृतमभूत्।

९.

गौरी शिरसि जटाः बभार। ताभिस्तदाननस्य शोभा न मनागपि पर्यहीयत। किन्तु यथा पूर्वम् अलङ्कृतैः केशैस्तन्मुखमशोभत, तथैव जटिलैरपि। मधुरा ह्याकृतयः सर्वथापि शोभन्त एव, यथा कमलं केवलम् भ्रमरराजिभिरेव राजत इति न, अपि तु शैवलैरपि तच्छोभत एव।

१०.

अत्र कटिप्रदेशे पार्वती क्षौमादिनिर्मितां काञ्चीं धारयति स्म, तपःपरायणा तत्र मुञ्जतृणनिर्मितां त्रिरावृत्तां प्रखरां मेखलां दधार, यया अस्या प्रतिक्षणं रोमाञ्चो जायते स्म। किञ्चेतः पूर्वमधृतया अनया मौञ्ज्या अस्याः कटिप्रदेशः संघर्षणेन रक्तः कृतः।

११.

पार्वत्याः करः पूर्वं सुकोमलेऽधरे लाक्षारसादिरञ्जनम्, कन्दुकक्रीडां

अथाऽनुरूपाऽभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरी शिखरं शिखण्डिमत् ॥ ७ ॥
विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ ८ ॥
यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥ ९ ॥
प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम्।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रसनागुणास्पदम् ॥ १० ॥
विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात्।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥ ११ ॥

चेति सुकुमारतरान् व्यापारानन्वतिष्ठत्। तपःकाले तु स कर्कशतरकुशोत्पाटने अक्षमालायाः सततं चालने च विनियुक्तः। अयं सारः यत् तपःपरायणा पार्वती सर्वविधं शरीरालङ्करणं मुमोच। अधरोष्ठस्य लाक्षारसेन रञ्जनं तत्याज। चन्दनाद्यङ्गविलेपनाद् विरराम, मनोविनोदाय कन्दुकक्रीडां च परिजहार, किं च मुनिव्रताचरणाय कण्टकिनः कुशान् लुलाव। येषां कण्टकैः तस्याः कराङ्गुलयः परिक्षता अभवन्, अनिशं रुद्राक्षमालया जजाप चेति।

१२.

या पर्वतराजपुत्री पूर्वं मृदुतरतूलिकादि विराजिते कोमलोपबर्हसनाथिते बहुमूल्ये शयने निद्रासुखमन्वभूत्, तत्रापि च पुष्पस्पर्शेनापि यदङ्गेषु आघात इवाभूत्, पुष्पेभ्योऽपि कोमलतरत्वादङ्गानाम्, ईदृशी सुकुमारी सा इदानीं तपःप्रसङ्गेन अनास्तृतभूमौ स्वबाहुमेवोपधानीकृत्य स्वपिति, तत्रैवोपविशति च। भूमिशयनस्य तपोऽङ्गस्यानुष्ठानमनेनोक्तं भवति।

१३.

पर्वतशिखरे तपश्चरन्त्यां पार्वत्यां स्त्रीस्वभावसुलभो विलासः चञ्चला दृष्टिश्च नावलोक्यते स्म, किन्तु तादृग् विलासादिकं लतासु हरिणीषु च दृश्यते स्म, तत्र कविरुत्प्रेक्षते यथा लोके कश्चित् कार्यान्तरप्रसङ्गेन स्वकीयं वस्तुकञ्चित् कालम् अवधिं कृत्वा अन्यस्य पार्श्वे न्यासरूपेण रक्षति अवधिसमाप्तौ च तद् वस्तु ततो गृह्णाति, तथैव पार्वत्यापि तपःप्रतिबन्धकीभूतं विलासादिकं तपःसमाप्तिपर्यन्तं स्वप्रतिवेशिनीभ्यः लताभ्यो हरिणीभ्यश्च निक्षेपरूपेण अर्पितम्, तपः समाप्तौ सा निक्षिप्तं स्वकीयं ताभ्यो ग्रहीष्यति इति।

१४.

व्रतस्था पार्वती आलस्यं दूरतस्तत्याज, तत्रत्यान् स्वल्पस्वल्पान् पादपान् स्वयमानीतैः कलशजलैः सिषेच, 'स्वयंदासास्तपस्विनः' इति न्यायात्। स्वसंवर्धितेषु तेषु पादपेषु पार्वत्यास्तथाविधं दृढं पुत्रवात्सल्यं सञ्जातम्, यदनुभूय कविस्तर्कयति—यद् यदा पार्वत्याः कार्तिकेयो नाम औरसः पुत्रः सञ्जनिष्यते, तं दृष्ट्वापि तस्या एतेषु पादपेषु तत् पुत्रवात्सल्यं न निवर्तिष्यते। यतः सा तान् ज्येष्ठपुत्रत्वेन निरीक्षते।

महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले॥ १२॥

पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवाऽर्पितं द्वयम्।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाऽङ्गनासु च॥ १३॥

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।
गुहोऽपि येषां प्रथमाऽऽप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति॥ १४॥

१५.

पार्वती नीवारश्यामाकादिभिर्मुनिधान्यैर्हरिणान् पुपोष । नीवाराणामञ्जलिं तेभ्योऽदात्, न तु कणमात्रम् । ते हरिणास्तस्यां तथा विश्वासं प्रापुः, यथा ते निर्भयं तस्याः समीपमाजग्मुः, सा च 'मम सहचरीणां नेत्रे विशाले, उतैतेषां हरिणानाम्' इति जिज्ञासमाना कौतुकात् तेषां नेत्रे स्वाङ्गुल्यादिना परिममे, परन्तु परिमाणकरणसमये जायमानेप्यक्षिनिपीडने हरिणा न मनागपि क्षोभं प्रापुः । अत्रैव तिरश्चां विश्वासस्य परां काष्ठां प्रतिपादयता कविकुलगुरुणा पार्वत्यां महती अहिंसाप्रतिष्ठा व्यञ्जिता ।

१६.

पार्वत्या प्रत्यहं त्रिषवणेन (वारत्रयं स्नानेन) शरीरशुद्धिः संपादिता, तपोऽङ्गेन हवनेन उत्तरीयस्याप्यनुरागत्यागेनान्तःकरणशुद्धिः, प्रत्यहमध्ययनेन चात्मशुद्धिः । तेन च वैराग्यवृद्धत्वम् (त्वगुत्तरासङ्गवतीमिति विशेषणसूचितम्) ज्ञानवृद्धत्वम् (अधीतिनीम्) शीलवृद्धत्वं चास्यां प्रतिष्ठितमित्यस्या दर्शनार्थमुपदेशश्रवणार्थं च ऋषयोऽप्यस्या आश्रममागच्छन् । ननु वयसा कनिष्ठायाः पार्वत्याः समीपे वयोवृद्धानामृषीणाम् (सेवार्थम्) आगमनमनुचितमिव भाति, नैतत्, सेव्यसेवकभावविचारे धर्मवृद्धस्यैव सेव्यतास्वीकारात्, अल्पवयस्काया अपि धर्मेण वृद्धायाः पार्वत्याः समीपे ऋषीणामागमनं नानुचितमिति ।

१७.

तत्र गौरीशिखरे पार्वत्यास्तपःप्रभावेण न केवलं तदाश्रमस्य, अपि तु सर्वस्यापि तपोवनस्य परा पवित्रतासीत्, यद्दर्शनादप्यन्येषां पवित्रता सम्भवति स्म । अस्यास्तपःप्रभावेणैव विरोधिभिर्जीवैः–गोव्याघ्रेण, सिंहहरिणेन सर्पमयूरेण चेत्यादिभिः स्वाभाविको विरोधस्त्यक्तः, वृक्षा यथेष्टं फलानि पुष्पाणि चोत्पाद्यातिथीन् परिचेरुः, अभिनवाश्च बहवस्तपस्विनो जाताः, येन नवेषूटजेषु अग्नय आधीयन्ते स्म ।

अरण्यबीजाऽञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात् पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥ १५ ॥
कृताऽभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम् ।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥ १६ ॥
विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चिताऽतिथि ।
नवोटजाऽभ्यन्तरसम्भृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥ १७ ॥

१८.

यदा चिरं तप्त्वा पार्वत्या चिन्तितम्—यदीदृशेन लघुना तपसा ममेष्टसिद्धिर्न भविष्यति इति, तदा सा शरीरस्थितिमनपेक्ष्य घोरे तपसि प्रवृत्ताभूत् ।

१९.

पार्वत्याः कठिनतपःप्रवृत्तिं साश्चर्यमाह कविः—यत् कन्दुकक्रीडामात्रेणापि यस्याः शरीरे श्रान्तिरुदभूत्, तया विशिष्टमुनिसंपाद्यं परमं तपः कर्तुमारब्धम् । तत्रैवोत्प्रेक्षते—यन्नूनं तस्याः शरीरं काञ्चनपद्मेन निर्मितमस्ति—यत्पद्मधर्मेण सुकुमारम्, सुवर्णधर्मेण कठोरमपि च वर्तते ।

२०.

'ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थः' इति शास्त्रमनुसृत्य पञ्चाग्नितपस्तया प्रारब्धम् । चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽग्नयः, पञ्चमस्तु सवितेति पञ्चाग्नयस्तत्र प्रसिद्धाः । तेनैव क्रमेणाग्निचतुष्टयमध्यगतयानया सवितरि निश्चला दृष्टिः स्थापिता । यद्यपि 'सुमध्यमा' (कृशमध्यदेशा) इयमिति ईदृशेन तपसा परा ग्लानिरस्याः सम्भाविता, तथापि सा तथाविधेऽपि तपसि वर्तमाना 'शुचिस्मिता', तेन खेदाभावो ध्वनितः । न च नेत्रे अप्यस्याः सूर्यं पश्यन्त्याः प्रतिहते—इत्यहो ।

२१.

सूर्यमभिमुखं सततं निरीक्षणेऽपि मुखे कापि विकृतिस्तस्या नाभूत्, प्रत्युत यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं कमलं नितरां शोभते, तथा तन्मुखमप्यशोभत । कालिमा तु तत्रावकाशमलभमानः सुकुमारतरयोर्नेत्रप्रान्तयोः शनैः प्रावर्तत । तेन च नेत्र-प्रान्तयोः शोभैव, न तु म्लानत्वमिति द्योतितं भवति । तापकृता विषादकृता वा श्यामिका मुखे नास्तीत्याकूतम् ।

यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम् ।
तदाऽनपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥ १८ ॥

क्लमं ययौ कन्दुकलीलयाऽपि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।
ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥ १९ ॥

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥ २० ॥

तथाऽतितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम् ॥ २१ ॥

२२.

पार्वत्या वृक्षवृत्तितपः प्रारब्धम् । यथा वृक्षाः केवलं मेघजलं चन्द्ररश्मींश्चोपयुज्य जीवन्ति, न तु किमप्याहारान्तरम् , तथैव पार्वत्यपि पूर्वोक्तं द्वयमेवोपजीवति स्म । न तु फलपुष्पादिकं किमपि ।

२३.

यथा पृथिवी ग्रीष्मे तप्ता वर्षाप्रारम्भे जलसिक्ता धूमाकारं बाष्पम् 'भाप' इति भाषायां प्रसिद्धं मुञ्चति, तच्च पृथिव्या ऊर्ध्वं गच्छति, तथैव पार्वत्यपि सूर्यातपेन चतुर्भिर्वह्निभिश्च ग्रीष्मे तप्ता वर्षाप्रारम्भे बाष्पममुञ्चत् । तदुपरिभागेपि धूमाकारं बाष्पं प्रतीयते स्म । अनेन पृथिवीसादृश्यात्सर्वथा शरीरे निरपेक्षता व्यज्यते ।

२४.

वर्षारम्भे अनावृते तिष्ठन्त्याः पार्वत्या उपरि वृष्टिजलबिन्दवः प्रथमं तन्नेत्रलोमसु विश्रम्य, अधरे प्रपत्य, कुचयोर्निपातेन खण्डतां गताः । पुनः संघीभूय निम्नोन्नतप्रदेशेष्विव बलीषु स्खलन्तो नाभिं प्राप्य स्थिताः ।

२५.

वर्षर्तौ यदा निरन्तरा धारासंपाता अभूवन् , तडितो विद्योतन्ते स्म, मध्ये वायुश्च वाति स्म, तदापि पार्वती अनावृते प्रदेशे तपोऽर्थं स्थिता प व । काले च तत्रैव शिलातले शेते स्म । न कोऽप्यन्यस्तथाविधे काले तस्यास्तथाविधस्य महातपसः साक्षी, तादृशेऽवसरे बहिः स्थातुमशक्यत्वात् , केवलं सकलसाक्षित्वे नियुक्ता रात्रिरेव तडिद्रूपैर्बहुभिर्नेत्रैस्तां ददर्शेति संभाव्यते ।

२६.

ग्रीष्मे वर्षासु च तथा तप्त्वा हिमगर्भितवाते हिमर्तौ रात्रौ जलनिवासतत्परा पार्वती तपस्यति स्म । तत्रापि नान्यः कोऽपि तस्या दृष्टिविषयोऽभूत् , केवलं

अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः ।
बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥ २२ ॥
निकामतप्ता विविधेन वह्निना नभश्चरेणेन्धनसम्भृतेन सा ।
तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम् ॥ २३ ॥
स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताऽधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ २४ ॥
शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपःसाक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥ २५ ॥
निनाय साऽत्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥ २६ ॥

वियोगाग्निना दह्यमानं चक्रवाकयुगलं तथाविधे शीते जलेऽवलोक्यते स्म। तस्य च तादृशशीतसहने वियोगाग्निरेव हेतुः। चक्रवाकयुगलस्य रात्रौ परस्परावलोकनाभावादन्योन्यमाक्रन्दः, तत्र च पार्वत्याः कृपैवाभूत्, न तु तस्य दर्शनेन विरहोद्दीपनम्। तेन तपसि वर्तमानायास्तस्या ब्रह्मचर्यनिष्ठापि व्यज्यते। चक्रवाकयुगले कृपा, न तु स्वतपसः कापि गणनेति व्यङ्ग्यमरुणाचलनाथ आह।

२७.

जलनिमग्नायाः पार्वत्याः शिशिरनिशासु मुखमात्रं लक्ष्यते स्म, तच्च कमलसमं सुरभि, शीतेन वेपमानोऽधरश्च तत्र किसलयसदृशः प्रतीयते, तादृशे तपस्यपि च न म्लानं तत्। तस्मादिदं संभाव्यते—शिशिरर्तौ हिमेन नष्टेष्वन्येषु कमलेषु 'जलानि कमलशून्यानि मा भूवन्' इति विचार्यैव पार्वती स्वमुखकमलं तत्र निवेशितवती। तेन वसन्तपर्यन्तं कमलपरम्पराया अविच्छेदो जातः, वसन्ते तु पुनः कमलानि प्रादुर्भविष्यन्त्येवेति।

२८.

तपस उपवासोऽप्यङ्गम्। तत्र फलदुग्धाद्यभ्यवहरणरूपा नाना भेदाः, स्वयंनिपतितवृक्षपत्रमात्रभक्षणम् तत्र सर्वश्रेष्ठं तप उच्यते। परं पार्वती क्रमेण पर्णभक्षणमपि त्यक्त्वा सर्वथा निराधाराऽभूत्। येन भीषणेन पर्णत्यागरूपेण कर्मणा तस्या नाम 'अपर्णा' इति ख्यातिं गतम्।

२९.

कोमलेन शरीरेण पार्वती तथा तपोऽकरोत्, यथा अतिकठिनशरीराणामपि तपस्विनां तपस्तदपेक्षयाऽत्यन्तमधोभूतम्।

३०.

पार्वत्यां तथा प्रौढे तपसि निविष्टायामेकस्मिन् दिने कश्चिदविज्ञातः पुरुषस्तस्मिंस्तपोवन आगतः, स चाजिनाषाढादिभिश्चिह्नैर्ब्राह्मणो ब्रह्मचारीति लक्षितः। तस्य तेजोलक्षणानि च तथाविधान्यासन्, यथा स साक्षाद् ब्रह्मचर्याश्रम एव शरीरं

मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाऽधरपत्रशोभिना।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदां सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम् ॥ २७ ॥
स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥ २८ ॥
मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥ २९ ॥
अथाऽजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥ ३० ॥

धृत्वा आगत इति संभाव्यते स्म । सक्षाद्भगवान् शङ्कर एव दयाजनितेनानुरागेण प्रेर्यमाणो गौर्याः प्रेमदार्ढ्यपरीक्षार्थं तया विस्रम्भगोष्ठीसुखार्थं च छद्मवेशेनागत इत्यन्ते स्फुटीभविष्यति ।

३१.

अतिथिसत्कारचतुरा पार्वती तं ब्रह्मचारिणं सबहुमानं प्रत्युज्जगाम, आनर्च च । एतदेव कविनोत्तरार्धेन समर्थितं, यत् सर्वत्र समदर्शिनां रागद्वेषशून्यानामपि शरीरेण विज्ञाततेजसि क्वचिद् भव्ये व्यक्तिविशेषे आदरो जायत एवेति । नायमादरो लिप्सया, अपि तु कर्तव्यबुद्ध्यैवेति । तपसा महान्तः सत्कार्या एवेति । श्रीमान् मल्लिनाथस्तु कथं समानेऽपि (ब्रह्मचर्यादिना स्वतुल्येऽपि) तस्मिन् तस्यास्तादृशी प्रतिपत्तिरित्यवतार्य साम्ये सत्यपि निविष्टचेतसाम्—स्थिरचित्तानां वपुर्विशेषेषु अतिगौरवाः क्रिया भवन्तीति व्याचक्षाणो 'न पार्वत्यास्तपोभिमानः, अपि तु अन्येषु तपस्विषु पूज्यत्वबुद्धिरेवेत्यभिप्रायं विशदयति । ये रागद्वेषाभ्यामदूषिताः, तेषामेव वस्तुतो महत्त्वशालिषु महत्त्वोचितो व्यवहारो जायते, रागादिमन्तस्तु परिचितेष्वेव स्निह्यन्तीति प्रकाशिकाविवरणकारावप्यर्थं विनैव पाठान्तरं व्याचक्षाते ।

३२.

उमया सत्कृतो ब्रह्मचारी लक्षणमध्वपरिश्रमापनयं नाटयति स्म, तदनन्तरं च ब्रह्मचर्योचितया शैल्या सरलेन चक्षुषा पार्वतीं विलोकमानः कथनं प्रारभते स्म ।

३३.

ब्रह्मचारी विशिष्टाचारानुकूल्येन प्रथमं पार्वतीं तपस्विजनोचितपदार्थसंपत्तिरूपं कुशलं पृच्छति ।

३४.

त्वया सततं वारिणा सिच्यमाना एता लताः कच्चिन्निरन्तरं पल्लवान्युत्पादयन्ति ? एतेषु पल्लवेषु हि रक्ततया त्वदधरसादृश्यमालोक्यते । यद्यपि त्वया-

---

तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ॥ ३१ ॥
विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम् ।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः ॥ ३२ ॥
अपि क्रियाऽर्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते ।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ ३३ ॥
अपि त्वदावर्जितवारिसम्भृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम् ।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा ॥ ३४ ॥

धरेऽलक्तकन्यासश्चिराच्यक्तः, तथापि स्वभावरक्तं तदिति पल्लवसादृश्यं बिभर्त्येव । चाटूक्तिरियं पार्वत्याश्चेतोविनोदनार्था । सौन्दर्ये हि स्तूयमाने स्वभावेन स्त्रीणां प्रसादो जायत इति ।

३५.

कच्चित्त्वं हरिणेषु प्रसन्ना तिष्ठसि ? यद्यपि हरिणाः परिचयजनितेन प्रेम्णा तव करस्थान् कर्मोपयुक्तानपि दर्भानपहरन्तस्तुभ्यमपराध्यन्ति, तथापि तपस्विनां न कोप इति तव प्रसाद एव तत्र युक्तः । एते च हरिणास्तव विलोचनयोः सादृश्यं स्वनेत्रयोरलभमानाः स्वनेत्रे चालयन्तः सादृश्यमभिनयन्तीव, यथा हीनगुणा महाजनैः सादृश्यं लब्धुं व्यापारवेषादिभिस्ताननुकुर्वन्ति, तद्वत् । तेन तव नेत्रयो-श्चाञ्चल्यं स्वाभाविकम्, हरिणास्तु स्वव्यापारेण चाञ्चल्यमाधातुं यतन्त इति सौन्दर्यस्तुतिरूपा चाटूक्तिरेव ।

३६.

'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' "न सुरूपाः पापाचाराः" इत्यादि लोकैरुच्यते, सामुद्रिकशास्त्रज्ञाश्चापि 'रूपं शीलानुसारि' इति ब्रुवते, तदेतत् त्वां दृष्ट्वा स्पष्टं सत्यं प्रतीयते । यत एवंविशिष्टरूपवत्यास्तवेदृशं शीलम्, यद् दृष्ट्वा उपदेशं गृह्णन्त इवान्ये तपस्विनः स्वीयानाचारानपि परिष्कुर्वते । इयं पार्वतीस्तुतिस्तां विनोद्य तस्या हृदयं प्रविश्य तदान्तरभावप्रकटनाय प्रयुज्यते ।

३७.

अस्य हिमालयस्य पृष्ठे द्युलोकाद्गङ्गाप्रवाहः पतति, गङ्गा च निसर्गेणैवाति-पवित्रतमा, सप्तर्षिदत्तबलीनां पुष्पादीनि च तत्र प्रवहन्तीति विशेषेण पवित्रता, तथापि सा गङ्गा तथाविधां पवित्रतां हिमालये नार्पितवती, यथा त्वदीयानि चरितानि सपुत्रपौत्रं हिमालयं (स्वपितृत्वात्, तच्छिखरे तपश्चरणाद्वा) पवित्रीकृतवन्ति । गङ्गाजलाद् अपि उत्कृष्टानि तव चरितानीति सारः । तव हेतुगर्भं विशेषणम्— "अनाविलैः" इति । गङ्गाजलं वर्षासु रोधःपतनकाले वा आविलम् (अस्वच्छम्) अपि भवति, त्वच्चरितानि तु न कदाप्याविलानि (पापगन्धीनि) इति ।

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः करस्थदर्भप्रणयाऽपहारिषु ।
य उत्पलाक्षि ! प्रचलैर्विलोचनैस्तवाऽक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥ ३५ ॥
यदुच्यते पार्वति ! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने ! तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥ ३६ ॥
विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधरः पावित एष साऽन्वयः ॥ ३७ ॥

३८.

धर्मार्थकामेषु लोकाः प्रायेणार्थकामयोरेव विशेषेण सक्ता दृश्यन्ते, धर्ममपि तदर्थमेवाश्रयन्ति, तेनार्थकामयोरेव प्राधान्यं मनस्यायाति। परमद्य मया प्रतीतम्, यद् धर्म एव मुख्यः पुरुषार्थः। यतः त्वादृशी बुद्धिमती अर्थकामौ सर्वथा उपेक्ष्य केवलं धर्मं भजते इति।

३९.

अहमत्रागतः, त्वया विशेषेण सत्कृत इत्येतावतैवाहं त्वदीयो जातः। नेदानीं पर इति मन्तव्योऽस्मि। यतो हि सज्जनानां मैत्रीरूपः सम्बन्धो न कष्टसाध्यः, स हि केवलं परस्परालापे सप्तपदोच्चारणमात्रेण सप्तपदपरिमितेऽध्वनि सहचरणमात्रेण वा समुत्पद्यते। तस्मात्त्वदीयत्वात् त्वन्मनोऽभिलाषं प्रष्टुं ममाधिकारोऽस्तीति।

४०.

अत्र तपःसम्बन्धे अस्ति मे जिज्ञासा, त्वत्सम्बन्धी चाहं जन इति प्रश्नेऽधिकारं मन्ये। न च प्रश्नेन ते कोपसंभावना, यतस्त्वं तपोधना बहुक्षमा। स्वाभाविकं च प्रश्नकुतूहलरूपं चापलं ब्राह्मणेषु इति प्रथम एव दर्शने प्रश्न एवंविधे मे उपपन्ना प्रवृत्तिः। न च मे निर्बन्धः, यदि गोप्यं न स्यात् तर्हि कथय–इति। विनयप्रदर्शनमिदम्।

४१.

तपसो लौकिकानि फलानि यानि संभाव्यन्ते, तानि (उत्तमकुलजन्म, सौन्दर्यम्, संपत्तिः, यौवनं इति) सर्वाण्यपि ते सन्ति। तथाविधानि च सन्ति, यत उत्कृष्टानि न संभवन्ति। नवं च ते वयः, तेन (ऋणत्रयमनपाकृत्य) मोक्षाभिलाषोऽपि न संभवति, तन्न संभाव्यते तवास्य तपसः किमपि फलम्। न चाफला बुद्धिमतां प्रवृत्तिः, तत एव फलप्रश्ने कौतुकमुत्पन्नमिति।

अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयाऽर्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥ ३८ ॥
प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां सन्नतगात्रि! सङ्गतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥ ३९ ॥
अतोऽत्र किञ्चिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने! न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥
कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपः फलं स्यात्किमतः परं वद! ॥ ४१ ॥

४२.

इष्टप्राप्तिस्तपसा न संभावितेति पूर्वस्मिन् पद्ये उक्तम् । ननु इष्टप्राप्तिवदनिष्ट-परिहारोऽपि वाञ्छनीयः, तदर्थमेव कदाचित्तपः स्यादिति स्वयं संभाव्य, अभ्युपगम्य च तस्याप्यभावं विवृणोति वर्णी, त्वयि अनिष्टसम्बन्धोऽपि न संभाव्यत इति ।

४३.

अनिष्टसंभवाभाव उक्तः, स एव प्रपञ्च्यते, तत्राकृतिरेव 'अनिष्टप्राप्तियोग्या न प्रतीयते, न हि सौम्याः, सर्वलक्षणोपेता वा आकृतयोऽनिष्ट भाजो दृष्टाः । यद्वा शोकचिह्नं तवाकृतौ न दृश्यते इति भावो व्याख्येयः । किं च कस्मादनिष्टं संभवेत ! भर्तृगृहे भर्तुरत्याचारात्सपत्नीकलहाद्वाऽनिष्टं स्यात् , त्वं तु पितुर्गृहे निवसति, पिता च त्वयि नितरां स्निग्ध इति कोऽनिष्टं कुर्यात् । अन्यस्तु कश्चन कामी पुरुषः पर्वतराजपुत्रीं त्वां मनसापि न धर्षितुमलम् , न हि सर्पमणेरपहरणाय कश्चिदुद्युङ्क्ते ।

४४.

तपःकारणानि परिहृतानि, निरभिसन्धि तपःस्यादिति पक्षमाक्षिपति । तद्धि वृद्धानां शोभते, न तु यौवनप्रारम्भ एव । अधुना तव भूषणधारणकालोऽस्ति, न तु वल्कलधारणकालः । यथा रात्रेरारम्भ एव चन्द्रतारका अस्तं गच्छेयुः, अरुणश्चो-दियाद् इत्यसंगता घटना, तथाऽस्मिन्नेव वयसि भूषणत्यागो वल्कलधारणं च तवासंगतमिति रात्रेः भूषणस्थानीयाश्चन्द्रतारकाः, अरुणस्थानीयन्तु वल्कलम् ।

४५.

संभावनान्तरं निराक्रियते—यदि स्वर्गेच्छया तपः, तर्हि व्यर्थम् । स्वर्गे तु त्वं स्थितैव, हिमालयप्रदेशा एव देवानां निवासाः स्वर्गा इत्युच्यन्ते, एतदर्थमेव तपस्यन्ति भूमिष्ठा लोकाः । यदि तु विवाहार्थं वरं प्रार्थयसे—तदप्यसंभाव्यम् । ईदृशं स्त्रीरत्नं स्वयंवरा अभिलष्यन्ति, नत्वभिलषितदुर्लभस्ते वरः स्यात् । 'यस्त

भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी ।
विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि ! त्वयि ॥ ४२ ॥

अलभ्यशोकाऽभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु ! कुतः पितुर्गृहे ।
पराऽभिमर्शो न तवाऽस्ति कः करं प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ॥ ४३ ॥

किमित्यपास्याऽऽभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् ।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥ ४४ ॥

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ ४५ ॥

ईप्सितो वरः, सोऽहं स्वयं त्वामन्विष्यन्नायातः, अलमिदानीं तपसा' इति भगवता शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

४६.

वर्णी वक्ति—यदा मया संभावितान् मनोरथान् निराकरणायोपक्षिपता वरप्रार्थना उपक्षिप्ता, तदा तवान्तस्तापबोधकाः उष्णनिःश्वासाः प्रवृत्ताः, वरार्थित्वं तवानुमीयते । तथाप्युपपत्तिमालोचयतो मम विचारशीले मनसि तत्रानुमाने विश्वासो न जायते । यतो हि उत्कृष्टं वस्तु सर्वैः प्रार्थ्यते, अतः सर्वोत्कृष्टा त्वमेव सर्वैः प्रार्थनीया, त्वदपेक्षया न दृश्यते कोऽप्युत्कृष्टो यस्त्वया प्रार्थ्येत । पुनश्च प्रार्थ्यमानोऽपि स न सुलभ इति तदर्थं तपश्चरणमिति तु संभावनाया अविषय एवेति ।

४७.

यदि सत्यं वरप्रार्थनयैव तव तपसः, तदेदं वक्तव्यं स्याद्, यस्त्वयेष्यमाणः कोऽपि वरः पाषाणवदेव दृढ इति वृथा युवत्वाभिमानी । (स्थिरशब्दः स्थैर्यगुणबोधकोऽप्यत्र वाक्यार्थवैशिष्ट्याद् दुर्गुणपर्यवसायी) स हि साश्चर्यमुपालभ्यते मया । यतस्त्वं तद्विरहेणेदृशीं दशां गतासि, यद्बन्धनाभावात् श्लथास्तव जटाः कपोले लम्बन्ते, न च योग्योऽपि कपोलदेशः कर्णोत्पलकान्त्या शोभते, तस्य तु मनसि नास्त्येतावतापि कोऽपि प्रभाव इति । कलमाग्रपिङ्गला इति श्लथानामपि जटानां कपोलशोभाहेतुत्वमुक्तम् 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' इति न्यायेन । 'तवेप्सितो यो वरः सः नित्यं युवैव, न कदापि बालो वृद्धो वा, जन्ममृत्युसम्बन्धाभावात् । स्थिरः—सर्वथा विकारशून्यः कूटस्थः, अहो इत्याश्चर्यरूपश्च' इति भगवतः शिवस्य गूढोऽभिप्रायः ।

४८.

विभूषणधारणोचितानि तवाङ्गानि सूर्यकिरणैर्दह्यन्त इव । व्रतैश्च त्वमतिमात्रं कर्शितासि, दिवा क्लान्ता चन्द्रलेखेव दृश्यसे, त्वामेवमवस्थां दृष्ट्वा कः सहृदयश्चेतसि न खेदमनुभवति, तथापि तत्प्रार्थितो युवा न द्रवतीत्याश्चर्यमेव । 'सचेतसो मनो दूयेत, त्वत्प्रार्थितस्य तु मनः सम्बन्ध एव नास्ति, निरिन्द्रियत्वात्' इति गूढोऽभिप्रायः ।

निवेदितं निश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥ ४६ ॥
अहो ! स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ॥ ४७ ॥
मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥ ४८ ॥

४९.

मयानुमीयते—त्वया प्रियत्वेन संकल्पितः कोऽपि पुरुषः, सौभाग्येन गर्वितः, 'मामेवेयं सर्वथानुयास्यति, कठिनामस्याः परीक्षां करोमि' इत्याद्यभिमानस्तस्य। तेनैव गर्वेण वञ्चितः सोऽद्यावधि। ननु वञ्चित इति कथमुच्यते, तत्राह यदि स त्वामन्वसरिष्यत्, त्वदीयमिदं सौन्दर्यनिधानं नेत्रं तन्मुखासक्तमभविष्यत् एतद्विषयतया स यथार्थसौभाग्यमाप्स्यत्। वृथा सौभाग्यमदेनैव तस्येदं मुख्यं सौभाग्यं प्रतिरुद्धमिति स वञ्चित एव मया मन्यते। 'यस्तवेप्सितः प्रियः, स वस्तुतः सौभाग्यमदेन वञ्चितः—रहित एव, न तस्य प्राप्तकामस्य सौभाग्येच्छा, न वा तज्जनितो मदः—अभिमानो हर्षो वास्ति। न च स नेत्रयोर्लक्ष्यं भवति' इति भगवतः शिवस्य गूढोऽभिप्रायः।

५०.

पार्वति! चिरं तपः कुर्वती त्वं श्रान्तासि, दया मे त्वय्युत्पन्ना। अहं स्वार्जितस्य तपसोऽर्द्धभागं ते दास्यामि, तेन तवाभिलाषः पूरयिष्यते। परं तु त्वदीप्सितं वरं पूर्वं ज्ञातुमिच्छामि—योग्यः स न वेति। योग्यवरप्राप्त्यर्थमेव मया त्वदर्थं तपोव्ययः क्रियेत इति। इयं भगवतः शिवस्य वरप्रदानपरा गूढोक्तिरिति विवरणकारो व्याचष्टे तथा हि—तपःशब्दो लक्षणया तपः-साधनभूतस्य शरीरस्य बोधकः, 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इत्युक्तत्वात्। शरीरस्य दिव्यत्वप्रतीतिलक्षणाप्रयोजनम्। तेन च ममापि—निर्गुणत्वेन, निरीहत्वेन, निराकारत्वेन च प्रसिद्धस्यापि, पूर्वश्रमसञ्चितम्—पूर्वम्, सर्गारम्भकाले, अश्रमेण—अनायासेन, मायामात्रेण संपादितम्, तपः शरीरम्, अस्ति, तदर्द्धभागेन काङ्क्षितम् लभस्व—तस्य समांशमर्द्धं लब्ध्वा पूर्णमनोरथा भव, शरीरार्द्धं ते ददामि परं वरं त्वदीप्सितम्, साधु—मया करिष्यमाणस्य पूर्वपक्षस्य निराकरणपूर्वकं वेदितुमिच्छामि, अयि त्वद्भावदार्ढ्यं जिज्ञासे इति।

५१.

प्रष्टा पूर्वं द्विजन्मा—ब्राह्मणः इति, तदुत्तरं दातव्यमेव, वाचोयुक्त्या च हृदयं तेन वशीकृतम्, तेनाप्युत्तरदानमावश्यकम्। परं तथापि लज्जया पार्वती स्वयं

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुराऽवलोकिनः।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः॥ ४९॥
कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि! विद्यते ममाऽपि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः।
तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम्॥ ५०॥
इति प्रविश्याऽभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तिताऽनञ्जननेत्रमैक्षत॥ ५१॥

स्ववरं कथयितुमशक्ताभूत् । वक्तव्यावश्यकतां तु विचार्य सखीमुखं पश्यन्ती तामुत्तरं दातुं प्रेरयामासेव । नेत्रमभिमुखीकृत्य नेत्रस्यानञ्जनत्वं सखीं प्रति द्योतयन्ती 'अनञ्जनत्वकारणीभूता व्यथा त्वया वेदयितव्या' इति व्यञ्जितवती । सखी नित्यं पार्श्वस्थितिशीलेति तस्या हृदयं विजानाति, सा सर्वं वक्तुं क्षमेति ताच्छील्यार्थो णिनिर्व्यनक्ति ।

५२.

पार्वत्या दृष्टिपातेन प्रेरिता सखी ब्रह्मचारिणं प्रत्युक्तवती । साधो ! स्वकीयार्धतपःप्रदानोद्यमेन परोपकृतिपरायणता तव प्रकटीकृता, परं नैवमस्मत्सख्या अभीप्सितं साध्यमस्ति, अतिदुष्प्रापं तत् । तथापि त्वादृशस्य कौतूहलनिवृत्तिः कर्तव्यैवेति कथयामि । यस्मै प्रयोजनाय तपस्यन्तीयमस्मत्सखी सुकुमारतरमिदं शरीरमतिकठिने शीतातपक्षुदादिसहनसाहसे तथा योजितवती, यथा कश्चित् कमलमातपनिवारणार्थं योजयेत्–तत्प्रयोजनं ते वच्मि ।

५३.

प्रयोजनमाह सखी 'वरार्थमेवास्यास्तपश्चरणम्' । वरास्तु इन्द्रादयो यद्यपि सुलभाः, उत्कृष्टा च तेषां दिगीशत्वश्रीरिति अन्यासां प्रार्थनीया अपि ते, तथाप्यभिमानवतीयमिन्द्राणीप्रभृतिभ्यः उत्कर्षमिच्छन्ती न तानाद्रियते । यं तु सर्वेभ्य उत्कृष्टं पिनाकधारिणमियं पतित्वेनाप्तुमिच्छति, स न सौन्दर्येण वशीकर्तुं शक्यः—यतस्तेनास्याः समक्षमेव स्वयं धनुर्धरः कामो निगृहीतः । तस्मात्तपश्चरणमेव तत्प्राप्त्युपाय इति निश्चितम् । पिनाकपाणिमिति पदं वीरतामावेदयदभिलाषयोग्यतां तत्र व्यनक्ति । मानिनीनां वीरकामनायाः स्वभावसिद्धत्वात् ।

५४.

कामेन यदा बाणः शिवं वशीकर्तुं विसृष्टः, तदा शिवेन कामो दग्धः, बाणश्च तस्य हुङ्कारेण निवर्तितः । मृतस्यापि कामस्य स बाणः शिवानुगतहृदयामिमां पार्वतीमबलां मत्वातितरां हृदये पीडयति स्म ।

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो ! तव चेत्कुतूहलम् ।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपःसाधनमेतया वपुः ॥ ५२ ॥

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥ ५३ ॥

असह्यहुङ्कारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥ ५४ ॥

५५.

कामबाणेन यदा हृदि विद्धा, तत एवारभ्य मदनकृतस्तापोऽस्याः परां वृद्धिं गतः। येन हिमालयेपि हिमशिलास्वपि लुठन्त्या न तापशान्तिरभूत्। तापशान्तये च यच्चन्दनमियं सर्वस्मिन् ललाटे लिम्पति स्म, तत् क्षणादेव शुष्कं ललाटाद्विश्लिष्य लुठन्त्या अस्या विकीर्णानलकान् धूसरयति स्म। 'पितुर्गृहे' इत्युक्त्या हिमालयेऽपि एवं ताप इति तापोत्कर्षो व्यञ्जितः', इति विवरणकारः। 'पितुर्गृहे' विरहतापस्यात्यन्तगोपनार्हत्वेपि ताप एवं प्रकटोऽभूद्—इत्युत्कटता व्यज्यत इति तु वयम्।

५६.

इयं हि शिवेऽनुरक्ता शिवकीर्तनश्रवणव्यसनाद्वनान्ते गच्छति स्म। तत्र च यदा किन्नरकन्यकाः शिवचरितं गातुमारभन्ते स्म, तदा ताभिः सह गातुमुपक्रममाणापीयं शिवस्मरणोद्बोधितविरहजनितेन कण्ठगद्गदत्वेन स्पष्टं पदान्युच्चारयितुमशक्नुवती तथा वैकल्यं प्राप्नोति स्म, यथास्या दशां दृष्ट्वा सखीभूतास्ताः किन्नरराजकन्यका अपि रुदन्ति स्म।

५७.

निशास्वनया निद्रा न लभ्यते स्म। रात्रेर्भागद्वयं विनिद्रमेव गमयित्वा तृतीयभागे कथंचिन्नेत्रनिमीलनमात्रं निद्राभासं प्राप्नोत्। तत्र चाल्पतमनिद्रायां कथंचिज्जागरणम्, कथंचिच्च स्वप्न इति स्वप्नजागरयोः सङ्करदशायां स्वप्ने शिवं दृष्ट्वा तमुपगूहमाना जागरप्रत्यक्षवद् बाहू प्रसारयन्ती, तं च तत्रापि पलायमानं दृष्ट्वा "नीलकण्ठ (विषभक्षणेनापि जगद्-दुःखहरोऽसि, किमिति मां दुःखयसि) क्व व्रजसि" इति ब्रुवती पलायनजनितात् त्रासाज्जागर्ति स्म। जागरिता चापश्यत्, यन्मम वागपि निर्विषया, संबोध्यस्य शिवस्यासन्निधानात्। बाहू चापि परिरम्भार्थमुन्मुक्तौ कल्पनामात्रनिर्मितं एव कण्ठे सक्तौ, न तु वास्तव इति।

५८.

स्वप्न-चित्र-सादृश्यदर्शनानि विरहिणां विनोदस्थानानि, तत्र स्वप्नदर्शनेना-

---

तदा प्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसराऽलका।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसङ्घातशिलातलेष्वपि॥ ५५॥
उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम्।
अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनाऽन्तसङ्गीतसखीररोदयत्॥ ५६॥
त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ! व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठाऽर्पितबाहुबन्धना॥ ५७॥
यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम्।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः॥ ५८॥

तृप्तिरुक्ता । चित्रदर्शनमप्युच्यते—'इयं पार्वती कथंचिच्छिवरूपं द्रष्टुमुत्कण्ठिता स्वहस्तेनैव शिवं चित्रे लिखति स्म । तद्दर्शनोद्बुद्धविरहविमुग्धा च 'चित्रमिदम्' इति विस्मरन्ती प्रत्यक्षवत्तमुपालभते स्म—यत् 'पण्डितैः सर्वान्तर्यामितया उपदिश्यमानोऽपि कथं मदनुरागं न वेत्थि । जानानोऽप्युपेक्षसे—इत्याहो ते निर्दयता !' इति । अयं चास्या व्यापारो लज्जयैकान्ते प्रवृत्तोऽपि सखीभिः कथंचिद् दृष्ट इति ।

५९.

अति तीव्रविरहेण संतप्तया उपायं विवेचयन्त्याऽनया यदान्य उपायो न दृष्टस्तदा पितुराज्ञां गृहीत्वा तपः कर्तुमियमत्रागता । स्त्रिया एकाकिन्या निवासस्यानुचितत्वाद्वयमेतत्सख्य एतया सहैवात्रागताः । जगत्पतिर्हि भगवान् शङ्करो न तपोऽतिरिक्तोपायसाध्यः स्यात् ।

६०.

तपस्यन्त्या अस्माकं सख्याः पार्वत्या इयान् समयो व्यतीतः, यदनयाऽत्रागतया स्वहस्तेन उप्तबीजाः सिक्ताश्च वृक्षा अपि फलवन्तो जाताः, किन्तु अस्या मनोरथबीजमद्यापि बीजावस्थमेव, न बीजाङ्कुरोत्पत्तिकालिकी उच्छूनावस्थापि तत्र दृश्यते । सिद्धेः किमपि लक्षणमद्यावधि न दृष्टमिति ।

६१.

सखी वक्ति—'वर्णिन्' ! यत्त्वयोक्तम्, कः प्रार्थितदुर्लभो भविष्यति' इति स एष प्रार्थितदुर्लभः शिवः, तदर्थमेव तपस्यन्तीयमीदृशीं दशां गता, यत्सख्यो वयमेतस्या दशां विचार्य निरन्तरमश्रूणि मुञ्चामः अश्रूणामन्तराले च कथंचिदेतस्या दशां प्रेक्षामहे । वृष्टिप्रतिबन्धेन यथा लाङ्गलक्षता भूमिः शोच्या भवेत्, तथेयमस्माकं शोच्या, (स्वयं त्वियं न शोचति, वयमेवैतदर्थं विषण्णाः, कृषकाः भूम्यर्थमिव) यथेन्द्रस्तत्तस्यां भुवि कृपां कृत्वा वर्षति, तथा कदा स देवः कृपां करिष्यतीति न ज्ञायते :

यदा च तस्याऽधिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।
तदा सहाऽस्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥ ५९ ॥

द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि ॥
न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः ॥ ६० ॥

न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् ।
तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम् ॥ ६१ ॥

६२.

पार्वतीप्रेरितया हृद्गतं भावं जानन्त्या सख्या सर्वं यथार्थमावेदितम्। तच्च श्रुत्वा भगवतः शिवस्य हर्ष उत्पन्नः, परं स्वरूपं गोपयितुं न हर्षचिह्नानि रोमोद्गमादीनि तेन प्रकटितानि। प्रत्युत विपरीतं पार्वतीं प्रति एवं पृष्टम् 'अयि पार्वति! त्वत्सखी सत्यं ब्रवीति, उत सखीभावात्परिहासं करोति" इति। स्वयं पार्वतीमुखादाकर्णयितुमग्रे विपक्षीभूय परीक्षितुं सेयं कपटरचना।

६३.

आवश्यकं वर्णिप्रश्नस्य तद्गौरवरक्षणायोत्तरणम्, लज्जा च निरुणद्धि, इत्यसामञ्जस्ये चिरं स्थित्वा पार्वती, अन्ततः कथंचिदतिसंक्षेपेणोत्तरदाने प्रवृत्ता। सा जपं कुर्वाणासीत्, जपमध्ये चानुचितं भाषणमिति जपविरामाय स्फटिकनिर्मिता जपमाला तया हस्ताग्रभागे निश्चलीकृत्य स्थापिता। जपकाले च मध्यमामध्यभागे धृताया मालाया अङ्गुष्ठेन चालनम्, तर्जनी च पृथग् विवृता स्थाप्यत इति अङ्गुलयो विवृता भवन्ति, जपविरामे संकोच्य ता मुकुलीकृताः।

६४.

वर्णिना यत् 'किं परिहासोऽयम्' इति पृष्टम्—तत्र पार्वत्या एवं बुद्धिरुदभूद् यच्छिवपत्नीत्वं दुष्प्रापं मत्वायमेवाहेति। तदनुसारेणैवोत्तरयति सा 'वेदविद्वर! त्वया सखीमुखाच्छ्रुतं यथार्थमेव, तादृशदुष्प्रापोन्नतस्थानप्राप्तौ मदभिलाषो वर्तत एव। इदं चातितुच्छं तपोऽहं तत्प्राप्तिसाधनं वृथैव मन्ये इति बालिशता मे। तथापि किं करवाणि, मनोरथाः समीक्ष्य न प्रवर्तन्ते—इति मनोरथस्यैवायं दोषो न ममेति।

६५.

पार्वतीमुखात्कपटवटुना शिवेन स्वानुरागो यद्यपि श्रुतः, तथापि भूयोऽपि दार्ढ्यपरीक्षार्थम् 'क्रुद्धसुप्तमत्तानां भावज्ञानम्' इति नीतिवचनात् क्रोधदशायां मुख्यभावपरीक्षायाः सौलभ्यं पश्यन् कोपदशायां जातिमधुरान् पार्वतीमुखविकारान्

अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया।
अयीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः ॥ ६२ ॥

अथाऽग्रहस्ते मुकुलीकृताऽङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाऽक्षमालिकाम्।
कथञ्चिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥ ६३ ॥

यथा श्रुतं वेदविदां वर! त्वया जनोऽयमुच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ ६४ ॥

अथाऽऽह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे।
अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं तवाऽनुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे ॥ ६५ ॥

द्रष्टुकामस्तां कोपयितुं स्वं (शिवं) निन्दितुमुपचक्रमे। यद्यपि मया पूर्वम् अर्द्धतपःप्रदानं तुभ्यं प्रतिश्रुतम्, परमिममयोग्याभिनिवेशं ते विलोक्य वाङ्-मात्रेणापि तवानुवर्तनमनुमतिरूपं न कर्तुं शक्नोमि, दूरे तु तपःप्रदानम्'। स्पष्टमन्यत्।

६६.

पूर्वमुक्तममङ्गलाभ्यासं प्रपञ्चयति–अग्रे निर्वाहस्तु दूरे आस्ताम्, विवाहकाल एव पाणिग्रहणसमये यदा शिवस्तु धृतमङ्गलसूत्रं पाणिं स्वकरेण ग्रहीष्यति, तदा तत्करे सर्पं भूषणत्वेन स्थितं दृष्ट्वा भीत्या एव करो निवर्तिष्यत इति पाणिग्रहणमेव न सम्पद्येत। क्व त्वं कृतविवाहमङ्गलवेषा सुकुमारतरा बाला, क्व च सर्पभूषणः शिव इति वैषम्यमत्र प्रकटितम्। तत्प्रथमावलम्बनपदेन च विशेषेणासहत्वमुक्तम्। अग्रे अभ्यासात्करस्तत्करस्पर्शं सहेतापि, प्रथममेव तु कथं सहेत इति।

६७.

हे गौरि! अन्यस्य कस्यचित्कथनमुपदेशो वा दूरे आस्ताम्, नास्ति तस्या-वश्यकता, त्वमेव स्वयं विचारय। विवाहकाले ग्रन्थिबन्धो यदा स्यात् तदा त्वया धृतं तादृशं महार्हं पट्टवस्त्रम्—यत्र गोरोचनया प्रान्तभागे हंसद्वयं लिखितं स्यात्, महादेवेन च धृतं नवं गजाजिनं यस्मान्नवतया शोणितबिन्दवः क्षरन्तः स्युः, तयोः परस्परं ग्रन्थिः क्रियेत। किमियं घटना समुचिता स्यात्? किं तयोर्योगः शोभेत? आस्तां तव शिवस्य च योगे औचित्यविचारः युवाभ्याम् परिहितयोर्वस्त्रयोरेव योगो न तावद् घटते इति।

६८.

अनन्तरं च यदा त्वं भर्तृगृहे गमिष्यसि, तदा शिवस्य श्मशानवासित्वात्त्वयापि भर्त्रा सह श्मशान एव स्थितिर्भविष्यति। ततश्च ययोस्तव पादयोः पितृगृहे मङ्गल-मयेषु गृहेषु विकीर्णपुष्पेषु सञ्चरणम्, तस्यैव च तौ समुचितौ, तायोरितस्ततः प्रक्षिप्तशवकेशासु श्मशानभूमिषु सञ्चारो भविष्यति। तत्रैव च पादन्यस्तालक्तकर-सगर्भाणि पदचिह्नानि ते लक्ष्येरन्। तव शत्रुरपि (यो निन्दितोऽपि स्यात्, सोऽपि) घटनामिमां नानुज्ञातुमर्हति, कथन्तु मादृशो बन्धुरनुजानीयात्।

अवस्तुनिर्बन्धपरे! कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः।
करेण शम्भोर्वलयीकृताऽहिना सहिष्यते तत्प्रथमाऽवलम्बनम् ॥ ६६ ॥
त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाऽजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥ ६७ ॥
चतुष्कपुष्पप्रकराऽवकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवाऽनुमन्यते।
अलक्तकाऽङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥ ६८ ॥

६९.

यदा समागमनकाले महादेवस्त्वामालिङ्गिष्यति, तदा तद्वक्षसि स्थितम् (तदेव तत्र सुलभं नान्यत्किमपि चन्दनादिकम्) चिताभस्मरूपमनुलेपनं त्वय्यप्यस्मिंस्त्रिलोकीसौन्दर्यनिधाने कुचद्वन्द्वलग्नं स्यात्। यस्मिन् स्तनद्वन्द्वे चन्दनकुङ्कुमादीनां विलेपनमुचितम्, तत्र तादृशस्यामङ्गलस्य पदार्थस्य संस्पर्श इति; इतः परं किं जगत्यनुचितं सम्भाव्यते।

७०.

आस्तां शिवगृहगमने सति पूर्वोक्तः श्मशानवासभस्मसंसर्गयोः प्रसङ्गः, ततः पूर्वमेवैकं वक्तुं मया विस्मृतम्, यच्छिवस्य नान्यानि वाहनानि सन्ति, विवाहोत्तरं स स्वीयं वृद्धं वृषभमारोप्य त्वां नेष्यति। या परमसुन्दरी राजकुमारी त्वमुत्कृष्टकरिणीमारोढुं योग्या, सा वृषभारूढेति व्यतिक्रमं दृष्ट्वा लोकानामाश्चर्यमवज्ञा च स्यात्, तेन ते हसिष्यन्ति, इत्थं तव विडम्बना प्रसज्येत। वारणराजेति राजपदम्, वृद्धेत्युक्षविशेषणं चात्यन्तवैलक्षण्यबोधनाय। वृद्धो वृषो द्वाभ्यामारूढो न जाने कदा प्राणान् जह्यात्, तदा पादचारस्यैव प्रसङ्गः स्याद्' इति चाकूतम्।

७१.

अतिप्रशस्तकान्तिः सुकुमारतरा चन्द्रकलैव पूर्वं कपालधारिणो भूतेशस्य शिरोगतत्वेन शोचनीयाऽभूत्। इदानीन्तु त्वमपि तत्समागमार्थिनीति जगति द्वयं शोचनीयतां प्राप्तम्, अपकृष्टाश्रितं ह्युत्तमं वस्तु शोच्यं भवतीति।

७२.

'कन्या कामयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः' इति नीत्युक्तदिशा रूपं धनं, विद्या, कुलं चेति चतुष्टयं परीक्ष्य वरा विवाहार्थं व्रियन्ते। पार्वति! त्वया वरीतुमिष्टे त्रिलोचने तु एकैकमपि नास्ति, कुतश्चतुष्टयं स्यात्। तस्य नामैव विरूपाक्षः—तेन सौन्दर्यं दूरे निरस्तम्।

अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रवक्षः सुलभं तवाऽपि यत्।
स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पदं चिताभस्मरजः करिष्यति॥ ६९॥
इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति॥ ७०॥
द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥ ७१॥
वपुर्विरूपाऽक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाऽक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥ ७२॥

(त्वं तु बालमृगाक्षी, स च विरूपाक्षः इति कुत्र द्वयोरनुरूपता) कुत्र कदा कस्माज्जातोऽयमिति न केनापि विज्ञायते। यस्य पिताप्यविदितः, तस्य कुलसम्बन्धे किमु वक्तव्यम्। उत्पत्तिकालज्ञानाभावेनातिवृद्धत्वं सूचितं भवति, तदपि वर-विरुद्धम्। उत्पत्तिदेशकुलयोरज्ञाने च विद्यापि कथं संभवेत्। प्रशस्ताभिजनाः प्रशस्तकुला एव च विद्वांसो दृश्यन्ते। धनस्य तु इयमवस्था, यदाच्छादनार्थं वस्त्रमपि नास्ति, अत एव दिगम्बर इत्युच्यते। 'त्रिलोचने' इत्युक्त्या च लक्षण-हीनत्वं सूचितम्, 'हानिवदाधिक्यमप्यङ्गानां विकारः' इति सामुद्रिकोक्तेः। ततश्च कथमीदृशेन भवादृश्याः सम्बन्धो योग्यः स्यात्।

७३.

मम युक्तियुक्तानि वाक्यानि विचार्य, अज्ञानात्परिणाममज्ञात्वा योऽभिला-षस्त्वया कृतस्तं परित्यज। दृष्टान्तेनानौचित्यं प्रकाशयन्नाह—यथा श्मशाननिखाते वध्यशङ्कौ वैदिकसत्क्रियासम्बन्धो न घटते, तथा शिवेऽपि तव सम्बन्धो न घटत एव। वैदिकी सत्क्रिया यथा अलौकिकी, तथा त्वमप्यलौकिकीति तत्प्रशंसायां तात्पर्यम्।

७४.

ब्राह्मणमुखादेवं शिवनिन्दां श्रुत्वा पार्वत्याः कोप उदभूत्। तेन तस्या अधरोष्ठः कम्पमान आसीत्, नेत्रे च प्रान्तभागे रक्ततां गते। अथ सा तन्मुखाद् दृष्टिं परावर्त्य कुटिलां भ्रुवं कृत्वा पार्श्वभागे दृष्टिं चिक्षेप। कोपावज्ञयोर्लक्षणान्यत्राभिहि-तानि। 'द्विजातौ' पदेन तस्य शापाद्ययोग्यता प्रतिपादिता। यद्यन्योऽभविष्यत्, पार्वती तीव्रदृष्टिक्षेपेण तं भस्मसादकरिष्यत्। परं ब्राह्मणे न योग्यो निग्रह इति दृष्टिं तिर्यक् क्षिप्त्वावज्ञैव कृता।

७५.

कोपचिह्नप्रकटनानन्तरं पार्वती श्रुतायाः शिवनिन्दायाः, पापपरिहाराय परिहारोऽवश्यं वक्तव्यः इति विचिन्त्य ब्रह्मचारिणं प्रत्युत्तरं वक्तुमारभत। (तेन च कपटवटोः रसिकशिरोमणेः शिवस्य न केवलं कोपाक्रान्ततन्मुखदर्शनेन चक्षुषोरेव लाभः, अपि तु स्वानुरागवचनश्रवणेन श्रोत्राप्यायनमपीति समुच्चयेन

निवर्तयाऽस्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया॥ ७३॥
इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाऽधरलक्ष्यकोपया।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते॥ ७४॥
उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥ ७५॥

सूचितम्)। तदुक्तस्य क्रमेण संक्षेपेण परिहारः पार्वत्या वक्तव्यः। अत्र 'विदितो महेश्वरः' इति तदुक्तिरेव प्रथमं निराक्रियते, यत् त्वं 'महेश्वरं न जानासि' इति तदुक्त्या निन्दयैवानुमीयते। अलौकिका हि महात्मानो न लोकसाधारणमाचरन्ति, तेषां च विलक्षणाचारे को हेतुरित्यपि सर्वैर्न ज्ञायते। तत एवाज्ञानान्मूढास्तच्चरितानि दूषयितुं प्रवर्तन्ते। तन्माहात्म्यविज्ञास्तु भविष्यति कश्चिदत्र हेतुरिति संतुष्यन्ति। त्वं निन्दायां प्रवृत्तः, तस्मान्न जानासीत्येव स्पष्टमनुमीयत इति।

७६.

"अमङ्गलाभ्यासरतिम्" इति विप्रोक्तं दूषणं परिहरति यदापन्निवारणाय शुभप्राप्तये वा लोकानां मङ्गले प्रवृत्तिर्भवति। यस्य तु नापत्सम्भावना, न वा शुभाप्राप्त्यभिलाषः (जगच्छरण्यस्येति आपत्सम्भवाभाव उक्तः, निराशिष इत्याप्तकामत्वादभिलाषाभावः) तेन किमिति मङ्गलं सेव्यम्, स मङ्गलमभ्यस्यतु, अमङ्गलं वा, कस्तस्य विशेष इति। एतेन पूर्वोक्तो लोकसामान्याभावः समर्थितः। तथा च तादृशो निरापत्प्राप्तसर्वकामश्च युक्तो ममाभिलषणीयो वर इत्युक्तं भवति।

७७.

न केवलं त्वमेव शिवं न जानासि, अपि तु लोके केऽपि विद्वांसः शिवस्य तत्त्वं ज्ञातुं न प्रभवन्ति। अज्ञेयं हि तत्स्वरूपम् "विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्" इत्याद्याभिः श्रुतिभिर्निरूपितम्। सर्वे च परस्परं विरुद्धा अपि धर्मा निर्धर्मके तस्मिन् मायया समारोपिताः, तदुक्तं भगवता व्यासेन 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' (वे॰ सू॰) इति। ततश्च विरुद्धधर्माश्रयं कः कथं ज्ञातुं प्रभवेत्। तदेवात्र प्रपञ्चितम्—यत्त्वयं स भवतु नामाकिञ्चनो वस्त्रविभूषणोत्तमवाहनादिरहितः, तथापि सर्वाः संपदस्तत एवेन्द्रादिभिः प्राप्यन्ते। "सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहिताम्, न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति" इति भगवतः पुष्पदन्तस्योक्तिरनेनानुगता वेदितव्या। तथैव भवतु नाम श्मशानवासी, तथापि लोकत्रयस्य शास्ता, श्मशानस्थित्यापि न लोकशासने किमपि हीयते। अस्तु नाम स भुजगभूषण इति भीमरूपः, तथापि लोकास्तं 'शिवः' इत्येव व्यवहरन्ति। न हि तदनुगता भुजगा अपि भीषणतां भजन्त इति। एतेन 'अवस्तुनिर्बन्धपरे' 'दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु' इत्यादि परिहृतम्। यद्वा वस्तुतोऽकिञ्चनः—सर्वधर्मरहितः, मायाविशिष्टस्तु संपदाम्—सर्वरूपाणां प्रभवः, वस्तुतः पितृसद्मनि—सर्वलोकान्तकरे

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः॥ ७६॥
अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः॥ ७७॥

श्मशाने, सर्वस्यापि दृश्यमानस्याभावे तुरीयावस्थायां विराजमानः, मायया तु लोकत्रयमुत्पाद्य तदीश्वरोऽपि, मायया सर्वं जगच्छासद् भयप्रद इति भीमः, वस्तुतस्तु शिव एव, 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति प्रतिपादितः। एवं मायाविरहितस्य, मायाशबलस्य चेति रूपद्वयस्य कीर्तनेन सर्वमविरोधेनोपपादितम्। एवंविधः महेश्वरो यो ज्ञातुमपि लोकैर्न शक्यते, स यदि पतिभावेन सेवितुं लभ्यते, तदा किमु वक्तव्यं, सौभाग्यमिति। पिनाकिन इत्युक्त्या पिनाकधारितया सर्वेऽपि तस्माद्बिभ्यति, ततस्तं दृष्ट्वापि तत्स्वरूपं ज्ञातुं न शक्यते इति व्यञ्जितम्।

७८.

वर्णिन्! ये त्वया सर्पगजाजिनादिधारणाङ्गवैरूप्यादयो दोषा भगवति शिवे प्रतिपादिताः, ते अज्ञानहेतुका एव। निर्गुणस्य निराकारस्य भगवतो वास्तव आकार एव न भवतीति कथं कश्चित्तस्य मूर्तिमवधारयेत्। मायया तु स भगवान् विश्वमूर्तिः, सर्वं जगत्तस्यैव रूपम्। ततश्च जगद्रूपेण स्थितस्य कथमेकरूपेण परिच्छेदः संभवेत्। यानि रूपाणि, यानि वा भूषणादीनि जगत्युपलभ्यन्ते, सर्वाणि तानि तस्यैव। यदि अङ्गेषु सर्पबन्धनम्, गजाजिनपरिधानम्, कपालधारणं वा तस्य लोकदृष्ट्या निन्द्यन्ते, तर्हि विभूषणशोभितम्, दुकूलपरिधानम्, चन्द्रशेखरता चेति प्रशस्यन्तामपि। यदि स पिनद्धभोगी, तर्हि विभूषणोद्भासी कोऽन्यः, तदपि रूपं तस्यैवेति भावः। यद्वा एकेनैव रूपेणैश्वर्यवशात्सर्वविधः स्वेच्छया स भवितुमर्हति; न हि तस्य कापि परतन्त्रता, यतो विश्वमूर्तिः स एवेति। 'पिनद्धभोगि' इति पिनद्धपदं जगत्युपद्रवकारिणां सर्पाणां स्वेऽङ्गे बन्धनं बोधयन्तीकरुणापरतां भगवतो व्यनक्ति। ततश्च यस्तत्तद्वस्तूनां स्वीकारो दृश्यते, सोऽपि जगद्धितायैव, न ह्याप्तकामस्य तस्य पदार्थापेक्षेति निगूढं बोधितम्।

७९.

यच्च 'अयुक्तरूपं किमतः परम्' इत्याद्युक्तम्—तत्रोच्यते, अन्यत्र चिताभस्म अमङ्गमपवित्रं च भवतु, शिवशरीरे धृतं तु तदन्यस्यापि पवित्रतासंपादकं भवति। अत एव नृत्यकाले हस्ताद्यङ्गव्यापारेण ये तस्य कणा भूमौ पतन्ति, तान् देवास्तस्यां भूमौ पतित्वा शिरोभिर्धारयन्ति। यदि तद्विशुद्धिकरं न स्यात्, कुतो देवास्तद्धारणे प्रयतेरन्।

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाऽजिनालम्बि दुकूलधारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥ ७८ ॥
तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजो विशुद्धये।
तथाहि नृत्याऽभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥ ७९ ॥

८०.

वर्णिन् ! शिवो वृषभमारुह्य गच्छतीति सत्यम् , किन्तु सर्वोत्तममैरावतमारुह्य गच्छन् (तव दृष्ट्या परो महान्) इन्द्रः, यदैव वृषभारूढं तं पश्यति, तदैव ऐरावतादवरुह्य, समीपमागम्य तस्य पादयो प्रणमन् , स्वीयमुकुटस्थितानां मन्दार-कुसुमानां रजोभिस्तस्य पादाङ्गुली रञ्जयति। तथा च न तस्य वृषभारोहणं वाहनान्तराप्राप्त्या, अपि तु 'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति', इति शिक्षयितुमेव, वृषभारोहणेन च का तस्य क्षतिः, स वृषभारूढोऽपि जगदीश्वर एव, इन्द्रादयश्च गजारूढा अपि तद्भृत्या एव। तेन सह वृषभारोहणं मदीयं परं सौभाग्यम् , न तु 'इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना' इत्यादि त्वदुक्तं युक्तमिति।

८१.

वर्णिन ! यद्यपि त्वं नष्टबुद्धित्वाद्भगवतः शिवस्य दोषानेव वक्तुं प्रवृत्तः, तथापि तव बुद्धेरस्थिरत्वादेकं वाक्यं भगवतो महत्त्वप्रतिपादकं सम्यगेव त्वन्मुखा-न्निःसृतम् , यत्त्वयोक्तम् 'अलक्ष्यजन्मता' इति, तत्तथैव, 'यो वै ब्राह्मणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादीनि श्रुतिवाक्यानि जगत्स्रष्टारमात्मभुवं ब्रह्माणमपीश्वरः शङ्कर उत्पादयतीति निरूपयन्ति, तस्यैतस्य जगदीश्वरस्योत्पत्तिं को वा लक्षयेत्। उत्पत्ति-स्तस्य नित्यस्य नास्त्येव, लक्षिता कथं स्यादिति।

८२.

वर्णिन् ! नाहं त्वया विवादं कर्तुमिच्छामि, कण्ठशोषफले विवादे प्रेक्षावताम् , विशेषतस्तपस्विनामप्रवृत्तेः। त्वं तावदाग्रहपरो दृश्यसे, अतो यथा तव शिवविषये ज्ञानम् तत् त्वं सत्यमेव मत्वा धारय। न त्वहं त्वद्वचनाच्छिवे विरक्ता भविष्यामि, यतो मम मनो भगवति शिवे भक्त्या परमनुरक्तं सुस्थिरं वर्तते, दोषशतज्ञानेऽपि न तच्च्यावयितुं शक्यम् इति।

८३.

एवं वर्णिनं प्रत्युक्त्वा पुनरोष्ठस्फुरणेन तस्य किमपि वक्तुमिच्छामवधार्य

असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोऽरुणाङ्गुली ॥ ८० ॥
विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥ ८१ ॥
अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममाऽत्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ ८२ ॥
निवार्यतामालि ! किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराऽधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥ ८३ ॥

वादप्रतिवादावनिच्छन्ती पर्वती सखीं प्रत्युवाच-सखि ! अयं वटुः पुनः किमपि वक्तुमिच्छतीत्यनुमीयते, सोऽयं वार्यताम् । नाहं भगवतः शिवस्य निन्दां श्रुत्वा पापपङ्कनिमग्ना भवितुमिच्छामि इति ।

८४.

पार्वती पुनरुवाच 'चपलो वाचालश्चायं वटुर्न विरंस्यति, न वा निर्गमिष्यति, तस्मादहमेवस्थानान्तरं गमिष्यामि ।

'गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥

इति स्मृत्या स्थानान्निर्गमस्य विहितत्वात् । इत्थं वदन्ती च सा उत्थाय गन्तुमारेभे । वेगेनोत्तिष्ठन्त्यास्तस्या वल्कलवस्त्रं स्तनप्रदेशात्प्रच्युतमभूत् । (तेन शङ्करस्य स्तनदर्शनलालसापूर्तिरपि सूचिता) तमेवं कोपेन निर्गच्छन्तीं दृष्ट्वा शङ्करेण स्वयं रूपं प्रकटितम् , (वृषभध्वजत्वोक्त्या परिजनपरिच्छदादिसान्निध्यमपि सूचितमिति प्रकाशिकाकार आह) स्मितं च कृतम् (तेनोक्तस्य सर्वस्य परिहास-रूपता सूचिता) गच्छन्ती च पार्वती वसने धृत्वा निवारिता ।

८५.

अकस्मात् प्रियतमस्य शिवस्य दर्शनेन लज्जाहर्षप्रेमजन्यपरवशायाः पार्वत्याः शरीरे कम्प-स्वेद-स्तम्भाद्याः सात्त्विकभावाः प्रादुरभूवन् । स्तब्धा च सा दर्शनात्पूर्वं गमनाय यथोद्धृतपदा आसीत् , तथैवावस्थिता न तत्पदं तयाग्रे निहितम् , न च गमननिवृत्तिनिश्चयेन यथास्थानम् स्थापितम् । तत्रोपमाभिधीयते कविकुलगुरुणा–यथा प्रवहन्त्या नद्या मार्गे क्वचित्पर्वत आपतेत् , सा च नदी पर्वतेन निरुद्धाऽग्रे गन्तुमशक्ता स्यात् , प्रवाहवशाच्च स्थातुमप्यशक्तेति तत्रैव भ्राम्येत् , तथैव पार्वत्याः स्थितिस्तदानीमभूदिति ।

८६.

स्तब्धां पार्वतीं विलोक्य भगवता शङ्करेणोक्तम् 'सुन्दरि ! अद्यारभ्याहं ते

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला ।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः ॥ ८४ ॥

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाऽङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराऽऽकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥८५॥

अद्य प्रभृत्यवनताऽङ्गि ! तवाऽस्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥८६॥

दास इव संवृत्तोऽस्मि। यथा दासो द्रव्येण क्रीयते तथाहं त्वया तपसा क्रीतोऽस्मि, इति। (अद्य प्रभृति—इति आरम्भावधिरुक्तः, अवसानावधिस्तु नोक्त इति निरवधि दासत्वं व्यञ्जितम्) एतदभीप्सितं वचनं श्रुत्वा परं हर्षं प्राप्तायाः पार्वत्याः सर्वोऽपि तपः क्लेशस्तदैव दूरीबभूव। यतो हि प्राप्ते फले उपाये जातः क्लेशो न दुःखयति, प्रत्युत पूर्ववदेव नवीनताम् (क्लेशप्राप्तेः पूर्वामवस्थाम्) प्रापयतीति।

इति कुमारसम्भवे पञ्चमः सर्गः।

किरातार्जुनीयस्य द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

महाभारतकथास्य महाकाव्यस्याधारः। किरातरूपधारिणा शिवेन सहार्जुनस्य युद्धम्, तदनु ततोऽर्जुनस्य वरप्राप्तिश्चात्र मुख्यं वर्णनीयम्। किरातार्जुनावधिकृत्य कृतं काव्यं किरातार्जुनीयमिति काव्यनामव्युत्पत्तिः। द्यूतनिर्जितेन भ्रातृभिर्द्रौपद्या च समं वने निवसता ज्येष्ठपाण्डवेन युधिष्ठिरेण दुर्योधनस्य राज्यशासननीतिपरिज्ञानाय गुप्तचररूपेण कश्चिद्वनेचरो राजधानीं प्रति प्रेषितः तेनागत्य दुर्योधनस्य शासननीतेरतिप्रशंसा कृता। अथ युधिष्ठिरेण तस्मिन् वृत्ते भ्रातृणां द्रौपद्याश्च सविधे वर्णिते, द्रौपदी "क्रमेण प्रबलीभवन्तः शत्रवः शीघ्रमेव जेतव्याः, न त्वेवमुपेक्ष्याः" इति युधिष्ठिरमुत्तेजितवती। तदिदं प्रथम सर्गे गतम्। अनन्तरं वृत्तमिदमुच्यते—

१.

भीमसेनो द्रौपद्या वचनं स्वमनोऽनुकूलं सारयुक्तं च बुद्ध्वा राज्ञः प्रवृत्तये स्वयमपि तत्समर्थनाय प्रबला युक्तीरालम्ब्य वक्तुमारेभे। बलप्रयोग एव विधेय इत्येवास्यापि पक्षः। नृपमित्यनेन युधिष्ठिरो न कश्चिद्वीतरागः, अपि तु क्षत्रियवंशज इति भवत्यस्य परामर्शस्य पात्रमिति द्योतितम्।

२.

भीमो वक्ति, हे राजन् द्रौपद्याः क्षत्रियकुलाभिमानः प्रोज्ज्वलं जागर्ति, अस्मासु च महांस्तस्याः स्नेहः। ततश्च स्नेहपूर्वकं निपुणं स्वपक्ष-परपक्षसम्बन्धि सर्वं विविच्य यत्तयोपन्यस्तम्, एतादृशं वचनं बृहस्पतिरपि कदाचिदेव वक्तुं शक्नुयात्। ततश्च स्त्रियोक्तमपि शास्त्रानुरोधि, तत्रापि च हितानुबन्धि इदं वचः कं जनं न विस्मापयेत ? अत्याश्चर्यस्थानमिदं वचनमिति वचनप्रशंसायां तात्पर्यम्।

विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम्।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः ॥ १ ॥
यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥ २ ॥

३.

यथातिगम्भीरेऽपि नदीह्रदादौ घट्टसाहाय्येन सर्वेऽपि प्रवेष्टुं शक्नुवन्ति, परं तत्रानुकूलघट्टनिर्माणं न सर्वैः सुकरम् । तथैव नीतिशास्त्रमपि ग्रन्थानधीत्य सामान्येन व्याख्यातुं बोद्धुं च बहवः शक्नुवन्ति, परन्तु प्राप्तेऽवसरे 'अत्रेदमित्थं कार्यम्' इति कार्यमार्गनिदर्शको नीतिरहस्यज्ञोऽनुकूलः प्रवक्ता सुतरां दुर्लभः । इयं तु द्रौपदी कार्यमार्गं निपुणमुपन्यस्यति स्मेति यत्सत्यमस्ति विस्मयस्थानम् ।

४.

हे राजन् ! इदं द्रौपदीवाक्यं यद्यप्यल्पम्, युद्धोपोद्बलकतया निरुत्साहाय पुंसे भयङ्करं च, तथापि परिणामोऽस्य हृद्यः, सारवत्तार्थं च वाक्यमिदम् । अत एव प्रारम्भे रोगिणो दुःखदमपि उत्तरकाले नैरोग्यबलादिजनकम्, स्वल्पपरिमाणमपि महाप्रभावशालि रसायनाद्यौषधम् यथा सर्वैराद्रियते, तथा गुणशालि गरीयो द्रौपदीवाक्यं ग्राह्यमेव ।

५.

हे राजन् ! त्वं गुणग्राही असि, अत एव हृद्यमर्थं प्रतिपादयद् द्रौपदीवचनमिदं सर्वथा तवापि रुचिकरं भवितुं युक्तम्, समुच्चयार्थेनापिशब्देन 'अस्माकन्तु रुचिकरमस्त्येव, भवतोऽपि भवेत्' इति बोध्यते । भारतीपदेन भरतवंशसम्बन्धोऽपि व्यञ्जित इति चित्रभानुः । गुणवदपीदं स्त्रियोक्तमिति नोपेक्षामर्हति । यतो गुणमात्रलोलुपाः पंडिताः 'इदं केनोक्तमित्यादि' वक्तृविशेषज्ञानाय न यतन्ते । गुणमात्रं स्वाददते "बालादपि सुभाषितम्" इति न्यायात् ।

६.

इदानीं भीमः स्वयमुपालभते—हे राजन्, लोकसंस्थितहेतूनामान्वीक्षिक्यादीनां चतसृणामपि विद्यानां निपुणमध्ययनेनाधिगता या ते बुद्धिः सदसतो सम्यग्

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः ।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ॥ ३ ॥
परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम् ।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥ ४ ॥
इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती ।
ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥ ५ ॥
चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरूढिमागता ।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥ ६ ॥

विवेचनं कर्तुमशक्नुत्, अथ सा कुतो वैपरीत्यं प्राप्ता ? यथा पङ्के निमग्ना करिणी आत्मानमुद्धर्तुमप्रभवन्ती निश्चेष्टा किंकर्तव्यविमूढा च सती खिद्यते, तथैव तव बुद्धिरपि खिन्ना किंकर्त्तव्यविमूढा तिष्ठति, कोऽत्र हेतुः ? नैतत्कथमपि युक्तमिति। नृपेतिसंबोधनेन मतिविपर्ययो बोधितः, त्वं नृपोऽसि, प्रजापालनं तव धर्मः, न तु वने वासस्तपो वा, तद् विपर्ययेण त्वं धर्मं पश्यसीति। ततश्च पङ्कपतिता करिणी यथा बलवत्तरेण करिणा शक्यत उद्धर्तुम्, तथा स्वमतिं बलमास्थाय समुद्धर, बलमाश्रयेति तात्पर्यम्।

७.

हे राजन्! राज्यबहिष्कृतो निराश्रयस्त्वं वनाद्वनमटसि। शत्रुभिरापादितामिमां गर्हणीयां दशामनुभवसि, परं नात्मोद्धाराय मनाक् पौरुषमवलम्बसे। तेन च सुरा अपि यत् पौरुषं बहुमन्यन्त, तदेवं महापुरुषेण त्वयोपेक्ष्यमाणं लोके नष्टप्रायं जातमित्यहो चरमा सीमा कष्टस्य। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' इति न्यायाद्भवदृष्टान्तेन सर्वेऽपि लोकाः पौरुषमुपेक्षिष्यन्ते। तेन पौरुषोपक्षयो लोके कष्टप्रवृत्तिश्च स्यादिति महाननर्थः यद्वा—शत्रुभिर्दुर्दशां गमितेऽपि त्वयि अद्यापि देवा अपि पौरुषम् (उद्योगयोग्यताम्) संभावयन्ति, 'अस्ति राज्ञि पौरुषम्' तत्तु काले प्रकाशिष्यते' इति, परं सर्वथोदासीने त्वयि सा संभावनापीदानीं नश्यति। ततश्च 'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' इति न्यायेन तव त्वदाश्रितानां चास्माकं महत्कष्टस्थानम्।

८.

दूरदर्शी नृपतिः शत्रोर्वृद्धिमात्रं दृष्ट्वा न तत्प्रतीकाराय यतते, नापि क्षीयमाणः इत्येतावतैव तमुपेक्षते। किन्तु शत्रोरभ्युदयो यद्यादौ महानपि दृष्टः, पर तदन्तो यदि न शुभस्तर्हि समुपेक्षत एव, स्वयमेव संभाव्यमाने तद्विनाशे प्रयत्नस्य व्यर्थत्वात्, किं च क्षीयमाणोऽपि शत्रुर्यदि परिणामेऽभ्युदयोन्मुखस्तर्हि संभाव्यमानां तदुन्नतिं प्रतिकर्तुं यतत एव, वृद्धिं प्राप्तस्य दुःखदत्वापत्तेरिति। तथा च दुर्योधन स्येदानीमुदयः, स च न दुरन्तः, अपि तु स्वन्त एवानुमीयते, चरोक्त्या तस्य नीतिप्रवणताज्ञानात्। ततश्च न स उपेक्षामर्हति, अपि तु प्रतीकारमेवेति यतितव्यमेवास्माभिः प्रतीकाराय।

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम्।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम्॥ ७॥
द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत् प्रवणः परिक्षयः॥ ८॥

९.

नीतिकुशलो जनो यदा लक्षणैर्विचारयति—यच्छत्रोर्हानिः शीघ्रभाविनी महती च, स्वस्य तु हानिः कान्चिच्चिरेण सम्भाव्यते, साप्यल्पैव, तदा उदासीनो भवति, किमपि न विचेष्टते। दैवेनैव शत्रुपराभवस्य सिद्धत्वात्। यदा तु विचारयति शत्रोर्हानिश्चिरेण कथंचित्स्यात्, साप्यल्पैव, स्वस्य तु हानिः प्रत्युपस्थिता, प्रभूता च, तदा प्रतीकारे झटिति प्रवर्तते। अनया च नीत्या अस्माभिर्झटिति प्रतीकारे प्रवर्तितव्यमेव, यतोऽस्माकं क्षयः सुमहानुपस्थितो वर्तते, शत्रोस्तु नेदानीं शीघ्रं संभाव्यत इति।

१०.

ये हि राजानो वृद्धिं गच्छन्तीमपि शत्रूणां शक्तिमुपेक्षन्त एव, न तत्र कमपि प्रतीकारमाचरन्ति, तेषां संपदः शीघ्रमेव विनश्यन्ति। तत्र हेतुरुत्प्रेक्षते, एवंविधस्य पुरुषस्य समीपेऽवस्थित्या लोकाः स्त्रीणामिव संपदामपवादं करिष्यन्ति "इमाः संपदोऽलसे निकृष्टे पुरुषेऽनुरज्यन्ते" इति। तदपवादभयादेव संपदोऽपवादप्रसारात्पूर्वमेवाशु ततोऽपसरन्ति।

११.

यो नृपः कोशदण्डादिभिः क्षीणोऽपि नैसर्गिकं क्षात्रं तेजो न जहाति, प्रतिबन्धकांश्च दूरीकृत्याभ्युदयाय सततं प्रयतते, तस्य लोका वशीभवन्ति। यथा शुक्लप्रतिपदि प्रादुर्भूतश्चन्द्रो यद्यपि क्षीणतमः, तथापि नैसर्गिकः प्रकाशस्तस्मिन् वर्तत एव, वर्द्धिष्णुश्च सः, न हीदानीं क्षयस्तस्य संभावितः, तस्मात्प्रजास्तं प्रणमन्त्येव, न तु क्षीणोऽयमिति तिरस्कुर्वन्ति। वयमपि यद्यपि क्षीणाः, तथापि यदि तेज आश्रित्य यत्नपराः स्याम, तर्हि अवश्यं जना अस्मद्वशे भविष्यन्तीति।

१२.

राजन्! "प्रभुशक्तिहीना वयं किं करिष्यामः" इति मा भैषीः, यतो हि प्रभुत्वस्य—कोशदण्डयोर्मूलं नीतिः, साप्युत्साहमपेक्षत इत्युत्साहमूला।

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥ ९ ॥
अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ॥ १० ॥
क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥ ११ ॥
प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥ १२ ॥

नीतिशास्त्रेण हि मन्त्रस्य पञ्चाङ्गानि विविच्यन्ते। कार्यावसरे तु प्राप्ते विनोत्साहं निरर्थिका नीतिः। यथा हि दैवप्रातिकूल्ये व्यर्था लोकस्य कृष्यादिक्रियेति। यद्यपि भीमो न दैववादी, तथापि दैववादरतो युधिष्ठिरस्तदभिमतेन पथैव बोधनीय इति दैवं दृष्टान्ततया गृहीतम्। ततश्चोत्साहेन नयस्यापि मूलेन नयसाध्यौ कोषदण्डावुत्पादयिष्येते।

१३.

ननु उत्साहे समाश्रितेऽपि नीतिपालनमन्तरेण विनिपातः संभाव्येत इति युधिष्ठिरशङ्कायामाह भीमः। आत्माभिमानरक्षिणां धीराणां स्वपुरुषार्थ एव विनिपाताख्यमनर्थं निवर्तयति, न तु कस्यचिदन्यस्यापेक्षा। यथा कश्चिदुन्नतः वृक्षपर्वताद्यारोहन् पदस्खलनजनितपतनपरिहाराय किञ्चिच्छालादिकमालम्बते, तथोन्नतं स्थानमधिकर्तुमिच्छन् मनस्वी पौरुषमेवालम्बते—इति नीतिविदां सिद्धान्तः।

१४.

उत्साहपराक्रमवतः प्रशंसा कृता, इदानीं तद्विहीनो निन्द्यते। यः पराक्रमवान् न भवति, तं विविधानि व्यसनादिकृच्छ्राणि पराभवन्ति, शत्रवस्तं पीडयन्ति पाटच्चरास्तद्राष्ट्रकोशादि विलुण्ठन्ति, सचिवास्तं वञ्चयन्तीत्यादि। विपद्भिराक्रान्तं च राजानं दृष्ट्वा प्रकृतयोऽपि तस्मै करादिकं न प्रयच्छन्ति इति कोशहानिः, तत एव च सैन्यहानिरपि। ततश्च न कोपि तमाद्रियते। सर्वैरनादृतश्च कथं राजलक्ष्म्या सेव्येत। तस्माद्राजलक्ष्मीमभिलष्यता समाश्रयणीय एव विक्रमः।

१५.

क्षमा ह्याश्रीयमाणा उत्साहं तत्साध्यमुद्योगं च मूल एव निहन्ति, ततश्च तामाश्रितवतस्तमोरूपो विषाद एव वर्धते, स्वप्नेऽपि न तस्योन्नतेः संभावना, राजलक्ष्मीश्च नियतं ततोऽपसरति। यथानुकूले नायकेऽनुरक्ता नायिका प्रतिकूलादुद्विजते, तथा संपदः पराक्रम एवानुरक्ता विषादादुद्विजन्त इति पराक्रमविषादयोः पुंस्त्वेन समृद्धेः स्त्रीत्वेन च व्यज्यत इति चित्रभानुराह।

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः।
विनिपातनिवर्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥ १३ ॥
विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ १४ ॥
तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥ १५ ॥

१६.

राजन्! यदि तवायमभिप्रायो—यद् द्यूतनियतसमयादनन्तरं दुर्योधनो राज्यं दास्यत्येव, किं युद्धेन, तर्हि नैतत्सम्यक् पश्यसि। एतावतीं राज्यश्रियं स्वायत्तां कृत्वा ज्ञातास्वादो दुर्योधनो न विना युद्धेन तां त्यक्ष्यति। तत्र हेतु-चतुष्टयं विशेषणैर्ध्वनितम्! दुर्योधनो हि धृतराष्ट्रसुतः, धृतराष्ट्रो जन्मान्धोऽपि कथंचिद् भ्रातुराच्छिद्य राज्यश्रियं बुभुजे, न तत्याज, ततस्तत्सुतो दुर्योधनोऽविकलाङ्ग-कथं त्यजेत्। किं च दुर्योधनेनारम्भादेव लाक्षागृहदाह—विषान्नभोजन—द्यूताद्याः (जिह्माः) कुत्सिता व्यापाराः कृताः, तेऽपि तथा कृताः यथा ते प्रकटीभूताः सर्वैर्ज्ञाताः (तदर्थमेवाविष्कृत—पदोपादानम्) ततश्चैवंविधः कुत्सितः कथं राज्यं त्यजेत्। किं च तेनोपभुक्ता न सामान्याः संपदः, किन्तु नरेन्द्र-संपदः, ताश्च तेन चिरम् आस्वादिताः—सरसमुपभुक्ताः। ततश्च स त्यजेदित्यसंभाव्यमेव।

१७.

अथ यदि मन्येत—जनापवादभयाद्वा भीष्मादीनामनुरोधाद्वा दुर्योधनो राज्यं प्रत्यर्पयिष्यत्येवेति, तथापि नैतदुक्तं स्यात्। यतो राजन् त्वं नरनाथोऽसि, क्षत्रियत्वाद्विजित्यैव ग्रहणं तव शोभते, नरनाथत्वादन्येभ्यो ददतस्तव शोभा, यदि त्वादृशोऽपि परप्रसादेन स्वाधिकारं गृह्णीयात्-तर्हि जगत्प्रसिद्धविक्रमाणां तवानुजा-नामस्माकं बाहुबलस्य किं प्रयोजनं स्यात्। स्वस्याधिकारोऽपि परनियोगेन, न केवलं परनियोगेन, अपितु शत्रुनियोगेन प्राप्यते, सोऽपि त्वया, राजसूययज्वना, सोऽपि पुनः अर्थात् पूर्वं लाक्षागृहात्कथंचित्पलाय्यापि धृतराष्ट्रादिप्रसादेनैव स्वाधि-कारो लब्धः, तत एव अविम्यद्भिस्तैश्छलेन स्वदत्तोऽधिकारोऽपहृतः, पुनरपि तत एव वाञ्छ्यते, व्यर्थं तह्यस्माकं पौरुषमित्यत्र किमु वक्तव्यम्।

१८.

राजन्! यो हि स्वप्रावेण सर्वमपि जगदत्येतुमिच्छति, स कदाचिदपि परैर्दत्तां समृद्धिं न कामयते, स्वबलेनैवार्जितं भोक्तुमिच्छति, इदमेव च महत्त्वलक्षणम्, परपिण्डोपजीविनः कुतो महत्त्वं स्यात्। यथा हि वनराजः सिंहः स्वमहत्त्वं

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः ॥ १६ ॥
द्विषता विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम्।
जननाथ तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥ १७ ॥
मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १८ ॥

रक्षति। स कदापि परालीढमामिषं न भुङ्क्ते। स्वयमेव भोजनाय मांसमुत्पादयति। तदपि न क्षुद्रान् पशून् अर्दयित्वा, अपि तु मदवर्षिणो गजेन्द्रान् स्वयं हत्वा। तेनैव दृष्टान्तेन महद्भिर्वर्तितव्यम्।

१९.

राजन्! न च दुर्योधनाल्लक्ष्मीमवाप्य कथमपि त्वया संतुष्टेन भवितव्यम्—यतो हि मनस्विनां न लक्ष्मीप्राप्तिर्मुख्यमुद्देश्यम्, यशःप्राप्तिरेव तेषां प्रवृत्तेरुद्देश्यं भवति। स्थिरतरस्य यशसश्चयनाय (संग्रहाय) ते अस्थिरान् प्राणानपि सुखं त्यजन्ति; किं पुनर्विद्युद्विलासचपलां राजलक्ष्मीम्। यशःसंपादनाय तेषां या प्रवृत्तिः, तयैव लक्ष्मीरपि विना यत्नान्तरं प्राप्यते इत्यन्यदेतत् तच्च यशो दुर्योधन-प्रसादेन राज्यमवाप्य न लभ्यते, इत्यतो हीयेत। विजित्य राज्यप्राप्त्यैव क्षत्रियस्य यशो विद्योतत इति। ननु यशोऽस्माकं जगति राजसूयादिभिर्विद्योतत एवेति चेत्तत्रोक्तम्-चिचीषत इति। महति प्रासादे यथा इष्टकोपरि इष्टका भूयो भूयश्चीयन्ते, तथा मनस्विनो यशस उपरि यशश्चेतुमिच्छन्ति, न तु यशसा परितुष्यन्तीति। द्विविधा लक्ष्मीः--साम्राज्यलक्ष्मीर्नियतैका, तद्विकारभूता समये समये प्राप्यमाणा समृद्धिर्द्वितीया। तत्र द्वितीयाया विद्युद्विलाससाम्यमत्रोक्तम्, साम्राज्यलक्ष्म्यास्तु विद्युत्साम्यं तेन गम्यम्।

२०.

लोके निस्तेजसः परिभवः प्रत्यक्षं दृश्यते, यत्प्रज्वलन् पावको न केनापि स्पृश्यते तस्यैव परिणतिभूतं भस्म तु पादेनाप्याक्रम्यते। तत एव परिभवं सोढुमशक्नुवन्तो मनस्विनस्तेजोरक्षाप्रसङ्गे प्राणानपि त्यजन्ति, न तु तेजः कदापि त्यजन्ति। तस्मात्त्वयापि तेजोरक्षार्थमेव यतितव्यम्, सा च पराक्रमसाध्येति पराक्रम एव मतिर्विधेया। भस्मनामिति बहुवचनेन यथा निःसारकिंशुकादिभस्म, तथा गुरुतरखदिरादिभस्माप्याक्रम्यत एवेति संसारस्यापि निस्तेजसः परिभवो द्योतितः, हिरण्यरेतसमिति तेजस्विन आराध्यमानस्य हिरण्यादिसमृद्धिदातृत्वमपि द्योतितमित्यादि।

२१.

किं च राजन्! आस्तां प्रयोजनविचारः महान्तः स्वभावेनैव परस्योन्नतिं

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम्॥ १९॥
ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥ २०॥
किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया॥ २१॥

दृष्ट्वा नोदासीना भवन्ति, अपि तु ततोऽप्याधिक्यमाप्तुं प्रयतन्त एव। अन्यथा परस्याधिक्यो महीयस्त्वं तेषां सुतरां विहन्येत। नेयमीर्ष्या, अपि तु स्पर्धा। परस्योन्नतिं दृष्ट्वा चेतस्यभिज्वलनं तस्य विनाशानुचिन्तनं च ईर्ष्या, ततोऽप्याधिक्यमाप्तुं प्रयतनं तु स्पर्धा। ईर्ष्या नीतिविद्भिर्दोषपक्षे निक्षिप्यते, स्पर्धा तु गुणपक्षे। सोऽयमर्थो दृष्टान्तेन समर्थ्यते—घनगर्जनं श्रुत्वा शार्दूलः 'कोऽयं मदग्रे गर्जति' अभिभूय वशीकुर्यामेनम्' इति गुहाया निष्क्रम्य-साटोपं गर्जंस्युत्पतति चेति प्रसिद्धिः। तस्य खलु किं प्रयोजनम्, किं तेन मेघादाच्छेद्यम्, न किमपि। प्रकृत्यैव स स्वस्य परोपेक्षयावनतिं न सहते। सोऽयमेव मनस्विनां स्वभावः।

२२.

पौरुषालम्बने सत्यपि जयः स्याद्वा न वेति संशयस्तु त्वया न कार्यः, केवलं त्वया 'पौरुषम् करणीयम्' इति बुद्धिः कर्तव्या। तावन्मात्रेणैव शत्रवो हता इति निश्चितं ज्ञेयम्। तवानुत्साहेनैव वयं प्रतिबद्धाः स्मः, तत एव च शत्रवो जीवन्ति, संपदं चानुभवन्तीति। त्वयावलम्बित उत्साहे अस्माभिः शत्रुक्षयः कृत एवेति जानीहि।

२३.

राजन्! यथा सक्रोधमभिमुखमागच्छन्तश्चत्वारो दिग्गजाः न केनापि सोढुं (निवारयितुम्) शक्याः, यथा वा अभिमुखमास्रवन्तश्चत्वारः समुद्रा न केनापि सोढुं शक्याः, तथा संग्रामे पराक्राम्यन्तस्तव चत्वारो लघुभ्रातर इन्द्रतुल्यविक्रमा वयं शत्रुषु न केनापि सोढुं शक्याः। अस्मास्वुद्यतेषु शत्रून् नष्टानेव विद्धि। यथा दिग्गजाः समुद्राश्च चतसृषु दिक्षु विश्रुताः तथा तवानुजा अपि। तवैवायं प्रभावः, यतस्तवानुजत्वादेव वयं प्रसिद्धा इति तवेति षष्ठ्या द्योत्यते।

२४.

राजन्! त्वं यद्यपि धीरतया न प्रकाशयसि, तथापि तव मनस्वितया स्फुटमनुमीयते-यच्छत्रुभिरनयं कृत्वा समुत्पादितः क्रोधाऽग्निसदृशस्तव मनसि

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप निर्धूय तमः प्रमादजम्।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः॥ २२॥
द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवायतः।
प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः॥ २३॥
ज्वलतस्तव जातवेदसः सततं वैरिकृतस्य चेतसि।
विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः॥ २४॥

ज्वलत्येव। तस्य चास्याग्नेर्जलेनैव शान्तिर्भविष्यति, विलक्षणस्यास्याग्नेर्निर्वापणाय जलमपि विलक्षणमेवापेक्षितम्, त्वदाज्ञया हतानां शत्रूणां स्त्रियो वैधव्यमाप्य यदा रोदिष्यन्ति, तदा तेनामङ्गलेन जलेन अमङ्गलस्याग्नेः शान्तिः स्यात्। तथा च स्वीयमनोऽग्निशान्तये शत्रुव्यापादनमावश्यकमेवेति।

२५.

राज्ञा इत्थम्——मत्तमतङ्गज इव भीमोऽयं क्रोधाख्यदोषेणाक्रान्तस्तज्जनितान् विकारान् प्रकटयति, मरुतश्चायं सुत इति चापलमौद्धत्यं च विशेषेणास्मिन् संभावितम्, नायं निर्भर्त्स्यं शक्यो वशीकर्तुम्' न च त्याज्यः, प्रियभ्रातृत्वाद्, बहुप्रयोजनसाधकत्वाच्च। तस्मात्साम्नानुनेतव्यः——इति विचार्य सामप्रयोगेण भीममनुनेतुं महाराजः प्रवृत्तः, दुष्टोऽपि गजो न त्यज्यते, अपि तु कथंचिद्विनीय वशे क्रियत एव।

२६.

युधिष्ठिरो वक्ति-भीम ! यस्त्वया वाक्प्रपञ्च उदाहृतः-तस्मिन्न कापि प्रमाणानां बाधः। शब्दाश्च सुन्दराः, श्रुतमात्र एवायं मन आकर्षति, अनुष्ठीयमानश्चास्योपदेशो मङ्गलं संपादयिष्यति, एवंविधं वाग्विस्तरं श्रुत्वा तव बुद्धिमत्ता सुस्फुटं प्रकाशते। न हि बुद्धिहीनः कश्चिदेवमभिदध्यादिति। यथा मलरहिते शुद्धे दर्पणे सर्वं वस्तु स्फुटं दृश्यते——तद्वत् तव बुद्धिरस्मिन् वाक्प्रपञ्चे दृश्यत इति स्तुतिः।

२७.

भीम! तव वाचि पदानि न जटिलानि, अपि तु प्रसन्नानि-स्फुटार्थानि, अयं वाचो गुणः, सति तु सरलत्वे प्रायेणाऽर्थगौरवं नश्यति, परं त्वद्वाचि सरलेष्वपि पदेषु गाम्भीर्यम्——अर्थबहुत्वमस्ति। आविष्टो वक्ता प्रायेण पुनरुक्तिं करोति, एवमेवार्थं भूयो भूयो वक्ति, परं तव वाचि भिन्नार्थता शब्दानाम्, न पुनरुक्तिः, सत्यपि च भिन्नार्थत्वे परस्पराकाङ्क्षारूपः सम्बन्धो वाक्यानामस्त्येव, तेन न 'दश दाडिमानि, षडपूपाः,' इत्यादिवद् 'जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्याम्' इत्यादिवद्वा उन्मत्तप्रलपितसादृश्यम्। तस्मात्तव वाक्यं सर्वथैव बुद्धिमदुचितम्। अत्र

इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुतः कोपपरीतमानसम्।
उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ॥ २५ ॥
अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥ २६ ॥
स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥ २७ ॥

भीमवाचः प्रशंसनव्याजेन कविना स्वकीयः प्रबन्धोऽप्यभिसंहितः, भारविवाच एवंविधाया एव विद्वत्समाजे ख्यातत्वादिति सुधिय एवात्र प्रमाणम् ।

२८.

बहवः खलु प्रमाणपारायणमात्रं पठन्तो युक्तिं सर्वथोपेक्षन्ते, सोयमपि दोषः, युक्त्या विना प्रतिपाद्यार्थस्य मनस्युपारोहासंभवात् । भीम ! त्वया तथा न कृतम्, युक्तिरपि त्वया स्वीये पराक्रमपक्षे सम्यगुक्ता । केचिच्च युक्तिमात्रगर्विताः शास्त्रं खण्डयन्ति, तदप्यत्यन्तमनुचितम्, त्वया तदपि न कृतम् । शास्त्रमाश्रित्य तत्समर्थनाय युक्तिरुक्ता । सर्वथा क्षात्रधर्मसम्बन्धि त्वद्वचनम्, त्वद्भिन्न एवंविधं वाक्यं वक्तुमारभेतेत्यपि दुर्लभम्, दूरे तु पूर्णतया वचनम् । श्लोकत्रयमिदं वचनप्रशंसापरम् । केचिन्निन्दापरतयापि योजयन्ति, युधिष्ठिरे वक्तरि तत्सर्वथानुचितमेवेति मल्लिनाथः ।

२९.

ननु यदि सम्यङ् मदीयं वचनम्, तर्हि तदनुसारमेव प्रवर्तितव्यं भवतेति भीमस्यानुयोगमनुमाय वदति युधिष्ठिरः, भीम ! यद्यपि त्वया सम्यगेव पराक्रमपक्षो निर्णीतः, अथाप्यहं पुनरपि विचारं वाञ्छामि, न हि मे चेतस्यद्यापि निर्णयो जायते । यद्यपि नीतिशास्त्रेण सन्धिविग्रहाद्या विषयाः सामान्येन निर्णीयन्त एव, तथापि देशकालपात्राधिकारभेदाद्ये तत्र तत्रानन्ता अवान्तरभेदाः, न ते नीतिशास्त्रेण झटिति निर्णेतुं शक्यन्ते । तत्र निर्णयार्थं बुद्धिरेवापेक्ष्यते । न च विशेषनिर्णयमन्तरेण कर्तव्ये प्रवृत्तिः फलवती स्यात् । तस्माद्विशेषनिर्णयाय भूयो भूयो विचारः कर्तव्य एवेति ।

३०.

जनेन पूर्णं विचारं विना झटिति किमपि कार्यं विधातुमनुचितमिति मुख्या नीतिः । विना विचारं कार्यकरणे महत्य आपत्तय आपतन्ति । एतद्वैपरीत्येन यो विचार्य कार्यं करोति, तस्य सविधे विनैव यत्नं संपद आगच्छन्ति । यथा काचित् पतिंवरा गुणलुब्धा गुणवन्तं वरं वृणुते, तथा गुणलुब्धा अनेकाः संपदो युगपदेव विचार्य कार्यकर्तारं वृणुत इति ।

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः ।
इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥ २८ ॥
अवितृप्ततया तथापि मे हृदयं निर्णयमेव धावति ।
अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः ॥ २९ ॥
सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ ३० ॥

३१.

यथा कृषीवलो जनः क्षेत्रे बीजवापं कृत्वा, तस्य प्रतिकूलप्रसङ्गाद्रक्षां कुर्वन्, फलोत्पत्तिं प्रतीक्षमाणः, जलेन बीजं सिञ्चन् शरदतौ तत्फलम्—तां सस्यसमृद्धि-माप्नोति, सस्यसमृद्धिशालिन्यां शरदि तस्य नियतोऽधिकारः, तथैव यः कर्तव्यं लक्ष्यरूपेण मनसि निधाय प्रतिकूलप्रसङ्गाद्रक्षां कुर्वन्, फलप्राप्तेश्च समयं प्रतीक्षमाणो विवेकेन कर्तव्यं पोषयति, तस्य फलशालिन्यां क्रियायां नियतोऽधिकारः, स समये कर्म कृत्वा फलं प्राप्नोत्येवेति। साहसिकः कदाचित्फलं प्राप्नोति, कदाचिन्न, विमृश्यकारी त्ववश्यं फलं प्राप्नोत्येव।

३२.

संप्रदायागतेन शास्त्रज्ञानेन मनुष्यस्य शोभा भवति, तच्च शास्त्रज्ञानं क्षमया शोभते, शास्त्रं ज्ञात्वापि यदि क्रोधवशः स्याद्, व्यर्थं तज्ज्ञानं स्यादिति। क्षमापि च अवसरे दृष्टपराक्रमस्यैव शोभते, अन्यथा सा क्षमा अशक्ततेति गण्यते। यः समये सामर्थ्यं परिदर्श्यापि क्षान्तः, स एव क्षान्तः। तेन पराक्रमः क्षमाया भूषणम्। (तेनेदं सिद्धम्–क्षमा सततं धार्या, पराक्रमस्तु तद्भूषणत्वेन सत्यवसर एव) पराक्रमश्च सिद्धौ सत्यामेव शोभते, इति सिद्धिः पराक्रमस्य भूषणम्। किन्तु सिद्धिरियं न केवलस्य पराक्रमस्यायत्ता, अपि तु नीतिसहकारेण कृतस्य पराक्रमस्य। नीतिसहकृतपराक्रमप्राप्तैव च सिद्धिर्भूषणरूपा, न तु साहसिकत्वेन विनैव नीतिं प्राप्ता, तस्याः काकतालीयन्यायागततया भूषणत्वाभाव एव। सिद्धिः सर्वस्यापि भूषणमेव, न तु तस्या भूषणान्तरमिति तस्याः स्तुतिर्गम्यते। क्षमामास्थाय शास्त्रानुसारेण प्रवर्तितव्यम्, न तु झटिति पराक्रम आलम्बनीयः, साहसेन कदाचित्प्राप्तापि सिद्धिर्न शिष्टैः संमान्यत इति भावः।

३३.

यथान्धकारेणाच्छन्ने गृहे सम्यक् प्रज्वलितेन दीपेन इष्टं वस्तु दृश्यते, तथा 'इदं कर्तव्यम्, न कर्तव्यम्' इत्यादिविप्रतिपत्त्या आच्छन्ने कर्तव्यतत्त्वे सुविचारितं शास्त्रमेव मार्गनिर्णयं करोति। तेन शास्त्रं सुविचार्य तदनुसारेण प्रवर्तितव्यम्, न तु कदापि सहसेति भावः।

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति॥ ३१॥
शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः॥ ३२॥
मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥ ३३॥

३४.

ये हि पुरुषाः शिष्टानां मार्गमनुसरन्ति, शिष्टसम्प्रदायेन व्यवहरन्ति, शास्त्रानुरोधेन प्रवर्त्तन्ते, तेषां यदि दैवात्पतनमपि कदाचिद् भवेत्, तथापि पतनमिति न गणनीयम्, अपि तून्नतिसममेव तत्। यतो हि यथोन्नतः पुरुषो लोके श्लाघ्यते, तथैव ते जनैः सदाचारनिष्ठत्वाच्छ्लाघ्यन्त एव, न तु केनापि निन्द्यन्ते, पुरुषापराधाभावात्। तदुक्तं नीतिशास्त्राचार्येण कामन्दकेन—'यत्नु सम्यगुपक्रान्ते कार्यमेति विपर्ययम्। पुरुषस्तत्रनुपालम्भ्यो दैवान्तरितपौरुषः' इति। किं च स्वापराधात्पतितः पुरुषो मलिनमतितया उद्धाराय पुनरपि करोति, तेन च भूयो भूयः पतति, दैवात्पतितस्तु सन्मार्गनिष्ठत्वात्पुनरपि पापं न करोति इति तस्य तत्पतनं सद्य एव निवर्तते, उन्नतिरेव चिराय लभ्यत इति विनिपातस्या-प्युन्नतिहेतुतया उन्नतिमत्वं ज्ञेयम्। तेन दैवात्प्राप्ताऽनर्था अपि वयं न शोच्या एव, स्वापराधाभावादिति।

३५.

येषां विजयप्राप्तेरस्ति कामना, ते विवेकिनः क्रोधस्य वशीभूताः कदापि न प्रवर्तन्ते, सति क्रोधे विवेकासंभवात्, विवेकं विना च विजयकथाया अप्यभावात्। तस्मात् क्रोधं विजित्य, यदा विवेकेन फलसिद्धिमवश्यंभाविनीं मन्यन्ते, तदा सोत्साहानुरूपं सम्यगुपायमारचयन्ति। न च क्षुद्रफलार्थं तेषां प्रवृत्तिः, न वा परिणामेऽनर्थसंभवनायाम्। तदाह कामन्दकः—'निष्फलं क्लेशबहुलं संदिग्धफल-मेव च। न कर्म कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च' इति।

३६.

सूर्यो हि यदा पूर्वं स्वकान्त्या रात्रिजनितं तमो विनाशयति, तदैवोदयं (उदयाचलम्) याति, तथैव य उदयम् (अभ्युदयम्) इच्छति, तेन तमः पूर्वं विनाश्यमेव। अत्र तमो बुद्धिसंमोहः क्रोधजनितः। तद्विनाशश्च विवेकबुद्ध्या। क्रोधजयमन्तरेण नैवाभ्युदयलाभ इत्याशयः।

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः॥ ३४॥
शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः॥ ३५॥
अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते॥ ३६॥

३७.

सर्वशक्तिसंपन्नेनापि येन क्रोधजनितं तमो (मोहो) न निवार्यते, तस्य सर्वा अपि संपद्रूपाः शक्तयः विनश्यन्ति । यथा कृष्णपक्षरूपेण कालेन तमो (अन्धकारः) न निवार्यत इति तस्य संपद्रूपाश्चन्द्रकला विनश्यन्तीति स्पष्टं दृश्यते । अन्यस्य जङ्घाबलमिव क्रोधान्धस्य लोकोत्तरमपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेति । पुरुषकृतापराधादिह संपदां क्षय इति पुरुषस्यैव हन्तृत्वम् (विनाशकर्तृत्वम्) व्यवहृतम् , संपदः स्वयं न नश्यन्ति, अपि तु स एव संपदो विनाशयतीति । उपमानेऽपि कालस्य सर्वकारणत्वादिन्दुकलाहन्तृत्वं तत्रास्त्येव । चन्द्रकलानां शोभनवस्तुत्वात्तत्र संपद्रूपत्वं व्यवहृतम् , शक्तीनां तु संपद्रूपताभ्युदयहेतुत्वात्सुस्पष्टैव । आक्रमणेन संपद्विनश्यतीत्यपि लोकसिद्धमेव ।

३८.

यो हि राजा न सर्वथा मृदुरेव स्यात् , नचैकान्ततस्तीक्ष्ण एव भवेत् , अपि तु काले मृदुः काले च तीक्ष्णः स्यात् स सर्वमपि लोकं स्ववृत्त्या आक्रम्य वशीकरोति यथा सूर्यः समयभेदेन हेमन्तादिषु मृदुः, ग्रीष्मादौ च तीक्ष्णो जायते अत एव सर्वोऽपि लोकस्तेनाक्रम्यते ।

३९.

येनेन्द्रियाणि (इन्द्रियप्रेरकाः क्रोधाद्या दोषाः) न जितानि, य इन्द्रियाणां वशे तिष्ठति स चिरं लक्ष्मीं भोक्तुं न शक्नोति । करगतापि लक्ष्मीस्तस्य विनश्यत्येव । परिग्रहपदं; भार्यास्वीकार एव निरूढम्—तस्यात्र प्रयोगेण श्रीषु भार्यात्वारोपो द्योत्यत इति चित्रभानुः । श्रियामिति बहुवचनेन च नानाविधानां संपदां परस्परविरुद्धानां सपत्नीनामिव रक्षणे विविधोपायौचित्यं व्यज्यते । तथा च यः परवशः, तस्मिन्नेकापि स्त्री न रज्यते, किं पुनर्बह्व्यः, परवशो हि कथं श्रियो वशीकुर्यात् । उत्तरार्धेनेदमुक्तम् , श्रियोऽपि स्वभावेन चलाः, पुरुषोऽपीन्द्रियपरतन्त्रश्चल इति । उभयोश्चलयोर्योगे दुष्करमेव स्थैर्यम् । यथा शरदभ्राणां वायुपरतन्त्राणाम् । प्रावृडभ्राणां तु गुरुतया कथंचिज्जायत एव स्थैर्यमिति । तद्वद् जितेन्द्रियपुरुषाश्रिताः श्रियः स्थिरा भवन्ति । बहुच्छलाः इति बहून् व्याजान् जानन्ति, कथंचित्स्वामिनं

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः ।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः ॥ ३७ ॥
समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥ ३८ ॥
क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ ३९ ॥

प्रतार्यं गच्छन्त्येव, एतेन च चलेन्द्रिये पुरुषे संभाविताः सुहृद्विमाननाजनापरागप्रकृतिकोपाद्याः संपदां निर्गमहेतवोऽत्र विवक्षिताः। विशेषणाभ्यामाभ्यां श्रियां पुरुषवञ्चकवेश्यासादृश्यं च व्यञ्जितमित्यलं विस्तरेण। तथा च दुर्योधनस्य चलेन्द्रियतया तत्र वर्तमानापि लक्ष्मीश्चिरं न स्थास्यतीति प्रकृते सम्बन्धः। यद्वा स्थिरां लक्ष्मीमभिलष्यद्भिरस्माभिर्नेन्द्रियवशे स्थेयम्, अपि तु तत्प्रेरकाः क्रोधाद्या दोषा विजेतव्या एवेति।

४०.

भीम! त्वयि पूर्वमेतादृशं धैर्यमासीद्, येन त्वयैव धीरतमोऽपि समुद्रो जितः, (समुद्रे प्रकृतिस्थितिमात्रम्; न तु चलनविरहः, तरङ्गमालाकुलत्वात्, त्वयि तूभयम्, मर्यादास्थितिरपि मनसश्चलनाभावोऽपि, तेन समुद्रो जित इति चित्रभानुः, समुद्रस्य काले (प्रलये) धैर्य (स्थिति) त्यागः, तव तु न कदापीति तस्य जय इति वयम्, इदानीं तु त्वं मनस्यकाल इव त्वरया क्षोभमुद्भावयसि, तेन समुद्रस्त्वदपेक्षया उत्कृष्टः स्यात्। तस्य समये धैर्यत्यागः, तव त्वसमय एवेति तस्योत्कर्षः। पराजितस्य पुनरुच्चैः करणं सर्वथानुचितमेवेति धैर्यं त्वया रक्षणीयमेव। प्रशंसया समुत्साह्य भीमो राज्ञा नीतिविदा क्षोभान्निवर्त्यते।

४१.

शास्त्राधिगमो हि क्रोधादिविकारविजयायैव भवति, यैः शास्त्रमधीत्यापि विकारा न जिताः, तेषां न केवलं शास्त्राधिगमो व्यर्थः, अपि तु श्रियमपि रक्षितुं ते न शक्नुवन्ति। तेभ्यः शीघ्रं श्रीरपयात्येव। तच्चेदमपयानं न श्रियः स्वाभाविकम्, अपि तु तेषां पुरुषाणां दोषैरेव जनितम्। तस्मात् श्रीश्चपलेति लोके योऽयं श्रियः शिरसि कलङ्कः, सोऽयमजितेन्द्रियैः पुरुषैरेव दत्तः। शरीरजन्मन इत्युक्त्या यैरतिसन्निकृष्टा अपि रिपवो जेतुमशक्याः, ते दूरस्थान् रिपून् कथं जेष्यन्तीत्यभिप्रेतम्।

४२.

भीम! यथा सहनशक्तिर्नश्यति, सेयमक्षमा नाम मनोविकारः क्रोधादिक-

---

किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः।
क्रियते पतिरुच्चकैरपां भवता धीरतयाऽधरीकृतः ॥ ४० ॥

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मनः।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥ ४१ ॥

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापिनी।
जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ॥ ४२ ॥

मुत्पाद्य अनुकूलमवसरं सहायादिसंपत्तिं च प्रतीक्षितुं न ददाति त्वरया अविवेकेन प्रवर्तयति। अनया च शत्रूणां कोऽप्यपकारो न क्रियते, अपि तु स्वस्यैव शरीरमिन्द्रियाणि च तप्यन्ते (शरीरेन्द्रियेत्युक्त्यापि स्वस्यैव शरीरादौ लब्धे स्वपदोपादानं स्वस्यैव शरीरादिकं तापयतीति द्योतयितुमुपात्तम्) तयानयाभिभूताः प्राकृताः पामरजना अविवेकेन प्रवर्तमाना नीतिभ्रष्टाः सिद्धेरपि भ्रश्यन्ति। भवादृशस्तु विवेकी अस्या वशगो भवेदिति न सर्वथा योग्यम्। भीमं प्रशस्य तस्मात्त्वनमेव राज्ञ उद्देश्यम्!

४३.

क्षमा पुरुषस्योत्तरकालं रक्षति, वर्तमानां संपदं पाति, सत्यामेव क्षमायां कर्माणि नूनं फलमुत्पादयन्तीति सैव फलप्राप्तेर्मूलकारणम्। इयमेव शत्रून् विनाशयन्त्यपि स्वस्य स्वाश्रयस्य वा नानर्थं जनयति। एवंविधं सिद्धेः साधनं नान्यज्जगति वर्तते। अस्ति पराक्रमेणापि आयतेरुपकारः; परं नात्यन्तिकः, क्षमा तु भृशमुपकारिका। पराक्रमः फलं ददाति, परमल्पमेव, क्षमा तु भूरि ददाति। पराक्रमः शत्रून्नाशयति, परं कदाचित्स्वस्याप्यपकरोति, क्षमा तु न तथेत्युत्कृष्टा सा। कालप्रतीक्षया सहिष्णुतेह क्षत्रियाणां क्षमा विवक्षिता, न तु मुमुक्षूणामिव सर्वथा प्रवृत्तिविघातिनीति चित्रभानुः।

४४.

ननु क्षमावलम्बने क्रमेण दुर्योधनपक्षवृद्धिः स्यात्, उदासीनेष्वस्मासु सर्वे राजानो दुर्योधनेनैव मैत्रीं बध्नीयुरिति भीमस्याशङ्कां मनसि विचार्य युधिष्ठिर उत्तरयति नैवं स्यात्। प्रथमं बलशालिनो यादवानेव पश्य, तेषां प्रधानस्य कृष्णस्य वयं पितृष्वसुः सुताः, स्वाभाविकं च तैरस्माकं प्रेम, तेषां चास्माभिः।, मानयामश्च वयं तान्। दुर्योधनोऽभिमानी न तान् मानयति, असंमानिता अपि केचन लुब्धा मानमविगणय्य महान्तमनुवर्तेरन्, परं ते तु मानरक्षिण इति अस्मान् विहाय दुर्योधनेन तेषां प्रीतिर्न कदापि भवितुमर्हति। प्रयोजनापेक्षया कंचित्कालं भवेदपि, सदा तु नैव ते दुर्योधनमनुसरेयुरिति तेषां भेदशङ्का नास्त्येव। ते दुर्योधनं त्यक्ष्यन्त्येव, अस्मत्पक्ष एवागमिष्यन्तीति परमस्माकं बलम्।

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम्॥ ४३॥
प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः।
प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः॥ ४४॥

४५.

यथा यादवाः, तथैव सन्त्यन्येऽप्यस्माकं सहजाः प्राकृताः कृत्रिमाश्च सुहृदः, यादवानामपि च सन्ति सहजाद्याः सुहृदः, तेषामपि च सुहृदां सन्त्येव सुहृदः स्वमतानुकूलाः, त एते सर्वेऽपीदानीं यद्यपि दुर्योधनानुगताः तं प्रति विनीता दृश्यन्ते, तथापि स एष एषां विनयः कृत्रिमः, केवलं प्रयोजनापेक्षी, सम्राड् दुर्योधन इति तेन सह वैरमनुचितं मन्वाना विनयं प्रदर्श्य तं प्रतारयन्ति, स्वप्रयोजनं साधयन्ति च, कार्यकाले तु तेऽस्मत्पक्षमेव यादवैः सहाश्रयिष्यन्ति। धृतराष्ट्रात्मजमिति पदम् 'अन्धपुत्रो दुर्योधनः स्वयमप्यन्ध इव कृत्रिममपि विनयमकृत्रिमं मन्यत इति सुशकः प्रतारयितुम्' इति द्योतयति।

४६.

भीम ! यद्यपि मयोक्ता राजानः सन्त्येवास्मत्पक्षपातिनः, परं यदि द्यूतसभायां प्रतिश्रुतस्य त्रयोदशाब्दपरिमितस्यावधेर्मध्य एव त्वत्प्रस्तावमनुसृत्यास्माभिराक्रमणं क्रियेत, तर्हि दुर्योधनस्यादोषम् , अस्माकं सत्यप्रतिज्ञातिक्रमरूपं दोषं च विभाव्य सर्वं एतेऽस्मत्पक्षात्पृथग् भविष्यन्ति। अस्मत्पक्षाश्रयणे काप्युपपत्तिर्न भविष्यतीति न्याय्ये पथि वर्तमानास्ते कथं दुर्योधनेन युध्येयुः। यथा सूर्य उदयन्नेव कमलदलानि भेदयति, तथा त्वत्प्रस्तुताभियोगवृत्तान्तः प्रसरन्नेव सर्वान् अस्मत्तो भेदयेदिति व्याख्यातारोऽभिप्रायमाहुः। वयन्तु पश्यामः—कृतावधेरिति विशेषणादवधिपरिसमाप्ताविति लभ्यते, ततश्चावधौ पूर्णे त्वया कृतस्याक्रमणस्य वृत्तं निशम्य य इदानीं पूर्वोक्तया कृत्रिमरीत्या तत्पक्षावलम्बिनः ते ततो विश्लेषमेष्यन्ति, अस्मत्पक्षं चाश्रयिष्यन्तीति। एतदेव चोत्तरश्लोकेन सहेतुविव्रियत इति प्रकरणानुकूलत्वम्। एतेन 'अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते' इति भीमोक्तस्योत्तरं दत्तम्।

४७.

अस्माकं साक्षात्परम्परया वा सुहृदः अस्मत्पक्ष आगमिष्यन्त्येव, परं य उदासीनाः, तेऽपि कालक्रमेण दुर्योधने विरक्ता भविष्यन्तीति अस्माभिर्भेदरूपमुपायमाश्रित्य स्वपक्ष आनेतुं शक्ष्यन्ते। दुर्योधनो हि स्वभावेनोद्धतः कृतार्थतां च

सुहृदः सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये।
विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥ ४५ ॥
अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य कृतः कृतावधेः।
प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव ॥ ४६ ॥
उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः।
सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥ ४७ ॥

स्त्रीयामवगत्य हर्षेण तथा मत्तो भविष्यति, यथा सर्वानवमानयिष्यति। अवमाननान्तु साधारणोऽपि जनो न सहते, लोकातिशायिनस्ते राजानः, तेषामपि च समूहः, कथममानं सहेत, तस्मात्तेषां विरागस्तत्र स्वाभाविकः, तेन चास्मत्पक्षसंसिद्धिरिति। विधाता—इति अनद्यतनार्थेन लुट्प्रत्ययेन विरागोत्पत्तौ कश्चित्कालः समपेक्ष्यत एवेति द्योतितम्।

४८.

ननु दुर्योधनः सर्वत्रासाधारणं विनयं दर्शयतीति वनेचरेणावेदितम्, ततश्च तत्राभिमानसंभव एव कुत इत्याशङ्क्य समाधत्ते युधिष्ठिरः—दुर्योधनस्य विनयो न वास्तवः, अपि तु कृत्रिमः, स्वल्पकालस्थायी। येषां शील एवाभिमानः, ये अभिमानं गुणं मन्यन्ते, तेषां मुख्यो विनयो नोत्पद्यत एव। केवलं मण्डलं वशीकर्तुं कृत्रिमं विनयं ते दर्शयन्ति, स च विनयस्तावन्तं कालमभिमानवेगं तेषां रुणद्धि। न त्वभिमानं नाशयति। यदा तु संपन्नं कार्यम्, प्राप्ता समृद्धिः, तदा सा समृद्धिरेवाभिमानं पुनरुन्नतं करोति, तेन च विनयो लीयते।

वेगशब्दोऽत्र प्रसरे लाक्षणिकः, तेन यथा अदृढेनाल्पेन सेतुना निरुद्धवेगाऽपि नदी प्राप्तप्राबल्या सेतुं विनाश्य सर्वतः प्रवहति, तथा विनयरूपं सेतुं विनाश्य मदस्तेषां प्रसरत्येवेति व्यञ्जितम्। चित्रभानुस्तु असमापितकृत्यसंपदामेव मदं विभूतय उत्तम्भयन्तीति योजयति, ते हि कार्यमपि पूर्णतां नेतुं न शक्नुवन्ति, किञ्चित्फलसिद्धौ—अल्पसमृद्धिलाभ एव विनयस्तेषां भ्रश्यतीति।

४९.

'विभूतयो मदमुत्तम्भयन्ति'—इति उक्तम्, मदस्य परिणाममाह—यदा कश्चिद्राजा मदनमानयोराधिक्याद् व्यवहारे विकृतिम् (परावज्ञाम्) दर्शयति, तदा क्रमेण कार्याकार्यपरिज्ञानाभावरूपा मूढता तमाक्रामति, तथा च तं गृह्णाति, यथा कदापि न त्यजति। स मूढस्तां न त्यजतीति नोक्तम्, तस्य सर्वथा नियन्त्रितस्य स्वातन्त्र्याभावेन त्यागकर्तृत्वासंभवात्, मूढतैव स्वयं तमाक्रम्य स्थिता, सा च तादृशस्यान्यस्याश्रयस्यालाभेन तं न त्यजतीति। मूढता न पृथग् भवतीति लक्ष्योऽर्थः, पुरुषस्यात्यन्तं पारतन्त्र्यं व्यङ्ग्यम्। मूढताक्रान्तश्च नीतिमार्गोचितां बुद्धिं जहाति, तन्मार्गात्स्वयं पृथक्क्रियते, (पृथग्भावे सौकर्यातिशयबोधनाय कर्मकर्तरि प्रयोगः)। यदा च बुद्धिविवेकहीनः, तदा सर्वस्यापि प्रतिकूलमाचरतीति

असमापितकृत्यसम्पदां हतवेगं विनयेन तावता।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥ ४८ ॥

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता।
अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

अनुरक्तोऽपि जनस्तस्मिन् द्वेषं गच्छति। कोपने अत्याचारपरे च राजनि प्रजावर्गः अमात्यादिवर्गश्च सर्वोऽपि द्वेषं बध्नातीति ततोऽग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः।

५०.

दण्डकार्कश्यादिभिर्हेतुभिर्यस्मिन् राज्ञि जनानामप्रीतिर्जाता, आज्ञालङ्घन-प्रतिकूलाचरणादिना च प्रजा यस्य प्रभावं विघ्नन्ति, तस्य आभ्यन्तरप्रकृतिरमात्यादिवर्गोऽपि प्रतिकूलाचरणादिना विरक्तो भेदमापद्यते, परेण सन्धत्ते च, तस्मिन् काले शत्रवस्तस्यानायासेनैव समूलं विनाशं कर्तुं शक्नुवन्ति, स समृद्धोऽपि स्याद्, बलवानपि स्याद्, परमीदृशेऽन्तरे तद्विनाशे नैव कष्टं भवति। यथा विशालोऽपि तरुः प्रबलेन वायुना यदा भूयोभूयः प्रकम्पितो भवति, तेन चान्तरपि यस्य शिफासंघातः शीर्यते, चाल्यते च, तस्योत्पाटनं तस्मिन् काले बलवता सुकरमिति। समन्तात्प्रकम्पकत्वेन वायोर्बलवेगातिशयं बोधयत्समीरणपदमिह चमत्कृतिं पुष्णाति। समीरणेनेरितस्य तरोरिव च प्रजानामप्रीतिभाजनस्य राज्ञः पारतन्त्र्यमीरितपदेन प्रतीयते। पूर्वं यो नृपादिशब्दैरुक्तः, स एवेह जनानामप्रीतिभाजनमिति रिपुशब्देनाभिहितः। यथा च वायुना क्रियमाणमात्मविनाशं पादपः पूर्वक्षणेऽपि न जानाति, तथा मदजडभूतेन तेन राज्ञा उपस्थितोऽपि स्वविनाशो न ज्ञायते—इति च वस्तु उपमया व्यज्यते। तदेतदर्थगौरवमस्य पद्यस्योत्कृष्टं चित्रभानुना प्रकटितम्। तथा च तादृशीमवस्थां गतो दुर्योधनोऽस्माभिः सुजयो भविष्यतीति।

५१.

बाह्यभूतस्य शत्रोराक्रमणं राज्ञां तादृशभयप्रदं न भवति, यथाङ्गभूतानाममात्यादीनां प्रजावर्गस्य चाप्रीतिः। यथा हि पर्वतस्याङ्गभूतानां वृक्षाणां शाखासंघर्षणेन जातो वह्निः स्वल्पोऽपि क्रमेण वायुनोपचितः सर्वमपि पर्वतं भस्मसात् करोति, तथा अन्तरङ्गाणां स्वल्पोऽपि सङ्घर्षः—(विद्वेषः) राज्ञ औद्धत्येनोपचितो राजानं विनाशयत्येव। प्रकृतिशब्देन कारणवाचिना राज्ञः प्रभुत्वे एषां कारणत्वं द्योतितम्, एभिरन्तरङ्गैः प्रजामात्यादिभिरेव राजा राजा क्रियत इति। ततश्च स्वस्मिन् राज्ञो राजत्वस्य कारणतां मन्यमानाः प्रकृतयो राज्ञः प्रतिकूलगामित्वे न तद्वशगा भवन्ति, राजा च स्वस्मिन् प्रभुत्वं मन्यमानो न प्रकृतीः प्रसादयतीति क्रमेण वर्द्धत एव वैरमिति प्रभुप्रकृतिशब्दाभ्यां व्यञ्जितम्। पूर्वं जानपदानां

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥ ५० ॥
अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखाऽन्तनिघर्षजोऽनलः ॥ ५१ ॥

जनानामपरागः, ततो बाह्यप्रकृतिप्रकोपः, ततोऽन्तरङ्गप्रकृतिभेद इति क्रमो विग्रह-शब्देन द्योत्यते । उपमाने प्रयुक्तैः तरुशाखान्तशब्दैरुपमेयेऽपि प्रकृतिवर्गतद्वर्ग्याणां क्रमेण प्रकोपोऽभिसन्धीयते ।

५२.

पूर्वोक्तं कार्यकारणमालोच्य ताहशस्य शत्रोर्विजये बुद्धिमता न श्रमः कार्यः, येन कार्यकाले स्वीकृतोऽपि विनयस्त्यक्तः । यतो हि पूर्वोक्तावसरलाभे तस्य पराभवः सुखेनैव स्यात् । न च तादृशोऽवसरो नायास्यतीति भ्रमितव्यम्, विनयमन्तरेण संपदो नैव तिष्ठन्ति, अनर्थमुत्पाद्य लीयन्त एवेति नियमात् । श्रूयते हि नहुष-रावणादीनां विपदेव परिणतिः, दृश्यते च स्फुटं बहुत्र तथेति । 'असमापितकृत्य-संपदाम्' इत्यारभ्याविनयप्रपञ्चः कृतः, इहोपसंहृतः । 'अचिरेण परस्य भूयसीम्' इत्यादिमीमोक्तस्य चेदमुत्तरम् ।

५३.

यदा राज्ञो वृत्तं क्षुद्रमिव भवति, स प्रजारक्षणे मन्त्रिणां हितोपदेशादौ चौदा-सीन्यमालम्बते, अत्याचारैश्च प्रजाः पीडयति, मान्यानसत्करोति, तदा तस्य बाह्यं मण्डलम्, आभ्यन्तरं मण्डलम् च सर्वमपि ततो भेदमाप्नोति–विद्वेषं गच्छति । पूर्वं बाह्ये मण्डल एव भेदप्रसारः, तदनु आभ्यन्तर इति बहिरन्तश्चेति शब्द-विन्यासो युक्ततरः, यद्वा व्याख्यान्तरे वागादिव्यापारे प्राप्तोऽपि भेदो यदा राज्ञा न शान्तिं नीयते, तदा मानसो द्वेषः सुस्थिरो भवतीति योजनीयम् । भिदां गतम् इति भिदोत्तरं द्वितीयाश्रयणेन भेदस्येप्सिततमत्वम्—इच्छया स्वीकृतत्वं गम्यते, तस्मिंश्च काले तस्य राज्ञो वंश्यो यद्यपरः स्यात्, सोऽनायासेन विद्विष्टं मण्डलं स्वायत्तीकर्तुं शक्नोति, यद्वा सन्निहितराष्ट्राधिपस्तदा तस्य राज्यं स्वायत्तं करोति । तदित्थं दुर्वृत्तस्य राज्यमपह्रियते । यथा शिथिलावयवं तटं नदीवेगेनाप-ह्रियते, तद्वदेव । तदित्थमेव दुर्वृत्तस्य दुर्योधनस्य राज्यं प्राप्ते भेदावसरे सुखेना-स्माभिरायत्तीकर्तुं शक्यते । कूलोपमाया व्यञ्जयानि चित्रभानुराह—यथा कूलं द्विसम्बन्धि, नदीजलेन संनिहितभूभागेन च तस्य सम्बन्धः, भूभागेन सम्बन्ध-शैथिल्ये जलेन तदपह्रियते, तथा कुरुराज्यमिदं दुर्योधनेन चास्माभिश्च संबध्नाति, दुर्योधनेन सम्बन्धशैथिल्ये अस्माभिस्तद् ह्रियेत । यथा च वर्षास्वेव नदीकूलं हर्तुं शक्नोति, तथा प्राप्ते समय एवास्माभिस्तद्राज्यं हरणीयमिति । यथा च

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः ।
सुनयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥ ५२ ॥
लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥ ५३ ॥

कूलं कदापि नदी जलप्रदानेन लोकमुपकरोत्येव, उपकारकत्वमेव तस्या मुख्यम्, कूलहरणं त्वौपाधिकम्, तथैव मम (युधिष्ठिरस्य) लोकोपकार एवोद्देश्यम्, दुर्योधनहानिस्तु विवशतयोपनता औपाधिक्येवेत्यपि।

५४.

यदा प्रशान्तो युधिष्ठिरः पूर्वोक्तेन प्रकारेण विक्षुब्धचेतसं भीममुद्दिश्य नीतिरहस्यमुपदिशन्नासीत्, तदैव भगवान् व्यासस्तत्सन्निधौ प्राप्तः। यथा नीतिं विदुषः पुरुषस्य समीपे तदभिवाञ्छितोऽर्थः स्वयमागच्छति, तथैवेदं भगवतो व्यासस्यागमनम्, भगवान् व्यासो मूर्तिमान् युधिष्ठिरस्य मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्ष्यते कविना। तेन च मनोरथस्याव्यभिचरितप्रपूर्तेः, साधनोपदेशाय व्यासस्यागमनमिति द्योतितम्। अनुशासितमिति वर्तमानकालार्थकप्रत्ययेन अनुशासनमध्य एवागमनं बोधितम्, तेन चान्यानुपायान् सम्यग् व्याचक्षाणेऽपि युधिष्ठिरे भीमादिजयविषये किं वदेदिति तस्याशक्तिं समीक्ष्य तद्गौरवरक्षणाय तदुपायं स्वयमुपदेष्टुमागतो व्यास इति ध्वनितं भवति। इह अर्जुनाग्रज इति भीमविशेषणं परमनीतिज्ञस्यार्जुनस्य संबन्धं बोधयदुपदेश्यतां पोषयति, अर्जुनादीनामयमग्रज इत्यस्मिन्नुपदिश्य सान्त्विते सर्वे ते सान्त्विता भविष्यन्तीति वा।

५५.

भगवन्तं व्यासं वर्णयति कविः— स हि भगवान् व्यासः सर्वानुग्रहाय सर्वत्र शान्तिमयीमाह्लादकरीं दृष्टिं प्रसारयति, तस्याश्च दृष्टेः स तादृशः कोऽपि प्रभावः, यत्सम्बन्धेन अत्यन्तं तामसानि, विवेकबुद्धिरहितानि च तिर्यग्योनिगतानि हिंस्राण्यपि सिंहादीनि भूतानि विवशीभूय मनसि शान्तिं लभन्ते, अनुचितेभ्यो हिंसादिव्यापारेभ्य उपरमन्ति। तिर्यञ्चि इति नपुंसकलिङ्गपदोपन्यासेन तिर्यञ्चि अपि यान्यत्यन्ततामसानि नपुंसकानि, तान्यपि शमं प्राप्नुवन्ति, किमु वक्तव्यमन्येषामिति द्योत्यत इति चित्रभानुः। किं च भगवन्तं व्यासं परितस्तेजोमण्डलं विराजते, तच्च तेजोमण्डलम् अत्युज्ज्वलम्, व्यासम्, आलोकनेनैव दुरितदाहकम्, न च सूर्याग्न्यादितापवत्तीक्ष्णम, किन्तु दर्शनयोग्यम्। तेजसो विशेषणत्रये एकैकेन क्रमेण सूर्याग्निचन्द्रतेजः-सादृश्यम्—अपराभ्यां चैकैकापेक्षया व्यतिरेको व्यञ्जित इति चित्रभानुः। पटुव्यासमिति सूर्यतेजःसाम्यम्, दहनमिति अग्नितेजःसाम्यम्,

---

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम्।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः॥ ५४॥
मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः।
परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम्॥ ५५॥

विलोकनक्षममिति चन्द्रतेजःसम्यम्, तथैव विलोकनक्षममिति सूर्याग्निव्यतिरेकः, दहनमिति चन्द्रव्यतिरेकः, पटु इत्यादिव्यतिरेक इति विवेच्यम्।

५६.

पूर्वश्लोकेनैव सम्बन्धः—किं च-स भगवान् व्यास ईदृशस्तपस्वी धार्मिकः यत्तपांसि–पुण्यानीत एवोत्पन्नानीति जनानां बुद्धिर्जायते। आपदां च दर्शनमात्रेण निवर्तकः। राज्ञा तदागमनेनेत्थं संभावितम्–यन्मदीयः पुण्यराशिरेवायं शरीरं धृत्वा आगत इति। एतादृशो व्यासोऽकस्मादेव युधिष्ठिरेण दृष्टः, न हि तस्यागमनं पूर्वं संभावितमासीत्। तेन च दर्शनकाल एव युधिष्ठिरस्य विस्मय उदभूत्। अनेन श्लोकद्वयेन व्यासदर्शनात्पूर्वं युधिष्ठिरादीनां मनसि य आसीद् वितर्कः—सोऽप्यभिव्यञ्जित इति चित्रभानुः। तथा हि—मधुरैरवशानीत्यादिना पूर्वमकस्माद्वनं शान्तमृगपक्षिगणं विलोक्य तेषां मनसि किमेतदिति वितर्क उदभूद्–इति व्यञ्जितम्। तदनु परितः पटु इत्यादिना सूर्यशशाङ्कवह्निविलक्षणं परितः प्रसर्पत् किमपि धाम पश्यतां हरिहरादिभिर्देशोऽयमलं क्रियते इति सचमत्कारो हर्षः समभूद्–इति द्योतितम्। ततश्चाकस्मादेव प्रादुर्भूतस्तत्रभवान् भगवान् व्यासो दृष्टः, तं दृष्ट्वा सविस्मयो हर्षातिरेकः समजनीति।

५७.

व्यासं दृष्ट्वैव युधिष्ठिरः स्वस्थानादुत्थितः, त्वरावशात् तेन परिहितस्य रक्तवर्णस्य वल्कलस्याग्रं प्रकम्पमानम्–इतस्ततः परिस्खलद् दृश्यते। तेन च सुमेरुशृङ्गादुद्यतः सूर्यस्येव तस्य शोभाऽभूत्। सूर्यकिरणजालेन वल्कलाग्रस्य, सुमेरुशृङ्गेण च युधिष्ठिरासनस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावः। इह वने निवसतः परिहितवल्कलस्य युधिष्ठिरस्य सौवर्णं सिंहासनं न संभवतीति आस्तृतं कुशाद्यासनमेवास्माभिर्व्याख्यातम्, उन्नतत्वं तु तस्य युधिष्ठिरादरार्थं भ्रातृभिर्विहितायां मृदादिवेद्यां स्थितत्वात्। (यद्वोन्नतं काष्ठमञ्चादीह विवक्षितमस्तु) परार्ध्यत्वं च महापुरुषस्य युधिष्ठिरस्य तत्रोपवेशनादेव कविना निरूपितम्। पावनत्व-सत्सेव्यत्वादिधर्मैरेव सुमेरुशृङ्गसादृश्यमपि तत्र निर्वाह्यम्। यद्वा व्यासदर्शनेन स्वस्याभ्युदयं करतलामलकवद्विभाव्य हृष्टो युधिष्ठिरो वनवासादिकं विस्मृत्य राजसिंहासनस्थमेवात्मानममन्यतेति तस्य तां बुद्धिमनुकुर्वता कविनापि तदासनं सिंहासनत्वेनैव निरूपितमिति चित्रभानुः। शीतरश्मिररिति पाठं मत्वा चन्द्रसादृश्यं च तेन युधिष्ठिरस्योक्तम्। यथा च सुमेरुशृङ्गाच्चन्द्रसूर्यादेरुद्गमो लोके प्रकाशाय, जगतः

सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम्।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः॥ ५६॥
अथोच्चकैरासनतः परार्ध्यादुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः॥ ५७॥

शुभाय—तथा युधिष्ठिरस्यापि व्यासदर्शनसूचितोऽभ्युदयो जगतः शुभायैवेत्युपमा-व्यङ्ग्यमपि स एवाह।

५८.

व्यासागमनजन्येन हर्षेण यश्चेतस उल्लासोऽभूत्, तं निगृह्य, चित्तमवहितं कृत्वा, युधिष्ठिरो धौम्यं पुरोहितमग्रतः कृत्वा, तदुपदेशेन भगवतो व्यासस्य ऋषियोग्यां सपर्यां सम्यग् विदधौ। तं ससंमानमासने समुपावेश्य च तदाज्ञया पश्चात्स्वयमप्यासन उपविष्टः। युधिष्ठिरेणाध्यासितस्यासनस्य तथा शोभा आसीद्, यथा प्रशमेन शास्त्रज्ञानस्य शोभा जायते। इह नरेन्द्रपदं युधिष्ठिरस्य 'मुनि-प्रसादेन शीघ्रमेव नरेन्द्रत्वं प्राप्स्यामीति' सुदृढं विश्वासं व्यनक्ति। उपमया च युधिष्ठिरस्य प्रशमस्तद्व्यवहारेण व्यासेन सुष्ठु लक्षित इति व्यज्यत इति चित्रभानुराह।

५९.

हर्षजनितेन स्मितेन दन्तमयूखानां निर्गमाद् युधिष्ठिरस्योष्ठौ सुशोभिता-वास्ताम्, तेन तस्य मुखं चन्द्रेण पूर्णं साम्यं गतम्। व्यासस्य तु मुखं परितस्तेजोमण्डलं विराजते एव, स एव बृहस्पति-ग्रह-सदृशः प्रतीयते। तेन पूर्णतेजसो बृहस्पतेः संमुखभागे स्थितस्य चन्द्रस्य या कान्तिः, सैव तदा व्यासमुखे स्थिते युधिष्ठिरे दृश्यते स्म। शशाङ्कमूर्तेरिति मूर्तिपदो-पादानेनेदं व्यज्यते—यथा चन्द्रस्य मूर्तिभूते दृश्ये मण्डले एव क्षयकलङ्कादि-दोषः प्रतीयते, न तु तदधिष्ठातरि देवे चन्द्रे, तथा उपमेयभूतस्य युधिष्ठिरस्यापि शरीर एव वनवासकृताः, कार्श्यादिदोषाः, न तु शुद्धे तदात्मनीति। इद्धमंशुजालं तन्वन्तमिति गुरुविशेषणं घनतुहिनाद्यावरणाभावं बोधयत् शरद्वसन्ततुकालिकतां द्योतयति, स्वोच्चक्षेत्रस्थितत्वं च। संमुखे तिष्ठंश्चन्द्रो गुरुणा दृष्टो भवतीति ज्योतिर्विदां संप्रदायः, ततश्च स्वोच्चक्षेत्रगतेन गुरुणा दृष्टश्चन्द्रो यथा जगदभ्युदयहेतुः, तथैवायं व्यासेनानुगृहीतो युधिष्ठिरोऽपीत्युपमया व्यज्यत इति चित्रभानुः। व्यासस्य गुरुसादृश्यकथनेन तेन करिष्यमाणो हितोपदेशोऽपि सम्यग् द्योतितो भवति। युधिष्ठिरस्य सकलचन्द्रसादृश्यकथनं च तस्यापि सकल-ताम्—प्राप्तराज्यताम्—द्योतयदभ्युदयस्यावश्यंभावितां व्यनक्ति।

इति किरातार्जुनीये द्वितीयः सर्गः।

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम्।
तदनुमतमलञ्चकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः॥ ५८॥
व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठस्तिष्ठन्मुनेरभिमुखं स विकीर्णधाम्नः।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः॥५९॥

किरातार्जुनीयस्य तृतीयः सर्गः

अथ चतुःश्लोकात्मकेन कलापकेन व्यासवर्णनम्

१.

अतितेजस्वी व्यासस्तदानीमुपविष्टोऽप्यूर्ध्वगामिभिः शरच्चन्द्रकिरणावदातैः स्वतेजोभिर्विशालकायः प्रतीयते स्म। अपि च स ईषत् कृष्णवर्णः पीतजटाविशिष्टश्चासीदिति विद्युद्युक्तमेघसदृशो बभौ। विद्युज्जटयोः पीतवर्णत्वात् साम्यम्। दिवापि व्यासस्य तेजोंऽशूनामुत्सर्पणोक्त्या सूर्यरश्मीनभिभूय तेषां व्याप्तिरित्युक्तं भवति।

२.

भगवति व्यासे मूर्तिमतीव पूर्णा प्रसादलक्ष्मीर्विराजमानासीत्, तादृशी सौम्या मधुरा च भगवतस्तस्याकृतिरासीद् यां दृष्ट्वा यः कश्चिद् 'व्यासोऽयम्' इति तं भगवन्तं न परिचिनोति, तस्यापि मनसि बलात्तद्विषये श्रद्धामयः स्नेहः प्रादुर्भवत्येव, व्यास एव स्वाकृत्या बलात्तेषां मनसि भक्तिमुत्पादयतीति प्रतीयते। अवश्यं भक्त्युत्पत्तिमभिव्यञ्जयितुं व्यासस्य समासञ्जनकर्तृत्वमारोपितम्। व्यासो भावमुत्पादयतीत्यपि नोक्तम्—उत्पत्तौ कालविलम्बप्रतीतेः, स तु स्वसविधे स्थितं भावं तन्मनस्सु दर्शनमात्रेण समासञ्जयति—इति।

३.

उद्दण्डताया यत्र लेशोऽपि नास्ति, तथाभूता भगवतो व्यासस्याकृतिरेव तस्य चेतसः परां शान्तिमेकाग्रतां च प्रकटयति स्म, अथवा शान्तां तदीयामाकृतिमालोकयतामपि मानसी वृत्तिः पवित्रा शान्तैकाग्रा च जायते स्म। तदानीं मधुरया विश्वासजुषा दृशा पश्यन् स तथा लक्ष्यते स्म यथासौ आलपन् दर्शकान् संभावयति। आलापेन च आनन्दः स तद्दृश्यैव जायते स्म। अथवा एवं प्रतीयतेस्म—यथासौ विपद्ग्रस्तान् दृष्टिसंज्ञयोपसान्त्वयति। व्यासं दृष्ट्वा सर्वेषामन्तर्बहिश्च प्रशान्ता वृत्तिरुदेतीत्युक्त्या क्रोधेनाविष्टस्य भीमस्यापि वृत्तिः शान्ता

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ॥ १ ॥
प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ॥ २ ॥
अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम्।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसम्भाषमिवेक्षितेन ॥ ३ ॥

जातेति व्यञ्जितम्। दृष्ट्या कृतोपसंभाषमिवेत्युक्त्या च तादृशस्य गभीरस्य मुनीन्द्रस्याशयमविज्ञाय वक्तुमनीशोऽपि युधिष्ठिरस्तद्दृष्टिपातेन तत्संभाषणमनुभूय वचने प्रगल्भोऽभूदिति व्यज्यत इति चित्रभानुः। इह व्यासवर्णनपरेषु श्लोकेषु तद्दर्शिना यथानुभवो जायते—तथा क्रमोऽपि निर्दिष्ट इति व्याख्यानस्यापरोऽध्वा चित्रभानुना दर्शितः। तथा हि दूराद्दर्शनार्थमागच्छन्तः पूर्वं दर्शनीयस्य चान्द्रस्येव तेजसोंऽशुजालं पश्यन्ति, तदनु भृशं स्निग्धकृष्णां तदीयां रुचिम्। मूर्तेर्निर्गत्य बहिः प्रसरन्तस्तेजोऽवयवा अंशुकरादिशब्दैरुच्यन्ते, मूर्त्यनुस्यूता प्रकाशसमष्टिश्च दीप्तिरुच्यादिशब्दैरिति। ततस्तस्य जटास्तेषां दृग्गोचरीभवन्ति। अथ सन्निहितास्ते भगवतः प्रसादलक्ष्मीमनुभवन्ति, तया तेषां मनसि कोऽपि भक्तिविशेषः प्रादुर्भवति। तदनु प्रशान्त आकारास्ते सम्यगालोक्यन्ते, तेन तेषामपि चेतसि शान्तिरैकाग्रता चोदेति। ततो माधुर्यं स्रवन्त्या दृष्ट्या हितमनुकूलं चालपन्निव सर्वविधां चातिंशमयन्निव भगवांस्तैः प्रतीयत इति। अग्रे श्रुतीनां प्रसूतिरित्युक्त्या ततस्तदुपदेशलाभस्तेषां जायत इत्यपि व्यञ्जितं द्रष्टव्यम्।

४.

अभ्युदयनिःश्रेयसयोः साधनभूतस्य धर्मस्य प्रतिपादिकाः पतनहेतोरधर्मस्य च निषेधिका ऋग्यजुःसामाख्याः श्रुतयो व्यासेन कलेरादौ पृथक् पृथग् विभज्य लोके परम्पराख्यसम्प्रदायप्रवर्तनेन प्रचारं नीताः। तं सुखेनासने उपविष्टं भगवन्तं व्यासं प्रति तदानीं तदागमनकारणजिज्ञासया युधिष्ठिरो वक्तुमारभत।

५.

भगवन् व्यास! यैः पुरा पुष्कलः पुण्यराशिरर्जितः, त एव श्रेयोनिदानं रजसस्तज्जनितदुरितदुःखादेश्च प्रसरं निरुन्धानमनभ्रवृष्टिसदृशमिदं भवद्दर्शनं प्राप्तुं शक्नुवन्ति, नान्ये अकृतपुण्याः। किं च भवद्दर्शनं भविष्यति श्रेयःसंपादकम्। तेन कालत्रयेऽपि दुरितक्षयपुण्यसंपद्रूपा योग्यता भवद्दर्शनेन व्यज्यते। अनाप्तपुण्योपचयैरिति भूतकाले पुण्यसंपद् व्यञ्जिता निर्धूतरजा इति संप्रति। (रजोनिर्धूननस्य वर्तमानत्वेऽपि सुकरत्वमविलम्बितत्वं च व्यञ्जयितुं भूतकालिकः प्रत्ययः—निर्धूत इति।) फलस्य सवित्रीमिति भविष्यत्काले पुण्यसंपत्समृद्ध्यादि व्यञ्जितम्। इत्थं निगूढमत्रोक्तः स्वार्थो माघेन 'हरत्यघं संप्रति' इत्यादिना कृष्णनारदसंवादे व्यक्तीकृतः। तेन वयमपि भवद्दर्शनभाजः पूर्वं कृतपुण्याः, इदानीं

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम्।
हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे ॥ ४ ॥
अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री।
तुल्या भवद्दर्शनसम्पदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः ॥ ५ ॥

विनष्टपापाः, भविष्यति श्रेयोभाजनानि चेति द्योतितम् । इह वीतवलाहकाया दिवो वृष्टिः—अनभ्रवृष्टि, सा यथा अतर्कितमुपनयति, तथा भवद्दर्शनमतर्कितोपनतमिति मल्लिनाथेन व्याख्यातम् । परमनादापुण्योपचयैर्दुरापेत्यादिविशेषणानि तस्यां वृष्टौ कथं संगच्छन्ते, इत्यत्र तस्य सूरेर्मौनमेव । केवलं निर्धूतरजाः—इति विशेषणमुभयपरतया तेन योजितम् । विशेषणानां सर्वेषां तत्रानन्वये च कश्चमत्कार इति सहृदया एव साक्षिणः । चित्रभानुस्तु दिवो वृष्टिरित्युक्त्या द्युसरितः—आकाशगङ्गायाः—तत्सलिलस्य वृष्टिरित्युक्तं भवतीत्याह । वीतवलाहकाया इत्युक्त्या च मलिनतादिदोषसम्बन्धस्तत्र वारित इति । बलाहकरहिता वृष्टिर्वसुधाविशुद्धिसमृद्धिहेतुः, पुण्यतमनभोगङ्गाप्रवाहोद्भूतेति पुराणेषु श्रूयते, इति च तेन स्वपक्षः समर्थ्यते । तेनविशेषणत्रययोगस्तत्र साधु समर्थित एव । निर्धूतरजाः—इत्यनेन ग्रीष्मकालिकरजोनिर्धूननमुक्तम्, तेन तापशान्तिश्च व्यञ्जितत्यरमनुकूलम् । परे तु वीतवलाहकाया दिवोवृष्टिः शारदी वृष्टिरिह विवक्षितेत्याहुः । शरदर्तौ बलाहका वर्षायां निरन्तरं स्थिता अपयान्ति, द्यौर्विमला भवतीति प्रसिद्धमेव, तदेव वीतवलाहकपदेनाभिप्रेतम् । 'क्वचित्पुण्यतमे देशे वृष्टिर्भवति शारदी' इति प्रसिद्धेः प्रथमविशेषणयोगस्तत्र सिद्धः । निर्धूतरजा इति रजः-पदेन च वृष्ट्युदककर्दमादिजन्य—कालुष्यम्, सरोजालादिषु मिश्रितं रजो वा विवक्षितम्, यस्य निर्धूननं तस्यां सुप्रसिद्धमेव सस्यादिफलसमृद्धौ यया तस्या उपयोगः, स तु आबालहालिकं ज्ञात इति । पक्षाणामेषां तारतम्यं विवेचयन्तु सुधियः ।

६.

भगवन् व्यास ! मयाद्य स्वानुष्ठितक्रतूनां फलमुपलब्धं, अद्यैव च विप्रैर्वितीर्णानामाशिषां फलम् प्राप्तम्, (अद्य मे संसारे जन्म सफलं जातम्) यत् मदन्तिकमुपागतवता भवता जगत्यहं परमं गौरवं प्रापितः । लोके गौरवमेव जनानामभिलषणीयं वस्तु, तदभीप्सितं भवदागमनेन सम्पन्नम्, अतः कृतार्थोऽस्मि । क्रतूनाम्, भूमिदेवाः—इति बहुवचनाभ्याम्—अनेकजन्मार्जितयावत्क्रतूनाम् सर्वब्राह्मणाशिषां च फलभूतमतीव दुर्लभं त्वद्दर्शनमिति द्योत्यते । भूमिदेवा इति पदं देववन्निग्रहानुग्रहसामर्थ्यं ब्राह्मणेषु व्यक्ति, तेन तदाशिषां महत्त्वं द्योत्यते ।

७.

भवतो दर्शनं श्रीवृद्ध्यादिसर्वश्रेयोनिदानं यथा ब्रह्मणः । भवान् हि ब्रह्मणा

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः ।
आ संसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद्बहुमानपात्रम् ॥ ६ ॥
श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्नौति तनोति कीर्तिम् ।
संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते ॥ ७ ॥

सदृशः, सोऽपि लोकगुरुः, भवानपि लोकगुरुरिति । न हि भवतो दर्शनं कदापि निष्फलं भवति । तेन ममापि श्रेयः प्राप्तिर्निश्चितैवेति व्यङ्ग्यम् ।

८.

भगवन् व्यासमुने ! बन्धुवियोगात् प्रभृति सुधास्राविणं चन्द्रमसं दृष्ट्वापि बन्धुदर्शनोत्कं मे चक्षुर्न मनागपि तृप्तिं लेभे, परमिदानीं त्वयि दृष्टे चक्षुरिदं निरतिशयां तृप्तिमधिगच्छति । किं च भवदागमनात् प्राग् बन्धुविरहतप्तं जीवनाशाशून्यं मम मानसं संप्रति त्वत्सन्निधाने कथंचित् तापं त्यजति, शान्तमिव च भवति ।

९.

भगवान् व्यास ! त्वां प्रत्येवमकस्मादागमनस्य प्रयोजनं पृच्छानीति चेतसि कूतूहलं जायते । पुनश्च विवेकबुद्धिरुदेति अस्थाने कुतूहलमिदम्, अकिञ्चना वयं किं साधयितुं शक्नुमः, यदुद्दिश्य भगवानत्रागतो भवेत् । आशा-पाशबद्धाः केचन भावि फलनभिसन्धायाप्यस्मदनुगतिं कुर्युः, यैस्तु सकलविषय-वासनैव त्यक्ता, ते भवादृशाः सर्वत्रापि प्रयोजनशून्या अस्मासु किमुद्दिशेयुः । सैषा बुद्धिः कुतूहलं रुणद्धि । परं पुनस्तद्वाक्यश्रवणोत्कण्ठा बलात्प्रवर्तयति, जनामि—भवान् स्वार्थे निःस्पृहः, किन्तु लोकहिते तु स्पृहा जागर्त्येव भवादृशाम् । तदास्मद्धितमेव आगमनप्रयोजनं भवेत्, तदस्माभिः श्रोतव्यमेव, अनेनैव च व्याजेन त्वद्वचः कर्णे निपत्यास्मान् पावयिष्यतीति प्रश्ने प्रवृत्तिर्जायत एव ।

१०.

यद्यपि युधिष्ठिरस्य चेतसि 'विजयसिद्धेरुपायं भगवन्तं व्यासं प्रति पृच्छानि' इत्यभिलाष आसीत्, तथाप्युदारप्रकृतितया तेन स्पष्टं ग्राम्यतया न स प्रकटितः, अपि तु 'फलस्य सवित्री भवद्दर्शनसंपत्' 'त्वद्दर्शनं श्रियं विकर्षति' 'कल्याणकरीं ते गिरम्' इत्यादिना व्यङ्ग्येनैव प्रकटितः । तमेवंविधं युधिष्ठिरस्य विनीतं मनोहरं भाषितमाकर्ण्य 'केनोपायेनास्य जयसिद्धिर्भवेद् , इति सुनिपुणमेकाग्रेण मनसा विचार्य तदनुरुपमेव' व्यासः तस्मै वक्ष्यमाणमुपदिदेश ।

श्च्योतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे न निर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः ।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्सन्निधावुच्छ्वसतीव चेतः ॥ ८ ॥

निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम् ।
तथाऽपि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ॥ ९ ॥

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः ॥ १० ॥

११.

ये जना इह लोके परलोके च आत्मनः श्रेयो यशश्च कामयन्ते, तैर्बन्धुष्व-पक्षपातेन वर्तितव्यम्, एकत्र रागोऽपरत्र द्वेष इति न करणीयम्, सर्वैस्तुल्यमेव व्यवहर्तव्यम्। मादृशैस्तपः परायणैस्त्वत्र विषये विशेषतोऽवधातव्यम्, निःस्पृहाणां तेषां विषमव्यवहारस्य सर्वथानुचितत्वात्। चित्रभानुस्तु बन्धुवर्गस्य परस्परं वैरे सति ये तटस्थाः उभयोरपि समृद्धिं स्वयशसे कामयन्ते, न तु क्वचिद्रागो द्वेषो वा येषाम्, तेषां सम एव व्यवहार उचित इत्यभिप्रायेण योजितवान्, तथा च परस्परं विरुद्धा अपि दुर्योधनाद्या यूयं च मम दृष्टौ समाना एव यद्यपि, तथापी-त्याद्युत्तरेण सम्बन्धः। जन्मवतामित्युक्त्या सकलजन्मधारिणामयं धर्मः, अनेनैव जन्मसाफल्यमिति द्योतितम्। तपोधनानामित्युक्त्या तप एवैषां धनम्, न त्वन्यद्धनं ते वाञ्छन्ति, ततश्च कस्येच्छया वैषम्यं कुर्युरिति सूचितम्।

१२.

युधिष्ठिर! पूर्वोक्तप्रकारेण यद्यपि मम बन्धुषु तुल्यवृत्तिरेवोचिता, तथापि त्वद्गुणगणाकृष्टं मम मनस्त्वयि विशेषेणानुरक्तम्। न चात्र मम कोऽपि दोषः, न चैतेन मम मुमुक्षुत्वहानिः, न वा माध्यस्थ्यक्षतिः, यतो हि गुणवत्तरेषु मुमुक्षूणामपि पक्षपातो भवत्येवेति प्रकृत्या सिद्धमिदम्। अस्मादृशैः पक्षपातो न क्रियते, अपि तु गुणहेतुकः पक्षपातः स्वयमेव जायते—इति 'भवन्ति' पदेन व्यञ्जितम्। गुणानामेव स्वभावः, यत्ते सर्वेषामेव चेत आकर्षयन्ति—इति।

१३.

राजन्! धृतराष्ट्रेण यद्यूयं शत्रुपक्षे निक्षिप्ताः, छलेन राज्यादपसारिताश्च, तस्याहं कारणं न पश्यामि, परो हि दूरीक्रियते, यूयं तु तस्य कनिष्ठभ्रातुः पाण्डोः पुत्राः—इति धृतराष्ट्रस्यापि पुत्रा एव, बाल्यात् प्रभृति पितृविरहितानां युष्माकं पालनभारोऽपि धृतराराष्ट्रशिरसीति ततोऽपि सिद्धं पुत्रत्वम्। पुत्रोपेक्षणं च सर्वथा-नुचितम्। यूयमयोग्याः स्थ—इत्यपि नोपेक्षाकारणं युज्यते वक्तुम्, दुर्योधनाद्य-पेक्षया युष्माकं गुणवत्त्वातिशयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात्, तथा च धृतराष्ट्रो वृथैव भवतस्त्यक्तवान्, अथवा किमत्र वक्तव्यम्, विषयलोलुपाः सर्वथा विवेकशून्या

चिचीषतां जन्मवतामलघ्वीं यशोऽवतंसामुभयत्र भूतिम्।
अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम्॥ ११॥
अथाऽपि निघ्नं नृप तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः॥ १२॥
सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः।
यस्त्यक्तवान्वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः॥ १३॥

एव भवन्ति। धृतराष्ट्रस्य विषयलोलुपत्वमेव भवतां त्यागे हेतुः, नान्यः कोऽपीति। औरसाः पुत्रा अपि स्वभावेनेन्द्रियप्रीतिहेतवो विषयपदेन विवक्षिता इति चित्रभानुः। सुयोधनपदं तस्य युद्धे पाटवं बोधयद् गुणहीनतां व्यनक्ति। तस्य राज्ञ इत्युक्तिर्विषयलोलुपः स नामग्रहणस्याप्ययोग्य इति व्यासस्य तद्विषये अमर्षं द्योतयति।

१४.

राजन् युधिष्ठिर! 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' इत्यभियुक्तोक्त्या धृतराष्ट्रस्यार्थहानिसमयः प्राप्त एव, यतः स विवादास्पदविषयेषु कुटिलमतीनां कर्णादीनामेव सम्मतिमाद्रियते, दुर्जनैः सह सम्पर्कमात्रमेव जयविघातकं विपत्कारणं च भवति; तैः सह घनिष्टतामापद्य तदुपरि विश्वासे तु किमु वक्तव्यम्। तथा च कर्णशकुन्यादिपरामर्शस्यैव फलं भवतां त्यागः न तु साधुजनभीष्मविदुराद्यनुमतोऽयं पन्थाः। आभ्यां श्लोकाभ्यां परपक्षस्य दुष्टत्वमुक्तम्, तत एव मम तेषु विरक्तिरिति व्यासाभिप्रायः।

१५.

युधिष्ठिर! यद्यपि तव शत्रवो मध्येसभं स्त्रीग्रहणसाहसादीनि दुष्टकर्माणि कृत्वा धर्ममार्गाद् भ्रष्टा जाताः, तथापि त्वं धर्मात् पदमपि नाचलः, सर्वं तेषामत्याचारं सोढवान्। तेन त्वया स्पष्टं प्रकटितम्—गुणेष्वेवोत्कृष्टस्ते प्रेमा, न संपदादिष्विति। स चायं गुणस्नेह एतावांस्तव प्रबलः, यत्तव विपत्तौ सत्यामपि तस्य विपत्तिर्न भवति। 'पथश्च्युतायाम्' इत्युक्त्या तव शत्रवः सर्वेऽपि न केवलं सकृद् धर्मं त्यक्तवन्तः, अपि तु धर्ममार्गादेव ते भ्रष्टाः, तेषां पुनर्धर्मप्राप्तिराशापि नास्तीति द्योतितम्। तथा च 'शठं प्रति शठं कुर्याद्' इति नीतिमपि परित्यज्य धर्मपरेण त्वया गुणा गृहीताः—इति मम पक्षपातस्त्वयि योग्य एवेति। त्वयेत्येकवचनेन त्वद्भ्रातरो भीमाद्या अपि विचलिताः, त्वमेक एवाविचलोऽसि इति सूचितमिति चित्रभानुः।

१६.

तव वृत्तिः सदैव शान्तिपरा, एवंभूतस्यापि तव यदिदं शत्रुभिश्छलमाश्रित्या-

---

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि॥ १४॥
पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु॥ १५॥
विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते॥ १६॥

पकृतम्, तदेतत् तेषां स्वयमेव स्वपादयोः कुठाराघात इव विनाशाय सम्पन्नम्। तव तु तेन लाभ एव जातः। यथा भूयो भूयो निघर्षणं सुरभिचन्दनकाष्ठस्य लोकोत्तरं सौरभमेव प्रकाशयति, तथैव शत्रुभिर्भृशं क्रियमाणोऽपकारस्तव बुद्धेः सद्वृत्तस्य च प्रकर्षमेव प्रख्यापयति स्म, इति मन्ये शत्रुकृतोऽयमपकारोऽपि तवोपकारायैव संवृत्तः। तैरपकारबुद्ध्यैव त्वय्यत्याचारः कृतः, परं त्वद्गुणास्तेन ख्यातिं गता इति उपकाररूपेण त्वयि परिणतः। गुणख्यातिरेव जगति जनानां परमो लाभ इति। तेषां च दुरात्मता ख्यातिं गतेति तेषां विनाशोऽयमेव।

१७.

व्यासो वक्ति-राजन्! कीर्तिस्त्वया साधु लब्धा, किन्तु भूमिरपि (राज्यमपि) लब्धव्यमेव, न च दुर्योधनः कथमपि स्वयं राज्यं दास्यति, ततश्च त्वया पराक्रमेणैव राज्यमधिगन्तुं शक्यम्, नेतरथा। किन्तु तव शत्रुपक्षे सन्ति बहवोऽतिवीराः, व्यवसायः, अस्त्राणि, सैन्यानि च तत्रातिप्रचुराणि, अतस्त्वया तथा यतनीयम्, यथा त्वं शौर्यादिषु शत्रोरपेक्षयाधिकः स्याः, संग्रामे हि जयलक्ष्मीः प्रबलमेव वृणुते न दुर्बलम्। द्यूतच्छलादिभिर्दुर्बलोऽपि जयं कदाचिल्लभेत, रणे तु बलप्रकर्षेणैव जय इति रणशब्दोपादानम्। तथापि कदाचिद्दैवेन दुर्बलानां जयः स्यात्, परं जयश्रीः—प्रशस्यो जयस्तु उत्कर्षायत्त एवेति श्रीशब्दोपादनम्।

१८.

पूर्वस्मिन् पद्ये उक्तं शत्रुपक्षस्याधिकत्वमेव वर्णयति व्यासः। यत्र युग्मकेन भीष्मं तावत् प्रस्तौति—राजन्! भीष्मस्यैव प्रभावं तावदालोचय। परशुरामः खल्वेकविंशतिं वारान् भुवं क्षत्रियशून्यां विदधे, स एव भीष्मं धनुर्वेदमध्यापयामास। परमम्बिकानाम्न्या कन्याया विवाहप्रसङ्गे तत्पक्षमाश्रित्य युध्यमानः स्वशिष्याद् भीष्मात् पराजयं प्राप। एवं स्वदत्ताया एवास्त्रविद्यायाः स्वशिष्ये भीष्मे स्वस्मादपि प्रकर्षं विज्ञाय अनुबभूव यत् गुणानां प्रकर्षः पात्राधीनः। विशिष्टे पात्रे न्यस्ता गुणा विशेषं गच्छन्ति, यन्मद्विद्या, मच्छिक्षिताः प्रयोगलाघवादयश्च भीष्मे मदपेक्षयापि प्रकर्षं गता इति। न केवलं राज्ञाम्, अपितु जगत्याः-विस्तृतस्य भूमण्डलस्य पतीनाम्, न केवलं जेता, किन्तु हन्ता तदपि यदृच्छया नैकवारम्-अपितु त्रिःसप्तकृत्वः-इति परशुरामस्य परमुत्कर्षं व्यक्तीकुर्वन्ति पदानीत्यादि चित्रभानुः।

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः॥ १७॥
त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम्॥ १८॥

१९.

अन्येषां मृत्युर्यमाधीनः, परं स्वच्छन्दमृत्युतया भीष्मस्य मृत्युस्तदधीनो नास्ति, अतस्तद्विषये यमोऽपि पराभूत इति तस्यापि लज्जा संभाव्यते। तथा च यत्र यमपराक्रमोऽपि कुण्ठितो भवति, स भीष्मो रणभूमौ यदा धनुरास्फालयति, तदा कस्य चेतसि भयं न जायेत, सर्वेऽपि भीष्मस्य शरासनारोपणमात्रेण भीता भवन्ति। ततश्च तेन सह युद्धे न कस्यापि सामर्थ्यम्। कथं स दुर्योधनपक्षपाती भवद्भिर्जीयेत।

२०.

युधिष्ठिर! युष्मासु क एतादृशः शूरो यो रणभूमिमवतीर्णस्य अस्त्रप्रयोगैः, शरवर्षैश्च शत्रूनाच्छादयतो निरतिशयक्रुद्धस्य द्रोणाचार्यस्य संमुखीनः स्यात्, स हि तदानीं त्रिभुवनं भस्मसात्कर्तुमुद्यतो ज्वालारूपाः स्वजिह्वाः प्रसारयन् कालानल इव सर्वथा दुरभिभवो युष्माकम्।

२१.

यः खलु कोपाटोपमात्रेण महामहतो धीरानप्यधीरयति, यद्वा धीरोऽपि यः कोपमाश्रित्य संग्रामे धैर्यं जहाति, भार्गवः परशुरामो यं धनुर्वेदमध्यापयति स्म, तं वीरं कर्णं संग्रामे युध्यमानं दृष्ट्वा सर्वलोकभयङ्करस्य मृत्योरपि हृदि नूनम् अननुभूतपूर्वं भयमुत्पत्स्यत इति संभाव्यते। आराधितेत्युक्त्या देववदाराधनप्रसन्नेन परशुरामेण सर्वोऽप्यस्त्रग्रामस्तस्मै दत्त इति प्रतीयते। इह पूर्वं 'वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षो ज्यायानि'-त्युपन्यस्तम्, तदनुसारिणैव तद्विवरणेन भीष्मे वीर्यस्य, द्रोणे अस्त्राणाम्, कर्णे च बलस्यातिशयो विवृतः।

२२. २३.

राजन्! युधिष्ठिर! नाहं भीष्मादिवर्णनेन त्वां भीषयितुमिच्छामि, न वा तव युद्धसाहसमपनेतुमत्रागतोऽस्मि, अपितु युद्धे यः प्रकर्षोऽपेक्ष्यते, तल्लाभार्थमहं

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः॥ १९॥
सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः।
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम्॥ २०॥
निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः॥ २१॥
यया समासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम्।
एते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन॥ २२॥
महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप! देवतानाम्।
दातुं प्रदानोचित! भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम्॥ २३॥

त्वद्भ्रात्रेऽर्जुनायोपासनापद्धतिसहितं मन्त्रं प्रदास्यामि, तेनास्य साधनशक्तिः प्रादुर्भविष्यति, तयैव पद्धत्या तेनैव च मन्त्रेणायं महाप्रभावा इन्द्राद्या देवता आराधयिष्यति, तपश्चातिकठिनम् , शीतोष्णवर्षक्षुत्पिपासादिसहनरूपम् करिष्यति। ततश्च देवताप्रसादेन मनुष्यदुर्लभस्तादृशः प्रभावः, तादृशानामस्त्राणां लाभश्चास्य भविष्यति, येनायं भीष्मादीनपि निहत्य जयं प्राप्स्यतीति मत्प्रत्ता विद्येयं साक्षात् सिद्धिरेव त्वया संभावनीया। अस्यां न सिद्धिर्विदूरे-इति।

२४.

पूर्वोक्तं विद्यादानं प्रतिज्ञाय व्यासो विरराम, तदनन्तरं युधिष्ठिरस्तं प्रसन्नं विज्ञाय 'वत्स विद्याग्रहणाय भगवतः समीपं व्रज, अभीप्सितं साधय, इत्यर्जुनमादिशत्। युधिष्ठिराज्ञप्तोऽर्जुनो विद्याग्रहणार्थं शिष्यवद् विनयेन व्यासस्य समीपं गतवान्। यद्यपि विद्याग्रहणे शिष्यत्वमेव मुख्यं प्राप्नोतीति 'इव' शब्दोपादनं व्यर्थमिव, तथापि चिरमन्ते वसन् प्राक्तनशिष्य इवेति विवक्षणाददोषः।

२५.

यथा प्रातरुद्यतः सूर्यस्य बिम्बान्निःसृत्य रश्मयो विकसत्सु कमलेषु प्रविशन्ति, तथैव सा विद्या व्यासस्य मुखान्निःसृत्यार्जुनमुखे प्रविवेश। देवतासान्निध्येन मन्त्रस्य वह्निकणवद्भासुरत्वमुक्तम्।

२६.

तत्त्वज्ञानं विना न विशिष्टा मन्त्रसिद्धिः 'यदेव विद्यया करोति, तद्वीर्यवद् भवति' इति श्रुत्यादिषु ज्ञानस्याङ्गतोपदेशात्। तत्त्वज्ञानन्तु योगेन (समाधिना-चित्तैकाग्र्येण) साध्यम्। योगो यद्यपि चिरकालाभ्याससाध्यः, परं महर्षिर्व्यासोऽर्जुनायातिकठिनं चिरकालग्राह्यं योगमपि स्वतपोमहिम्ना सद्य एव ग्राहितवान्। (विततार इत्युक्तम्, न शिशिक्ष-इति, तेन स्वात्मगतयोगातिशयांश एव सद्यो दत्त इति फलति) तेन च योगेन सद्योऽर्जुनस्य तत्त्वसाक्षात्कारोऽभूत्। चिरादन्धस्य दृष्टिलाभवदस्याप्यखिलाज्ञानमञ्जनं प्रकृत्यादितत्त्वसाक्षात्कारकारकं ज्ञानचक्षुरुन्मीलितम्। करतलगतामलकवत् सर्वाणि तत्त्वान्यनेन साक्षात्कृतानीति।

इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रोः।
प्रसेदिवांसं तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः ॥ २४ ॥

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद्बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥ २५ ॥

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्वितताार सद्यः।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः ॥ २६ ॥

२७.

प्राप्ते विद्यायोगोपदेशे अर्जुनस्य मनसि महान् हर्ष उत्साहश्च प्रादरभूत्। तदनुकूलैव तस्याकृतिस्तथा प्रतीयते स्म, यथानेन किमपि महदैश्वर्यं प्राप्तं भवेत्, तथाविधं तं दृष्ट्वा व्यासेन निश्चितम्-ध्रुवमयं तपःसिद्धिं प्राप्स्यतीति । ततो व्यासस्तपसि प्रवृत्तये तं वक्ष्यमाणमुपदिदेश । अत्र सन्निहितस्यार्जुनस्य इदंशब्देन परामर्शो योग्यः, न तु परोक्षवाचकेन तच्छब्देन, ततश्च तच्छब्दोऽयं तपसि प्रवृत्तस्याप्यर्जुनस्य मुनेरपेक्षया वैलक्षण्यमाह । अन्तःकरणेन नायं मुनेः सन्निहितः, तच्चास्य विजयेच्छारूपमेव, तेनैकादशसर्गकथा (वक्ष्यमाणा) द्योतितेति चित्रभानुः ।

२८.

हे अर्जुन अनेन मदुपदिष्टयोगेन ते तेजो वर्धिष्यते, तेन तपःसामर्थ्यं त्वया प्राप्यम् । इदानीं तपस्त्वया कार्यम्, तत्र सामान्या मुनीनामाचारास्त्वया पालनीयाः, निरन्तरं मन्त्रजपं कुरु, उपवासं कुरु, त्रिसन्ध्ये स्नाहि, इत्यादि । विशेषेण च तवेदं द्वयं व्रतम्-यत्त्वया नियतात् स्थानान्न चलितव्यम्, स्वस्थाने चान्यस्य प्रवेशो न देयः, (यद्वा—स्वविद्येयमन्यस्मै न शिक्षणीया) किं च तपस्यतापि सततं शस्त्रं धार्यमिति ।

२९.

हे अर्जुन ! त्वया पूर्वं सकलदेवराज इन्द्रस्तपसा प्रसाद्यः, स हि कठिनै-स्तपोभिः प्रसीदतीति दुश्चरं तपस्ते कर्तव्यम् । योग्ये च स्थाने तपःसिद्धिरिति तपोऽर्थे हिमालयस्य शिखरविशेषे इन्द्रकीलनाम्नि पर्वते त्वया गन्तव्यम् । तत्र मनोरमाः शिलासंघाताः, मनस्ते तत्र रंस्यते । दिव्यश्च स प्रदेशः, न मानु-षास्तत्रानायासेन गन्तुं शक्नुवन्ति, तस्मात्त्वां तत्र नेतुं गुह्यक एको मया नियुक्तः, स चेदानीमागत एवेति जानीहि । (अगमिष्यतोऽपि शीघ्रागमबोधनाय एष इति निर्देशः) सोऽयं स्वसिद्ध्या क्षणेनैव त्वां तं पर्वतं प्रापयिष्यति । अत्र चित्रभानु-र्व्याचष्टे—गोत्र—भिद इतीन्द्राभिधानं शत्रुविघाताय तस्य प्रसादनीयतां व्यनक्ति, यथा गोत्रानसौ भिनत्ति, तथा शत्रूंस्ते भेत्स्यतीति । तपांसीति बहुवचनेन बहु-

---

आकारमाशंसितभूरिलाभं दधानमन्तःकरणानुरूपम् ।
नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन् ।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥ २८ ॥

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि ।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम् ॥ २९ ॥

विधानि बहुकालव्याप्यानि च तपांसि त्वया कर्तव्यानीति द्योत्यते। करिष्यसे— इत्यात्मनेपदं कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, तेन स्वार्थं ते तपः, फलसिद्धिपर्यन्तं च कार्यमिति व्यञ्जितम्। नेष्यतीति परस्मैपदं तु परगामिनि क्रियाफले, तेन गुह्यकस्य तव प्रापणे कोऽपि स्वार्थो नास्तीति बोधितम्।

३०.

अर्जुनाय पूर्वोक्तमुपदिश्य व्यासस्तिरोदधे। तेन भगवता सूचितागमनश्च यक्षस्तत्क्षण एव तस्मिन् स्थाने प्राप्तः। तद्धि स्थानं भगवतो व्यासस्य मूर्तिमती आज्ञेव--इत्युत्प्रेक्षितम्। आज्ञाविषयत्वादाज्ञात्वं तत्र संभावितम्। यथा व्यासस्याज्ञा यत्नेनावश्यं पालनीया, तथा तत् स्थानमप्यवश्यमधिष्ठेयमिति तत्र सद्य एव तस्यागमनम्।

३१.

स यक्ष अगत्यार्जुनं प्रणनाम। अर्जुनोऽपि मधुरैः शुभैर्वचनैस्तेन सह संललाप। तेन यक्षः प्रियभाषिणि तस्मिन् निरतिशयमनरज्यति स्म, सुहृद्वच्च तत्क्षण एव महान्तं विश्वासमकरोत्। नैतच्चित्रम्, यतः सज्जनसमागमः शीघ्रमेव विश्वासमुत्पादयति।

३२.

यदोदयमानः सूर्यः सुमेरुपर्वतस्य परदिग्गतान् कुञ्जान् विजहाति, तदानीं सूर्याभावे सुवर्णरत्नमयत्वेन नैसर्गिकप्रकाशविशिष्टेष्वपि तेषु कुञ्जेषु यथान्धकारः कथंचिदवस्थानं लभत एव, तथैव यदार्जुनः स्वाभ्युदयाय स्वभ्रातॄन् विहाय प्रस्थातुमुद्यतः, तदानीं तद्विरहजन्यः शोको विवेकवत्सु शत्रून् विजिगीषमाणेषु च तेषु युधिष्ठिरादिषु चतुर्षु भ्रातृषु कथंचित् पदमकरोत्। विवेकिनस्तेऽभ्युदयनिमित्तं जायमानं भ्रातृविरहं यद्यपि नाजीगणन्, तथापि कथंचिन्मन्दं शोक-मोह-प्रसरस्तेषु जातः। अर्जुनप्रेमातिशयस्तत्र निमित्तम्।, उपमानस्य सूर्यस्योष्णभाः—शब्देनोक्त्या उपमेयेऽर्जुनेपि। तीव्रा परपरिभवशक्तिर्व्यज्यते।

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे।
तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात्प्रदेशमादेशमिवाधितष्ठौ ॥ ३० ॥
कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहः पुण्यजनः स जिष्णौ।
इयाय सख्याविव सम्प्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ॥ ३१ ॥
अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन।
बृहद्द्युतीन्दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान्प्रपेदे ॥ ३२ ॥

३३.

कार्यगौरवमालोच्य युधिष्ठिरादिभिर्भ्रातृविरहजन्यः खेदो दूरमपसार्यते स्म, प्रबलं भ्रातृप्रेम तु तं खेदं पुनराकृष्य तेषु भ्रातृषु तुल्यभागेन विभजते स्म। समरूपेण सर्वेषु स्थापयति स्मेति। तेन दुःखानुभवस्तेषां जातः, परमल्प एवेति। तत्र हेतुरुत्प्रेक्ष्यते—यथा महानपि भारो यदि विभज्य बहुभिर्व्यूह्येत, तर्हि लघुरेव प्रतीयते, तथा बहूनां (चतुर्णां भ्रातृणाम्) समानं दुःखमिति मन्ये विभागादिव तत्र लघुत्वं जातमिति। मनसः क्षणिकवृत्तितया तत्र प्रादुर्भूतायाः शोकवृद्धेर्भविष्य-ज्जयप्राप्त्युत्साहेनोपमर्दाल्लघुत्वं सुकरम्, बुद्धेस्तु स्थिरतया तत्र लाघवं दुष्करमिति मनसः कर्तृत्वौचित्यं चित्रभानुः समर्थयते। समानीय विभज्यमानः—इति वर्तमान-त्वोक्त्या भूयो भूयः कार्योत्साहः शोकमपसारयति, भूयो भूयश्च भ्रातृप्रेम तं समान-यतीति द्योतितम्। कार्योत्साहेन दुःखस्य लघुता प्रतीयते स्म। न तु वस्तुतो लघुता जातेति 'मेने' पदेन द्योतितमित्यादि चित्रभानुः। तुल्याद्विभागादिवेत्यस्य च समविभागेनोत्तोल्य स्कन्धे निवेशितो भारो यथा लघुः प्रतीयते—इत्याद्या-शयस्तेनोक्तः।

३४.

यद्यपि भ्रातृप्रेम्णा तद्वियोगशोक आविर्भावितः, तथापि तेषु स स्थितिं न लेभे। तत्र हेतवः—तेषां स्वाभाविकी धीरता, न हि धीराः शोकवशगा भवन्ति। किं च व्यासवचने तेषां विश्वासः, व्यासोक्तदिशाऽर्जुनः सिद्धिमेव प्राप्स्यति, नास्य किमपि कष्टं भविष्यति इत्यालोचनेन शोकापनोदः। किं च शत्रुभिर्यानि दुःखानि दत्तानि, तान्यनुस्मृत्य प्रतीकारेच्छा तथा तेषां प्रबला, यथा तदग्रे न किमपि भावान्तरं तिष्ठति, तया शोकः प्रणुन्नः। किं च—अर्जुनस्य पराक्रमविवेकादिकं ते सम्यग् जानन्ति, तेन चार्जुनस्य काप्यापत्तन्मनःसु न संभाव्यते, ततोऽपि शोकाभावः। एभिर्हेतुभिस्ते शोकवशगा नाभूवन्। एकेन प्रेम्णा शोकः स्थाप्यते, अनेकैस्त्वपसार्यते, ततश्चानेकविरोध एकस्याकिंचित्करत्वान्नास्ति शोकस्य स्थिति-सम्भावनेत्याकूतम्। पूर्वेण हेतुना तेषां धीरोदात्तत्वम्, द्वितीयेन धार्मिकत्वम्, तृतीयेन च तेजस्विता व्यज्यते।

असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः।
तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः स मेने॥ ३३॥

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्ये च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः॥ ३४॥

३५.

युधिष्ठिरादयश्चत्वारो भ्रातरः अर्जुनविरहजन्यं खेदं मात्रयापि नानुबभूवुः, यतस्तेतिविवेकशीलाः सहनशक्तिमन्तश्चेति, किन्तु स खेदः तान् सर्वान् परित्यज्य समूहभावमापन्न इव एकप्रवाहतामापद्येव च द्रौपदीमाचक्राम। यथा दिनस्य चतुर्ष्वपि प्रहरेषु प्रकाशबाहुल्यादवकाशमलभमानोऽन्धकारः प्रकाशशून्यां रात्रिमाक्रामति, तथैवेति। यथा रात्रिरन्धकारमयी भवति, तथा द्रौपदी शोकवशगाऽभूदिति तात्पर्यम्।

३६.

तपस्यार्थं पर्वतप्रदेशे गन्तुमुद्यतमर्जुनं साभिलाषं द्रष्टुमियेष द्रौपदी। सा तस्या इच्छा तच्चेष्टया स्फुटं प्रतीयमानासीत्। परं तस्या नेत्रे प्रेमाश्रुपरिप्लुते अभवताम्। तैरश्रुभिस्तस्या नेत्रे तथावृते, यथा सा तं स्पष्टं द्रष्टुं न शशाक। यद्यपि नेत्रनिमीलनेनाश्रुबिन्दूनां बहिर्निपतनात् स्पष्टदर्शनं संभावितमासीत्, तथापि सा तथा नाकरोत्, यतस्तया विचारितम्—यद् विजयोपायप्राप्तये प्रस्थितस्य पत्युः प्रस्थानसमयेऽमङ्गलसूचकमश्रुमोचनमनुचितमिति। तेन अश्रूणि नयनयोरेव कथंचिद्रुरोध, नत्वश्रुपातमकरोत्। अश्रुभिस्तस्या नेत्रे तथा आभासताम्, यथा हिमरेखाप्रपातेन तद्विशिष्टे कमले भासेते इति।

३७.

तपस्यायै गन्तुमुद्यतेऽर्जुने द्रौपद्या सप्रेम दृष्टिपातः कृतः, स हि दृष्टिपातस्तथा स्निग्धमधुरो बभूव, तथा च द्रौपद्या अकृत्रिमं प्रेम तस्मिन् व्यज्यमानमासीद्, यथार्जुनस्य दृष्टिमेकान्ततस्तदाचकर्ष। स्वभार्ययाऽर्पितं प्रियं च दृष्टिपातमर्जुनः पाथेयवन्मन्यमानः सहर्षं स्वीचकार। लोकेऽपि यात्रार्थे प्रतिष्ठमानः पुरुषो मध्येमार्गं भोजनाय स्वभार्यया प्रेम्णा समर्पितं मिष्टान्नादिकं पाथेयं सहर्षं गृह्णाति, स्त्रियार्पितं पाथेयं पथि क्षेमकरं भवतीत्यागमः। पाथेयमञ्जलिना गृह्यते, अस्य दृष्टिपातस्य ग्रहणार्थं त्वर्जुनेन प्रसन्नं मन एवाञ्जलीकृतम्। मनसा दृष्टिपातस्य ग्रहणं तु सस्पृहं दृष्ट्वा मनसि तथा संस्काररूपेण निवेशनम्—यथा प्रवासे तत्

तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे ॥ ३५ ॥

तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः।
अगूढभावाऽपि विलोचने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ॥ ३६ ॥

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामाऽर्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम्।
मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥ ३७ ॥

सततं स्मियेत। मनसि पूर्वं तेन दृष्टिपातेन प्रसादोदयः, तदनु संस्काररूपेण तस्य स्थापनमिति द्योतयितुं मनःप्रसादस्याञ्जलित्वमुक्तम्, न तु मनसः।

३८.

यथा ग्रीष्मर्तौ स्वल्पजलत्वादगभीरा नदी आरण्यकेन गजेन विलोड्यमाना निर्मलतां जहाति, तथैव शत्रुनिकारदुःखिता द्रौपदी पत्युरर्जुनस्य वियोगमसहमाना धैर्यभ्रंशेन अतितरां क्षुभिताभवत्। किं च पत्युर्गमनसमयेऽमङ्गलं माभूदिति तथा अश्रुनिरोधः कृतः—इति पूर्वमुक्तम्, अश्रुनिरोधे च वाक् स्पष्टं न प्रवर्तते, कण्ठश्च स्खलतीति स्फुटं लौकिकानाम्। अतः सा कथंचिदतिकठिनतया गद्गदस्वरेण अर्जुनं प्रति क्षत्रियसुतोचितं वक्ष्यमाणमुवाच। यद्यपि पतिं प्रत्युपदेशदानं पतिव्रतानामत्यन्तमनुचितम्, तथापि कृच्छ्रप्राप्ततया तथा कृतम्, अत एव कृच्छ्रादिति हेतुपञ्चमीनिर्वाहः।

३९.

शत्रुभिः छलेन यथा भवतां सर्वा राज्यसम्पद् हृता, तथैव भवतां संभावनापि हृता। पूर्वं लोकाः "पाण्डवाः शूराः सन्तीति" भवतः समभावयन्, आसीच्च भवत्सु तेषां बहुमानः, परं सा संभावना-स बहुमानः, राज्यश्रिया सहैव द्विषच्छद्मनिलीनः। यथा गवादिः पङ्के निमज्जति, तथैव, पङ्कमग्नत्वाद्-दुरुद्धरः सः। तस्य समुद्धारायैव भवान् तपसि प्रवर्तते, बहूनि तपांसि त्वया कर्तव्यानि स्युः। अत एव तपःसिद्धिपर्यन्तमस्मासु उत्कण्ठितेन दुर्मनायमानेन न भवितव्यम् भवता, यतः तपः सिद्धचैव न आधयो निवर्तिष्यन्ते। दौर्मनस्यं च तपोविघ्नकरमिति। यद्यपि भ्रात्रादिषु उत्कण्ठा दुस्त्यजा, तथापि तथा नोत्कण्ठितव्यम्-यथा तपो विहन्येत्, एष एवार्थो भृशपदेन सूचितः। उन्मनीभूः—इति च्विप्रत्ययेन तस्य स्वाभाविकं धैर्यं द्योत्यते। संमानोद्धार एव तपसां मुख्यं फलम्, संपदुद्धारस्तु आनुषङ्गिक इति च इवेन व्यञ्जितम्।

४०.

ये पुरुषा यशोलाभाय, सुखप्राप्तये, लोकोत्तरं कर्म विधाय दिव्यत्वाधिगतये वा निरुत्सुका भूत्वा प्रयतन्ते, फलसिद्धिस्तेषां पार्श्वे स्वयमेवागच्छति। यथोत्कण्ठिता

धैर्यावसादेन हृतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धुः।
निरुद्धबाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥ ३८ ॥
मग्नां द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन्।
आधिद्विषामा तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः ॥ ३९ ॥
यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥ ४० ॥

प्रेयसी कान्तस्याङ्कमागच्छति तथेति। यदि कान्तः स्वयमेवौत्सुक्यं प्रकटयेत्, तदा सा मानं प्रदर्श्य विलम्बते यदि तु कान्तो निरुत्सुक इव स्यात्, तदा सा समुत्सुका अङ्कमागच्छति। तथैव ये सिद्धावत्यर्थमासक्तिं दर्शयन्ति, न तेषां सिद्धिः सुलभा। ये तु केवलं प्रयत्नपरा अनुत्सुकाः, तेषां पार्श्वे सिद्धिः स्वयं समेति। एतेन फलेऽप्यत्यर्थमौत्सुक्यं निषिद्धम्। यद्वा-यथा दिव्यपदमोक्षलाभार्थिभिः स्वजनौत्सुक्यं परिहार्यम्, तथा लौकिकफलार्थिनामपि एकाग्रतासम्पत्तये यद्विषयकः प्रयत्नस्तदितर-विषयकमौत्सुक्यं निषिद्धमेव। अत एवार्जुनो द्रौपद्या भूयो भूयः प्रबोध्यते, यत् तपः सिद्धिपरायणेन भवता अस्मासु औत्सुक्यं परिहर्तव्यमेवेति।

४१.

शत्रुभिर्योऽयमस्माकं केशाकर्षणादिरूपः परिभवः कृतः, तेन खलु अस्माकं तेजो हृतम्, तेज एव च क्षत्रियजातेर्मुख्यं धनम्, यतो लोकरक्षार्थमियं जातिर्विधात्रा सृष्टा, लोकरक्षा च दुष्टविजयसाध्या, विजयश्च तेजोऽधीन इति। यद्वा सर्वेषामेव क्षत्रियाणां तेजोऽनेन हृतम्-यतो हि क्षत्रियाणां पश्यतामेवैतदत्याहितं स्थानमलभत्। यदि क्षत्रियाणां तेजोऽभविष्यत् तर्हि किमेतदत्याहितमप्रतीकारं स्थानमलप्स्यतेति लोका विचारयन्ति। किंचैतेन परिभवेन स्वभुजार्जितमात्रमुपभुञ्जानानां तेजस्विनां प्राणवत् प्रियोभिमानोऽपि खण्ड्यते, क्षत्रियाणां हि मानहानिः प्राणहानिसमा। तेषां हि विजयसाधनी तेजस्विता माने एव तिष्ठति, मानस्तस्याः प्राण इव, मानाभावे तदनवस्थितेः। अत्र विजयैकवृत्तेः इत्यनेन विशेषणेन क्षत्रियस्य विजितं द्रव्यमेवासाधारणं स्वं भवति इत्युक्तम्। तथा च अहं त्वया अनेकेषां क्षत्रियाणां मध्ये मत्स्यवेधं विधाय विजिता अतस्तव मयि असाधारणं स्वत्वं भवति, इत्थं च त्वादृशस्य तेजस्विनः क्षत्रियस्य स्ववस्तुनः परिभवं पश्यतः किमेषा प्राणहानिसदृशी मानहानिः सोढव्या-इति निगूढोऽभिप्रायः। विजय इत्यर्जुनस्यैकं नाम, तेन, विजये-त्वय्येवैकस्मिन् तेजस्विता तिष्ठतीत्यपि ध्वनितम्।

४२.

यदैष सभामध्ये जातोऽस्माकं परिभवः देशान्तरीयैर्नृपतिभिः श्रुतः, तदा तैरपि सहसा न तत्र विश्वासः कृतः, यतस्तैः पूर्वं विचारितम् यद् नैवंविधः पराभव ईदृशानां वीराणां संभवति, परन्तु श्रावयितारो विश्वसनीया आसन्-अतस्तैः कथंचिद् विश्वासः कृत एव, तदा च अस्माभिरसंबद्धानामपि तेषां राज्ञां व्रीडया-

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तुं क्षत्रस्य मुष्णन्वसु जैत्रमोजः।
तेजस्वितायाः विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥ ४१ ॥
व्रीडानतैराप्तजनोपनीतः संशय्य कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नः।
वितानभूतं विततं पृथिव्यां यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥ ४२ ॥

कर्षणादिरूपस्य जुगुप्सितवृत्तस्य श्रवणाद् लज्जया मुखान्यवनतान्यासन् । अथवा सभायां विद्यमानैरन्यै राजभिरेषोऽत्याचार एतदर्थमुपक्षितो—यद् दुर्योधनः पाण्डवानामात्मीय एव, आत्मीयकलहे च मध्यस्थैरुदासितव्यमेवेति, इतरथा ते कदापि नोपेक्षिष्यन्त । किं च यथा मार्जन्या प्राङ्गणादिगतोऽवकरः संमृज्यते—तथैवैतेन परिभवेन दिक्षु वितानवद् विस्तृतं भवतां यशो निरविशेषं प्रमृष्टम् । लोका युष्माकं पूर्वतनं प्रतापं व्यस्मरन्निति भावः । इह 'पृथिव्या वितानभूतम्' इत्युक्त्या स्वर्गे यशः प्रसारो बोधितः, तेनार्जुनकृतः खाण्डवदाहे देवपरिभवः स्मार्यते, विततम्—इत्युक्त्या पृथिव्यां विस्तारः, तेन युधिष्ठिरस्य प्रजापालनसौष्ठवं स्मार्यते, दिग्विकीर्णमित्युक्त्या भीमादिकृतो दिग्विजयः स्मार्यते ।

४३.

किंचैतेन शत्रुकृतापकारेण भवतां विक्रमे, पुराकृतेषु वीरकर्मसु तथाक्रमणं कृतम् , यथा तेषां विलोप इव जातः । लोका न स्मरन्ति—न च श्रद्दधते यदेतैः मध्येसभं स्वपत्नीतिरस्कारं तूष्णीं सहमानैः पाण्डवैः कदाचिद् विक्रान्तं भवेत् । किं च अद्यैतेन तिरस्कारेण भवतां कीर्तिस्तथा लोपिता, यथेयं कदाचिज्जातैव नेत्यनुभूयते । अपि च—यथास्तमयः कालः विस्तृतां सूर्यप्रभां सङ्कोचयति, तथैवायमपकारो भवतामुत्तरकालिकीं समृद्धिमपि सङ्कोचितवान् । तिरस्कृतानां कुतः समृद्धिरिति ।

४४.

यच्छत्रुभिर्हठादनुष्ठितस्य केशाकर्षणादिरूपस्य नः परिभवस्य स्मरणमपि दुःसहम् , तस्य प्रयोगविषये चिरं तत्सहनविषये वा किमु वक्तव्यम् । यद्यपि चिरात् तत् परिभवोद्विग्नं मे हृदयं कालक्रमेण कथंचित् तत्सहने धीरतां प्राप्तम् , तथापीदानीं त्वद्वियोगखेदापातात् स पुरातनः परिभवः पुनः स्मर्यमाणो नूतन इव पूर्ववद् हृदयं खेदयिष्यति । यथा शनैः शनैः शुष्यति कस्मिंश्चित् पुराणव्रणे यदि आघातान्तरं भवेत् , तर्हि स पुनरार्द्रतां गतः पीडयति, तथैव दुःखितस्य पुनरुपनतं दुःखान्तरं पुनरपि पुराणं दुःखमुद्घाटयतीव ।

४५.

हे पार्थ ! यथा कश्चन दन्ती दन्तभ्रंशे जाते स एवायमिति प्रत्यभिज्ञातुं न

वीर्यावदानेषु कृतावमर्षस्तन्वन्नभूतामिव सम्प्रतीतिम् ।
कुर्वन्प्रयामक्षयमायतीनामर्कत्विषामह्न इवावशेषः ॥ ४३ ॥

प्रसह्य योऽस्मासु परैः प्रयुक्तः स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुम् ।
नवीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदयं निकारः ॥ ४४ ॥

प्राप्तेऽभिमानव्यसनादसह्यं दन्तीव दन्तव्यसनाद्विकारम् ।
द्विषत्प्रतापान्तरितोरुतेजाः शरद्घनाकीर्ण इवादिरह्नः ॥ ४५ ॥

शक्यते, तथैव त्वमप्यात्माभिमाननाशेन न शक्यसे प्रत्यभिज्ञातुम्, यदयं स एव धनंजयः–य उत्तरकुरून् विजित्यासंख्यं धनमाहृतवान्। वर्धमानेन शत्रुप्रतापेन तव तेजस्तथाच्छादितम् यथा त्वं शरदृतुमेघैराच्छन्नः प्रातःकाल इव निष्प्रभो न प्रत्यभिज्ञायसे। तदानीं हि एकतः सूर्यप्रभा स्वयं मृद्वी, सापि च मेघैरावृता इति हेतोः प्रातःकाल एवायमिति प्रत्यभिज्ञा न प्रसरति, एवं त्वमपि पूर्वतनतेजसो विनाशेन सर्वथा स एवायमिति न परिचीयसे। मध्याह्नस्तु मेघावरणे सत्यपि प्रत्यभिज्ञायत एवेति प्रत्यूषस्यैवोपमानत्वमुक्तम्। यथा शरद्घना न प्रावृड्घनवद् दुर्भेद्याः तथा तवापीयमापद् न दुर्भेद्या, अपि तु कृतयत्नस्त्वं शीघ्रमिमां तरिष्यसीति शरत्पदव्यङ्ग्यम्।

४६.

हे पार्थ! इदानीं तवास्त्राणि क्रियाशून्यतया सलज्जानीव भान्ति, सलज्जो हि न विचेष्टितुं प्रगल्भते। तव निराकरणे तवास्त्राणामपि लज्जाभूत्, तत एव तानि व्यापारे न प्रवर्तन्ते–इति सम्भाव्यते। लज्जितस्य च अपटुता–निःसत्त्वता स्वाभाविकी, अतो निःसत्त्वैरिव तैरस्त्रैस्त्वं न शोभसे। 'अर्जुनोऽस्त्रैस्त्रिलोकीं जेतुं समर्थः–इति पूर्वं तव शोभाभूत्, इदानीन्तु शस्त्राणि व्यापारशून्यानि दृष्ट्वा न तथा सम्भावयन्ति लोकाः। तत्र पूर्वं सञ्चितं यशोऽपि क्षीणम्, तथा च यथा क्षीणजलः समुद्रः केवलं रिक्तगर्तः प्रतीयेत्, तथैव यशः क्षयात् त्वमपि निःसारः प्रतीयसे। किं बहुना, त्वयि सर्वं तथा परिवृत्तम् यथा त्वं पूर्वविलक्षणो लक्ष्यसे, न प्रत्यभिज्ञायसे। अस्त्रैः त्वमनवभासमान इत्युक्तम्, न नु अस्त्राण्यनवभासमानानीति, तेन अस्त्रेषु न प्रतीघातादिदोषः, त्वय्येव तदव्यापारणं दोष इति द्योतितम्।

४७.

मध्येसभं तव पश्यत इमे मम केशा दुःशासनेन आकृष्टाः, तदानीमेषां नाभूत् कश्चिद् रक्षकः, सत्स्वपि युष्मासु नाथेषु अनाथा इव इमे जाताः तदानीं केवलं भाग्यमेवैतेषां शरणमभूत्, अन्यथैतेषां स्वरूपमपि लुप्येत, एवं स्वपत्नीकेशाकर्षणं तूष्णीमुपेक्षमाणस्य ते शौर्यं बलं चोभयमपि गर्हणीयतां गतम्। यत्तव वीर्यं देवैरपि दुरासदम्, तदचेतनैः केशैः कदर्थितम्। स एष विलक्षणः परिवर्तः तव धनञ्जयत्वं संदेहयति, तस्मात् पृच्छामि–किं त्वं स एव–प्रसिद्धकर्मार्जुनोऽसि,

---

सव्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमानः।
यशःक्षयात् क्षीणजलार्णवाभस्त्वमन्यमाकारमिवाभिपन्नः॥ ४६॥
दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः।
केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम्॥ ४७॥

उतान्यः कश्चिदिति । प्रश्नकाङ्क्षा न सः, यदि स एव त्वमभविष्यः, कथमस्मानुपैक्षिष्यथाः इत्याशयं मल्लिनाथ आह । चित्रभानुस्तु कश्चिदित्युक्त्या–'केवलमिष्टविषयं त्वां पृच्छामि, नत्वाक्षिपामीति' अभिप्रायमाह ।

४८.

विपन्नरक्षणमेव क्षत्रियशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्, एवं रणकर्मकरणशक्तिरेव कार्मुकशब्दस्य प्रवृत्तिमित्तम् । क्षत्रियो वीर्यप्रधानेषु कर्मसु कर्ता, कार्मुकं तु तत्र करणमिति द्वयोरनयोर्नित्यः सम्बन्धः । परं यः खलु क्षत्रकुलोत्पत्तिमात्रेण स्वं परं वा क्षत्रियं मन्यते, न च विपन्नत्राणं कर्तुं क्षमते, यश्च इदं श्रेष्ठवंशनिर्मितं प्रत्यञ्चासहितं च विद्यते–इत्येतावतैव स्वरूपशोभामात्रफलेऽस्त्रे कार्मुक शब्दस्य प्रयोगं करोति, स पुरुष इमौ क्षत्रियकार्मुकशब्दौ असंस्कारेण दूषिताविवकरोति । अवयवार्थं एवात्र संस्कारशब्देन गृह्यते, उक्तेर्दूषितत्वं चार्थशून्यत्वमेव । तथा च यस्य शब्दस्य यत्र व्युत्पत्तिर्न घटते, रुढिमात्रेण स शब्दस्तत्र प्रयुज्यमानो दुष्ट एव मन्तव्यः, यथा अपचनकर्तरि पाचकशब्दो दुष्टः । एवं च क्षत्रियस्त्वं स्वकार्मुकेण विपद्ग्रस्तान् नो न रक्षसि चेत्तर्हि त्वयि क्षत्रियशब्दस्त्वदस्त्रे च कार्मुकशब्दो व्यर्थ एव भवेदिति ।

४९.

हे पार्थ ! इदानीं तव गुणा अपि सर्वथाऽस्मत्सादृश्यं प्राप्नुवन्ति, तथाहि–यथा वयं शत्रुतिरस्कारेण क्षीणप्रभावाः तथैव तव शौर्यादयो गुणा अपि निष्प्रभाः न लोके ख्यातिमन्तः, यथा निःसारा वयं स्वरूपमात्रेणावशिष्यामहे एवं तव गुणा अपि निष्फलत्वात् सत्तामात्रावशिष्टाः, किं च यथा वयं स्वाभ्युदयाय तव मुखं प्रेक्षामहे, तथैवेमेऽपि तवालम्बं प्रतीक्षन्ते, मन्ये शत्रुकृतापकारदुःखमस्मानिवैतानपि व्यथयति, तत एवैतेऽपि वीरतौजस्त्वादिधर्मविशिष्टा जाता इति । त्वया गुणाः सामान्यदुःखाः—त्वयि सुखिनि सुखिनः, दुखिनि च दुःखिन इति ।

५०.

हे पार्थ ! त्वयैतन्न मन्तव्यम्—यत्सत्स्वप्यन्येषु मय्येव विशिष्य किमर्थमयं भार आरोप्यते इति, यतः अस्य भारस्य वहनयोग्यस्त्वमेवासि, यथा दिनशोभा

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः ।
वहन्द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम् ॥ ४८ ॥
वीतौजसः सन्निधिमात्रशेषा भवत्कृतां भूतिमपेक्षमाणाः ।
समानदुःखा इव नस्त्वदीयाः सरूपतां पार्थ ! गुणा भजन्ते ॥ ४९ ॥
आक्षिप्यमाणं रिपुभिः प्रमादान्नागैरिवालूनसटं मृगेन्द्रम् ।
त्वां धूरियं योग्यतयाऽधिरूढा दीप्त्या दिनश्रीरिव तिग्मरश्मिम् ॥ ५० ॥

दीप्तियुक्ते प्रखरकिरणे सूर्यं एवायतते, न पुनरन्यत्र, एवमेव त्वय्येव एष भारो युक्तः। नायं भारस्त्वयि केनचिदारोपितः, अपि तु त्वां वहनक्षमं दृष्ट्वा स्वयं त्वय्यारूढः। यस्तु तवापि शत्रुभिः परिभवः कृतः, तत्र तव प्रमाद एव, न तु दुर्बलता, त्वयि सावधाने हि न जात्वपि शक्नुयुस्ते तिरस्कर्तुम्। मृगेन्द्रो हस्तिभिस्तावदेवालुञ्च्यते यावत् स प्रमादात् तान् उपेक्षते, तस्मिन्नवहिते तु तेषां नाशएव प्रत्यासीदति, तथैव त्वयि सावधाने शत्रून् नष्टानेव जानीहि। अतस्त्वयात्र कार्यें प्रमादिना न भवितव्यम्।

५१.

यः पुरुषः स्वविषये प्रवृत्ताम् 'अयमेव भव्यो निपुणश्च नान्ये' इत्येवं सर्वजनातिशायिनीं लोकानां बुद्धिं तदनुरूपाणि कर्माणि कृत्वा चरितार्थां विधत्ते, स पुरुषः सभासु योग्यपुरुषगणनाप्रसङ्गे सर्वतः प्रथम एव गण्यते। पूरणप्रत्ययान्ता द्वितीयादिशब्दास्तद्विषये न प्रयुज्यन्ते। यदि कश्चित्तदपेक्षयोत्कृष्टः स्यात्, तदा स द्वितीयस्तृतीयो वा गण्येत, स एव तु सर्वोत्कृष्ट इति प्रथम एव स गण्यते इति। त्वयि च सर्वेषां विशिष्टा संभावना, यदयं सर्वातिशायी वीर इति, 'पार्थं एव धनुर्धरः' इति हि लोके प्रथते। यदि शत्रून् विजित्य सा सम्भावना त्वया सफला क्रियेत तदा त्वमेव लोके प्रथमगणनीयः सुयशोभाक् स्याः।

५२.

पार्थ! प्रियजनाः प्रोषितस्य स्वप्रियस्य सम्बन्धे बहून्यनिष्टान्याशङ्कन्ते, आशङ्क्य च स्वयं दुःखिता भवन्ति, 'इदमनिष्टं तस्य कुतः सम्भाव्यते, एवंविधे तस्मिन् ईदृशस्यानिष्टस्य योग्यतास्ति न वा' इति कारणानि युक्तीश्च न ते विचारयन्ति, अपि तु प्रेम्णः स्वभाव एषः—यत्स पापशङ्की भवति। तथा च त्वद्विषयेऽप्यस्माभिर्बहून्यनिष्टान्याशङ्किष्यन्ते। तेषां सर्वेषामस्माभिश्चिन्तयिष्यमाणानां तवानिष्टानां त्वया आराधयिष्यमाणो भगवानिन्द्र एव समूलं नाशं विदधातु। अस्मच्चिन्तितान्यनिष्टानि मा ते भूवन्निति। 'प्रियजनचिन्तितं कस्यापि मा भूद्' इति हि लोकोक्तिः। मल्लिनाथस्तु प्रोषितस्य तव चेतसि अस्माकं—विषये कथं मे भ्रातरः स्युः? किमपि कष्टं तु नापतितं तेषामुपरि? मद् विना कथं ते स्थास्यन्ति? इत्याद्या अनर्थशङ्काः उत्पद्येरन्, ताभिश्च तव दुःखमपि सम्भाव्यते, तस्य दुःखस्य स भगवानिन्द्रो नाशं विदधातु

करोति योऽशेषजनातिरिक्तां सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभिः।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी तं समुपैति संख्या ॥ ५१ ॥
प्रियेषु यैः पार्थ! विनोपपत्तेर्विचिन्त्यमानैः क्लममेति चेतः।
तव प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादघानां मघवा विघातम् ॥ ५२ ॥

इत्यभिप्रायमाह । परं तस्मिन्नर्थे 'तव अघानाम्' इत्युक्तिस्वारस्यं नास्ति । 'अस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः' इति पूर्वोक्तमेव च तथा सति पुनरुक्तं स्यात् । स्वस्य दुःखनाशप्रार्थनापेक्षया प्रियस्य दुःखनाशप्रार्थनैव युक्ततरेति च विवेचयन्तु सुधियः । किं चात्राशीरर्थकेऽलंकारे सत्यपि, स्वयं तथा व्याख्ययापि च कर्तव्योपदेशं मल्लिनाथो मनुते !

५३.

पार्थ ! विजने प्रदेशे चिरं त्वया स्थेयम् , भृत्यादिविरहेण चैकाकिनैव तत्र तत्र पर्यटनीयम् । अन्यो यदि सहायो भवेत् , तर्हि स समये हितं बोधयेत् , परं तथाभूतस्याभावात् स्वयमेव त्वया सततमवहितेन स्थातव्यम् । विजनः शान्तश्चायं प्रदेशः, किमत्रानिष्टं सम्भाव्यते, किं च नाहमत्र कस्यापि प्रियमप्रियं वा करोमि, तत्कुतो मे कश्चिद्वैरी स्याद् इति विचार्य प्रमादस्त्वया न कार्यः । यतो हि भवन्ति तादृशा रागद्वेषदूषिता जनास्तत्रापि, ये सत्पुरुषाणामप्यनिष्टं संपादयितुं यतन्ते इति । मात्सर्यदूषिततया शत्रुसम्भावनोपन्यस्ता, रागदूषितत्वोक्त्या चाप्सरः-प्रभृतीनां स्त्रीणामासक्तिसंभावना प्रोक्ता । उभयत्रापि सावधानेन त्वया भाव्यमिति कर्तव्योपदेशः ।

५४.

पार्थ ! यन्मया विवृतम् , तत्सर्वं विचार्य महर्षरादेशमनुसृत्य तपोऽनुतिष्ठन् सर्वेषां त्वद्भ्रातॄणां मम च कामान् पूरयस्व । अस्माकं केवलं ते मनोरथा एव, त्वं तु तत्पूरणेऽपि समर्थः । तेन तवापि अस्माभिः सह समृद्धिलाभः, कीर्तिलाभश्च स्वतन्त्रः स्यादिति कुरुष्वेत्यात्मनेपदेन द्योत्यते । यद्यपि प्रवासकाले गाढमालिङ्गनं कर्तुमुचितं, तथापि निकारसंतप्ते मानसे न तत्प्रीतिदमिति, यदा त्वं कृतार्थः प्रत्यावर्तिष्यसे, तदैव त्वां गाढमालिङ्गिष्यामि । एवपदेन 'नास्मिन् समये' इति वर्तमानं परिरम्भणं व्यावर्त्यते । ईदृशे अत्यावश्यकेऽपि कर्मण्यप्रवृत्तिः परिभवजनितस्य संतापस्यातिशयं व्यनक्ति । यद्वा कृतार्थमेव प्रत्यागतामिति योज्यम् , तेन च त्वं यत्नपरो कृतार्थः कथमपि स्याः—इति फलप्राप्तौ निश्चयो द्योत्यते ।

५५.

पूर्वं प्राप्तोऽपि परिभवो व्यासङ्गाद् विस्मृत इव, स इदानीं द्रौपद्या अभि-

---

मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे ।
मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥ ५३ ॥
तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व ।
प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ॥ ५४ ॥
उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम् ।
आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मिः ॥ ५५ ॥

निवेशवाचा पुनरुद्घाट्य—पुनर्नवीकृत्यानुभावितः, तेनार्जुनस्य क्रोधः प्रदीप्तोऽभूत्। यथा स्वभावदीप्तोऽपि सूर्यो दक्षिणां दिशमासाद्य कथंचिदल्पतेजा उदीचीं प्राप्य पुनः प्रदीप्तो भवति, तथैव स्वभावेन तेजस्वी अप्यर्जुनो ज्ञातिवत्सल्यात्कथंचित्सौम्यतां गतो द्रौपदीवाचमाकर्ण्य पुनः प्रदीप्तोऽभूदिति।

५६.

द्रौपदीवाचमाकर्ण्य परिभवस्मरणेन अर्जुनस्य तथा वृत्तिर्बभूव यथा शत्रवस्तस्य संमुख एव तिष्ठन्ति, यथा शत्रून् पुरो दृष्ट्वा क्रोधो दीप्यते, तथैव तस्य क्रोधदीप्तिरभूत्। प्रस्थानकाले पुरोहितेन समन्त्रमस्त्राणि तच्छरीरे यथोचितं स्थापितानि। तेन रम्यापि तदाकृतिरिदानीं भयप्रदा प्रतीयते स्म। यथा स्वभावसौम्योऽपि मन्त्रो यदा मारणादिकर्मसु विनियुज्यते, तदा भयप्रदो भवति, तद्वदेव कार्यकाले अर्जुनस्य भीषणत्वमिति।

५७.

पुरोहितेनार्जुनस्य शस्त्राण्यारोपितानीत्युक्तम्, कानि तानीति विवृणोति—यति यस्याकर्षणे कोऽपि शत्रुर्योद्धुं न शक्नोति, यद्वा—यस्याकर्षणमर्जुनादृते कोऽप्यन्यो न कर्तुं शक्नोति यद्वा कस्याप्यन्यस्य धनुषो विकर्षणं यस्य विकर्षणं नातिशेते—तद् गाण्डिवं धनुरर्जुनेन धृतम्। अक्षय्यबाणनिधी तूणीरौ च निबद्धौ, ययोर्दर्शनं कदापि शत्रुभिर्न कृतम्। तूणीरौ हि पृष्ठतो बध्येते यदि संग्रामे योद्धा पलायेत, तदा तूणीरौ शत्रुभिर्दृश्येताम्, न ह्यर्जुनः कदापि संग्रामान्निवृत्तः तेनास्य तूणीरौ शत्रुभिर्न दृष्टौ। तूणीरपार्श्वं एव खड्गोऽप्यर्जुनेन बद्धः।

५८.

कवचमप्यर्जुनेन धृतम्। तस्मिन् कवचे रत्नानि तत्र तत्र निवेशितान्यासन्। अतएव तत्कवचमर्जुनस्य शरीरे स्थितान् तान् व्रणान् तेजसा तिरोधत्ते स्म, ये खाण्डवदाहे इन्द्रेण सह युध्यमानस्य तस्येन्द्रायुधैः कृताः। तत्र सादृश्यमुच्यते—यथा इन्द्रेण सह कृतसङ्गरोऽयम्, तद्वज्रप्रहारानपि सोढ्वा खाण्डवदाहं चकारैव। अर्जुनस्य प्रथितेन यशसा व्रणाः तिरोहिताः—जनानां मनस्सु न गण्यन्ते स्म, तथैव कवचेनापि ते तिरोहिता इति। किं च कवचमिदं रत्नैस्तथा प्रतीयते स्म

अथाभिपश्यन्निव विद्विषः पुरः पुरोधसाऽऽरोपितहेतिसंहतिः।
बभार रम्योऽपि वपुः स भीषणं गतः क्रियां मन्त्र इवाभिचारिकीम्॥ ५६ ॥

अविलङ्घ्यविकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम्।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी ॥ ५७ ॥

यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षतीः ।
कवचं च सरत्नमुद्वहज्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिवः ॥ ५८ ॥

यथा तारकाकलितो नभसो मध्यभागो भवेत्। लोहनिर्मितस्य कवचस्य कृष्णवर्ण-त्वतया प्रतीयमानेनाकाशैकदेशेन साम्यम्, रत्नानां च तारकाभिः। कवचस्यैक-देशसाम्योक्त्या अर्जुनस्य कृत्स्ननभः साम्यं प्रतीयते।

५९.

कुबेरस्य भृत्यो गुह्यकोऽर्जुनं प्रति मार्गं बोधयति स्म, तेनैव मार्गेण पूर्वोक्त-वेषोऽर्जुनो हिमालयस्य इन्द्रकीलसंज्ञकं शिखरं प्रति प्रस्थितः। अभिज्ञेन गुह्यकेन शिवः पन्थास्तदर्थं निर्दिष्टः, येन व्रजतोऽस्य न कापि बाधा भवेत्। तदा तत्रत्याः सर्वेऽपि तपस्विनः तद्गतमनस्का बभूवुः। तद्वियोगेन च तेषां बाष्पोद्गमोऽप्यभूत्, परं तपस्वितया क्षणेनैव बाष्पवेगस्तम्भितः।

६०.

अथ प्रस्थितेऽर्जुने तद्विजयनिश्चयप्रहृष्टाः, मङ्गलमाचरयन्तश्च देवाः स्वर्गे दुन्दुभीर्वादयामासुः, तस्य शब्दस्य प्रतिध्वनिः सर्वासु दिक्षु श्रूयते स्म। किं च पुष्पाण्यपि देवा ववृषुः, तैर्नभः शोभान्वितमभूत। अधार्मिकाणामसुरपक्ष्याणां दुर्योधनादीनां विघातो देवकार्यमेवार्जुनेन संपाद्यमिति तेषां हर्षः। किं च भावि-महासमरसूचनाय भूमिश्चकम्पे, समुद्रश्च प्रवृद्ध उत्तरङ्गमाल आसीत्। तत्र कवि-रुत्प्रेक्षते—प्रियः समुद्रः स्वप्रियां पृथिवीम् 'मा बिभीहि, भारस्ते क्षिप्रमपनेष्यते' इति प्रियं संदेशमाख्यातुं वीचिभिर्भुजसदृशैरालिलिङ्ग, सा च सात्त्विकभावोदयेन प्रकम्पिता, हर्षोल्लसिता चाभूदिति। यथा कश्चित्कान्तः प्रियं संदेशमाख्यातुं कान्तां भुजाभ्यामालिङ्गति, सा हर्षोल्लसिता वेपमाना च भवति, तद्वदिति। समुद्रकर्तृकमालिङ्गनं परितः स्पर्श एव। सर्गसमाप्तिपद्ये लक्ष्मीपदं लक्ष्म्यङ्कमहाकाव्य-शैलीसंरक्षणाय।

इति किरातार्जुनीये तृतीयः सर्गः।

अलकाऽधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म संप्रयान्।
हृदयानि समाविवेश स क्षणमुद्बाष्पदृशां तपोभृताम्॥ ५९॥

अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने।
प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्ग स्फुरन्तीं
भुवमनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः॥ ६०॥

किरातार्जुनीयस्य एकादशः सर्गः

कथासम्बन्धः

इन्द्रकीलं नाम हिमालयस्यान्यतमं शिखरं गतोऽर्जुन इन्द्रप्रसादनाय दुश्चरं तपस्तेपे। वनरक्षकमुखेन श्रुततद्वृत्तान्त इन्द्रः परीक्षार्थं तपोविघ्नायाप्सरोगणमादिदेश। गन्धर्वैः सहिता अप्सरसोऽर्जुनाधिष्ठितपर्वतसमीपमेत्य त्रिविधान् विहारांश्चक्रुः। अनुकूलर्तुसहायाश्च विविधाभिश्चेष्टाभिरर्जुनं प्रलोभयितुं प्रयेतिरे। किन्त्वर्जुनस्यासाधारणं संयममालोक्य विफलप्रयासाः स्वं स्वं धाम प्रतिजग्मुरिति दशमे सर्गे गतम्।

तदनन्तरं वृत्तमुच्यते—

१.

प्रतिनिवृत्य ताभिरप्सरोभिस्तद्वृत्तमिन्द्राय निवेदितम्। इन्द्रश्चार्जुनस्य स्वाभाविकीमागन्तुकां चोभयविधामपि जितेन्द्रियतामाकलय्य प्रससाद, अर्जुनो हि स्वभावेनैव जितेन्द्रिय आसीत्, इदानीं शत्रुजनितामर्षेण विशेषतो जितेन्द्रियता संपादिता, नह्यमर्षवशीकृते मनसि विलासेच्छा स्थानं लभते। ततश्चेन्द्रः स्वयमेव तद्दार्ढ्यपरीक्षार्थं छद्मवेषेण तदाश्रमं जगाम।

२.

स्वाश्रमे समागतं मुनिवेशधारिणमिन्द्रमर्जुनः साक्षाच्चकार, तेन स वृद्धो मार्गश्रान्तश्च मुनिरिति विज्ञातः। अर्जुनो हीन्द्रस्यैव सुतः, पराक्रमसंयमादिना योग्यश्चेति दर्शनयोग्यतामाकलय्य इन्द्रेण तस्मै दर्शनं दत्तम्।

३.

वृद्धमुनिवेषेणार्जुनसमीपमुपागतस्येन्द्रस्य शिरः श्वेतकेशनिबद्धजटाजालमण्डितमासीत्, तेन शोभमान इन्द्रस्तदानीं चन्द्रकिरणसंपृक्तया संध्यया शोभितस्य दिनान्तस्य सादृश्यमुवाह।

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया।
आजगामाश्रमं जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः ॥ १ ॥

मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः।
द्राघीयसा वयोतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना ॥ २ ॥

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव संध्यया ॥ ३ ॥

परिणतरूपत्वमिन्द्रदिनान्तयोः सादृश्यम्। सन्ध्या तमसा श्यामापि चन्द्रकिरणैः श्वेता भवति, तथैव केशाः स्वभावेन श्यामा अपि आगन्तुकजरया श्वैत्यं नीता इति तयोः साम्यम्।

४.

इन्द्रस्य नेत्रे कमलसदृशे, वृद्धत्वात् तस्य भ्रुवौ पालित्यं प्राप्ते, लम्बमानाश्च तयोर्बाला नेत्रे आच्छादयन्ति स्म। मांसस्य श्लथत्वान्नेत्रप्रान्तभागावपि बलिविशिष्टौ, किञ्चिन्नतौ, अत एव स तदानीं तस्य सरसः साम्यं प्राप, यस्मिन् निरंतरतुषारपातेन कमलानां दलानि म्लानानि स्युः। तुषारसमाः श्वेता भ्रूवालाः, म्लानता च वलितत्वादिति।

५.

यद्यप्यतिवृद्धस्य तस्य पाणिपादाद्यवयवा अतिकृशाः, तथापि स निर्बलत्वान्न तान् वोढुं प्राभवत्, तेन ते भारयुक्ता इव प्रतीयन्ते स्म, निर्बलस्य स्वशरीरमपि भारायते इति भावः। अत एव स प्रायः शरीरोपष्टम्भाय यष्टिमवलम्बते स्म। यथा पतिव्रता स्त्री अनुद्योगं भोजनपरं भर्तारं स्वयं भोजनाद्यवलम्बं दत्वा धरति तथैव यष्टिरपि धरति स्म। अवलम्बने यष्ट्याः कर्तृत्वप्रतिपादनेन वृद्धस्य स्वशक्त्यभावो द्योतितः, न हि स यष्टिं धरति स्म, अपि तु यष्टिस्तं धरति स्मेति।

६.

यद्यपि मुनिवेषेणेन्द्रः स्वस्वरूपं गोपयामास, तथापि लोकातिशायि तस्य तेजो बोधयति स्म यदस्त्ययं कश्चन महापुरुष इति। यथा वर्षासु स्वल्पेन मेघमण्डलेनाच्छन्नेनापि किरणसहस्रेण दुरभिभवेन स्वतेजसा दीप्यत एव, तथैव सोऽपि दीप्यते स्म। अंशुमानिति लोकाभिभाविना इति च आच्छादनेऽपि प्रकाशनयोग्यतां व्यनक्ति।

७.

यद्यपीन्द्रः शरीरेण वृद्धो लक्ष्यते स्म तथापि तस्य दिव्या मूर्तिराश्रमस्य शोभामतिशेते स्म, तदानीमतितेजस्विनस्तस्यागमने तत्प्रभावेणाश्रमो नीरवस्तब्धतया

निशदभ्रयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः।
प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रदः ॥ ४ ॥
आसक्तभरनीकाशैरङ्गैः परिकृशैरपि।
आद्यूनः सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बितः ॥ ५ ॥
गूढोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना।
अंशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः ॥ ६ ॥
जरतीमपि बिभ्राणस्तनुमप्राकृताकृतिः।
चकाराक्रान्तलक्ष्मीकः ससाध्वसमिवाश्रमम् ॥ ७ ॥

समुत्पन्नभीतिरिव ददृशे। तेजस्विदर्शनाद्धि भयं भवति, भयाच्च नीरवता जायते इति। अत एव कविना ससाध्वसमिवेत्युत्प्रेक्षितम्। यद्वा इवशब्दोऽपूर्णतार्थः। भयं प्रतीयते स्म, परं दुःखदं नाभूत्। तस्मान्न वास्तवं भयमिति।

८.

स्वाश्रमे समागतमिन्द्रं दृष्ट्वा तद्विषयेऽर्जुनस्य,मनसि महान् स्नेहोदयो जातः। यत इन्द्रस्तस्य जनक आसीत्। यद्यपीन्द्रस्य कपटमुनितयार्जुनेन न ज्ञातं यदेष मम जनक इति, तथापि प्रकृतिरियं यद् बान्धवे अज्ञातेऽपि तत्सत्तामात्रेण चेतः स्वयमेव प्रसीदति। परितस्तरे इति पूर्णतया संबन्धे लाक्षणिकम्। व्याख्यान्तरे तु अतिप्रेम्णा अर्जुनस्तस्मा आसनादिकं ददाविति भावः।

९.

अर्जुनेनातिथ्यं कृतम्। इन्द्रेण तद् गृहीतम्। यद्यपि वस्तुतस्तस्य न कापि श्रान्तिरासीत्। तथापि छद्मवेषतया तेन श्रान्तेरपनयो नाटितः। ततश्च वक्तुमारेभे।

१०.

इन्द्रः स्वस्यापरिचिततां दर्शयन् अर्जुनं मुमुक्षुं मत्वा वक्ति—त्वया युवावस्थायामेव तपः प्रारभ्य साधु कृतम्, यतः तप एव वैराग्यमुत्पादयति, विषयवैराग्यमेव च जन्मनः साफल्यम्। लोके बहुलं दृश्यते मादृशाः संजातवलीपलिताः शिथिलेन्द्रिया अतिवृद्धा अपि विषयैराकृष्यन्ते, यूनां तु का कथा। अतस्त्वादृशः साधुकारी प्रशस्य एव।

११.

भद्र! त्वं न केवलमाकृत्या मनोहरः, अपि तु स्वरूपानुरूपा गुणा अपि त्वया लब्धाः, यतस्त्वं श्रेयस्करे तपसि प्रवृत्तः, एवंभूतस्त्वमेव श्लाघ्योऽसि। लोके रमणीयरूपा बहवो भवेयुः, गुणार्जनपराः परं केचिदेव, त्वयि तु रम्यता गुणार्जनं चेत्युभयमप्यस्तीति सुवर्णसौरभयोर्योगः।

अमितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः॥ ८॥
आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः।
विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम्॥ ९॥
त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः।
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः॥ १०॥
श्रेयसीं तव संप्राप्ता गुणसंपदमाकृतिः।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम्॥ ११॥

१२.

यथा शरत्कालिकमेघानां छाया अस्थिरा भवति, तूर्णमेव नश्यति, तथैव यौवनशोभापीयमस्थिरा, न हि यौवनं कस्यापि स्थिरं भवति, येनोन्माद्यन्ति लोकाः। श्रीरप्यस्थिरेति व्याख्यान्तरे। तथा शब्दादयो विषया इमे उपभोगकाल एव रमणीयाः प्रतीयन्ते, परिणामे तु शरीरेन्द्रियादिशैथिल्यहेतुतया दुःखदायिनो भवन्ति, अतो विषयान् विहाय तपसि मनो ददता त्वता साधु कृतम्।

१३.

किंच तपस्विन्! सर्वथा जगदिदं त्याज्यमेव, दुःखाक्रान्तत्वात्। आदौ हि जन्मिनो गर्भवासादिदुःखमेव महत्, (इदं जन्मिपदेन ध्वनितम्) ततो जातस्य जीवनमप्यनेकसंकटाकीर्णम्। यदि सुखमपि क्वचित् कदाचिद्भवेत् तर्हि दुःखाक्रान्तमेव तत्। (इदं संततापद इति विशेषणेन व्यञ्जितम्) तदपि च कालाधीनम्, न जाने कदाम्रियेत। तस्मात् पण्डितजनः संसारमिमं त्यक्त्वा मुक्तिलाभायैव यतते।

१४.

श्रेयस्करे तपश्चरणे तव मतिं विलोक्य विज्ञायते यत् तव चित्तं विवेकशीलं अतोऽतिप्रशस्तम्। केवलं तपस्विविपरीतं तव वेषं दृष्ट्वा मे मनसि संदेहो जायते, यद् भवान् मुमुक्षुरस्ति न वा।

१५.

यथा कश्चन युद्धार्थी कवचं धारयति, तथा त्वयापि धृतमस्ति, तत् कस्य हेतोः? किं युयुत्सुरसि?, तपस्विनस्तु केवलं मृगचर्म वृक्षत्वचं च धारयन्ति। न तु वस्त्राण्यपि, कवचस्य तु का कथा! अतस्तपस्विनस्ते कवचधारणं सर्वथा विपरीतम्।

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ १२ ॥

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः संततापदः।
इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः ॥ १३ ॥

चित्तवानसि कल्याणी यत्त्वां मतिरुपस्थिता।
विरुद्धः केवलं वेषः संदेहयति मे मनः ॥ १४ ॥

युयुत्सुनेव कवचं किमामुक्तमिदं त्वया।
तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ॥ १५ ॥

१६.

त्वया भयङ्करं धनुः, महान्तौ तूणीरौ च धृतानि सन्ति, तद्धारणं च शरीररक्षार्थं मृगयार्थं वोपयुज्यते, न हि शरीरे तेऽनुरागः, शरीरनिरपेक्षतयैव तपसि प्रवृत्तत्वात्। न वा त्वं प्राणिहिंसकः, मुमुक्षुत्वात्, अत एतद् धनुरादिधारणं किमर्थमिति न प्रतीयते।

१७.

तपःस्थितेनापि त्वया धृता प्राणिभयंङ्करीयमसिलता मृत्योः (प्रसिद्धभुजातिरिक्तः) भुज इव दृश्यते। अनयापि ज्ञायते तव चेतसि शमो नास्तीति। शान्तिमेतः शस्त्रानुपयोगात्।

१८.

शत्रुविजिगीषयैव त्वं तपश्चरसीति तर्कयामि, यदि त्वं मुक्तये तपोऽतप्स्यः, तर्हि शस्त्रं नाधारयिष्यः। इमानि शस्त्राणि तव चेतसि क्रोधमनुमापयन्ति, मुमुक्षवस्तु शान्तिप्रधाना भवन्ति, यथा नैकत्र शान्तिक्रोधयोः सम्भवः, विरोधादेवेति। तस्माद् आयुधधारिणस्ते तप इदं गौणमेव।

तपोधनाः—इत्युक्त्या तप एव तेषां धनम्, न हि प्रयोजनान्तरसिद्धये तपस्तेषाम्, तवं तु प्रयोजनान्तरार्थं तप इति न त्वं तपोधन इति द्योतितम्।

१९.

ननु जयार्थमेव तपश्चेत् को दोष इत्येवं शङ्कायामुच्यते यथा पिपासानिवृत्तिहेतूनां महाफलानां स्वच्छानामपां कर्दमकरणे विनियोगो विद्वद्भिर्गर्ह्यते, तथा मोक्षरूपमहाफलसाधनीभूतस्य तपसः परहिंसारूपे तुच्छे फले विनियोगोऽपि गर्ह्य एव, तस्मात् परहिंसामात्रार्थं निर्जने तव तपस्युद्योगः सुतरामविवेकपूर्ण एवेति।

प्रपित्सोः किं च ते मुक्तिं निःस्पृहस्य कलेवरे।
महेषुधी धनुर्भीमं भूतानामनभिद्रुहः ॥ १६ ॥

भयंकरः प्राणभृतां मृत्योर्भुज इवापरः।
असिस्तव तपःस्थस्य न समर्थयते शमम् ॥ १७ ॥

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वभिलाषुकः।
क्रोधलक्ष्म क्षमावन्तः क्वायुधं क्व तपोधनाः ॥ १८ ॥

यः करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरीः क्रियाः।
ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः ॥ १९ ॥

२०.

यद्यप्यर्थकामावपि पुरुषार्थमध्ये गणिताविस्युन्नीते तपः सम्भवेन्नाम, तथापि अर्थकामयोरत्यन्तमासक्तिर्निषिद्धैव। यतः, अर्थकामौ खलु हिंसानृतस्तेयादीनां प्रबलानां दोषाणां मूलकारणं स्तः, तदुक्तमभियुक्तैः—'स्त्रीकामा धनकामाश्च किं न कुर्वन्ति पातकम्' इति। किं च, तौ मोक्षसाधनस्य तत्त्वज्ञानस्यान्तरायभूतौ, न ह्यर्थकामसक्तयोस्तत्त्वजिज्ञासाप्युदेति। परिपन्थित्वादर्थकामयोरासक्तिस्त्याज्यैवेति।

२१.

अर्थकामयोर्हेयत्वमुक्तम्। तत्रार्थस्य विशेषेण दोषा उद्घाट्यन्ते—न हि अन्येषां प्राणिनां विद्रोहेण विना संपल्लभ्यते—इति प्रसिद्धमेतत्। यैश्च संपदर्जने विरोधः कृतः, ते प्राप्तेऽवसरे एतं दोग्धारमपि पातयिष्यन्त्येवेति सुलभाः श्रीपरस्यापदः। यथा समुद्रे निरवच्छिन्नप्रवाहा नद्यः पतन्ति तथैव तस्मिन् पुरुषे निरन्तरं विपद आपतन्ति य ऐश्वर्याप्तये प्राणिहिंसां विधत्ते। भूतानामिति श्रिय इति च बहुवचनोपन्यासेन लोभाक्रान्तेन बहुविधसंपदर्जने बहुभिर्भूतैरनेन विद्रोहः कृतः, ते सर्वेऽपि क्रमेण निर्यातनं कुर्युरिति आपदां सातत्यं व्यञ्जितम्, तदेव चोदन्वन्नद्युपमया दृढीकृतम्। न च संपदः गत्वर्यः—गमनशीला नैकत्र तिष्ठन्ति, ता विनङ्क्ष्यन्ति, आपदश्चागमिष्यन्तीत्यनर्थोदर्कता दृढीकृता।

२२.

विचारे क्रियमाणे प्रतीयते—यत्संपदो विपदश्च तुल्या एव। तथा हि यथा विपदः प्रशस्तान् सहायान् विना सर्वथा अगम्याः (अनिस्तीर्याः) तथैव सम्पदोऽपि तान् विना अगम्याः (अप्राप्याः) सन्ति। सहायान्वेषणे च क्लेशो जायत एव, न हि सहायाः सर्वदा सुलभा भवन्ति, तदानुगत्ये च स्वातन्त्र्यहानिरित्यपरः क्लेशः। किं च यथा विपत्सु सतीषु खेदो जायते, तथा सम्पत्स्वपि रक्षणादिक्लेशो दुर्निवारः, यथा च विपदः स्वरूपतो भयहेतवः, तथैव संपदोऽपि चोरादिभयं नित्यमेवावहन्ति। अतो विपदो यथा लोके दुःखदा इति हेयतया प्रसिद्धाः, तथैव संपदोऽपि मन्तव्याः।

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥ २० ॥
अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरीः श्रियः।
उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥ २१ ॥
या गम्याः सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव संपदाम् ॥ २२ ॥

२३.

पूर्वं तु धनं दुर्लभमेव, दैवाद् बहून् क्लेशान् सोढ्वा लब्धमपीदं विश्वास-धैर्ययोर्नाशकं भवति, यतस्तद्रक्षायै चेतश्चञ्चलं भवति, अत्र वा रक्ष्यं तत्र वेति निरन्तरं सङ्कल्पयति, न क्वापि स्थितिं लभते, धनिकस्य सर्वत्राविश्वासात्। अविश्व-स्तस्य च शान्तिसुखं दूर एव। तथा च यथा सर्पस्य फणायां स्वयं स्थितेन पुरुषेण मरणं प्राप्यत एव, तथा धनार्जनपरेणाप्यापत्प्राप्यत एव, स्वरूपेणैव धनमापद्रूप-मेवेति। दुरासदादिविशेषणं सर्पपक्षेऽपि योज्यम्, सर्पफणापि दुरासदा (दुर्ग्रहा) भवति, गृहीतापि च दशनभिया स्वान्तमधीरं विधत्ते, न जाने कदावसरं गृहीत्वा दशेदित्यविश्वासश्च तत्र।

२४.

इतोऽपि हेतोः सम्पदो हेयाः—तथा हि इमा विवेकशून्या योग्यायोग्यविशेषं न परिचिन्वन्ति, योग्यं विहायायोग्याश्रयणात्, अयोग्यवत् योग्यस्यापि त्यागाद् वा। नापि इमाः कुत्रचिदेकस्मिन् बद्धानुरागा भवन्ति, यः—पुरुषोऽद्य श्रीभिः सेव्यते, स एव परेद्युस्ताभिरेव तृणत्याजं त्यज्यते, तथा च पण्यपुरन्ध्रीष्विवासु श्रीषु मूढा एव पुरुषा आसज्जन्ति, न बुद्धिमन्तः। य आसक्ताः, तेषां विपरीत-स्वभावजन्यो दोषः।

२५.

ननु दुष्टेभ्य एव पुरुषेभ्यः श्रियोऽपयान्ति, न तु शिष्टेभ्य इति चेद्, मैवं वोचः। तथा सति श्रियां चाञ्चल्यापवादो लोके न स्यात्। दुर्वृत्तं पुरुषं त्यजन्त्यः श्रियः केन वा न प्रशस्यन्ते, अपात्रत्यागस्य सर्वैरपि प्रशंसनात्। किन्तु क्षुद्रा विवेकशून्या इमाः श्रियः दुर्वृत्तमिव सद्वृत्तमपि दूरतस्त्यजन्ति, अत एव इमाः निन्द्यन्ते, तस्मात्त्याग आसां स्वभावसिद्ध एवेति हेया एवेमाः। अनेन संदर्भेण अर्थो न पुरुषार्थ इति दृढीकृतम्।

२६.

यदि कथयसि—वैरनिर्यातनार्थं तपस्तपस्यसि इति तदपि नोचितम्, अप्रिय-

---

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मनः।
भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा ॥ २३ ॥

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ २४ ॥

कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः।
साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव संपदः ॥ २५ ॥

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुरं मनः।
अप्रियैरिव संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ॥ २६ ॥

करणेन शत्रूणां पीडोत्पादनं विना वैरनिर्यातनासिद्धेः, अप्रियं संपाद्य कस्यचित् पीडोत्पादनं च सर्वथा त्याज्यम् , यतः तत्र मनोऽपि अप्रियसंयोगप्रिययोगाभ्यां पीडितमभूत् , भविष्यति, वर्तमाने भवति च, तथा च 'अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् , इत्यभियुक्तोक्त्या आत्मदृष्टान्तेन त्वया पराप्रियकरणाद् विरमणीयमेव । यद्वा अर्थनिन्दा प्रपञ्चिता, कामनिन्दा प्रारभ्यते । कामे जीवातुः प्रियसंयोगः, स एव निन्द्यते—विरहदुःखभीतेः सद्भावात् प्रियसंयोग एव नाभिलषणीय इति ।

२७.

प्रियसमागमस्य सुखैकहेतुता लोकैर्मता—इति प्रपञ्च्यते—प्रियसमागम एव लोकैः सर्वस्वं मन्यते, प्रियेण सह स्थितौ सत्यां शून्यमपि स्थानं समृद्धं प्रतीयते, दुःखमपि प्रियेण सह भुज्यमानमुत्सव इव मन्यते, प्रियो यदि वञ्चनामपि कुर्यात् , तदापि लाभ एव मन्यते लोकैः ।

२८.

यथा प्रिययोगः सुखैकनिदानम् , तथा प्रियविरहो दुःखैकनिदानं लोकानां मत इत्याह, स्पष्टो भावार्थः ।

२९.

प्रियसंयोगविप्रयोगयोः सुखदुःखैकहेतुतां लोकदृष्ट्या व्याख्याय तत्त्वदृष्ट्या हेयतामाह—यदि जनः प्रियेण संयुक्तो भवेत् , तदाकामवशगो हिताचरणे न प्रवर्तते—इत्यनर्थः, यदि तु वियुक्तो भवेत् , तदा वियोगदुःखेनाकर्मण्यतां याति । ततश्चोभयथाप्यनर्थसद्भावादयमेव दुःखविघातक उपायो यत्केनचित्सङ्ग एव न कर्तव्यः । तेन न हितप्रमादो न वियोगदुःखं च स्यात् ।

३०.

यथा लक्ष्मीरस्थिरा, तथेदं जीवनमप्यस्थिरमिति त्वं सम्यग् वेत्सि, अतोऽस्थिरवस्तुकृते त्वया परपीडनेन न्यायमार्गो न त्यक्तव्यः । साधवः खलु न्याय्यमेव कर्म विदधते, नान्याय्यम्, यदि त्वं परान् पीडयसि, तर्हि लोकैरसाधुरिति व्यपदेक्ष्यसे ।

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः ।
विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ॥ २७ ॥
तदा रम्याण्यरम्याणि प्रियाः शल्यं तदासवः ।
तदैकाकी सबन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा ॥ २८ ॥
युक्तः प्रमाद्यसि हितादपेतः परितप्यसे ।
यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने ॥ २९ ॥
जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वांल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम् ।
भवान्मा स्म वधीन्न्याय्यं न्यायाधारा हि साधवः ॥ ३० ॥

३१.

अतो हे तपस्विन् ! त्वं रणोत्साहं त्यज, मोक्षसाधकस्य तपसो वैरनिर्यातन-रूपायाल्पफलाय दुरुपयोगं मा कार्षीः। मोक्षप्राप्तये शान्तिं धत्स्व। तत एव ते तपोधनत्वं सम्यक् समर्थितं स्यात्।

३२.

यदि सर्वथा शत्रुविजिगीषां त्यक्तुमसमर्थोऽसि, तर्हि देहे वर्तमानान् इमांश्च-क्षुरादीन् शत्रून् विजयस्व, इमे खलु देहधारिशत्रूणामपेक्षया दुर्जयाः सन्ति। देहे इति पदेन तेषां नित्यसान्निध्यमुक्तम्, सदा सन्निहितेभ्य एभ्यो यथा भयं तथेतरश-त्रुभ्यो नास्ति। त्वया एषां स्वायत्तीकरणेन सर्वोऽपि लोकः स्वायत्तीकृतः स्यात् जितेन्द्रियस्यार्थनिःस्पृहस्य वैरानुदयात् सर्वं एव मित्राणि उदासीना वा भवन्ती-त्येतावता तस्य सर्वविजयव्यपदेशः।

३३.

यः पुरुषः इन्द्रियाणि विजित्य स्ववशे न करोति, स्वयमिन्द्रियवशे भवति, स इन्द्रियपराधीनः पुरुषो यदा स्वाभिलषितं स्वयं न प्राप्तुं शक्नोति तदा परमुखं निरीक्षते, तत् प्राप्तये स कर्षणवहनादि नीचान्नीचमपि कर्म कर्त्तुं सन्नद्धो भवति, तथा कुर्वतस्तस्य लज्जापि न जायते। केवलं स्वेन्द्रियतुष्टये स बलीवर्द इवान्येषा दासभावं प्राप्नोति।

३४.

किं च हे तपस्विन्! योऽयं विषयानन्दोऽद्यानुभूयते, परेऽहनि स न तिष्ठति, तस्य स्मरणमात्रं जायते, न त्वनुभवः, तस्य क्षणिकत्वात्, ईदृशेषु का प्रीतिः? तथा चेन्द्रियविषयान् स्वप्नवत् क्षणिकसुखान् मत्वा त्वया तत्रासक्तिर्न कर्तव्या, न हि स्वप्ने कश्चिद् बुद्धिमान् भक्तो भवतीति।

विजहीहि रणोत्साहं मा तपः साधु नीनशः।
उच्छेदं जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधनः॥ ३१॥

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः।
जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः॥ ३२॥

परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवैति विधेयताम्॥ ३३॥

श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाऽधुनातनी।
इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्तदङ्गताम्॥ ३४॥

३५.

अपि च हे तपस्विन्! इमे विषया अतिकष्टदाः कुत्सिताः शत्रवः सन्ति, तथा हि सुखदतया लोकैरेषु विश्वासः क्रियते, परमिमे लोकान् वञ्चयन्ति, सर्वदानुपलम्भ एव तेषां वञ्चनम्, विश्वस्तानां वञ्चनमतीव कष्टप्रदम्। लोकास्तेषु प्रेम विदधते, परं ते सेव्यमाना अनेकरोगशोकप्रदानेन विप्रियमाचरन्ति, वृद्धावस्थायां जराजीर्णतया स्वसेविनं स्वयं परित्यजन्तोऽपि लोकैर्दुस्त्यजा भवन्ति, चेतसस्तत्रासक्तत्वात्। अत इमे परिहरणीया एव। प्रसिद्धाः शत्रवस्तु श्रद्धेयाः प्रियाः, दुस्त्यजा वा न भवन्तीति तदपेक्षया वैलक्षण्यमेषाम्।

३६.

देशकालसम्पत्कार्यसिद्धौ मुख्यं कारणं भवति। तत्र सौभाग्याद्देशसम्पत्त्वयातिश्रेष्ठा प्राप्ता। एकान्ते सुरसरिद्वारिसेकादतिपवित्रितेऽस्मिन् पर्वते शान्तो भूत्वा तपः कुरु, तथा सति मुक्तिस्त्वयातिसुलभा. शस्त्रं त्यज। 'मुक्तिः' स्वयं त्वां प्राप्नोतीति कर्तृप्रथमया पुरेतिनिपातप्रयोगेण च मुक्तेरतिसौलभ्यं द्योतितम्।

३७.

इन्द्रोपदेशं श्रुत्वार्जुनो विनयनिचुलितं गभीरार्थं प्रत्युत्तरं दातुमारभत।

३८.

पूर्वमर्जुनस्तद्वाक्यं शालीनतया प्रशंसति—हे मुने! भवद्वाक्यं स्फुटार्थप्रतिपादकतया प्रसादगुणयुक्तम्, अत एव श्रोतुर्हृदयावर्जकम्, यद्यपि पदार्थविशदीकरणे पुनरुक्तिर्भवति, अर्थगौरवं च नश्यति, परं भवता साभिप्रायपदप्रयोगेण पुनरुक्तिरपि न कृता, अर्थगौरवं च रक्षितम्, श्रोतुरुद्वेगकरः शब्दविस्तारोऽपि परिहृतः, असम्बद्धं किमपि नाभिहितम्, आवश्यकसर्वशब्दप्रयोगाद् अध्याहारोऽपि परिवर्जितः, उपदेशस्य मिताक्षरत्वेऽपि वक्तव्यांशो न त्यक्तः, अनेकार्थकशब्दाप्रयोगादर्थसंदेहोऽपि निरस्त इत्यहो अभिनन्दनीया वचनचातुरी भवतः।

श्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः।
सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः॥ ३५॥
विविक्तेऽस्मिन्नगे भूयः प्लाविते जह्नुकन्यया।
प्रत्यासीदति मुक्तस्त्वां पुरा मा भूरुदायुधः॥ ३६॥
व्याहृत्य मरुतां पत्याविति वाचमवस्थिते।
वचः प्रश्रयगम्भीरमथोवाच कपिध्वजः॥ ३७॥
प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम्।
साकाङ्क्षमनुपस्कारं विष्वग्गति निराकुलम्॥ ३८॥

३९.

हे मुने ! भवद्वचोवेदवाक्यतुल्यम्, तथा हि-यथा वेदवाक्यं मीमांसाशास्त्रेण निर्धारिते स्वार्थे स्मृत्यादिप्रमाणान्तरं नापेक्षते, स्वतः प्रमाणत्वात्, तथैव भवद्वचोऽपि युक्तिभिः साधिते स्वार्थे उपोद्बलकं शास्त्रान्तरं नापेक्षते, युक्तीनामतिदार्ढ्यात्। किं च यथा वेदार्थः प्रत्यक्षादिभिर्न बाध्यते, तथैव भवत्प्रतिपादितोऽर्थोऽपि प्रतिवादिभिर्विरुद्धयुक्त्युपन्यासेन खण्डयितुं न शक्यते। इवशब्दोऽत्र सम्भावनायाम्, युक्तिदार्ढ्यादागमनिरपेक्षं संभाव्यते इति। वस्तुतस्तु आगमसिद्धार्थकथनमेवेदम्- इति तेन द्योत्यते।

४०.

यथा समुत्पन्नोत्तालतरङ्गवारिधिरूर्जितो भवति, न केनाप्युल्लङ्घितुं शक्यते, तथैव भवद्वचोऽपि ऊर्जितमनुल्लङ्घनीयं चास्ति, एवं यथा त्यागशीलमणिमादिसिद्धिसम्पन्नं च ऋषेश्चित्तं शान्तं भवति, तथैवोक्तिवैचित्र्ययुक्तं सदर्थप्रतिपादकं (प्रयोजनवद् वा) च भवद्वचोऽपि शान्तमालक्ष्यते।

४१.

साम्प्रतमिन्द्रवाक्यप्रशंसानुपसंहरति, एतादृशं प्रसादादिगुणयुक्तं कालोचितं साधनबोधकं युक्त्युपेतं वा वाक्यं भवन्तं विहायान्यः को वक्तुमर्हति। यद्यपि लोके वक्तारो न दुर्लभाः, तथापि भवत्सदृशो गभीराशयो न सुलभ इति।

४२.

परन्तु हे माननीय मुने ! मह्यं मोक्षप्राप्तिहेतुं मुनिधर्ममुपदिशता भवता 'केन प्रेरितः किमुद्दिश्य वाहं तपः करोमि' इति न विदितम्, यदि तद् भवान् अवेत्स्यत् तर्हि नैवमनधिकारिणं मां मोक्षधर्ममुपादेक्ष्यत्।

न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे ।
अप्रकम्प्यतयाऽन्येषामाम्नायवचनोपमम् ॥ ३९ ॥

अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वदूर्जितम् ।
औदार्यादर्थसंपत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव ॥ ४० ॥

इदमीदृग्गुणोपेतं लब्धावसरसाधनम् ।
व्याकुर्यात्कः प्रियं वाक्यं यो वक्ता नेदृगाशयः ॥ ४१ ॥

न ज्ञातं तात यत्नस्य पौर्वापर्यममुष्य ते ।
शासितुं येन मां धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि ॥ ४२ ॥

४३.

प्रासङ्गिक एव उपदेशः सर्वैराद्रियते, वाचस्पतिरपि यदि प्रसङ्गमविज्ञायैवोपदिशेत् तर्हि तस्य स प्रयासो फलेग्रहिर्न स्यात्। यथा नीतिविरुद्धकारिणामुद्योगो व्यर्थ एव भवति, तथा। तथा च महाविदुषोऽपि तव वाक्यमप्रासङ्गिकत्वान्न सफलं भवितुमर्हति।

४४.

यद्यपि मोक्षधर्मप्रतिपादकत्वाद् भवद्वचः प्रशस्ततरम्, तथापि मोक्षेच्छाभावान्नाहं तस्याधिकारी। अहं वैरनिर्यातनार्थी, कुतो मे मोक्षाधिकारः। यथा तारकितं नभोतिशोभितम्, परं दिवसस्तस्याधिकारी न भवति, तथेति। दिनस्य स्वोपमानताकथनात्स्वस्य तद्वत्प्रदीप्तता व्यञ्जिता।

४५.

सांप्रतं केन प्रेरितः किमुद्दिश्य वा तपः करोमीति स्वजात्यदिवर्णनपुरस्सरमर्जुनः कथयति—हे मुने! क्षत्रियकुले मम जन्म जातम्, (तेनामर्षयोग्यता सूचिता) तत्रापि न साधारणे, पाण्डोरहं पुत्रः, अत एव महाकुलप्रसूतोऽस्मि, (तेन सा दृढीकृता, पाण्डुपुत्रेष्वप्यहं पार्थः—पृथापुत्रोऽस्मि, न तु माद्रीसुतः (तेन सातिदृढतां नीता) पृथापुत्रेष्वपि महावीरोऽर्जुनोऽस्मि य उत्तरकुरून् विजित्य धनाहरणाद् धनञ्जय इति लोके प्रसिद्धः। (एतेनामर्षयोग्यतातिभूमिं नीता) दायादैर्दुर्योधनादिभी राज्यलोभाद् मम ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिरो राज्यन्निरस्तः, अपमानप्रतीकारार्थिनस्तस्याज्ञयाहं तपस्यां करोमि, न तु मोक्षेच्छया, तदाज्ञाननुसरणे मानहानिः, सौभ्रात्रभङ्गः पूज्यपूजा–व्यतिक्रमश्च भवति, तथाचैवममर्षपूर्णस्य वैरनिर्यातनार्थिनो–रागद्वेषकषायितचेतसो मम न सर्वथा मोक्षेऽधिकारः। अत्र धनञ्जय इत्युक्ते शरीरस्थो वायुः सर्पविशेषो वा स्यात्तद्व्यतिरेकार्थं पार्थ इति, गन्धर्वोऽपि कश्चित् पृथासुतोऽस्ति, तदर्थं पाण्डोस्तनय इति, नैमिषारण्ये पाण्डुविप्रः, तत्पत्नी पृथा नाम काचिद् ब्राह्मणी तत्पुत्रोऽपि संभाव्यते, तदर्थं क्षत्रिय इति विशेषणमिति मल्लिनाथः। एषां व्यङ्ग्यार्थस्तु दर्शित एव।

अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि।
व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम् ॥ ४३ ॥
श्रेयसोऽप्यस्य ते तात वचसो नास्मि भाजनम्।
नभसः स्फुटतारस्य रात्रेरिव विपर्ययः ॥ ४४ ॥
क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनंजयः।
स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने ॥ ४५ ॥

४६.

यच्चोक्तं 'विरुद्धः केवलं वेषः' इत्यादि, तदुत्तरयति—'समाचारमुपात्तशस्त्रः' इत्यादि भगवतो व्यासस्योपदेशेन विरुद्धवेषधारणादितपोनियमो मया पाल्यते, न तु स्वेच्छया, किञ्चानेन तपसाहमिन्द्रमाराधयामि, क्षत्रियदैवतत्वेन तस्यैव सुखाराध्यत्वाद्, अथवा वैरशोधनार्थिना मया तपस्तप्यते इति पूर्वमुक्तम्, वैरशोधनं च बलवतैव कर्तुं शक्यते, बलप्राप्तिश्च देवताप्रसादाद् भवति, बलाधिष्ठातृदेवता चेन्द्रः तदुक्तं निरुक्ते 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' इति। तथा च बलार्जनकामस्य ममेन्द्र एव सुष्ठुतयाराध्यः।

४७.

भवादृशे वीरभ्रातरि युधिष्ठिरस्य कथमेवं विनिपात इत्यत आह—द्यूतं कुर्वता राज्ञा युधिष्ठिरेण राज्यादि सर्वमपि पणीकृत्य हारितम्, नात्र राज्ञः कश्चिद् दोषः भवितव्यतैवेदृश्यासीत्।

४८.

युधिष्ठिरादिषु यथा तवानुरागस्तथा तेषां त्वयि नास्तीत्यपि न शङ्कनीयम्, युधिष्ठिरादयश्चत्वारो भ्रातरः, द्रौपदी च मद्वियोगेऽतितरां खिद्यन्ते, यद्विरहार्तानां तेषां कृते रात्रयोऽप्यतिदीर्घा दुर्यापणीयाश्च भवन्ति। वैरनिर्यातनस्यावश्यंभावद्योतनाय चतुर्भिररिनिकारं वर्णयति।

४९.

शत्रवो मध्येसभं बलाद् द्रौपद्या उत्तरीयं हृत्वास्मान् ह्रेपितवन्तः, किं च तत्रैवारुन्तुदैः क्रकचसदृशैर्वाक्यैरस्माकं हृदयं व्यथयामासुः।

५०.

शत्रूणां हृदये भीष्मादिगुरुजनसन्निधौ साध्वीं द्रौपदीमानेतुं योयमभिलाषः

कृष्णद्वैपायनादेशाद्बिभर्मि व्रतमीदृशम्।
भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वतः ॥ ४६ ॥
दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधूः।
नीतानि पणतां नूनमीदृशी भवितव्यता ॥ ४७ ॥
तेह्यनुजसहायेन द्रौपद्या च मया विना।
भृशमायामियामासु यामिनीष्वभितप्यते ॥ ४८ ॥
हृतोत्तरीयां प्रसभं सभायामागतह्रियः।
मर्मच्छिदा नो वचसा निरतक्षन्नरातयः ॥ ४९ ॥
उपाधत्त सपत्नेषु कृष्णाया गुरुसंनिधौ।
भावमानयने सत्याः सत्यङ्कारमिवान्तकः ॥ ५० ॥

समुत्पन्नः, स पापाभिलाष एव तान् प्रति मृत्योस्तन्नाशाय सत्यङ्कारद्रव्य आसीत् । अयमभिसन्धिः चिकीर्षितस्य कार्यस्यावश्यं क्रियास्थापनार्थं परहस्ते यद्दीयते स सत्यङ्कार उच्यते, मृत्युना स्वचिकीर्षितस्य धार्तराष्ट्रनाशस्यावश्यकर्तव्यतासूचनार्थं तेषां हृदये सभामध्ये द्रौपद्यानयनाभिलाष उत्पादितः, तद्विनाशाय तेषां विपरीतां बुद्धिमुत्पादितवान् इति तत्त्वम् ।

५१.

दुःशासनो द्रौपदीं मध्येसभमानेतुं वस्त्रे गृहीत्वा आकर्षति स्म, आकर्षणकाले अग्रेऽग्रे दुःशासनः, पश्चाच्च पराङ्मुखीभूय स्थिता द्रौपद्यासीत् तदानीमग्रतः स्थितेन दुःशासनेनाकृष्यमाणा द्रौपदी तथा प्रतीयते स्म यथा सायंकालिकसूर्याभिमुखं स्थितस्य कस्यचिन् महावृक्षस्य पृष्ठवर्तिनी छाया प्रतीयते, सूर्याभिमुखं स्थितस्य च्छाया पृष्ठवर्तिनी भवतीति निसर्गः । आकृष्यमाणाया द्रौपद्या आक्रष्टारं प्रति पराङ्मुखत्वाद् आवृत्तच्छायौपम्यम् , तथापि तां न मुञ्चतीति दुःशासनस्य तरुसाम्यम् , न तु चिरम् पापदर्शनस्य जुगुप्सितत्वात् । नापि दुःशासनमनाचाराद् निवर्तयितुं किञ्चिदवदन् , किन्तु माध्यस्थ्यभङ्गभिया सूर्यवत् साक्षिरूपेण स्थिता इतिमल्लिनाथः । सूर्यस्य सायमितिविशेषणं यथास्तमुपगच्छन् सूर्यो हतप्रभो भवति तथा स्वसम्मुखे पतिव्रतापमानं पश्यन्तः सभ्या अपि हतप्रभा अभवन्निति द्योतनाय ।

५२.

इत्थं स्वपतीनां पश्यतां परैः परिभूयमाना द्रौपदी स्वामशरणां विभाव्य रुरोद, रुदत्यास्तस्या नेत्रे अश्रुभिरावृते अभवताम् , तत्र कविरश्रुभिर्नेत्रावरणे हेतुमुत्प्रेक्षते, स्वपत्नीं परपरिभवाक्रान्तां विलोक्यापि पाणिपादमस्पन्दयित्वा सहमानानां पत्नीरक्षणरूपं पतिधर्ममपालयतामेषामुपरि दृष्टिपातेन किं फलम् ? कातरया दृष्ट्या निरीक्षिता अपीमे क्लीबकल्पा अप्रतीकारास्तिष्ठेयुः, अतो निरर्थकमेषां दर्शनमिति विचार्यैव बाष्पवारिभिर्नेत्रावरणं कृतम् इति ।

५३.

ननु भवद्भिः किमर्थमेतत् सोढमितीन्द्राशङ्कायामर्जुनः समाधत्ते—वस्तुत इमां

तामैक्षन्त क्षणं सभ्या दुःशासनपुरःसराम् ।
अभिसायार्कमावृत्तां छायामिव महातरोः ॥ ५१ ॥
अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः ।
अरुध्येतामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा ॥ ५२ ॥
सोढवान्नो दशामन्त्यां ज्यायानेव गुणप्रियः ।
सुलभो हि द्विषां भङ्गो दुर्लभा सत्स्ववाच्यता ॥ ५३ ॥

नो निकृष्टां दशां ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर एव सहते स्म, न तु वयम्, अस्माभिस्तु तदाज्ञाप्रतिरुद्धैः प्रतीकारं कर्तुमपारितमतः सोढमिव, स एव महामनाः कथं सहते स्मेत्यत्रोच्यते युधिष्ठिरः खलु क्षमासत्यभाषणादिगुणपक्षपाती लोकापवादाद् बिभेति, प्रतीकारचेष्टायां शत्रूणामग्रेकृतायाः प्रतिज्ञाया उल्लङ्घनस्य दुर्निवारतया तदुल्लङ्घने कदाचित् सत्पुरुषा अपवदेयुर्यद् युधिष्ठिरः सत्याद् भ्रष्ट इति, अस्मादेवापवादाद् बिभ्यता युधिष्ठिरेणापि सोढम्, शत्रूणां परिभवस्तु कालान्तरेऽपि कर्तुं शक्यते, परं सतां मध्येऽनिन्द्यता दुर्लभा, सकृदप्युदिताया निन्दाया दुष्प्रतिसमाधेयत्वात्।

५४.

मनस्विपुरुषाणां मनांसि समुद्राणां जलानि च तुल्यधर्माणि भवन्ति, तथाहि उभयान्यपि मर्यादातिक्रमाद् बिभ्यति, वृद्धौ हानौ वा जातायां न जातु मर्यादां त्यजन्ति, किं च जातेऽपि संक्षोभे न कदापि कालुष्यं प्राप्नुवन्ति, यद्यपि मनस्विनि मर्यादाया अत्यागः श्रुतिस्मृतिसदाचारानुमोदितपथानुसरणम्, समुद्रे च वेलाया अनतिक्रमणम्, मनस्विनः संक्षोभः परकृतापकारादि, अकालुष्यं चाविकारः, एवं समुद्रे संक्षोभो वात्यादिना तरङ्गमालाकुलत्वम्, अकालुष्यं च अपङ्किलत्वम्, इत्युभयेषां धर्मभेदान्न समानधर्मता, तथापि एकशब्दप्रतिबिम्बमात्राच्च समानधर्मता बोध्या।

५५.

अस्माभिर्धार्तराष्ट्रैः सह सौहार्देन वर्तितम्, परं तैस्तत्परिवर्ते, अस्मासु द्वेषः कृतः, परमेतन्नातिविस्मयकरम्, कुतः? नदीतटच्छायावद् असतां मैत्री अनर्थमेव जनयति। नदीतटं हि भूयो भूयो नदीजलाघातेन जर्जरं भवति, छायार्थं तत् सेवमानस्याद्य श्वो वा नदीपातो दुर्निवारः, एवमेवासतां हृदयमपि दुर्भावनाभिः कलुषितं भवति, तैः सह सम्पर्केऽनर्थोत्पत्तिर्नाश्चर्यंकरी।

५६.

ननु तेषां वृत्तमविज्ञाय कुतस्तैः सह मैत्री कृतेत्याह—ब्राह्मण इव दुराचारस्यापि समीहितं कार्यानन्तरमेव विज्ञायते, न तु पूर्वम्, दुर्विज्ञेयत्वात्, किं च यथा

स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि।
तोयानि तोयराशीनां मनांसि च मनस्विनाम्॥ ५४॥
धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत।
असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता॥ ५५॥
अपवादादभीतस्य समस्य गुणदोषयोः।
असद्वृत्तेरहोवृत्तं दुर्विभावं विधेरिव॥ ५६॥

स्वस्वकर्मानुसारेण लोकान् शुभाशुभफलमुपभोजयतो ब्रह्मणः लोकापवादात् भयं नास्ति, तथा स्वदुर्वासनानुरूपमाचरतो दुर्वृत्तस्यापि लोकापवादाद् भीतिर्न भवति, अपि च यथा विधिर्निग्रहानुग्रहौ कुर्वन् तात्कालिकगुणदोषौ नानुरुन्धे तथैव दुराचारोऽपि एतेन मात्रोपकृतमपकृतं वा' इति गुणदोषौ न पश्यति, किं तु यच्छेच्छं व्यवहरति ।

५७.

अहं शत्रुवैरप्रतीकारेच्छयैव जीवामि, यदि मम क्रोधः प्रतीकारेच्छां नोदपादयिष्यत्, तर्हि मम हृदयं तत्कालमेवाध्वंसिष्यत ।

५८.

ननु तवैव मनसि कुतोऽयममर्षः, नान्येषाम् इत्यत आह—शत्रुभिस्तिरस्कृता वयं पञ्चाप्यद्य वनाद् वनमटन्तो हरिणवद् वन्याहारैर्जीवितं निर्वहामः, इमां निकृष्टां दशां प्राप्तानामस्माकं परस्परस्मादपि लज्जोत्पद्यते, नैकस्याग्रे परस्त्रपाभरनम्रां ग्रीवामुन्नमयितुं शक्नोति । सहवासिनां सकाशाल्लज्जोत्पत्तौ तु किमु वक्तव्यम्, तथा च वयं पञ्चापि तुल्याभिमानाः, इदं तु मदेकसाध्यं कर्मेति मुनिशासनान्मयैवानुष्ठीयते ।

५९.

यः केवलमुत्साहादिशक्तेरभावात् परेषामग्रे नम्रो भवति, अन्येषामपकृतं दुरुक्तं वा तूष्णींसहते, यस्य च दुर्बलतया परैरभ्युत्थानादिना गौरवं न क्रियते प्रत्युत सति समये तिरस्कारो विधीयते, यश्चात्माभिमानशून्यः, स पुरुषस्तृणेन तुल्यः, तृणसादृश्यं च श्लिष्टानां जन्मिविशेषणानां तृणेऽपि योजनेन व्याख्यायां दर्शितमेव । यथा तृणं सुखेनोच्छिद्यते तथा मानहीनोपीति तात्पर्यम् ।

६०.

पर्वतेषु शृङ्गाणि वृक्षा वा यदेवोन्नतमस्ति तत् सर्वमप्यलङ्घ्यं भवति, इति दृष्ट्या महात्मनां मानोन्नतिः केन प्राप्तुं नेष्यते, सर्वैरपीष्यते । पर्वतदृष्टान्तेन

ध्वंसेत हृदयं सद्यः परिभूतस्य मे परैः ।
यद्यमर्षः प्रतीकारं भुजालम्बं न लम्भयेत् ॥ ५७ ॥
अवधूयारिभिर्नीता हरिणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।
अन्योन्यस्यापि जिह्रीमः किं पुनः सहवासिनाम् ॥ ५८ ॥
शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ५९ ॥
अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम् ।
प्रियतां ज्यायसीं मागान्महतां केन तुङ्गता ॥ ६० ॥

तस्या अप्यलङ्घ्यत्वात्। उन्नतेरलङ्घ्यत्वहेतुतया तत्कामैः सर्वैरप्युन्नतये यत्नः क्रियते इति तत्त्वम्।

६१.

आत्माभिमानिनः पुरुषस्यैव श्रियो यशांसि च भवन्ति, किं च स एव पौरुषाद् हेतोः पुरुषत्वेन गण्यते, अभिमानशून्यस्य तु श्रियो विनश्यन्ति, यशांसि क्षीयन्ते, पौरुषाभावाल्लोकास्तं क्लीबमाचक्षते।

६२.

उत्तमपुरुषगणनाप्रसङ्गे यस्य नाम्नि प्रथमं समुत्थिताङ्गुलिः द्वितीयामङ्गुलिं न प्राप्नोति, द्वितीयस्योत्तमपुरुषस्याभावाद् द्वितीयाङ्गुलेरुत्थानाप्रसङ्गाद्, तस्यैव जन्म सफलम्, एतद् मानिन एव संभवति, नान्यस्य; अतो मानो न त्याज्यः।

६३.

अत्युन्नतो गहनवनाकीर्णोऽपि गिरिः कथंचिल्लङ्घितुं शक्यते, परमोजस्विनं मानोन्नतं पुरुषं न कोऽप्युल्लङ्घितुं शक्नोति, स खलु सर्वैरपि दुष्प्रधृष्यो भवति।

६४.

येषां यशो निष्कलङ्कतया चन्द्रमण्डलमपि लज्जयति, त एव पुरुषाः इक्ष्वाकुरघ्वादिवत् स्वनाम्ना 'इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नोऽयम्' इत्येवं स्ववंशजान् लोके प्रख्यापयन्ति, किं च वसु रत्नमुच्यते, तद्रूपाणां तेषां पुरुषाणां धारणादेव पृथ्वी वसुंधरेति यथार्थनामवती अस्ति। इन्दुमण्डलमित्यत्र मण्डलपदं पूर्णचन्द्रोपस्थापनाय, तस्यैव सकलङ्कत्वेन ह्रेपणीयत्वात्। शुभ्राणीति विशेषणं च समान्येवेत्यवधारणविधया यशसां सकलङ्कत्वं परिहाराय।

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥ ६१ ॥

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते।
नान्यामङ्गुलिमभ्येति संख्यायामुद्यताङ्गुलिः ॥ ६२ ॥

दुरासदवनज्यायान् गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः।
न जहाति महोजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता ॥ ६३ ॥

गुरून्कुर्वन्ति ते वंश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा।
येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

६५.

ये वीराः शुष्कवनसदृशेषु शत्रुषु तद्विनाशायाशनिसदृशं स्वक्रोधं पातयन्ति, त एव मानवतामग्रगण्याः, त एव च 'त्वमेवं भूया' इत्याद्याशीः प्रदानप्रसङ्गे आदर्शतामुपयन्ति, यथा 'त्वं रामवद् वीरकर्मा भूयाः' इत्यस्यामाशिषि रामः उदाहरणम्, तथैव रामादिवत्तेऽपि उदाहरणं भवन्तीत्यभिसन्धिः। यथा नीरसतया शुष्कवनवृक्षा अनम्रा भवन्ति, तथाहङ्कारितया शत्रवोऽप्यनम्राः—अविनीताः—इत्यनम्रत्वमुभयेषां साधर्म्यम्। क्रोधेऽशनिसाधर्म्यं च विनाशकत्वरूपम्, क्रोधपातनकर्तॄणामिन्द्रसादृश्यं व्यङ्ग्यम्।

६६.

अहं सुखं श्रियं च न कामये, तयोः समुद्रतरङ्गवदस्थिरत्वेन क्षयित्वात्, नाप्यनयोः क्षये वज्रपातवत् दुःखं जायत इति भीतः सन् निर्भयं निर्बाधमक्षयं मुक्तिपदमभिलषिष्यामि, रागद्वेषकषायितचेतसो मम तत्रानधिकारात्।

६७.

ननु सांसारिकपारमार्थिकसुखातिरिक्तं किं तव काम्यमित्यत्राह—शत्रुभिः कपटद्यूतं विधाय यदिदमस्मास्वकीर्तिरूपं पङ्कं क्षिप्तं तत् प्रक्षालनमेवाहमिच्छामि, नान्यत् किमपि सुखादिकम्, पङ्कप्रक्षालनं च जलेनैव भवितुमर्हति, तदपि जलं न साधारणम् अपि तु पतिवियोगेनदुःखितानां शत्रुनारीणां नेत्रेभ्य उद्गतम्, तेनैवच्छद्मकृतस्याकीर्तिपङ्कस्य क्षालयितुं शक्यत्वात्।

६८.

शत्रुविजिगीषया तपस्तपन्तं मां दृष्ट्वा सन्तः कामं हसन्तु, अत्र विषये मम बुद्धिर्भ्रान्ता वा किं न भवेत्, परं नाहं स्वोद्देश्यात् पदमपि चलेयम्, ममोपहासानबधानविषये भवता चिन्ता न कार्या, इदं तु प्रार्थ्यते यदपात्रे मयि मोक्षोपदेशयत्नस्य वैफल्येन भवता लज्जा न कर्तव्या। अर्जुनस्य सोल्लुण्ठोक्तिरियम्।

उदाहरणमाशीःषु प्रथमे ते मनस्विनाम्।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ॥ ६५ ॥
न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम्।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम् ॥ ६६ ॥
प्रमार्ष्टुमयशःपङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम्।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः ॥ ६७ ॥
अपहस्येऽथवा सद्भिः प्रमादो वास्तु मे धियः।
अस्थानविहितायासः कामं जिह्रेतु वा भगवान् ॥ ६८ ॥

६९.

यावत् शत्रून् विनाश्य जयश्रिय उद्धारो न कृतः, तावदहं मोक्षमपि जयश्रियो विघ्नरूपं मन्ये, मोक्षस्य शमप्रधानतया विजिगीषाशामकत्वात् । अन्योऽन्यवादीनां तु कथैव का ।

७०.

पुरुषो यावद् बाणैः शत्रून् निपात्य तैर्विलोपितं स्वकीयं यशः पुनर्न प्राप्नोति तावत् स जातोपि अजातप्रायः, तस्य जन्मनो निष्फलत्वात्, नन्वजातस्य जन्मान्तर उपयोगः संभवति-इति न निष्फलत्वम्, इत्यत आह—गतासुरिति, जातोऽपि मृततुल्यः सः, जीवतस्तस्यानुपयोगात्, मृतोऽपि पूर्वजन्मन्युपयुज्यते स्मेत्यत आह—'तृणमेव स इति' यथा तृणं निरंतरम् पादाभ्यामुपहन्यमानमपि न प्रतीकाराय समर्थम्, तथैव सोऽपि, इति तृणतुल्यः सः !

७१.

हे तपस्विन् ! विदितवेदितव्यस्त्वमेव कृपया ब्रूहि यद् यस्य क्रोधो द्विषतां जयमविधायैव शान्तो भवति, तस्मिन् पुरुष इतिशब्दः कथं संगच्छते, तत्प्रवृत्तिनिमित्तस्य पौरुषस्य तत्राभावात् ।

७२.

ननु पौरुषाभावेऽपि पुरुषत्वजातेस्तत्र सत्त्वे युक्तैव पुरुषशब्दप्रवृत्तिस्तत्रेत्यत आह—जातिमात्राभिधायिना पुरुषशब्देन न किञ्चित् साध्यते, अथवा यः केवलं जातिमात्रेण पुरुष इति व्यपदिश्यते, न तु तत्र पौरुषं विद्यते, काष्ठमयहस्तिनेव तेन न किञ्चित् साध्यम्, लोके स एव श्लाघनीयः पुरुषो यः स्वपौरुषेण गुणिनां विस्मयमुत्पादयति, अत एव सति प्रसङ्गे तैः साश्चर्यमुदाह्रियते ।

वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ॥ ६९ ॥

अजन्मा पुरुषस्तावद् गतासुस्तृणमेव वा ।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ॥ ७० ॥

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥ ७१ ॥

कृतं पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।
योऽङ्गीकृतगुणैः श्लाघ्यः सविस्मयमुदाहृतः ॥ ७२ ॥

७३.

सभासु कथाप्रसङ्गेन सबहुमानमुच्चारितं तन्नाम शत्रवोऽप्यनुमोदन्ते, किं च यन्नामश्रवणसमनन्तरं तत्पराक्रमाद्यतिशयस्मरणाच्छ्रोतारस्तथा निस्तेजस इव प्रतीयन्ते, यथा मन्ये तन्नाम्ना तेषां तेजो निगीर्णं भवेत्, स पुमान् वस्तुतः पुमान्-पौरुषापरपर्यायपुंस्त्ववदिविशिष्टोऽस्ति, इतरे तु जातिमात्रवाहकाः काष्ठमयहस्त्यादिवदप्रयोजका एव ।

७४.

ननु सत्सु भीमादिषु वैरनिर्यातने तवैवायं कोऽभिनिवेशः इत्यत आह—प्रतिज्ञानुसारेण संग्रामे शत्रून् जिघांसुः युधिष्ठिरो नृपतिर्मामेव स्मरति, नान्यम्, यथा तृषार्तो जलाञ्जलिं स्मरति, अत्रात्मनो जलाञ्जल्युपमया यथा जलाञ्जलिरेव तृषायाः प्रतीकारः, नान्यत् किमपि तथैव वैरनिर्यातनमपि मदेकसाध्यम्, तथा च यत्र यस्योपयोगः, तत्र तस्यैव नियोग उचित इति राज्ञाहमेव नियुक्त इति बोध्यते, किं च युधिष्ठिरस्य नृपतिपदेनाभिधानं राजाज्ञयाऽहमायातोऽस्मि, राजाज्ञायां च 'अहमेव किमर्थं नियुक्तः नान्यः' इति विचारानवसर इति बोधनार्थम् ।

७५.

स पुरुषश्चन्द्रमस्तुल्ये स्वच्छे स्ववंशे कलङ्करूपोऽस्ति, यो विपत्सु भर्तुराज्ञां न पालयति । तथा च मया विपद्ग्रस्तस्य भर्तुर्युधिष्ठिरस्याज्ञावश्यपालनीया ! न पुनः स्वार्थपरेण भवितव्यम् ।

७६.

अहमिदानीं गार्हस्थ्यधर्ममाश्रितोऽस्मि, तमनिर्वाह्य पूर्वमेव कथं वानप्रस्थतां संन्यासाश्रमं वा स्वीकरवाणि, गार्हस्थ्यमसमाप्याश्रमान्तरस्वीकारे धर्मविरोधः स्यात् यतो धर्मशास्त्राचार्यैराश्रमाणां क्रमः प्रतिपादितः, पूर्वं ब्रह्मचर्यम्, ततो गार्हस्थ्यम्, ततो वानप्रस्थता, तदन्ते संन्यासः-इति न तु व्युत्क्रमः येनाहं स्वीकृतं गार्हस्थ्यमपरिपक्वेऽपि वैराग्ये परित्यज्य वानप्रस्थः संन्यासी वा भवेयम् ।

ग्रसमानमिवौजांसि सदसा गौरवेरितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ॥ ७३ ॥
यथाप्रतिज्ञं द्विषतां युधि प्रतिचिकीर्षया ।
ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जलेः ॥ ७४ ॥
स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम् ।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ॥ ७५ ॥
कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी ।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥ ७६ ॥

७७.

इतोऽप्यहं भवद्वचनेनाश्रमान्तरं नैव स्वीकर्तुं शक्नोमि, यदेष वैरनिर्यातन भारो राज्ञा मय्येव निक्षिप्त इत्यवश्यकर्तव्यः, किं च स्वजनेष्वेतत् प्रसिद्धं यदर्जुनो वैरनिर्यातनोद्देशेन तपस्तप्तुं गतः, तथा च स्वोद्देश्यत्यागे, ममाकीर्तिः स्यात्, संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते, अपि चाहं मातुराज्ञां विना किमपि कार्यं न करोमि, नचेदानीमहं तदाज्ञां ग्रहीतुं शक्नोमि, तस्या दूरस्थितत्वात्, किं चाहं ज्येष्ठभ्रातुराज्ञया तपसि प्रवृत्तः तदाज्ञोल्लंघने चाधर्मः स्यात् ज्येष्ठस्यापि दुर्वृत्तस्याज्ञोल्लङ्घितुं शक्यते, न च मे ज्येष्ठो दुर्वृत्तः, अपितु प्रशस्ताचारः, प्रशस्ताचारस्यापि स्वार्थहानिपरिहाराय शक्यमुल्लंघनम् । परं न युधिष्ठिरस्य, कुतः ? तस्य नृपतित्वाद्, धार्मिकवरस्य नृपतेर्विरोधोऽवश्यमनर्थमुत्पादयेत् इति परतन्त्रोऽहं न श्रामान्तरस्वीकाराय प्रभवामि ।

७८.

मानिनः क्षत्रियाः सर्वथा स्वधर्ममनुवर्तन्ते, कदाचिदपि तदुल्लङ्घनं न प्रकुर्वते, अत एव ते शत्रुभिः कृतापकाराः संग्रामात् पराङ्मुखा न भवन्ति, किन्तु तान् संग्रामे पराजित्य स्वापकारप्रतीकारेण स्वधर्मं पालयन्ति ।

७९.

किं च हे मुने ममायं दृढो निश्चयः-यद् यथा मेघा वाताघातेन विशीर्णा भूत्वा विलयं प्राप्नुवन्ति, तथैवात्र पर्वतेऽहमपि विलयं प्राप्स्यामि, अथवा भगवन्तमिन्द्रमाराध्य तत्प्रसादनेन शत्रुभिरस्माकं हृदये निखातमकीर्तिशल्यमुद्धरिष्यामि, एतदतिरिक्तं नाहं किमपि वाञ्छामि ।

८०.

एवं स्वसुतस्यार्जुनस्य वचनेन परमां प्रीतिमाप्त इन्द्रः स्वं दिव्यं रूपं प्रकटय्य भुजाभ्यां तमालिलिङ्ग । तदनु विभूतिप्राप्तये सर्वदुःखविनाशिनं जगत्कारणस्य श्रीशङ्करस्याराधनमस्मा उपदिदेश ।

आसक्ता धूरियं रूढा जननी दूरगा च मे ।
तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवान्नृपः ॥ ७७ ॥

स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभिः ।
पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिनः ॥ ७८ ॥

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि ।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशःशल्यमुद्धरे ॥ ७९ ॥

इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्यां तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्तिः ।
अघोपघातं मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश ॥ ८० ॥

८१.

हे अर्जुन ! तपसा प्रसादितो भगवान् शङ्करः, अहं लोकपालाश्च तुभ्यं तथाविधां शक्तिं वितरिष्यामः, यां त्रिलोक्यां कश्चिदप्यतिक्रमितुं न शक्नुयात् । तथैव च त्वं संग्रामे शत्रून् पराजित्य शत्रूणां राजलक्ष्मीम् आत्मसात् करिष्यसि । इत्युक्त्वेन्द्रस्तिरोबभूव । अत्र 'समुत्सुकयितासि' इति पदेन यथा परकीयाऽपि काचन नायिका गुणवति नायकान्तरे स्वयमेवानुरज्यति तमभिसर्तुं यतते च, तथैव तथाविधं शक्तिमन्तं त्वामप्यवलोक्य परेषां राज्यलक्ष्मीरुत्कण्ठिता भविष्यति, तदधिगतये त्वया न कश्चन यत्नः कर्त्तव्यो भविष्यति स्वयमेव सा त्वामुपैष्यति, यतः सम्पदो वीरभोग्याः, वीरमेवाश्रयन्ते' इतिव्यञ्जितम् । किं च पिनाकीति पदम्—'तपोमात्रेण भगवतः शङ्करस्य संतोषो न स्यात्, त्वया तेन सह योद्धव्यमपि, पिनाकधारिणो वीरस्य वीरकर्मणैव संतोषोदयात्, इति किरातरूपस्य शिवस्यार्जुनेन भविष्यत् युद्धमभिव्यनक्ति ।

इति किरातार्जुनीये एकादशः सर्गः ।

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालैर्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः ।
लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषामुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ॥८१॥

शिशुपालबधमहाकाव्ये प्रथमः सर्गः

कथासम्बन्धः

१.

अस्मिन् महाकाव्ये शिशुपालस्य राज्ञः कृतो वधो वर्णनीयः, अत एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारात् 'शिशुपालवधम्' इति काव्यस्य नाम। तद्भूमिकारूपेण 'शिशुपालो हन्तव्यः' इतीन्द्रस्य संदेशं निवेदयितुं भगवतो नारदस्य कृष्णसमीप आगमनं वर्ण्यते। भूभारहरणाय पृथिव्या देवैश्च प्रार्थितो भगवान्नारायणः स्वयं कृष्णरूपेण प्रादुर्बभूव, स स्वकार्ये दुष्टानां दमनं शिष्टानां पालनं च क्रमेण कुर्वन् पितृत्वेन स्वीकृतस्य दत्तपूर्ववरस्य कश्यपावतारस्य वसुदेवस्य गृहं निवसति स्म। यद्यपि नारायणोऽयं विभुः, अस्यैव कुक्षौ सर्वाणि भुवनानि कल्पान्ते निवसन्ति, तथापि स्वेच्छया स्वीकृतविग्रहस्य तस्य कस्मिंश्चिद् गृहे निवास उपपन्न एव। तत्रैव रुक्मिणीरूपेण प्रादुर्भूय लक्ष्मीरपि विराजते, श्रियाः पत्युः श्रियमन्तरेणावस्थानस्यायोग्यत्वात्, पतिव्रताशिरोमणेर्भगवत्याः श्रियः पतिं विरहय्य स्थितेरसंभवाच्च। यत्र साक्षाच्छ्रीर्निवसति, किमु वक्तव्यं तस्य भुवनस्य शोभाविषये। तेनानेन भगवता कृष्णेन सभायां तिष्ठता कदाचिद् दृष्टम्-यत् स्वर्गाद्भगवान्नारदो देवर्षिराकाशमार्गेणागच्छतीति।

२.

तेजःपुञ्जं नारदमाकाशादवतरन्तं दृष्ट्वा तेजसाभिभवाद् दूरस्थतया चाकृतेः प्रत्यभिज्ञाभावाज्जनानां मनस्येवं संशय उदभूद् यत् किमिदं तेजः? किं सूर्यः एकेन रूपेण दिवि तपन्नपि रूपान्तरं धृत्वा इहागच्छति, वा धूमं परित्यज्य प्रज्वलन्नग्निरायाति? ततस्तैर्विचिन्तितम्-सूर्यो हि तिर्यग्गच्छति, (अनूरुसारथेरिति पदेन तस्याग्रे अरुणप्रकाशोपि भवति, अत्र तु न तथेत्यपि द्योतितम्) अग्निश्च ऊर्ध्वज्वालः, (किं च स हविर्भुक् हवींषि इन्धनानि विना न ज्वलति, अत्र तु नेन्धनं किमपि) इदं तु तेज ऊर्ध्वोद्देशादध आयाति, सर्वतः प्रसरणशीलं च (प्रसरणशीलोक्त्या

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः॥ १॥

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः॥ २॥

कदाचिदुल्का स्यादिति संशयोपि निरस्तः)। तस्मान्न सूर्यः, नापि अग्निः, ततश्च किमिदमिति विचिन्तयन्तो निर्धारणाभावात्ते विस्मयस्तिमिता बभूवुः।

३.

भगवानपि पूर्वं दूरान्नारदं दृष्ट्वा तेजःपुञ्ज इत्येवाजानात्, ततः क्रमेण सन्निहिते तस्मिन्, अवयवसन्निवेशे दृष्टिगते कश्चित् शरीरधारीति बुध्यते स्म। ततोपि सन्निधाने विशेषेशावयवेषु पुरुष इति ज्ञातम्। अतिसन्निधाने च नारद इति स्पष्टं बुद्धम्। सर्वज्ञेऽपि भगवति लोकदृष्ट्यायमुपन्यास इति मल्लिनाथः। यद्वा विभुरप्येवं क्रमेण ज्ञातुं शक्तोऽभूदिति नारदस्य तेजोऽतिशयनिबन्धनं माहात्म्यं व्यक्तीकृतम्।

४.

आकाशादवतरन् नारदो यदा सजलानां महतां नीलवर्णानां मेघानामधः प्रदेशे आजगाम, तदा तस्य तथा कान्तिरभवद्, यथा ताण्डवनृत्यसमये गजेन्द्रचर्मणा मेघानां सादृश्यम् श्रीशिवः श्वेतरूपः विभूत्या चाधिकः श्वेतो भवति, नारदोऽपि स्वयमेव कर्पूरसदृशः स्वच्छश्वेतवर्ण इति। नवान् इति सजलत्वं मेघानां, बृहत इति निबिडत्वम्।

५.

नारदस्य शिरसि ईषत्पीतवर्णाः (कृष्णपीताः) जटा विराजन्ते, स्वयं च स्वच्छश्वेतो नारदः, तेन तस्य तादृशी कान्तिः, यादृशी हिमप्राचुर्येण श्वेतवर्णस्य परिणतः ईषत्पीतवर्णाः (हरितपीताः) लता उपरि बिभ्राणस्य हिमवतो दृश्यते। जटाभिर्लतानां सादृश्यम् पीतवर्णविश उभयत्र, कृष्णहरितयोश्चैक्यमेव कविसंप्रदाये। शिरःस्थानीय उपरिभागे च लतानां स्थितिः।

६.

नारदेनाधःपिहितस्य वस्त्रस्योपरि मौञ्जी मेखला निबद्धा, कृष्णमृगचर्म च उत्तरीयरूपेण धृतम्, स्वयं च नारदः शुभ्रवर्णः, तेन स भगवतः कृष्णस्य ज्येष्ठ

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥ ३॥
नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान्समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना॥ ४॥
दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव॥ ५॥
पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम्॥ ६॥

भ्रातरं बलभद्रमनुकरोति स्म। बलभद्रोऽपि 'शुभ्रवर्णं' अधःपिहितस्य वस्त्रस्योपरि सुवर्णमेखलां धारयति स्म, नीलं चोत्तरीयं धत्ते स्म। तदत्र सुवर्णमेखलायाः मौञ्ज्याश्च पीतवर्णेन साहश्याद् बिम्बप्रतिबिम्बभावः। नीलाम्बर—कृष्णमृगचर्मणोश्चापि साहश्यात्तथैवेति बलभद्रनारदयोः साहश्यमुपपन्नम्।

७.

नारदेन पीतं यज्ञोपवीतं धृतम्, तच्च कुतः पीतमित्यत्रोच्यते, सुमेरुप्रान्ते सुवर्णमय्यां देवभूमौ याः कार्पास्यो लता उत्पद्यन्ते-ता अपि कारणगुणानुसरणात्सुवर्णमय्यः, तासूत्पन्नस्य कर्पासस्य तन्तवोऽपि तथैव सुवर्णमयाः—इति तन्निर्मितस्य यज्ञोपवीतस्य युज्यते एव पीतत्वम्। गरुडलोमानिवायताश्च यज्ञोपवीततन्तवः। केचित्तु दीर्घैर्लतावयवभूतैर्लतातन्तुभिरेव शोभार्थमपरं यज्ञोपवीतं निर्माय नारदेन धृतमिति व्याचक्षते। ततश्च तेन यज्ञोपवीतेन शुभ्रस्य नारदस्य तथा च्छविर्दृश्यते स्म यथा शरत्काले शुभ्रस्य मेघस्य विद्युद्गणैर्दृश्यते।

८.

नारदेन स्वीये स्वच्छशुभ्रेऽङ्गे चमूरुमृगस्याजिनं धृतम्, तस्याजिनस्य लोमानि नानावर्णानि, स्वच्छानि, कोमलानि च, तेन तदजिनं बहुमूल्यराजोचितगजपृष्ठाद्यास्तरणमिव शोभते स्म। तेन च परिहितेनाजिनेन धृतमहार्हपृष्ठास्तरणस्य शुभ्रवर्णस्यैरावताख्यगजेन्द्रस्येव नारदस्य शोभासीत्।

९.

नारदो हि करे जपार्थे स्फटिकनिर्मितां मालां धत्ते, न हि स कामाय मन्त्रान् जपति, अपि तु मोक्षाय, मोक्षार्थिनां च 'स्फटिको मोक्षदः परम्' इति स्फटिकमाला विहिता। वीणावादने च दृढतरस्तस्याभ्यास इति वीणासौष्ठवपरीक्षणाय अङ्गुष्ठनखेन मुहुर्वीणातन्त्रीं ताडयति। तादृशदृढतरतन्त्रीणां मुहुः संघर्षणेनाङ्गुष्ठनखस्य भास्वरा रक्तता जायते। सा चात्यन्तं स्वच्छेषु स्फटिकेषु संक्राम्यतीति यस्मिन् भागेऽङ्गुष्ठनखांशुसंम्बधेन रागसंक्रमसंभवः, तस्मिन् भागे स्फटिका एव, तेन सा मालार्द्धभागे प्रवालैः, अर्धभागे च स्फटिकैर्घटितेव विच्छित्तिं दधाति। तयाद्भुतया मालया नारदो विराजते स्म।

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकैर्घनं घनान्ते तडिताङ्गणैरिव॥ ७॥
निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्॥ ८॥
अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया।
पुरः प्रवालैरिव पूरिताऽर्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया॥ ९॥

१०.

गान्धर्वशास्त्रविषयोऽत्र तदीयैः पारिभाषिकैः शब्दैर्निबद्धः । स च मल्लिनाथरीत्या स्पष्टीक्रियते । गायकस्य कण्ठताल्वाद्यभिघातेन वीणादिवाद्येषु हस्ताङ्गुल्याद्यभिघातेन वा यः प्रथमः शब्द उत्पद्यते, स श्रुतिर्नाम, तस्याः संतननाद् अनुरणनरूपश्चिरं जाययानो मनोहरो ध्वनिः स्वर इत्याख्यायते, अनेकाभिः श्रुतिभिरेकः स्वर उत्पद्यते, ताः श्रुतयः स्वरस्यावयवाः भवन्ति । अनेकाः श्रुतयः स्वरमत्रयविन मुत्पादयन्ति—तन्तव इव पटम् । तत्र नास्ति संख्यानियमोपि—कियतीभिः श्रुतिभिः कः स्वर उत्पद्यत इति, त इमे स्वराः सप्त प्रसिद्धाः—षड्जः, ऋषभः, गान्धारः, मध्यमः, पञ्चमः, धैवतः, निषाद इति, एत एव संक्षेपेण स-रि-ग-म-प-ध-नी इत्याख्यायन्ते । एषां विभिन्नया रीत्या भिन्ना भिन्नाः संघाता ग्रामा इत्युच्यन्ते, ते च त्रयः षड्ज ग्रामः, मध्यमः ग्रामः गान्धारग्राम इति । अन्येपि तज्ज्ञास्त्रयः नन्द्यावर्तजीमूतसुभद्राख्याः । ग्रामेषु निविशमानानां स्वराणाम्—आरोहावरोहक्रमभेदाः "मूर्च्छनाः" इत्याख्यायन्ते, ताश्च प्रतिग्रामं सप्तत्येकविंशतिर्भवन्ति । सर्वमेतत्पुरुषप्रयत्नेन गाने वाचा, वाद्ये तु हस्तादिव्यापारेण संपाद्यते, परं नारदस्य वीणायां तादृशेन लोकातिशायिना शिल्पेन तन्त्रीयोजना कृता यदन्तरिक्षे गमनकाले वायोराघातेनैव सा विभिन्नेषु स्वरस्थानेषु ध्वनन्ती असंकीर्णान् स्वरान्, ग्रामान् मूर्च्छनाश्च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैव प्रकटयति । तादृशं च विलक्षणं स्वनं श्रुत्वा 'केनेयंवादिता' इति सकौतुकं नारदस्तां विलोकते ।

११.

अन्तरिक्षे नारदेन सह तद्गौरवाय बहवो देवा अनुचररूपेण व्रजन्ति स्म, भूलोकसन्निधाने सति नारदेन ते स्वर्गं प्रति प्रेषिताः प्रणामं कृत्वा निवृत्ताः । ततश्च नारदो भगवतः कृष्णस्य सदनं प्राप्तः । इन्द्रसदनान्नारद आगतः, इदमपि सदनमिन्द्रसदनसदृशमेवेति तस्य पृथिव्यां गमनेऽपि न कोऽपि विशेष इति महेन्द्रालयचारु-विशेषणेन द्योतितम् । सादितदैत्यसम्पद इति चक्रिविशेषणेन स्थाने समृद्धिबाहुल्यं व्यञ्जितम्, दैत्यानां सम्पदो विनाश्य स्वीया समृद्धिर्वृद्धिं नीतेति । चक्रिण इति दैत्यनाशनयोग्यतां व्यनक्ति । अतीन्द्रियज्ञाननिधिरिति विशेषणेन नारदस्य देवदर्शनसंलापादियोग्यता स्फुटीकृता ।

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभःसदः ।
सभासदस्सादितदैत्यसम्पदः पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः ॥ ११ ॥

१२.

गृहागतः श्रेयान् पुरुषोऽभ्युत्थानेन सत्कर्तव्य इति शास्त्रमर्यादा । तदुक्तं मनुना—'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते' इति । तामेतां मर्यादां रक्षन् भगवान् हरिः, यावन्नारदोऽम्बरादवतीर्य भूम्यां स्थितोऽपि न, तावदेव सिंहासनादुत्थितः । उन्नतसिंहासनादुत्तिष्ठतो घनश्यामस्य हरेः पर्वतादुत्तिष्ठतः (ऊर्ध्वमायतः) मेघस्येव सुषमाभूत् । सूर्यस्यास्तगमनं पतनशब्देन कविभिर्व्यवह्रियते, तस्मिन् काले च (सन्ध्यायाम्) मेघा उत्तिष्ठन्तीति तदनुकृतिरिह प्रतीयते, परमस्तं गच्छतः सूर्यस्य नारदोपमानत्वानौचित्यात्, सन्ध्यामेघानां श्यामत्वभावाच्च न सा हृदयङ्गमा ।

१३.

भगवति श्रीकृष्णे आसनादुत्थित एव नारदोऽपि तत्संमुखभाग एव भूमिष्ठोऽभवत् । तेन चरणन्यासे कृते तद्गौरवाद्भूमिर्नीचैः प्रायात्, भूमिं दधतः शेषस्य फणा भुग्ना नता बभूवुः, ततस्तत्साहाय्यार्थं बहुभिः पातालस्थैः सर्पैर्भूमिं धर्तुं फणा भूमेरधः स्थापिताः, सर्वैरपि तैरानमन्त्यः फणाः कथंचिदतिकृच्छ्रेणोर्ध्वीकृताः, तेन कथमपि भूमण्डलं स्थिरमभूत् ।

१४.

पूजायोग्यं नारदमागतं दृष्ट्वा मर्यादारक्षणार्थमवतीर्णः पुराणपुरुषो भगवान् यथाविधि अर्घ्यादिभिस्तं पूजितवान् । पुण्यलभ्यं हीदृशानां महात्मनां दर्शनम्, पुण्यकृतामेव सदनं ते गच्छन्ति, ये तु श्रेष्ठान्न पूजयन्ति, न ते पुण्यकृतः, न च तत्सदनं महान्तो यान्ति । तस्मात्पूज्या एव ते इति भगवतापि पूजितो देवर्षिर्नारदः ।

१५.

आभिमुख्येन स्थितावेतौ कृष्णनारदौ सम्यग् द्रष्टुमपि यावत् सभास्था लोका नापारयन्, तावदेवातिथिप्रीतयाऽर्घ्यादिकम् निवेद्य कृष्णेन भृत्यादिकमनपेक्ष्य

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥ १२ ॥
अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथञ्चित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥ १३ ॥
तमर्घ्यमर्घ्यादिकयाऽऽदिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत् ।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ॥ १४ ॥
न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव ।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत् ॥ १५ ॥

स्वहस्तेनैव सिंहासनमग्रतः कृत्वा तत्र नारद उपवेशितः अथवा इदानीमयमागतः, अयमुत्थास्यति, पूजयिष्यति—इति संभावनापि यावल्लोकस्य नाभूत्, तावदेव भगवता पूजां समाप्य नारद उपवेशित। यद्वा—नारदकृष्णौ श्वेतकृष्णवर्णतया तुषाराञ्जनपर्वतसदृशौ, तयोः सादृश्यमूलिका तुषाराञ्जनपर्वतत्वसंभावना यावल्लोकेन न कृता तावदेवोपवेशितो नारद।

१६.

नीलमणिसवर्णो घनश्यामः कृष्णः सम्मुखे तिष्ठति स्म, तदभिमुखं स्वच्छश्वेतकान्तिर्नारद उन्नते सिंहासन उपविष्टः, तेन तस्य तादृशी शोभा लक्ष्यते स्म, यादृशी कृष्णवर्णं सायङ्कालमभिमुखीकृत्य स्थितस्य, उदयं पर्वतमारूढस्य चन्द्रस्य लक्ष्यते। तेनेदं भाति-तथाविधस्य चन्द्रस्यैव शोभां नारदेन चोरिता। चुरधात्वर्थेन स्तेयेन प्राप्तिर्लक्ष्यते, सैव शोभेति तद्व्यङ्ग्यम्। तत्कालोद्भूततमोबाहुल्यात् सायङ्कालः कृष्णवर्णः कविभिर्वर्ण्यते। श्रितोदयाद्रेरिति विशेषणेन उदित एव चन्द्रो नेदानीं यावत्तमः कृत्स्नं निरोद्धुमशकत्, सन्निधौ तमस्तेन विनाशितम्, प्रतीच्यान्तु तद्वर्तत एवेति तमसोऽभिमुखं स्थितिश्चन्द्रस्योपपादिता।

१७.

पूर्वमर्घ्यादिभिः पूजितस्य प्रसन्नतां गतस्योपविष्टस्य नारदस्य पुनरपि गन्धपुष्पमधुपर्कादिभिः पूजा भगवता कृष्णेन कृता। नात्र किमप्याश्चर्यम् स्वभाव एष महानुभावानाम्, यत्ते श्रेष्ठान् पुनः पुनस्तथा पूजयन्ति, यथा पूजया तया संतुष्टा एते श्रेष्ठाः पूजकस्य वशगा एव भवन्ति। एषा च पूजा न केनचिदभिलाषेण कस्यचित् प्रेरणया वा महानुभावैः क्रियते, यतस्ते स्वयं महानुभावाः कस्तेषां प्रेरकः स्यात्, को वा तेषामभिलाषः, परं प्रकृतिरेव तेषां तथाविधा यत्पूज्यपूजां कर्तुमुत्कटोऽभिलाषस्तेषां मनसि सततं जागर्ति। यज्वनां प्रिय इति कृष्णवाचकाभ्यां पदाभ्यामिदमभिप्रेतम् यन्निर्व्याजं यागादिकर्म कृतवतां मनसि भगवति कृष्णे परमा प्रीतिरुदेति, त एव भक्ता उच्यन्ते तेष्वग्रगण्योऽयं नारदः, अस्य भगवान् कृष्णः परमप्रेमास्पदम्। एवंविधाश्च भक्ताः स्वयं कृष्णेन समर्च्यन्ते इति तस्य स्वभावः।

महामहानीलशिलारुचः पुरो निषेदिवान्कंसकृषः स विष्टरे।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥ १६ ॥

विधाय तस्याऽपचितिं प्रसेदुषः प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः।
ग्रहीतुमार्यान्परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः ॥ १७ ॥

१८.

यथा जगदधिपतिनापि भगवता कृष्णेन लोकमर्यादा पालिता, तथा तं जगन्नाथं विदन्नपि नारदो लोकमर्यादां पालयामास। नारदस्य कमण्डलौ सर्वेषां तीर्थानां जलमासीत्, तस्य सर्वत्र भ्रमणशीलत्वात्। तीर्थेभ्यश्च जलग्रहणमित्यास्तिक-संप्रदायात्। तस्य जलस्यांशो नारदेन कमण्डलोरुद्धृत्य स्वपाणौ संस्थाप्य माङ्गल्या-भिषेकाय भगवतः कृष्णस्य शिरसि क्षिप्तः, भगवतापि मूर्धानमवनमय्याभिषेकजलं गृहीतम्। इदं हि तीर्थोदकं सर्वपापापहारि विशेषतश्च नारदहस्तात्प्राप्तमिति सत्कारपूर्वकं तस्य ग्रहणं युक्तमेव।

१९.

अभिषेकानन्तरं नारदेन कृष्णायोपवेशनानुमतिर्दत्ता, अनुमतश्च भगवान् कृष्णः स्वर्णमयसिंहासन उपविष्टः। स्वर्णमयस्य सुमेरोः पर्वतस्य शृङ्गं यथोपरि विराजमानेन श्यामेन जम्बूवृक्षेण शोभते, ततोऽप्यधिकं घनश्यामेन महावपुषा भगवता कृष्णेनाधिष्ठितं विशालं तत्स्वर्णमयं सिंहासनमशोभत। तेन तस्यापि श्रीरनेन जितेति प्रतीयते स्म। स्वर्णमयत्वेनोन्नतत्वेन च सुमेरुशृङ्गसिंहासनयोः साम्यम्, श्यामत्वेन जम्बूकृष्णयोः वृक्षेषु हरितयोरभेदान्नानुपपत्तिः, जम्बूवृक्षस्य श्यामताप्रधानत्वाच्च। सुमेरोः शृङ्गविशेषे जम्बूवृक्षः, तस्य मूलाज्जम्बूनदी प्रवहति तत्संबन्धादेव च जम्बूद्वीपमिदमिति पौराणिकवर्णनमस्या उपमाया मूलम्। मल्लि-नाथेन तु जम्बूफलं कृष्णस्योपमानतया व्याख्यातम्। तत्रोपमानस्य परिमाण-कृताल्पतादोषो दुर्निवारः। न च जम्बूफलं सुमेरुशृङ्गे तिष्ठतीति क्वचित्प्रसिद्ध-मित्यास्तां तावत्।

२०.

भगवान् कृष्णः स्वयं श्यामवर्णः, पूर्णे चन्द्रमसि प्रतीयमानस्य श्यामवर्णस्य कुरङ्गस्येव तस्य कान्तिः, तप्तस्वर्णसदृशं भास्वरपीतं च वस्त्रं तेन धृतम्। ततस्तस्य तथा शोभा प्रतीयते स्म, यथा अभितो वाडवाग्निना संश्लिष्टस्य समुद्रस्य प्रतीयते। समुद्रोऽपि स्वयं श्यामः, वाडवजातवेदःशिखाश्च पीता इति।

अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिताः।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः॥ १८॥
स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया नवाम्बुदश्यामतनुर्न्यविक्षत।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं सुमेरुशृङ्गस्य तदा तदासनम्॥ १९॥
स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः॥ २०॥

२१.

श्यामस्य भगवतः कृष्णस्य मूर्तावनुस्यूताया स्निग्धकृष्णप्रभाया उपरि अविदूरस्थितस्य नारदस्य शुभ्राः रश्मयः पतिताः, तयोः संमिश्रणेन तथा च्छविर्दृश्यते स्म, यथा रात्रौ घनस्य वृक्षस्योपरि यदा चन्द्ररश्मयः पतन्ति, तदा श्यामानां वृक्षपत्राणां रुचेः अंतराले दृश्यानां चान्द्ररश्मीनां च संमिश्रणेन दृश्यते। उभयोर्भास्वरप्रभावच्छरीरत्वमनेनोक्तं भवतीति।

२२.

कृष्णनारदयोः परस्परसम्मुखे स्थितत्वाद् भास्वरकान्तितया चैकैकस्य रश्मयोऽन्यस्य शरीररुचौ संसक्ताः, तेन च यद्यपि कृष्णनारदौ श्यामशुभ्रतया अत्यन्तं भिन्नवर्णौ, तथापि एकवर्णाविव प्रतीतौ। कृष्णोऽपि नारदशरीररश्मिसम्बन्धाच्छुभ्रसंकीर्णकृष्णवर्णः, नारदोऽपि कृष्णशरीररश्मिसंम्बन्धात्कृष्णसङ्कीर्णशुभ्रवर्ण इत्येकवर्णता द्वयोः संभाविता। उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणो गङ्गायमुनासङ्गम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायः कश्चिदेको वर्णः प्रादुर्बभूव" इति मल्लिनाथः। छव्योरभीषूणां चावयवावयविभावाद्भेदनिर्देश इति मल्लिनाथः। वस्तुतस्तु "मूर्तेर्बहिर्निर्गत्य प्रसरन्तस्तेजोऽवयवा अंशवः मूर्त्यनुस्यूता तु कान्तिः रोचिश्छविर्वा" इति नेह विस्मर्तव्यम्। एकस्य च्छवौ परस्य रश्मिसम्बन्धः, तेन च्छवेरन्यथाभाव इति।

२३.

यदायं भगवान् कृष्णः स्वलीलया प्रलये स्वरूपभूतं जगदुपसंहरति, तदा सर्वाणीमानि दृश्यानि जगन्ति अस्यैवोदरे (शरीरान्तः तिष्ठन्ति) न च तत्र तिष्ठतामनन्तब्रह्माण्डानां कोऽपि सम्बाधो भवति सावकाशं सर्वाणि जगन्ति तत्र शेरते, ततोऽपि बह्वतिरिच्यते तदुदरम्। (एतेन तनोरतिविशालत्वम्—अनन्तत्वं ख्यापितम्) परं तस्यामेव तनौ नारदागमनजन्यो हर्षो न कथमपि समाविष्टोऽभूत्। स तु तनोरतिरिच्य बहिरपि प्रवहति स्मेव। अनेन हर्षस्यानन्तब्रह्माण्डातिरेककथनादतुलत्वमुक्तं भवति।

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥ २१ ॥
प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः।
परस्परेण च्छुरिताऽमलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥ २२ ॥
युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥ २३ ॥

२४.

भगवतः कृष्णस्य 'पुण्डरीकाक्षः' इति नाम प्रसिद्धम् तत्तस्मिन् काले अनुगतार्थमभूत्। कमलसदृशे नेत्रे यस्येति तदर्थः, कृष्णनेत्रयोश्च कमलसादृश्यं तदा अनुभूतम्। कमलं हि सूर्ये संमुखमागते विकासं प्राप्य कामपि श्रियं धत्ते, कृष्णनेत्रे अपि सूर्यसदृशे तेजस्विनि नारदे संमुखस्थिते हर्षेण विकासं प्राप्य विशिष्टां शोभां गते इति।

२५.

अथ सुखोपविष्टे नारदे तदागमनकारणजिज्ञासया भगवान् कृष्णो वक्तुमारभत। स्मितपूर्वाभिभाषी हि भगवानिति। शुचि स्मितं तस्य तदा प्रादुर्भूतम्, तेन दन्तकिरणा निःसृताः! अत्यौज्ज्वल्यादेवं संभाव्यते स्म, भगवतो दन्ता इमे न दन्ताः, अपि तु दन्तच्छलेन चन्द्र एवायं स्थितः। ततश्चात्युज्ज्वलैस्तत्किरणैः संपर्कात् स्वभावशुभ्रमपि मुनिशरीरं भगवता कृष्णेनातितरां शुभ्रतां नीतमिति।

२६.

भगवान् कृष्णो वक्ति। भगवन्नारद! भवादृशां दर्शने असाधारणं किमपि महत्त्वम्। अनेन हि भवद्दर्शनेन दर्शनकाले द्रष्टृणां पापानि नाश्यन्ते, पुण्यं चोत्पाद्यते। अग्रेपि शुभयोगः सूच्यते। पूर्वं यैः पुण्यं कृतम्—तैरेव दर्शनं लभ्यते। तेन भूते वर्तमाने भविष्यति चेति त्रिष्वपि कालेषु पुण्ययोगो ज्ञापितो भवति भवद्दर्शनेन।

वर्तमाने भविष्यति च पुण्यजनकत्वम्, ज्ञापकत्वं च। भूते तु ज्ञापकत्वमेव दर्शनस्य। "अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा" इत्याद्या भारवेरुक्तिरत्रोपजीवितेत्यालोच्यम्।

२७.

भगवन्नारद! सूर्येण केवलो बाह्यान्धकार एवापसार्यते' आन्तरं मोहाख्यमन्धकारमपनेतुं तु न सूर्यः शक्तः, भवता तु आन्तरमपि तमो बलान्नाशितमिति

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत्॥ २४॥

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः॥ २५॥

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्॥ २६॥

जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना न यन्नियन्तुं समभावि भानुना।
प्रसह्य तेजोभिरसङ्ख्यतां गतैरदस्त्वया नुन्नमनुत्तमं तमः॥ २७॥

सूर्यापेक्षयाप्युत्कृष्टो भवान्। तत्र हेतुरुच्यते—सूर्यस्य किरणा यद्यपि बहवः, तथापि ते सहस्रमिति परिच्छिन्ना एव, अत एवानन्ते जगति सर्वत्र पर्याप्तुं न शक्नुवन्ति। भवतस्तु तेजांसि असंख्यातानीति भवान् सर्वमन्धकारं निवर्तयितुं शक्तः। मोहाख्यतमोविनाशकत्वादिह ज्ञानस्यैव तेजस्त्वमुक्तं द्रष्टव्यम्। तस्य चासंख्यातत्व-मनन्तत्वमेव। तथा चानन्तेन ज्ञानेन समूलो मोहस्त्वयापसारित इति फलति।

२८.

यदा कश्चिद्बहुसंततिः पुरुषो भवेत्, स च स्वपुत्राणां क्षेममिच्छेत् स स्वशक्त्या तावन्तमर्थराशिम् (निधिम्) अर्जयति, यस्य तत्पुत्रैः संततं दानभोगादिषूपयोगे क्रियमाणेऽपि न क्षयो भवेत्। तं च निधिं स दृढे कटाहादौ निक्षिप्य सुस्थाने स्थापयित्वा निश्चिन्तो भवति, तथैव भगवता ब्रह्मणापि सर्वासां स्वप्रजानां हितमिच्छता तदर्थं श्रुतिसमूहरूपा संपदर्जिता, (तपस्तप्त्वा परमेश्वरात्प्राप्ता) सेयं श्रुतिसंपदपि तादृशी या सर्वाभिः प्रजाभिरुपयुज्यमानापि न क्षयं याति, यास्यति वा (विद्याया उपयोगे वर्धनशीलत्वात्) तस्या निधानार्थं भवानेव (नारद एव) पात्रत्वेन ब्रह्मणाङ्गीकृतः, त्वयि च तां संपदं निधाय स निश्चिन्तोऽभूत्, अयमेव संप्रदायप्रवर्तनेन श्रुतिसंपदमिमां सम्यक् पास्यतीति। (निधिस्थाने निधिशब्दप्रयोगः तादर्थ्यलक्षणामूलकः। (यद्वा-निधीयतेऽस्मिन्निति निधिरित्य-धिकरणसाधनो द्रष्टव्यः)। एवं च श्रुतिसंप्रदायप्रवर्त्तनेन धर्माधर्मव्यवस्थापको भवान् दुर्लभदर्शन एव लोकानामिति।

२९.

भगवान् कृष्णो वक्ति—मुने! नारद! भवद्दर्शनेनैवाहं कृतार्थः, यतो दर्शन-मिदं सर्वाणि दुरितानि दूरीकरोति तथापि मम संतोषो नास्ति, यतोऽहं गौरवयुता भवद्वाचोऽपि श्रोतुमिच्छामि। नात्र मम दोषः। स्वभाव एवायं जनानाम्, यत्ते श्रेयःप्राप्तौ न तृप्यन्ति, अधिकमधिकं श्रेयो वाञ्छन्ति इति। तथा च यथा आगमनकृपा भवता कृता तथा किमप्युपदिश्य कृतार्थनीय इति।

३०.

भगवन् नारद! भवन्तं प्रति यद्वयं पृच्छामः 'अत्रभवत आगमने किं

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना।
सदोपयोगेऽपि गुरुत्वमक्षयो निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव ॥ २८ ॥
विलोकनेनैव तवामुना मुने! कृतः कृतार्थोऽस्मि निवर्हितांऽहसा।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥ २९ ॥
गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥ ३० ॥

प्रयोजनम् ? तन्निगद्यताम्' इति, सैषा अस्माकं धृष्टता । 'यतो भवान् वीतरागः । न किमपि जगति भवतः करणीयम् अतो न भवतः प्रयोजनं संभाव्यते । वीतरागं प्रति प्रयोजनप्रश्नोऽस्मदीयं धृष्टतैव, परं क्षम्यताम्, सेयं धृष्टता त्वदागमनेनैवोत्पादिता, वीतरागाणां प्रयोजनशून्यानाम् क्वचिद्गमनमप्याश्चर्यंकरम् । ततश्च महत्त्वास्पदेन भवदागमनेन यदस्मासु गौरवं जनितम् बोधितं वा, तेन वयम् तथा प्रगल्भा जाताः यत्प्रयोजनम् प्रष्टुमप्यस्माकं जिह्वा प्रसरति । ज्ञातेऽपि निःस्पृहत्वे न प्रयोजनशून्या प्रेक्षावत्प्रवृत्तिरिति आगमने किमपि प्रयोजनं स्यादेव इति विचारेण प्रश्ने प्रवृत्तिर्जायत एवेति मल्लिनाथः ।

३१.

भगवतः कृष्णस्य पूर्वोक्तं वचनजातमाकर्ण्य नारदेनोक्तम्—भगवन् ! भवत इयमुक्तिर्न योग्या । अन्ये मनुष्याः कथयन्तु तावदित्थम् भवांस्तु पुरुषोत्तमः—परः पुरुषः—साक्षान्नारायणः । वीतस्पृहा महान्तो योगिनोऽपि त्वद्दर्शनमभिवाञ्छन्त्येव । त्वद्दर्शनार्थमन्यत्र स्पृहा निवर्तते, त्वद्दर्शने तु स्पृहा न कदापि कस्यापि निवर्तते इति । किं च दृष्टे त्वयि सर्वः पुरुषार्थः समाप्यते, न ततः प्रयोजनान्तरमवशिष्यते यदर्थं प्रश्नः स्यात् । तस्मात्त्वद्दर्शनार्थमेवाहमप्यागतः । इति ब्रुवन्तं तमिति वर्तमानार्थकशतृप्रत्ययेन स्वप्रशंसां कृष्णमुखाच्छ्रोतुमनुत्सहमानो नारदो मध्य एव तद्वाक्यमाक्षिप्य वक्तुमारभतेति द्योत्यते ।

३२.

यथा कश्चित्कश्चित्काश्चित्कान्तारमार्गं गच्छेत्, स मार्गः पाटच्चरैराक्रान्तः स्यात् जनानां गतागताभावेन दुर्गमश्च स्यात्, स तत्र संकटापन्नो बिभ्यत् कथंचित्तं निस्तीर्णः स्वं प्राप्यस्थानं प्राप्य निर्भयो भवति तथा मोक्षमार्गं य आश्रयन्ते, यत्र उद्रिक्तो विषयाभिलाष एव प्रतिबन्धकत्वात् पाटच्चरः, न च संसारिणां यत्र बाहुल्येन गमनम् तन्मार्गगास्ते (योगिनः) त्वामेव प्राप्यस्थानं प्राप्य निर्भया भवन्ति, न च ततस्तेषां वियोगः, 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतेः, तथा च फलकाले भवत्प्राप्तिरेव, उपायकालेऽपि तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय, इति श्रुत्या त्वद्दर्शनोपासनाज्ञानान्येव मुख्यानीति तत्रैव योगिनो रमन्ते । पूर्वश्लोकोक्तस्य समर्थनम् ।

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम ! त्वया ।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि ॥ ३१ ॥
उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयाऽतिदुर्गमम् ।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया ॥ ३२ ॥

३३.

भगवन् कृष्ण ! कपिलाद्याः, सांख्याचार्याः सांख्ये त्रयोविंशतेर्विकारेभ्यः मूलकारणाच्चतुर्विंशात्प्रकृतिपदवाच्यात् प्रधानाच्च पृथग्भूतं पञ्चविंशं विज्ञानघनं पुरुषं यं निरूपयन्ति, यं च योगिनो बाह्यविषयेभ्यो मन आकृष्यात्मनि संयोज्य चातिक्लेशेन जानन्ति, स सर्वात्मभूतो भवानेव । यद्यपि सांख्याः पुरुषबहुत्वमिच्छन्ति, तथापि न तु तेषां दर्शनं सम्यक् । विभिन्नत्वेन भासमानाः पुरुषा वह्निविस्फुलिङ्गन्यायेन भवत एव निर्गता भवदंशभूता इति भवानेव सर्वकारणं सर्वेभ्यः प्राक्तनः । तदेतत् 'पुरातनम्' इति पदेन द्योतितम् । यद्वा—उत्तरसांख्यज्ञा योगाचार्याः पतञ्जलिप्रभृतयः पुरुषेभ्योऽपि परं यं षड्विंशं क्लेशकर्मविपाकाशयैरस्पृष्टं पुरुषविशेषं पुरातनं पुरुषं निरूपयन्ति, स भवानिति योज्यम् । तस्माद्योगिजनदर्शनीय एव भवानिति । शास्त्रप्रक्रिययात्र भगवत्तत्त्वनिरूपणम् ।

३४.

य एव सांख्यादिभिर्निर्गुणः पुरुष इति निरूपितः, तमेव त्वां पौराणिकाः सृष्टिकर्त्तारमामनन्ति । अस्य दृश्यस्य लोकत्रयस्य त्वमेव शिल्पी । यथा शिल्पी गृहं निर्माय तदाच्छादनायोपरि तृणादिनिर्मितमिष्टकाप्रस्तरादिनिर्मितं वा च्छादनम् छप्पर इति वा भाषायां प्रसिद्धं, स्तम्भाग्रेषु निधत्ते तथा भवतापि च्छादनरूपं भूमण्डलमिदं स्वयमेव वराहरूपेण जलादुद्धृत्य पातालस्य च्छादनीयं शेषनागरूपस्य स्तम्भशिरःसु निहितम् ।

३५.

भगवन् ! यन्निर्गुणं सांख्यादिभिः प्रतिपादितं पूर्वमुक्तम्, यच्च सर्वनियामकं जगत्स्रष्टृ पूर्वस्मिन् पद्ये निरूपितम्, तस्य तस्य च महत्त्वं को वक्तुं ज्ञातुं वा समर्थः, न कोऽपि तज्जानाति, न च वक्तुं शक्नोति । एकत्र गुणाभावेन वाङ्मनसयोरप्रवृत्तेः, अपरत्र च गुणानामानन्त्येन कृत्स्नपरिच्छेदासम्भवात् । आस्तां तद्रूपद्वयम्, परं मनुष्यरूपेणावतीर्णस्यापि ते गुणाः सुरासुरातिशायिनः, अपरिच्छेद्या एव । एतेषामेव च स्मरणेन गानेन च भक्ता भवाब्धिं तरन्ति ।

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥ ३३ ॥
निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः ।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥ ३४ ॥
अनन्यगुर्व्यास्तव केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते ।
मनुष्यजन्माऽपि सुरासुरान् गुणैर्भवान्भवच्छेदकरैः करोत्यधः ॥ ३५ ॥

३६.

भगवन्! भाराक्रान्तायाः पृथिव्या भारापनयनेन लघूकरणं तवावतारस्योद्देश्यम्, परमहं विपरीतं पश्यामि, भवानिदानीं भुवि स्थितोऽसि, भवतश्च कुक्षौ त्रिलोकी तिष्ठति, तदा पृथिवीयं लोकत्रयाश्रयाश्रयभूता सती कथं लघुर्जाता, प्रत्युतातिशयेन भाराक्रान्ता जातेति संभाव्यते। पक्षे गुरुशब्दस्य पूज्येत्यर्थः, तेन लोकत्रयं दधानोऽपि भवान् पृथिव्यां स्थितः इति पृथिव्याः परं पूज्यत्वं त्वया संपादितमिति मुख्योऽभिप्रायः। तेनैव विरोधपरिहारः।

३७.

भगवन्! कृष्ण! त्वं पृथिव्यामवतीर्णोऽसि, अत एव मादृशा अपि साधारणा जनाः स्वचक्षुषा भवन्तं द्रष्टुं प्रभवो जाताः स्वे महिम्नि स्थितं तु त्वां वशीकृतचित्ता योगिनोऽपि सम्यग्द्रष्टुं न शक्नुवन्ति, किं पुनर्मादृशाः। यद्यपि नारदः परमो योगी, तथापि विनयप्रदर्शनार्थं स्वस्य साधारणत्वमुक्तवान्। न केवलं जगतः परिपन्थिनां नाश एव तवावतारस्योद्देश्यम्, अपि तु भक्तान् दर्शनदानेनानुगृह्य स्वस्मिंस्तेषां चेतसः आकर्षणमपीति।

३८.

यथा सूर्यस्यैव नैशतमोऽपसारणे सामर्थ्यम्, नान्यस्य, तथैव जगदुपद्रवकारिणामुद्धतानां बलाधिकानां दुष्टानां शासने तेभ्यो जगतां रक्षणे च तवैव सामर्थ्यम् नान्यस्य। तेषां मदोद्धततया इन्द्रादिभिः शासितुमशक्यत्वात्। ननु तथापि जगदीश्वरेण किमिति ते शासनीयाः, तस्य द्वेषाभावादिति, तत्रोक्तम्—विश्वम्भर इति। विश्वरक्षा तव स्वभावः, ततो विश्वं पीडयन्तः शासनीया एव तवेति।

३९.

भगवन् लोकः 'कंसाद्यास्त्वया हताः' इति त्वां स्तौति, परमहं तु न तन्मृष्यामि, यतो हि मत्तगजगण्डविदारणदक्षं केसरिणं यदि कश्चिद् 'मृगहन्तायम्' इति

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुराममूं किल त्वं त्रिदिवादवातरः।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया॥ ३६॥

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीथा न महीतलं यदि।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः पदं दृशः स्याः कथमीश! मादृशाम्॥ ३७॥

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर! विश्वमीशिषे।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः॥ ३८॥

करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम्।
हरे! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया॥ ३९॥

स्तुवीत, तर्हि न सा सिंहस्य स्तुतिः प्रत्युत अपमानस्तस्य। तथैव येन त्वया हिरण्याक्षप्रभृतयो दैत्या हताः, तस्य कंसादिवधेन का स्तुतिः। (हिरण्याक्षप्रभृतयो मत्तगजेन्द्रतुल्याः, तदग्रे कंसाद्या मृगतुल्या एव) प्रत्युत अपमानमेवेति।

४०.

इदानीं नारदः स्वस्यागमनप्रयोजनं विवरीतुमारभते। नारदो हि शिशुपाल-हननाय इन्द्रस्य संदेशं वक्तुमागतः, तत्र वक्तव्ये भूमिकामारचयति—भगवन्! यदा त्वं विनैव कस्यचित्प्रेरणां स्वावतारप्रयोजनं पूरयितुं दुष्टानां हननं क्रमेण यथावसरं कुर्वन्नेवासि, न हि तत्र ते श्रमोऽपि भवति, एवंविधानां कार्याणां तव लीलामात्रत्वात्; ततश्च व्यर्थप्रायमेव त्वां प्रति दुष्टहननप्रार्थनम्—इति मम वाक् पिष्टपेषणमात्रं स्यात्। परमनेनैव व्याजेन कियन्तं कालं त्वया सहालापगोष्ठीप्रमोदः स्यादिति तत्र लुब्धं मे मनो मां कथने प्रवर्तयत्येव। क्रमेणेत्युक्त्या अवसराप्त्यै-वाद्यावधि शिशुपालो न हतः, न तूपेक्षयेति सूचितम्। वाचालतया युनक्तीत्युक्त्या वाचालता मम न निसर्गसिद्धो धर्मः, अपि तु लोलुपेन मनसैवेदानीं संपाद्यते इति सूचितम्। तेनालापगोष्ठीमहत्त्वं व्यञ्जितम्।

४१.

भगवन् कृष्ण! पूर्वोक्तात् त्वद्गोष्ठीविनोदरसिकत्वाद् हेतोरिदानीमहमिन्द्रसंदेशं ब्रवीमि। तच्च मे वाक्यं नेन्द्रस्यैव स्वार्थसाधकम्, अपि तु लोकहितकरम्, संक्षेपेणैव च स्वल्पेन कालेन मया वक्ष्यते। भवतश्चेन्द्रोपरि तथाविधा कृपा, यया तत्कार्य-साधनाय तत्कनिष्ठत्वमपि भवता कश्यपाददित्यां प्रादुर्भवता स्वीकृतम्। सततं च तस्य सर्वाणि कार्याणि भवतैव निर्व्यूढानि। तस्मात्तत्संदेशवाक्यमधुनाप्यवधानेन श्रोतव्यमेवेति।

४२.

'शिशुपालो हन्तव्यः' इति नारदस्य संदेशविषयः। तदुपयोगितया शिशुपालस्य प्रबलत्वख्यापनाय नैसर्गिकौद्धत्यख्यापनाय च तदीयं पूर्वजन्मद्वयवृत्तमप्युपन्यस्यति नारदः। तत्र प्रथमं जन्माह—पूर्वस्मिन् हि कृतयुगे कश्यपाद् दित्यां हिरण्यकशि-

---

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः॥ ४०॥
तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र! यद्वचः क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद्भवता निशम्यताम्॥ ४१॥
अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते॥ ४२॥

पुरिति ख्यात एको दैत्योऽभवत् । सूर्यस्येव तस्य तेज आसीत्, शत्रुपक्षाद्भयं तस्य कदापि न जातम् । इन्द्रस्य हि परमैश्वर्यं यद्यपि नैसर्गिकम्, अत एव तदिन्द्र इत्यभिधाने प्रवृत्तिनिमित्ततां गतम्, 'इदि परमैश्वर्ये' इति धातुना इन्द्रशब्दस्य व्युत्पादनात् । मच्चेतः पूर्वं परमैश्वर्येणेन्द्रः कदापि विरहितोऽभूत् । परं हिरण्यकशिपुना तत्परमैश्वर्यमपहृतमेव । तेनैव हिरण्यकशिपोरसाधारणं प्राबल्यं प्रकटीभूतम् ।

४३.

अनेनैव हिरण्यकशिपुना देवैः सह द्वेषं कुर्वता मत्सरः पूर्वं प्रकटितः, नेतः पूर्वं क्वचिदपि तस्मिन् युगे मत्सरोऽभूत्, रागद्वेषशून्या एव प्रजा आदियुगे उत्पद्यन्ते इति । किं च असुर इति शब्दमात्रं यद्यपि सृष्टेरारम्भात् प्रवृत्तमासीत्, परं चिरकालपर्यन्तमयं शब्दो रूढ एव गण्यते स्म, हिरण्यकशिपुस्तु सुरविरोधात्, सुराणामसनात् स्वस्थानेभ्यः क्षेपणाद् निष्कासनाद्वा-असुरशब्दस्य मुख्यार्थतामगमत् । यद्वा—इतः पूर्वमसुरशब्दस्य प्रवृत्तिरेव नासीत्, अयमेव सुरविरोधात् प्रथममेव असुर इति ख्यातिं गतः, सोऽयं सुरविरोधश्चिरकालपर्यन्तमनेन दैत्यकुले प्रचारितः, ततः प्रभृति सर्वेऽपि दैत्या देवविरोधम् चक्रुः । किं च देवानां मनस्सु कदापि ततः पूर्वं कुतोऽपि भयं नासीत्, अनेनैव प्रथमं देवान् पराजित्य तेषां मनस्सु प्रथममेव भयं स्थापितम् ।

४४.

संपदस्तथा तस्मिन् हिरण्यकशिपौ समाश्रिता अनुभूयन्ते स्म, यथा लोकैः 'अस्य सर्वातिशायि बलं दृष्ट्वा बलानुरागादेवैतदाश्रयः श्रीभिः स्वीकृतः, ननु बलेनापहाराद्' इति प्रतीयते स्म । श्रीषु स्त्रीत्वमत्रारोप्यते, स्त्रियश्च रागहृता एव सुखं निवसन्ति, बलहृतास्तु अस्थिरा भवन्तीति-संपदां सुस्थिरतामालोक्य रागहृतत्वमुत्प्रेक्षितम् । यतश्च यत्र पूर्वं श्रियो न्यूषुः, तान् चतुरो दिगीशान् परित्यज्य तदाश्रयस्ताभिरङ्गीकृतः, तत एव लोके श्रियां चलत्वप्रवादः प्रवृत्तोऽभूत् । स चायं प्रवादः श्रियामकीर्तये, स्त्रीणां परपुरुषाश्रयप्रयोजकं चाञ्चल्यं सर्वथाप्यकीर्त्तिकरं भवतीति । इतः पूर्वमिन्द्रादिषु लोकपालेष्वेवासाधारण्येन श्रियां निवास आसीत्, हिरण्यकशिपुना तु सर्वेषां लोकपालानां श्रीरपहृता इति तात्पर्यम् ।

समत्सरेणाऽसुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम् ।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत ॥ ४३ ॥
दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरानपास्य तं रागहृताः सिषेविरे ।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः ॥ ४४ ॥

४५.

हिरण्यकशिपोः पूर्वं देवानां पुरैरायुधैः सैन्यैर्लोहवर्मभिर्वा किमपि प्रयोज्यं नासीत् शत्रोरभावाद्रक्षार्थमप्रवृत्तेः। तस्मात् केवलमैश्वर्यख्यापनाय, स्वरूप-सौन्दर्य-वर्धनाय, आधिपत्यादि-स्वस्वाधिकृतपदप्रतीक्षणाय वा तैरेतानि कथंचिद् ध्रियन्ते स्म। हिरण्यकशिपुस्तु यदा तान् बाधितुं प्रवृत्तः, तदा एषां स्वरूपशोभास्थाने रक्षा मुख्यं प्रयोजनं बभूव, इति तदनुकूलतार्थं तानि तानि वस्तूनि तथैव तैः सज्जीकृतानि। पुराणि दुर्गरूपतां नीतानि, (केचित्त्वाहुः पुराणां स्वरूपशोभैक-फलकत्वं न संभवति, शत्रोरभावेऽप्यन्ततस्तेषां शीतोष्णादिनिवारणार्थत्वात्। तस्माद् दुर्गाणि पुराणि चक्रिरे-इति वैपरीत्येन व्याख्येयम्। दुर्गाणां पूर्वं प्रयोजनं नासीद्, इदानीन्तु भयात्तान्येव वसतिरूपाणि कृतानि, तत्रैव निवासं देवाश्चक्रुरिति) शस्त्राणि तीक्ष्णतां नीतानि, सेनासु शूराः संनिवेशिताः, लोह वर्माणि च दुर्भेद्यानि परिधीयन्ते स्म इति। इत्थं तद्भयान्नित्यसन्नद्धा देवा जाग्रतिस्म।

४६.

देवास्ततो दैत्यादेवं भीता बभूवुः यद्यत्र तस्य दर्शनम्, यस्मिन् स्थाने वा तस्य स्थितिः, तत्र तद्वन्दनविषये तु वक्तव्यमेव किम्, किन्तु सञ्चरणशीलतया स्वैर-वृत्त्याऽपि स यस्यां दिशि जगाम, तस्यै दिशे अपि देवास्तिसृषु सन्ध्यासु शिरसि बद्धाञ्जलयः प्रणेमुरिति न, किन्तु तत्संबन्धात्प्राप्तगौरवां तां दिशमपि प्रणेमुः। तदपि नैकवारम्, किन्तु प्रत्यहं तिसृषु सन्ध्यासु। सन्ध्यासु-इत्युक्त्या सन्ध्यावन्दनकालेऽपि दिङ्नियमं त्यक्त्वा तदधिष्ठिता दिगेव प्रणम्यते स्म इति द्योतितम्। स्खलत्करैरित्यु क्त्या प्रणामे संभ्रमो व्यञ्जितः। मुकुटोपलस्खलत्करैरिति च मुकुटमणीनामपि विस्रंसन-पतनादाववधानं नास्ति, भयाधिक्यादिति ध्वनितम्। यस्यां दिशि सूर्यो भवति, तद्दिगभिमुखा देवमनुष्याः सन्ध्यासु सूर्यं प्रणमन्ति, एतदाश्रिता तु दिगेव प्रणम्यते स्म। किं च सूर्यस्य तत्तद्दिगवस्थानं नियतम्, अयं तु स्वैरवर्ती, यथेच्छं यस्यां कस्या-मपि दिशि विहरतीत्यादिना सूर्याद् व्यतिरेको व्यञ्जितः।

४७.

भगवन् कृष्ण! तस्य हिरण्यकशिपोर्विनाशाय त्वयैव नृसिंहरूपं धृतम्। तद्धि

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥ ४५ ॥
स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥ ४६ ॥
सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह! सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥ ४७ ॥

तव रूपमतिविशालं भयंकरं चासीत्। यस्य सिंहरूपस्य स्कन्धस्थितानां केसराणां संघर्षेण मेघा अपि विदीर्णा बभूवुः। तेनैव रूपेण नखैर्वक्षो विदार्य स दैत्यस्त्वया हतः। अहो! ये ते नखा विलासे कान्तानां कठोरस्तनविमर्दनेऽपि त्रुट्यन्ति (वक्री भवन्ति वा) तैरेव वज्रसारस्य तस्य दैत्यस्य वक्षो विदारितमिति विलक्षणस्ते महिमा।

४८.

अथ तस्य द्वितीयं जन्म प्रस्तूयते। यद्यपि हिरण्यकशिपुना देवैः सह बहवः संग्रामाः कृताः, तथापि तस्य भुजयोः रणकण्डूतिर्न शान्तिं गतेति मन्ये। नृसिंहनखैरपि न कण्डूरपनुन्नेत्याश्चर्यं द्योतयति कविः। गर्वोऽपि शयस्तत्र हेतुः। तत एव स पुनर्देवैः सह योद्धुं रावण नाम्ना पुनर्जन्म गृहीतवान्। अस्मिन् जन्मन्ययं पूर्वापेक्षयाऽप्यधिको भयङ्कर आसीत्। अनेन स्वर्गस्य रक्षैव विक्षता। देवसर्वस्वमपहृतमिति यावत्।

४९.

सोऽयं रावणे लोकत्रयाधिपतित्वप्राप्तये भगवन्तं शिवमाराधयत्। तदाराधने चैतावत्साहसं कृतवान् यत् स्वस्यैव शिरांसि कर्तं कर्तं पुष्परूपेण शिवाय न्यवेदयत्। इदं चातिमहत्कर्म न तेन फलप्राप्तिविलम्बनिर्वेदात् कृतम्, अपि तु भगवति शिवे प्रेमातिशयात्, स्वस्य साहसैकरसत्वाच्च। नव शिरांसि निकृत्य यदार्पितानि, दशममपि च कर्तितुमुद्यतोऽभूत्, तदा तुष्टः शिव इष्टं लोकत्रयीसंपदाधिपत्यं वरमस्मै प्रायच्छत्। किन्तु तं प्रसादमप्ययं स्वसाहसे विघ्नमिवामन्यत। 'मया दशमं शिरश्छेत्तुं न पारितम्, कुतो मध्य एव भगवता प्रसादं कुर्वता ममेच्छायां विघ्न उत्पादितः' इति।

५०.

महादेवाद्वरं प्राप्य भुजबलदृप्तेन रावणेन कैलासपर्वत एव लङ्कां नेतुं समुत्पाटितः। तत्र निगूढमुत्प्रेक्ष्यते—यद्रावणेनेदं कर्म शिवस्य प्रत्युपकारचिकीर्षया

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षःक्षतरक्षणं दिवः॥ ५८॥

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः।
अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः॥ ४९॥

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः।
त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम्॥ ५०॥

कृतम् । रावणो हि मनस्वी न याच्ञादैन्यं सहते, ततश्च शिवेन यदस्मै त्रैलोक्याधिपत्यं दत्तम्, तस्य मूल्यमनेन दातव्यमेव । यदा चानेन कैलास उत्पाटितः, तदा अकस्मादुत्पातशङ्किन्याः पार्वत्या भयमभूत्, भीतया च तया स्त्रीस्वभावेन भगवान् शिवः स्वयमाश्लिष्टः । तेन शिवस्य यत्सुखमभूत् तत् त्रैलोक्यराज्यप्राप्तेरप्यधिकमिति तेन रावणस्य प्रतिदानं सिद्धमिति ।

५१.

भगवतः शिवाद्वरं प्राप्य स्वर्गं जेतुं रावणेनेन्द्रोपर्याक्रमणं कृतम् । तदा चैकहेलयेव तेनामरावती देवपुरी समाक्रम्य ध्वस्ता, नन्दनं देववनं छिन्नम्, रत्नानि हृतानि, देवाङ्गनाश्च हृताः। युगपत्सर्वमिदं कुर्वाणेन स्वर्गे महानुपद्रवः प्रादुर्भावितः ।

५२.

रावणात्पराजित इन्द्रः कदाचिदैरावतं गजं कदाचिदुच्चैःश्रवसमश्वं च समारुह्य यदा समरात्पलायितोऽभूत् , रावणश्च तं ग्रहीतुं पृष्ठतोऽनुदुद्राव, तदा रावणभयादतिशीघ्रं यातुमिन्द्रस्याभिलाष आसीत् । मन्दगमने रावणो गृहीत्वा रोत्स्यतीति । ततश्च यद्यप्यैरावत उच्चैःश्रवाश्च विविधा विलासगतीर्जानाति, परमिन्द्रस्य तदा तासु गतिष्वनुरागो नाभूत् । केवलं तयोः शीघ्रगमनमेव तस्येष्टमासीत् । भयेनोद्विग्नत्वादिति । येनेन्द्रेण बलाद्या असुरा नाशिताः, सोऽपि रावणादेवं भीत इति रावणस्य प्राबल्यातिशयो बलस्य शत्रुरित्यनेन व्यज्यते ।

५३.

इन्द्रस्य रावणात्तथा भयमासीद् यथा रावणस्य दर्शनमपि तस्योद्वेगकरं बभूव । तस्य दर्शनाय तन्नेत्रयोर्धैर्यं नासीत् । तेन नाहं रावणं पश्येयम् : न वा रावणो मां पश्येदिति, स मेरोर्गुहायामन्तर्निवासं कृतवान् । तत्रापि च भयेन वेपमान एवासीत् । यथा उलूकः सूर्यस्य दर्शनं कर्तुं न शक्नोति, (तस्य नेत्रयोस्तद्दर्शनशक्तिर्नास्ति) इति दर्शनं परिहरन् दिवसे पर्वतगुहास्वन्तस्तिष्ठति, तद्वदेवेति ।

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥ ५१ ॥
सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ॥ ५२ ॥
अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ॥ ५३ ॥

५४.

न केवलमिन्द्रस्यैव दुर्दशानेन रावणेन कृता अपि तु अन्येऽपि पराभूताः। तथा हि यदानेन जगत्प्रभुत्वमधिकृत्य सुरैर्द्वेष आरब्धः तदा सुरपक्षपातिना विष्णुनाप्यनेन सह संग्रामः कृतः, तत्र च सुदर्शनं चक्रं तेनास्य शिरः कर्तितुं क्षिप्तम्। यच्चक्रं कदाचिदपि क्वचिदपि मोघं न दृष्टम्, तदेवास्य ग्रीवां प्राप्य नैष्फल्यमलभत। शिलेव निष्ठुरा रावणस्य ग्रीवा, चक्रस्य संघर्षात् प्रस्तरादिव ततोऽग्निकणा निष्पेतुः, न तु चक्रं तां कर्तितुं समर्थमभूदिति।

५५.

इदानीं कुबेरपराभवो वर्ण्यते—यथा कश्चिन्मत्तो हस्ती मानसाख्यमतिविशालं कुबेरस्य सरः प्रविश्य भूयोभूयस्तद् विक्षोभयेत्, तथा रावणेन कुबेरस्य मानसं (मनः) भूयो भूयस्त्रासाकुलमक्रियत। हस्ती हि शिरसि शङ्खान् भिनत्ति, रावणेन च कुबेरस्य शङ्खाख्यः परमो निधिर्भिन्नः—नाशितः। (कुबेरो हि देवानां निधेरधिपः, निधेर्नामसु शङ्ख इति परमो निधिरुच्यते एकदशशतादिषु गणिताङ्केषु शङ्ख इति चरमा संख्या संस्कृते, तत्परिमितो निधिः शङ्खः। रावणेन कुबेरस्य निधिरपहृत इति शङ्खो भिन्न इत्युक्त्या तथा कुबेरः पराभूतो यथा तन्मनसापि शङ्खाख्यो निधिर्विस्मृतः- न तन्मनस्यपि शङ्खस्य पुनः प्राप्तेराशाऽवशिष्टाभूदिति द्योतितम्। किं च हस्ती मदजलेन सरः कलुषतां नयति, रावणेनापि कुबेरमानसं मदेन कलुषतां नीतम्। य एव कुबेरस्य मद इतः पूर्वं चित्तसमुन्नतेर्हेतुरभूत्, स एव पराभवे सति चेतः कलुषीचकार, 'अहो ईदृशोऽहमप्यनेन पराभूतः' इति विशेषेण खेदोदयात्। हस्तिना चालोड्यमानस्य सरसो गाम्भीर्यमपयाति, यदेव सरो जनैरगाधमिति मन्यते, तस्यैवाविलतां दृष्ट्वा गाधतां सर्वेऽपि जानन्ति। रावणेनापि कुबेरमनसो गाम्भीर्यं नामाविकारित्वं दूरीकृतम्। कुबेरचेतस्यपि अधैर्यलक्षणा विकारिता सर्वैर्दृष्टा। किं च हस्ती सरसः पुष्पाण्यपहरति, रावणेनापि कुबेरस्य पुष्पकमपहृतम्। (अत्रापि कुबेरमनसोऽपि पुष्पकमपहृतमिति व्यङ्ग्यं पूर्ववदनुसंधेयम्)। कुबेरो हि महामहिमशालीति तस्य भयाभावसंभावना समुदयेत, तन्निरसनाय नञ्द्वयम। कदाचित् शङ्खो भिन्नः कदाचित् पुष्पकमपहृतम्—इत्येवमादिरीत्या भूयो भूयः प्रकम्पनं सम्यङ् निबद्धम्।

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम्॥ ५४॥

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकम्पयामास न मानसं न सः॥ ५५॥

५६.

वरुणोऽप्येवं पराभूतः । संग्रामे यदा वरुणेन स्वीयो नागपाशो रावणं बन्द्धु क्षिप्तः, तदा रावणेन सक्रोधं हुंशब्दः कृतः । तेन भीता नागा रावणस्य समीपं गन्तुमशक्नुवन्तः परावृत्य वरुणस्यैव कण्ठे पतितास्तमेव बबन्धुः । अमोघानां तेषां क्वचित्साफल्यस्यावश्यंभावात् । अनेन रावणस्यालौकिको महिमाविष्कृतः, दिव्यान्यायुधान्यपि ततो भयमासादितवन्तीति ।

५७.

यमपराभवो वर्ण्यते—यदा स्ववाहनं महिषमारुह्य यमो रावणेन युयुधे, तदा तं पराजित्य रावणेन विचारितम् 'एतन्महिषस्य शृङ्गयोर्धनुः श्रेष्ठं निर्मीयेत, विष्णोः शार्ङ्गं धनुः श्रूयते, ममापि तथास्तु' इति । इत्थं विचार्य तेन यमवाहनस्य महिषस्य शृङ्गमण्डलमुत्पाटितम् । यद्यप्येवं शृङ्गभारापनयेन महिषस्य शिरः सुस्थितं समुन्नतम् भवेदिति संभावितमासीत् परं लज्जारूपो भारस्तथा तच्छिरसि पतितः येन तत्पूर्वापेक्षयाप्यवनततमभूत् । कृच्छ्रेण च धारणं महिषेणाक्रियत । 'पराभूतस्य मे धिक् शिरः-प्रदर्शनम्' इति तन्मनसि निर्वेदोदयात् ।

५८.

'तेन पराभूतो भीतः सूर्योऽपि तदनुगतिं चक्रे' इत्युच्यते । ग्रीष्मेऽपि काले तदन्तःपुरे सूर्यं उद्दण्डं न तपति स्म, रावणस्य वधूनां तापानुभवो मा भूदिति । किन्तु स्वस्वभावोऽपि यथा न विरोधितः स्याद् , रावणस्यापि च यथा प्रियं भवेदिति विचार्य भीतभीतः कथंचित्किरणैस्तथा तद्वधूः स्पृशति स्म-यथा स्वेदकणाः मौक्तिकवत्तच्छरीरभागान् मण्डयेयुः, तापानुभवश्च कथंचिदपि तासां न भवेदिति । अत्र च पद्ये राजावरोधे प्रसाधकस्य पुरुषविशेषस्य वृत्तान्तोऽपि श्लिष्टैः विशेषणैः प्रतीयते, स हि शुचौ समये-पवित्र आचारे स्थितोऽपि भूषणार्थं मया स्पृश्यमानानि वधूनामङ्गानि दृष्ट्वा प्रभोर्बन्धूनां वा अविश्वासो मा भूदिति भीत एव पूर्णं करस्पर्शमकृत्वैव चातुर्येण मौक्तिकैर्वधूनां मण्डनं करोतीति ।

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः ।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥ ५६ ॥
परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः ।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥ ५७ ॥
स्पृशन् सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ॥ ५८ ॥

५९.

चन्द्रस्यापि भयादनुगतिर्वर्ण्यते-चन्द्रो हि भीतस्तद्दण्डभयात्सदा तद्गेहेष्वेव निवसन् तस्य नर्मसचिवतां गतः । चतुरोक्तिभिरुपहासादिभिर्विनोदयन् स्त्रीणां रागविवर्धकः सर्वकलाभिज्ञो राज्ञां नर्मसचिवो भवति । चन्द्रमा अपि तद्वत् कलाभिः परिपूर्णः (कलाधर इति हि स प्रसिद्ध्यति) (परिपूर्णमण्डल एव रावणगृहे निवसति स्म न तु ह्रासवृद्धिशीलः) । अच्छाभिश्चन्द्रिकाभिः काममुद्दीपयन् स मानवतीरपि रावणप्रिया उत्कण्ठिताः करोति स्म, तासां तद्विषये रावणस्य च रतिं वर्धयति स्म । एवं रावणं प्रसादयन् कालं यापयामास ।

६०.

गणेशस्यापि पराभवो रावणेन कृत इत्येषोऽर्थं उत्प्रेक्षामुखेन कविना निबध्यते । एवं सम्भाव्यते, यद्रावणस्य विदग्धतया कदाचन स्वप्रियाणां कृते नूतनहस्तिदन्तरचितकर्णाभरणस्येच्छा मनसि प्रादुरभूत् । तदर्थं तेन सर्वश्रेष्ठहस्तिदन्तलाभाय गणेशस्यैको दन्त उत्खातः । स च तथा समूलमुत्पाटितो बलेन, यथा पुनः प्ररोहोऽपि तस्य नाभूत् , अत एव गणेशस्यैकदन्तता जाता ।

६१.

वायुरपि पराभूतस्ततः शङ्कित एवासीदित्युच्यते । यदा वायुः प्रवहति, तदा अन्तःपुरस्त्रीणां परिधानवसनानि प्रकम्पितानि स्थानादपसरन्ति, स्त्रीणां परिधानवस्त्रापसारणं च महानपराध इति तस्य प्रचण्डो दण्डः संभावित आसीत् । परं सौभाग्याद्विपरीतमेव जातम् , सुन्दरीणां तासामूर्वादिगुप्ताङ्गदर्शनेच्छा विलासिनो रावणस्य सदैव जागर्त्ति, सा च वायुना कृते वस्त्रापसारणे विनैवायासं पूर्तिं गतेति वायुरयं प्रत्युत रावणस्य प्रियकरत्वेन प्रियो बभूव । ततश्चास्य दण्डकथा तु दूरे आस्ताम् , येऽन्येऽपि सुरा विनैवापराधं राजपुरुषैः पीडिता आसन् , तेऽपि वायुना रावणाय निवेद्य पीडाया मोचिता इति मल्लिनाथानुसारी भावः । यद्वा यदि वायोरपराधो रावणेन गण्येत, तदैकस्यास्य प्रबलेनापराधेन तज्जातीयाः सर्वेऽपि सुरा दण्डिताः

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा ।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना ॥ ५९ ॥

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनमनेन मानिना ।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥ ६० ॥

निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाऽप्यूरुषु लोलचक्षुषः ।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः ॥ ६१ ॥

स्युः, परं रावणेन न तस्यापराधोऽपराधपक्षे गणित इति देवेषु दण्डोऽपि न पातितः, इयमेव देवेषु मरुतोऽनुकम्पाऽभूत्, यत्तेषां दण्डनं नाभूदिति ।

६२.

अग्निपराभव आख्यायते । यद्यप्यग्निरतितेजस्वी, तथापि रावणस्य लोकातिशायिनस्तेजसोऽग्रे तस्य तेजोऽभिभूतमिति पराभवशोकेनाग्निः कृशतां गतः, शोकजनितैरश्रुभिश्च धूममण्डलं तस्य प्रवृद्धम्, तथा च तदग्रेऽग्निर्न प्रचण्डं ज्वलति स्म, धूमायमान एव दृश्यते स्म ।

६३.

सर्पा अपि रावणभयात् स्वीयं सर्पवेषं सर्पधर्मं च विहाय मनुष्यवद्विग्रहं विधाय विचेरुः । द्विजिह्वता, कुटिला गतिः भुजगमनं, कर्णाभावश्च तेषां शारीरा धर्माः, ते तैस्त्यक्ताः, मनुष्यवद्विग्रहो धृतः । दर्शनेन परस्य मर्मणि विषं संक्रमय्य तन्मारणं तेषां जातिधर्मः, सोऽपि तैः परित्यक्तः, न कमपि सर्पा दशन्ति स्मेति । अत्र पद्ये सर्पवर्णनपरे विशेषणसाम्यात् खलवृत्तमपि प्रतीयते । खला अपि स्वीयेन पिशुनतादोषेण प्रभुसविधे तत्तदुच्चावचं संसूच्य परस्य मर्मसु कुलाचारव्रतादिषु प्रहरन्ति तानि दूषयन्ति, कुटिलव्यवहाराश्च भवन्ति, परस्त्रीषु प्रवृत्तिरूपं विटत्वं च तेषां स्वाभाविकम् । तानेतान् दोषान् रावणभयाद्विहाय वेषेण व्यवहारेण च तेऽपि ऋजवो बभूवुः । रावणेन खलानामीदृशानां नियन्तारः स्थापिताः, तद्वशगास्ते न कदाप्यन्यथाकर्तुं प्रबभूवुरिति ।

६४.

ऐरावतादीनां दिग्गजानां पराभव उत्प्रेक्षामुखेन वर्ण्यते । नन्वेते गजाः सदा दिशामन्तेष्वेव स्थिताः श्रूयन्ते, न कदाप्यत्रागच्छन्ति, न च कस्यापि दृष्टिपथमवतरन्तीति को हेतुः ? एवं सम्भाव्यते रावणस्य गजघटाभिरेते संघर्षेषु कदर्थिताः । तत एव पराभवदुःखेन एषां मदजलमपि शुष्कम् । भयाच्च पलायिता एते दिगन्तान् श्रिताः । तथा च भयं जातम्, यदद्यापि न निवर्तन्ते । अत एव नामसाफल्य-

---

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम् ।
बभार बाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनुस्तनूतपाद्धूमवितानमाधिजैः ॥ ६२ ॥

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः ।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता ॥ ६३ ॥

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः ।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभिश्चिराय यथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः ॥ ६४ ॥

मेभिर्लब्धम् । दिगाश्रिताः गजा—दिग्गजाः—इति दिगाश्रयणेन नाम्नोऽनुगतार्थता जाता ।

६५.

रावणः सततं गर्वोष्मणाभिपरीतः, तस्य चोष्मशान्तिर्न चन्दन–जलार्द्रतालवृन्तपवनैर्बभूव, अपि तु बन्दीकृतानां सुरस्त्रीणामुष्णोष्णैर्निश्वासमारुतैर्बभूव । निश्वसतीः शत्रूणां स्त्रियो दृष्ट्वा तस्य मनसि कापि शान्तिरुदियायेति । गर्विष्ठानां स्वभावसिद्धमिदम् यत्ते पीडितान् दृष्ट्वा कमप्यानन्दं विन्दन्तीति ।

६६.

षड्तुषु त्रये कुसुमसम्पत्तिर्भवति, त्रये च न, परमृतुभिरपि रावणस्यानुगतिः कर्तव्यासीदिति कुसुमवता त्रयेण कुसुमाभाववत्त्रयं स्वस्वरूपेऽनुप्रवेशितम् । वर्षासु कुसुमसमृद्धिः, ग्रीष्मे च नेति वर्षा ग्रीष्मेण संगताः, तथैव पुष्पसमृद्धिमती शरद् हेमन्तेन, तथाभूतो वसन्तश्च शिशिरेण सङ्गतः, एवं च रावणस्य पुरे सर्वेषु ऋतुषु पुष्पादिसमृद्धिरविच्छिन्नासीत् । सततं च ऋतव इमे नगरवासिन इव पूर्णसमृद्ध्या लङ्कायां न्यवात्सुः । इह एकैकस्य ऋतोर्नाम पुँल्लिङ्गमभिहितम् तत्सङ्गतस्यापरस्य च स्त्रीलिङ्गम् , तदर्थमेव पुँल्लिङ्गस्यापि वसन्तशब्दस्य लक्ष्मीशब्दसामानाधिकरण्यं प्रकल्प्य स्त्रीत्वमुपकल्पितम् , तत्रापि च पुष्पादिसमृद्धिमतां सुकुमाराणां स्त्रीत्वम् , कर्कशप्रापणाच्च पुंस्त्वं विन्यस्तम् । प्रसूनशब्दश्च पुत्रं स्मारयति, तेन कृतविवाहा इमे पुत्रपौत्रादिकुटुम्बमुत्पादयन्तस्तत्र निवसन्ति स्मेति सचमत्कारं स्थिरनिवासिता सिध्यति, सोऽयमर्थः—वासतया कुटुम्बितां ययुरित्यनेन स्फुटतां नीत इति गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ।

६७.

भगवन् कृष्ण ! यदा भवान् अमानुषोऽपि अजन्मापि देवैरभ्यर्थितस्तस्य रावणस्य वधाय मायामधिष्ठाय वैवस्वतस्य मनोर्वंशे समवतीर्णस्तदा रावणो भवत्प्रियां जानकीं जहार । भवताभियुक्तश्च स सर्वैः प्रबोधितोऽपि तां न प्रत्यार्पयत् ।

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैर्यथा ।
स चन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ॥ ६५ ॥
तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च ।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥ ६६ ॥
अमानवं जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः ।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाऽभिमानैकधना हि मानिनः ॥ ६७ ॥

यद्यपि भवतो नारायणावतारत्वं स्वस्यैव च वधायावतरणं तस्य विदितमासीत्तथापि हृतस्य वस्तुनः प्रत्यर्पणे भीरुत्वप्रतीत्या–मानहानिः स्यादिति मान एव तेन मुख्यतया रक्षितो न तु तदग्रे प्राणा अपि गणिताः, इदमपि तस्य परममहत्त्वं यन्मानस्य प्राणाधिक्येन गणनमिति। अजोऽपि कथं जात इति विरोधपरिहाराय प्रभाविनमिति विशेषणमुक्तम्, महानुभावानां विरुद्धधर्माश्रयणेऽपि न काचिदनुपपत्तिरिति।

६८.

भगवन् कृष्ण! जानकीनिमित्ते वैरे त्वयैवासौ रावणोऽपि समुद्रे सेतुं बद्ध्वा निहतः इति मन्ये त्वया विस्मृतं न स्यात्।

६९.

यथा कश्चिन्नटः रङ्गशालायां पूर्वं रूपं परित्यज्य रूपान्तरं गृह्णाति, तदा च स रूपवेषभाषादिभिः–अन्य एव लोकानां प्रतिभाति, तथा रावणोऽपीदानीं रूपान्तरं स्वीकृत्य पुनर्भूम्यां जातः, स इदानीं शिशुपाल इति नाम्ना प्रसिद्ध्यति। साधारणैर्लोकैश्च रावणादन्य एव प्रतीयते। परन्तु रहस्याभिज्ञास्तु जानन्ति यदयं रावण एवेति। एतेन शिशुपालस्य वधार्हता सूचिता।

७०.

यदा शिशुपालो जन्म लेभे, तदा तस्य चत्वारो भुजाः, त्रीणि लोचनानि आसन् मुखं चाति गौरं पूर्णचन्द्रतुल्यमासीत्। अत एव स तदानीं हरिहरसदृशः प्रतीयते स्म (इदं चतुर्भुजत्रिलोचनपदाभ्यां व्यञ्जितम्) परं पश्चात् तस्य भुजद्वयमेकं नेत्रं चान्तर्हितम्। इदानीं तु स द्विभुजद्विनेत्रोपि यौवनावस्थां प्राप्तः स्वप्रतापेन सूर्यसदृशो लक्ष्यते, यथा सूर्यः स्वकरैः (किरणैः) सर्वान् महीभृतः (पर्वतान्) व्याप्नोति, तथैवैतेनापि करैः सर्वे महीभृतः राजानः आक्रान्ताः सर्वे राजनस्तदधीनतां स्वीकृत्य तस्मै करं ददति।

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवानमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम्।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति॥ ६८॥

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम्।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः॥ ६९॥

स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः॥ ७०॥

७१.

अयं शिशुपालः पराक्रमविषये रावणादीनप्युपहसति स्वापेक्षया तान् निकृष्टान् मन्यते। ते हि सुचिरं तपस्तप्त्वा देवताप्रसादेन पराक्रमातिशयं प्राप्तवन्तः, अयं तु स्वभावेनैव पराक्रमशाली यथा कामयते तथा देवान् दानवान् यातुधानांश्च, अनुकम्पते, दण्डयति च। तथा च देवतायाचकैर्दशास्यस्यास्य कथं तुल्यता।

७२.

स्वबलदर्पाध्मातः स शिशुपालः सकललोक-पराभवेच्छया यथा पूर्वजन्मनि हिरण्यकशिप्वादिरूपेण प्रजाः पीडयति स्म, तथैवेदानीमपि पीडयति, एष एवार्थ उत्तरार्धेन समर्थ्यते, यथा पतिपरायणा स्त्री अन्यजन्मन्यपि तमेव पतिं प्राप्नोति, तथैव सुस्थिरः स्वभावः जन्मान्तरेऽपि पुरुषमनुगच्छत्येव। अतः शिशुपालस्य पूर्वजन्मवद् जगत्पीडनं नाति विस्मयकरम्।

७३.

हे भगवन्! अनेन शिशुपालेन विधेः शासनमुल्लङ्घितम्, यतोऽयं सुरासुराणां स्वयमेव शासकः संवृत्तः, यथेच्छं व्यवहरति, प्रजाः पीडयति च, तदेनं जहि। नचैतत् प्राघुणिकहस्तेन सर्पमारणम्, कुतः? परपीडनपरा दुष्टा भवादृशां लोकरक्षणदीक्षितानां हन्तव्या एव भवन्ति। अतस्त्वयायं मारणीय एव। किंच तादृशदुष्टविनाशे तव निमित्तमात्रत्वं स्यात्, वस्तुतस्तु तेषां दुष्कर्मविपाक एव तद्विनाशहेतुः।

७४.

नारदः स्वामुक्तिमुपसंहरति—इत्थं शिशुपालोपद्रवैरिन्द्रस्य हृदयं सर्वदा चिन्तातुरं चञ्चलं च वर्तते। चित्तविक्षेपान्न मनागपि राज्योपभोगेऽस्य प्रवृत्तिर्भवति। वयं त्वाशंसामहे—यद् भवता शिशुपाले हते शत्रुविनाशाद इन्द्रस्य हृदयं चिन्तात्यागेन दृढतां प्राप्नोतु, पुनरपि चायं पूर्ववद् ऐश्वर्योपभोगे सामर्थ्यमासादयतु।

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया।
दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्हसत्यसौ ॥ ७१ ॥
बलावलेपादधुनाऽपि पूर्ववत्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥ ७२ ॥
तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम्।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो विपादनीया हि सतामसाधवः ॥ ७३ ॥
हृदयमरिवधोदयादुदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥ ७४ ॥

७५.

नारदः श्रीकृष्णाय इन्द्रसंदेशं श्रावयित्वा आकाशमार्गेण प्रतस्थे, प्रस्थिताय तस्मै कृष्णेनापि इन्द्रसंदेशानुकूलं शिशुपालहननं प्रतिश्रुतम्। प्रतिनिवर्तितुमना नारदो यदाकाशमुद्गतः तदानीं प्रकृत्या स्वच्छशुभ्रः स चन्द्रवच्छोभतेस्म। चन्द्रशोभां दधति नारदे व्योममार्गेण प्रस्थिते सति तदनुपदमेव चैद्यापकृतानि श्रुत्वा तदुपरि समुत्पन्नक्रोधस्य भगवतः कृष्णस्य मुखे भ्रुकुटिरुत्थिता। सा च तदानीं तथा प्रतीयते स्म यथाकाशे चन्द्रमसमनूत्थितः शत्रुनाशसूचकः केत्वाख्य उत्पातग्रहो भवेत्। तदुक्तं 'चन्द्रमस्युत्थितः केतुः क्षितीशानां विनाशकृत्' इति।

इति शिशुपालवध-महाकाव्ये प्रथमः सर्गः।

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति।
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति
व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम्॥ ७५॥

शिशुपालवधमहाकाव्ये द्वितीयः सर्गः

कथासम्बन्धः

१.

भगवान् कृष्णो यावद् इन्द्रसन्देशेन प्रजोपद्रवकारिणं शिशुपालमभिषेणयितु-मिच्छति तावत् स राजसूयेन यष्टुमिच्छता युधिष्ठिरेण यज्ञे सन्निधातुं निमन्त्रितः, ततः स युगपदावश्यककार्यद्वयप्रसक्ततया शिशुपालो वा निहन्तव्यः, यज्ञे वा सन्नि-धातव्यमित्येवं निर्धारयितुं नाशकत् । तन्मनः सन्देहदोलायितमभूत् ।

२.

तदनन्तरं कृष्ण उद्धवबलभद्राभ्यां सह मन्त्रणार्थं सभामन्दिरमविशत्, अग्रे कृष्ण आसीत्, पश्चाच्चोद्धवबलभद्रावास्ताम् । तदानीं ताभ्यामनुगम्यमानः कृष्णः आकाशे बृहस्पतिशुक्राभ्यामनुगम्यमानस्य चन्द्रस्य शोभामुवाह ।

३.

असुरोपद्रवपरिहारेण प्रजासु शान्तिप्रचाराय समवेता अतितेजस्विन इमे रामकृष्णोद्धवाः सभायामुपविविशुः, सभायां तिष्ठतां तेषां तथा शोभाभूत्, यथा यज्ञवेद्यामाहितानां प्रज्वलतां त्रयाणां गार्हपत्याहवनीयप्रदक्षिणाग्नीनां शोभा भवति ।

४.

तत्र सभायां रत्नजटिता भूयांसः स्तम्भा आसन्, तेषु रत्नानामतिस्वच्छ-तया तदाकृतयः प्रतिफलिताः, अत एव स्तम्भानां मध्ये स्थितास्ते केवलं त्रयोऽपि स्वचतुर्दिक्षु प्रतिबिम्बबाहुल्यात् तथा प्रतीयन्ते स्म यथेमे पुरुषसमूहेन आवृता भवेयुः ।

यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाथ मुरं द्विषन् ।
अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत्कार्यद्वयाकुलः ॥ १ ॥

सार्धमुद्धवसीरिभ्यामथासावासदत्सदः ।
गुरुकाव्यानुगां बिभ्रच्चान्द्रीमभिनभः श्रियम् ॥ २ ॥

जाज्वल्यमाना जगतः शान्तये समुपेयुषी ।
व्यद्योतिष्ट सभावेद्यामसौ नरशिखित्रयी ॥ ३ ॥

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ ४ ॥

५.

इमे रामकृष्णादयस्तत्र सभायां सन्निवेशितेषूच्चेषु स्वर्णसिंहासनेषूपविविशुः। तदधिष्ठितानां तेषां सिंहासनानां तदानीं तादृशी शोभाऽभवत्, यादृशी सिंहाधिरूढानां त्रिकूटपर्वतशिखराणां भवति। त्रिकूट इति तत्पर्वतस्यान्वर्थसंज्ञा, यतस्तस्य त्रीणि कूटानि शिखराणि सन्ति। सिंहासनानां त्रिकूटशिखरोपमया तत्समुदायस्य त्रिकूटसादृश्यं व्यङ्ग्यम्, एवं रामादीनां सिंहसादृश्यमपि।

६.

सभायामुपवेशनानन्तरं वचनोपन्यासपटुर्भगवान् कृष्णः क्रमशः पितृव्यत्वेन ज्येष्ठभ्रातृत्वेन च स्वपूज्ययोरुद्धवबलभद्रयोरग्रे पूर्वोक्तयोर्महतोः कार्ययोर्विरोधमुपन्यस्यति स्म। उभयोर्युगपदसम्भव एव विरोधः, न चैकतरमप्युपेक्षितुं शक्यम्।

७.

भगवतः कृष्णस्य दन्ताः कुन्दकुसुमकलिकावत् स्वच्छशुभ्रा आसन्, किं च स प्रकृत्या स्मितपूर्वाभिभाषी आसीत्। स्मितमपि कविसम्प्रदाये स्वच्छशुभ्रमुच्यते, अतो वचनसमये स्वच्छशुभ्रैस्तस्य स्मितैर्दन्तकान्त्या च सभामध्यभागो नितरां प्रकाशितः, किं च यद्यपि तद्वाणी यथास्थानप्रयत्नोच्चारणेन स्वभावतः शुद्धवर्णा आसीत्, तथापि तत्र कविरुत्प्रेक्षते यत् स्मितप्रक्षालनेन तस्याः शुद्धवर्णत्वं जातम्।

८.

कृष्णः कथयति यद् यथा नाट्यादौ क्रियमाणः पूर्वरङ्गः केवलमभिनेष्यमाणवस्तुप्रसञ्जनाय भवति तथैवादौ प्रयुज्यमानं मद्वचनमपि भवद्वचनोपन्यासप्रसङ्गोत्थापनायैव न तु सिद्धान्तरूपम्। यतोऽहं कर्तव्यार्थे सांशयिकः सिद्धान्तं निर्णेतुमिच्छामि।

अध्यासामासुरुत्तुङ्गहेमपीठानि यान्यमी।
तैरूहे केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा ॥ ५ ॥

गुरुद्वयाय गुरुणोरुभयोरथ कार्ययोः।
हरिर्विप्रतिषेधं तमाचचक्षे विचक्षणः ॥ ६ ॥

द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती ॥ ७ ॥

भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः।
पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः ॥ ८ ॥

९.

युधिष्ठिरस्य भीमादयो भ्रातरः स्वपराक्रमेण दिग्विजयिनः सन्ति, तत्साहाय्येन स सर्वान् राज्ञः स्वाधीनान-करोत्। अत एव ते तस्मै करं ददति। तथा च सः अस्मत्-साहाय्यं विनापि स्वभ्रातॄणां साहाय्येनैव यज्ञं निर्विघ्नं सम्पादयितुं समर्थः। तदधीना राजानोऽपि तत्साहाय्याय यज्ञ उपतिष्ठेरन्नेव। अतो यज्ञेऽस्माकं सन्निधानं नात्यावश्यकम्।

१०.

यज्ञगमनस्यावश्यकत्वं निरस्य शिशुपालाभिषेणनं सामान्येनाह—हितमिच्छता पुरुषेण वर्धमानः स्वशत्रुः कदापि नोपेक्ष्यः। यथाल्पीयसोऽपि वर्धमानस्य रोगस्य यदि समये चिकित्सा न क्रियते तर्हि स पश्चाद् वृद्धिं प्राप्तो रोगिणं हिनस्ति, तथैव प्रारम्भे स्वल्पबलोऽपि शत्रुर्यदि न प्रतिक्रियते तदा स क्रमशो दृढबलो भूत्वा महान्तमनर्थमुत्पादयति। अत एव नीतिविदो वृद्धिशीलं शत्रुं रोगं च तुल्यावाहुः।

११.

शिशुपालो मामभिद्रुह्यति—इत्यतो नाहं मनागपि खिद्ये। यतः स सात्वत्या मत्पितृष्वसुः पुत्रः अतो बन्धुपक्ष्यतया स्वापकारविषये कथंचित् क्षन्तुं शक्यते। परं यत् स प्रजापीडनं करोति तदतिगर्हितम्, तेन च मम दुःखं जायते। बन्धुरपि यदि प्रजापीडकस्तर्हि स दण्डनीय एव।

१२.

इदं पूर्वपक्षरूपेण मम मतमस्ति, सिद्धान्तरूपेण युवयोरपि मतं मया श्रोतव्यमेव। अन्यथा मम संदेहो न निवर्तिष्यते। एकाकिनो विदुषोऽपि पुरुषस्य कर्तव्यार्थेषु संदेहो जायत एव, मादृशोऽविद्वान् संशेत इत्यत्र किमु वक्तव्यम्।

करदीकृतभूपालो भ्रातृभिर्जित्वरैर्दिशाम्।
विनाऽप्यस्मदलं भूष्णुरिज्यायै तपसः सुतः॥ ९॥

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च॥ १०॥

न दूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति।
यत्तु दन्दह्यते लोकमदो दुःखाकरोति माम्॥ ११॥

मम तावन्मतमिदं श्रूयतामङ्ग! वामपि।
ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि॥ १२॥

१३.

पूर्वोक्तरीत्या परिमिताक्षरैः स्वपक्षं स्थापयित्वा हरिस्तूष्णीं बभूव । महतामेष स्वभावो यत्ते यावदपेक्षितं तावदेव भाषन्ते ।

१४.

कृष्णकथनानन्तरं बलभद्र उवाच । कृष्णोक्त्या शत्रुकृतापकारस्मरणेन बलभद्रहृदयमतितताप । (अथवा तस्य शत्रुविषये द्वेष उदभूत्) तेन च क्रोधोदयाद् वचनसमये तस्यौष्ठः स्फुरति स्म ।

१५.

कृष्णोक्त्यनन्तरं यावद् उद्धवो वक्तुमिच्छति, ततः प्रागेव वचनव्यग्रतया बलभद्रेण वक्तुमारब्धम् उद्धववचनं च सिद्धान्तत्वेन स्वीकरणाय अवशेषितम् । उद्धवस्तु बलभद्रानुरोधात् तूष्णीमतिष्ठत् ।

१६.

कथनसमये रतिकालिकरेवतीकृतचुम्बनेन तन्मुखसंक्रान्तमद्यलेपादिना पवित्रे बलभद्रस्य अक्षिणी मदिरापानमदेन रक्ते घूर्णमाने चास्ताम् ।

१७.

साहंकारं वदतस्तस्योष्णैर्निश्वासमारुतैस्तद्वनमाला मालिन्यमवाप, या कठिनाभ्यां रेवतीकुचाभ्यामालिङ्गनसमये नित्यं पीड्यते स्म ।

१८.

भाषणकाले शत्रुक्रोधेन बलभद्रमुखं ताम्रवर्णमभवत् । स्वेदबिन्दवश्च तत्र

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥ १३ ॥
ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा ।
ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ॥ १४ ॥
विवक्षितामर्थविदस्तत्क्षणप्रतिसंहृताम् ।
प्रापयन्पवनव्याधेर्गिरमुत्तरपक्षताम् ॥ १५ ॥
घूर्णयन्मदिरास्वादमदपाटलितद्युती ।
रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ ॥ १६ ॥
आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् ।
म्लापयन्नभिमानोष्णैर्वनमालां मुखानिलैः ॥ १७ ॥
दधत्सन्ध्याऽरुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः ।
द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः ॥ १८ ॥

प्रादुरभवन् । कोपोपरक्ते तन्मुखे ते स्वेदबिन्दवः तथा भान्ति स्म यथा संन्ध्याकालिके स्वभावतो रक्ते व्योम्नि तारा भान्ति ।

१९.

बलभद्रेण कर्णयोः पद्मरागमणिजटिते कुण्डले धृते आस्ताम्, वपुषि च नीलवर्णमुत्तरीयमाच्छादितमासीत् । तत्र पद्मरागमणे रक्तया कान्त्या सङ्कीर्णा नीलवर्णोत्तरीयस्य कान्तिर्नूतनाम्रपल्लवकान्तिसदृशी धूम्रवर्णा जाता ।

२०.

तदानीं बलभद्रमुखाद् गन्धविशेषो निस्सरति स्म, यस्मिंश्च रेवत्या मदिरागण्डूषगन्धोऽपि संसृष्ट आसीत् । रतिकाले प्रियागण्डूषग्रहणस्य कामशास्त्रविहितत्वात् ।

२१.

कथनसमये बलभद्रमुखात् सौरभं निस्सरति स्म, तदाकृष्टाः भ्रमरा मधुपानेच्छया कमलसदृशं तन्मुखं परितः सञ्चेरुः । किं च प्रकृत्या श्यामा अपि ते भ्रमरास्तदानीमतिश्वेतैर्बहिर्निःसरद्भिर्बलभद्रस्य दन्तांशुभिः धावल्यमाप्नुवन् ।

२२.

शिशुपालाभिषेणनविषये 'उत्तिष्ठमानस्तु परः' इत्यादिना कृष्णेन यदुक्तं तदोजस्वि निर्दोषं चास्ति, अतो विचारान्तरं नापेक्षते, तदेव सिद्धान्तत्वेनाभ्युपगम्य तदनुकूलमेव झटिति कार्यमारब्धव्यम् ।

२३.

यद्यपि कृष्णवाक्यमतिसंक्षिप्तम्, तथापि (अर्थगौरवत्वात्) अपुष्टार्थैः शब्दैरतिविस्तृतापि वाणी नैतदपेक्षया अधिका भवितुमर्हति । यथा महान्तं

प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा ।
कृष्णोत्तरासङ्गरुचं विदधच्चौतपल्लवीम् ॥ १९ ॥
ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया ।
मुखामोदं मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन् ॥ २० ॥
जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥ २१ ॥
यद्वासुदेवेनादीनमनादीनवमीरितम् ।
वचसस्तस्य सपदि क्रिया केवलमुत्तरम् ॥ २२ ॥
नैतल्लघ्वपि भूयस्या वचो वाचाऽतिशय्यते ।
इन्धनौघधगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम् ॥ २३ ॥

काष्ठराशिं दहन्नतिभूयानपि वह्निः स्वप्रभया सूर्यमतिशयितुं न क्षमः सूर्यस्यातितेजस्वित्वात् ।

२४.

ननु यद्येवं कृष्णवचनं सर्वातिशायि तर्हि तदग्रे त्वद्वचनोद्योगोऽपि व्यर्थ एवेत्यत आह कृष्णवाक्यं मिताक्षरत्वाद् अर्थगौरवाच्च सूत्रकल्पमस्ति, अतस्तत् सविस्तरं व्याख्यानमपेक्षते । यथा व्याख्यायां मूलोक्त एवार्थो झटिति बुद्ध्युपारोहाय विशदं प्रपञ्च्यते युक्त्यान्तरैः समर्थ्यते च, तथैव मद्वचसापि कृष्णोक्त एवार्थो विस्तृत्य विवरिष्यते समर्थयिष्यते च । न तु तद्विरुद्धमक्षरमपि वक्ष्यते, अतः कृष्णवचसो व्याख्यानरूपा एव मद्वाचो भवेयुः ।

२५.

चेदियात्राविषये उद्धवविरोधं मनसि निधाय बलभद्र आह—ये पुरुषा भाषणेऽतिपाटवं दधते तेऽपि यदि विद्वद्वचनप्रतिकूलं किमपि वदेयुस्तर्हि लोकैर्जडा उच्यन्ते । अथ जडा अपि यदि विद्वद्वचनपक्ष एव भाषन्ते तर्हि लोके 'प्रवक्तार इमे, व्याख्यानिपुणा इमे' इत्येवं प्रसिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अतः कृष्णवचनविरोधे न किमपि वक्तव्यम् । स हि विद्वान् , विचक्षणस्य तस्य विरोधो न सुकरः, प्रत्युत जडत्वख्यापकः, अतस्तदनुकूलमेव भाषित्वा वाग्मित्वं किं न लभ्यताम् ? अनुकूलभाषणं हि सुगमम् ।

२६.

ननु हितमिच्छता राज्ञा दुराग्रहं परित्यज्य स्वप्रतिकूलमपि नीतिशास्त्रविदो वचनं ग्राह्यमेवेत्यत आह—मन्दबुद्धयोऽपि नीतिग्रन्थान् पठित्वा गुणशक्त्यादीनां नामानि तत्-संख्यां वा प्रतिपादयितुमीशते, परं न ते तावता नीतिशास्त्रपण्डिता ग्राह्यवचना वा भवितुमर्हन्ति । सन्धिविग्रहादीनां यथार्थोपयोगे पटुरेव नीतिशास्त्रपण्डित इतिव्यपदेशमर्हति, तदुपदेश एव च ग्राह्यः । सन्ध्यादिसंख्यामात्रपाठका उद्धवादयस्तच्छास्त्रज्ञत्वादुपेक्ष्यवचना एवेति बलभद्रस्य हृदयम् । प्रसङ्गवशात् संक्षिप्य गुणादीनां स्वरूपं लिख्यतेसंधिर्नो विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः, षड गुणाः शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः । क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदि-

---

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः ।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥ २४ ॥
विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते ।
जडानप्यनुलोमार्थान्प्रवाचः कृतिनां गिरः ॥ २५ ॥
षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ॥ २६ ॥

नाम् । तत्र अरिविजिगीष्वोर्व्यवस्थाकरणमैक्यं संधिः, विरोधो विग्रहः, अरिं प्रति यात्रा यानम्, कालप्रतीक्षया तूष्णीमवस्थानम् आसनम्, वाचिकमात्मसमर्पणं द्वैधीभावः, अरिणा पीड्यमानस्य बलवदाश्रयणं संश्रयः । कोषदण्डोत्थं तेजः प्रभावः, स्थेयान् प्रयत्न उत्साहः, षड्गुणचिन्तनं मन्त्रम् । शक्तिसिद्ध्योरुपचयापचयौ, वृद्धिक्षययोरभावः स्थानम् ।

२७.

यो धानुष्कः केवलम् आत्मनो लक्ष्यवेधचातुर्यं विकत्थते, लक्ष्यवेधावसरे च यस्य सायको लक्ष्याच्च्यवते, यथा तस्य विकत्थनं निस्सारं तथैव यो व्याख्यानमात्रपण्डितः कार्याकार्यविवेकसामर्थ्यं यस्य मात्रयापि न विद्यते, कार्यकाले च पश्चात्पदो भवति, वाङ्मात्रशूरस्य तस्य वागाडम्बरोऽपि निस्सारः । तथा च शास्त्रज्ञातुरपि कार्यज्ञस्य वचो ग्राह्यं न पुनर्वृथा वावदूकस्य ।

२८.

रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काराः पञ्चस्कन्धा इति बौद्धाः, भूतव्यतिरिक्तानि अमूर्तानि तत्त्वानि स्कन्धशब्देनोच्यन्ते, तत्र सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः, आलयविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः, प्रागुक्तस्कन्धद्वयसम्बन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः, गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः, वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः । यथा बौद्धानां मते भौतिकेषु शरीरेषु प्रागुक्तस्कन्धपञ्चकव्यतिरेकेण ज्ञानसुखाद्याश्रयीभूतः कश्चिदात्मपदार्थो नास्ति, किन्तु तत्सन्तान एवात्मपदेनोच्यते, तथैव राज्ञामपि सन्धिविग्रहादिषु कर्तव्येषु सहायादिरङ्गविनिर्णय एव मन्त्रः, नान्यत् किमपि । वयं सहायादिसम्पन्नाः स्मो न वेत्येव मन्त्रणा राजभिः कर्तव्या । यदि सहायादयो विद्यन्ते तर्हि शत्रुर्यातव्यो भवति, इतरथा सन्ध्यादिषु यथावसरं किमप्येकतमं स्वीकर्तव्यमापतति । तथा च वयमिदानीं सहायादिसम्पन्नाः स्मः अतोऽयं शिशुपालाभिषेणनस्य समुचितः कालः ।

२९.

मन्त्रितार्थक्रियायां विलम्बो न कर्तव्यः, मन्त्रो हि भीरुयोद्धेव भवति, यथा च

अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा ।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ॥ २७ ॥
सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाऽङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्माऽन्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥ २८ ॥
मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ २९ ॥

कवचादिधारणेन स्वाङ्गेषु रक्षितेष्वपि कदाचिच्छत्रुर्ममाङ्गानि छिन्द्यादितिभिया संग्रामे स्थिरो न भवति, अपि तु ततः पलायते, तथैव मन्त्रोऽपि उपायादिषु गोपितेष्वपि कदाचिच्छत्रवो जानीयुरिति भीत्या चिरमक्रियात्मकः स्थातुं नार्हति, मन्त्रज्ञानान्तरमेव कार्यमारब्धव्यम् , विलम्बे तु कार्यारम्भात् प्रागेव मन्त्रप्रकाशे शत्रुभिः सावधानं तद्विरुद्धोपायानुष्ठानेन राज्ञां महती हानिः सम्भाव्यते ।

३०.

इदमेव नीतेस्तत्त्वं यत् स्वस्याभ्युदयाय चेष्टनीयम् , तदन्तरायभूतस्य शत्रोश्च हानिः कर्तव्येति । एतदेव द्वयमवलम्ब्य नीतिविदः सन्धिविग्रहादीन् विविधं व्याचक्षते । तथा चाभ्युदयार्थिभिरस्माभिः स्वशत्रुः शिशुपालस्त्वरितमुच्छेत्तव्यः ।

३१.

ननु प्राप्ताभ्युदयानामस्माकं व्यर्थ एव शत्रूच्छेदप्रयत्न इत्यत आह— प्राप्तमहैश्वर्या अपि महात्मानः ऐश्वर्ये अलंबुद्धिं न कुर्वते, एतावदेवैश्वर्यमस्माभिरभिलषितं नान्यदपेक्ष्यत इत्येवं न तुष्यन्ति, 'असंतुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः' इति राज्ञां सन्तोषोदयस्य निन्द्यत्वोक्तेः । किन्तु यथा परिपूर्णोऽपि महार्णवः स्ववृद्धये चन्द्रोदयमपेक्षत एव, तथैव ते अग्रेऽपि स्वाभ्युदयाय यतमाना एव भवन्ति चन्द्रोदये समुद्रवृद्धिरिति निसर्गः ।

३२.

प्रत्युत सन्तोष उन्नतेः प्रतिबन्धकः, यः पुरुषः स्वल्पयापि सम्पत्त्या प्रसीदति, आत्मानं मुदमापन्नं मनुते, तस्य सा स्वल्पा सम्पद् वृद्धिं न प्राप्नोति दैवं हि संपदां वर्धकम् , तद्धि स्वल्पसंपदापि संतुष्टं तद्वृद्धये पौरुषमकुर्वाणं नरं निरीक्ष्य आत्मानं कृतकृत्यं मन्यते, अयमेतावतैव संतुष्यति किमस्य मुधा संपद्वर्धनेन; यद्ययं संपदभिवृद्धिमभ्यलषिष्यत् , तर्हि तदर्थमुदयोक्ष्यत, परं नोद्युङ्क्ते इति नास्य संपदं वर्धयति । दैवमप्युद्योगिन एव साहायकम् , अनुद्योगिनस्तु तदपि जुगुप्सत इति तत्त्वम् ।

आत्मोदयः परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ३० ॥

तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महीयसाम् ।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥ ३१ ॥

सम्पदा सुस्थिरंमन्यो भवति स्वल्पयाऽपि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ३२ ॥

३३.

शत्रून् निर्मूल्यैव मानिनोऽभ्युदयं प्राप्नुवन्ति, शत्रवो हि तदुन्नतिपथे कण्टकायिताः, तेषां साकल्येनापाकरणमत्यावश्यकम्, अन्यथा तेऽन्तरायमुत्पादयेयुः। सवितापि यदोदयते तदा स्वप्रसररोधकमन्धतमसं विनाश्यैव, नान्यथा, अतोऽस्माभिरपि स्वशत्रुः शिशुपालो हन्तव्य एव।

३४.

किं च लोकेऽनुच्छिन्नशत्रोः स्थैर्यमेव दुर्घटम्, उन्नतिस्तु दूरे। जीवन्तः शत्रवस्तन्मूलं कर्तितुं घुणा इव प्रयेतरन्, अतस्तदुच्छेद आवश्यकः। जलमपि आत्मानं मलिनीकुर्वद् रजः अधःकरणेन पङ्कतां नीत्वैव तिष्ठति। जडमपि जलं यदि स्वाभिभावकं न सहते, तर्हि चेतनैरस्माभिस्तु सुतरां न सोढव्यम्।

३५.

शिशुपाल एवास्माकं शत्रुः किमयमेकाकी नः करिष्यतीत्यपि न चिन्तनीयम्, यतः यावदेकोऽपि शत्रुर्जीवति तावत् सुखप्राप्तेराशापि न कर्तव्या। यद्यपि देवैः स्वशत्रवोऽसुरा निहताः, परं तेषां मध्य एको राहुरवशिष्टः, स एव पश्यतां देवानां चन्द्रमसं (सूर्यं च) पर्वसु बाधते।

अतः 'अग्ने शेषमृणच्छेषं शत्रोः शेषं न शेषयेत्' इत्यभियुक्तोक्त्या एकोऽपि शत्रुरुच्छेत्तव्य एव। चन्द्रोपरागस्य प्राचुर्यात् सोमग्रहणम्।

३६.

कृत्रिमसहजप्राकृतभेदेन मित्राणि शत्रवश्च त्रिधा भिद्यन्ते, स्वरूपाणि चैषां स्फुटानि। एतेषां मध्ये कृत्रिमौ मित्रशत्रू महान्तावुच्येते। उपकारापकारजन्यसौहार्दवैरभावस्य यावज्जीवमनपायाद् एतयोर्मित्रशत्रुभावः स्थायी, न जातु विपर्येति, एतदेवानयोर्महत्त्वम्।

सहज प्राकृतौ तु सुहृदावपि कदाचित्—स्वकार्यवशाच्छत्रुभावम्, एवं शत्रू

समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः ॥ ३३ ॥
विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते ॥ ३४ ॥
ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम्।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम् ॥ ३५ ॥
सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यतः।
स्याताममित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥ ३६ ॥

अपि स्वकार्यानुरोधेन मित्रभावं प्राप्नुतः, कार्योपाधिको हि तयोर्मित्रशत्रुभावः, अतो न नियतः । कृत्रिमस्तु शत्रुश्चेत् शत्रुरेव, सुहृच्चेत् सुहृदेव । तथा च शिशुपालोऽस्माकं सहजमित्रमपीदानीं परस्परापकारेण कृत्रिमः शत्रुरिति नोपेक्षितव्यः ।

३७.

ननु शिशुपालोऽस्माकं पैतृष्वस्रेय इति सहजमित्रत्वात् संधातव्य एवेत्यत आह—सहजः प्राकृतो वा शत्रुरपि यद्यात्मन उपकरोति तर्हि तेन सह संधिः कर्तुमुचितः । स हि तदानीमस्थायिशत्रुभावं परिहृत्य स्थायिनीं कृत्रिममित्रतां प्राप्तः । एवं सहजः प्राकृतो वा सुहृदपि यद्यपकरोति तर्हि न स संधियोग्यः, यतः सोऽस्थायि मित्रत्वं परित्यज्य स्थायिनं कृत्रिमशत्रुभावं प्राप्तः । उपकारापकारावेव मित्रामित्रयोर्लक्षणमस्ति । तथा च शिशुपालः सहजमित्रमपि साम्प्रतं परस्परापकारेणास्माकं शत्रुरित्यभिषेणयितव्य एव, न पुनः संधातव्यः ।

३८.

चैद्यस्य कृत्रिमशत्रुत्वसमर्थनायाह—हे कृष्ण ! रुक्मिणीहरणेन त्वया चैद्यस्य विप्रियमाचरितम्, अतस्त्वं तस्य कृत्रिमः शत्रुरसि । स्त्रियो हि रूढमूलस्य (गृहीतमूलस्य) वैरपादपस्य प्रधानं कारणम् । अत्र रुक्मिणी शिशुपालस्य वाग्दत्तासीत्, तां कृष्णो राक्षसविवाहेन उपयेमे-इति-पुरावृत्तमनुसंधेयम् ! न चेदं परस्त्रापहरणमिवानुचितम्, 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्मौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ' इति क्षत्रियस्य कृते राक्षसविवाहस्य धर्म्यत्वस्मरणात् ।

३९.

यथा सूर्यासन्निधाने सुमेरोः सानुमन्धकार आवृणोति, तथैव स शिशुपालस्त्वयि नरकासुरविजयव्यापृते सत्यवसरं लब्ध्वेमां द्वारकापुरीं परितः स्वसैन्येनयावृणोत् । तथा च तस्य त्वमिव सोऽपि तव कृत्रिमः शत्रुः इति नोपेक्षणीयः ।

उपकर्त्राऽरिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ ३७ ॥

त्वया विप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणीं हरता हरे ! ।
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः ॥ ३८ ॥

त्वयि भौमं गते जेतुमरौत्सीत्स पुरीमिमाम् ।
प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव ॥ ३९ ॥

४०.

अपकारान्तरमाह—शिशुपालो बभ्रोर्भार्यामपहृत्य परदाराभिमर्शनं चकारेति नैतद्विषये किमप्युच्यते, यतः पापानां कथामात्रमप्यकल्याणजननाय पर्याप्तं भवति।

४१.

एवं शिशुपालो नः सहजमित्रमपि परस्परापराधेन साम्प्रतं कृत्रिमः शत्रुरिति सर्वथानुपेक्षणीय एव।

४२.

शुष्के तृणसमूहे गुल्मे वने वोद्गतज्वालमग्निं प्रक्षिप्य पवनप्रवाहाभिमुखं शयानः पुरुषो यथा पवनप्रेरितया ज्वालया भस्मीभूय विनश्यति, तथैव यः पुरुषः स्वोपरि कारणान्तरतः प्रागेव क्रुद्धस्य शत्रोरपकारान्तरं विधायोपेक्षते—न—सावधानस्तिष्ठति, सोप्याकस्मिकेन शत्रोराक्रमणेनाशु विनश्यति। अतः शिशुपालो नोपेक्षणीयः।

४३.

क्षमाशीलोऽपि पुरुषः अल्पम्, सकृदेव कृतं भूयांसमपि वापराधं क्षन्तुं शक्नोति, परं पुनः पुनर्भृशं च क्रियमाणमपराधं सहिष्णुरसहिष्णुर्वा कोऽपि सोढुं न शक्नोति, शिशुपालो ह्यस्माकं बलवत् पुनः पुनश्चापकरोतीति न स क्षन्तव्या भवितुमर्हति।

४४.

ननु 'क्षमा पुंसो भूषणमि'ति सर्वदैव एष्टव्या, इत्यत आह—अपरिभवे क्षमां भूषणमुच्यते, न पुनः सर्वदा। शत्रुकृतपरिभवप्राप्तौ तु तत्प्रतीकाराय पराक्रम एव भूषणम्।

आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत्।
कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः॥ ४०॥

विरोद्ध एवं भवता विराद्धा बहुधा च नः।
निर्वर्त्यतेऽरिः क्रियया स श्रुतश्रवसः सुतः॥ ४१॥

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम्॥ ४२॥

मनागनभ्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः॥ ४३॥

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव॥ ४४॥

४५.

यः पुरुषः शत्रुतिरस्कारदुःखवन्ततोऽपि जीवति, न तत्प्रतीकाराय किमपि चेष्टते। तस्य जीवनमतिगर्हितम्, स हि केवलं मातुर्गर्भधारणप्रसवादिवेदनाहेतुः, अप्रयोजकं तस्य जन्म, मातृक्लेशनिवृत्तये तादृशस्यानुत्पत्तिरेव प्रार्थ्यते।

४६.

यः पुरुषः शत्रुकृतापमानं निश्चिन्तस्तूष्णीं सहते, वृथापुष्टोऽसौ (इदं देहिन इति निन्दार्थमत्वर्थीयेन, प्रकृत्या च गम्यते) तदपेक्षया तद् रजः (जडं, नपुंसकमपि सत्) श्रेष्ठं यत् पुंभिः पादोद्धूनितमुद्धूनयतामेव मस्तकमाक्रामति।

४७.

यथा घटादयो जातिशब्दाः, शुक्लादयो गुणशब्दाः, पाचकादयः क्रियाशब्दाः स्वाभिधेयेषु घटत्वादिरूपं कञ्चन विशेषमपि प्रतिपादयन्ति, न तथा यदृच्छाशब्दः, स हि जात्यादिव्यतिरेकेण धर्मिमात्रमेव बोधयति, व्यवहार एव तस्य मुख्यं प्रयोजनम्, तथैव यः पुरुषः स्ववर्तिब्राह्मणत्वादिजात्यनुरूपाध्ययनादिना, इज्यादिक्रियानुष्ठानेन वा, शौर्योदार्यादिगुणैर्वा न कञ्चन सुकृतकीर्त्यादिरूपं धर्माद्यन्यतमं वा पुरुषार्थं साधयति, तस्य जन्म केवलं ब्राह्मणादिसंज्ञाधारणार्थमेव। व्यवहारसिद्धये नाममात्रेण स ब्राह्मणादिरुच्यते। यथा अकारादिषु वैयाकरणानां गुणपदप्रयोगः पारिभाषिकः, न स वस्तुतो गुणः, तथैव तस्मिन्नपि ब्राह्मणादिपदप्रयोगः, न स वस्तुतो ब्राह्मणादिः।

४८.

तुङ्गत्वमगाधता च लोकेऽलङ्घनीयताया हेतू भवतः, तत्र पर्वते केवलं तुङ्गत्वमेवास्ति, समुद्रे च केवलागाधतैव, मनस्विनि तु पुरुषे तदुभयमपि विद्यते—इति स पर्वतसमुद्रापेक्षयाप्यतिदुर्लङ्घ्यः।

मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥ ४५ ॥

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥ ४६ ॥

असम्पादयतः कश्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः।
यदृच्छाशब्दवत्पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम् ॥ ४७ ॥

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता।
अलङ्घनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि ॥ ४८ ॥

४९.

शत्रुषु मृदुव्यवहारः सर्वथानर्थायैवेत्याह—यद्यपि सूर्याचन्द्रमसोस्तुल्य एवा-पराधस्तथापि राहुराधिक्येन चन्द्रमसमेव ग्रसते, न पुनः सूर्यम् , तत्र कारणं स्पष्ट-मेव, चन्द्रमाः खलु मृदुतेजाः, इति स सुखेन ग्रसितुं शक्यते, सूर्यस्तु प्रखरप्रताप इति न तत्र राहोः सहसा प्रवृत्तिः । तथा च शत्रुपक्षे तीव्रमेव व्यवहर्तव्यम् ।

५०.

तेजस्विनां गणनायां प्रस्तुतायां यदि कश्चन तेजस्वी दूरस्थोऽपि भवेत् तदापि गण्यते, स हि दूरस्थितोपि स्वतेजसा लोकान् अभिभवितुं क्षमः । इममेवार्थमर्थान्त-रन्यासेनाह—पञ्चाग्निमध्ये तपस्यतः पुरुषस्य अतिदूरवर्त्यपि सूर्यः पञ्चमाग्निस्था-नीयो मन्यते ।

५१.

दुरारोहसौधादिषु सोपानमारुह्यैवारोढुं शक्यते, तथा च यदि भवद्भिः काम्यते यदस्माकं कीर्तिः स्वर्गमप्यारोहेत् तर्हि तदर्थमपि कश्चन सोपानाद्यालम्बोऽपे-क्षितः । शत्रुशिरांस्येव तस्या उचित आलम्बो भवितुमर्हति, तत्रैव सा पादौ क्षणं न्यस्य स्वर्गमारोक्ष्यति, नान्यथा । शत्रुमानभङ्ग एव कीर्तिप्रसारस्य उपाय इति तत्त्वम् ।

५२.

चन्द्रमसा कृपया स्वाङ्कमारोपितो मृगस्तस्य कृते कलङ्करूपो बभूव, तेनैव मृगेण लोकाश्चन्द्रमसं मृगाङ्कमाचक्षते । परं यः सिंहो मृगान् निर्दयं पीडयति, स मृगराज इत्युच्यते । अतः शत्रुषु मार्दवं दुष्कीर्तये पौरुषं तु कीर्तये इति भावः ।

५३.

यथा आमज्वरः प्रस्वेदनेनैव शाम्यति, स्नानं तु क्रियमाणं प्रत्युत तं प्रकोप-

---

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम् ॥ ४९ ॥

स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि ।
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः ॥ ५० ॥

तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते ।
पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम् ॥ ५१ ॥

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम् ।
कथङ्कारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति ॥ ५२ ॥

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः ।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ॥ ५३ ॥

यति, तथैव क्रुद्धः शिशुपाल इदानीं दण्डेनैव (युद्धेन) वशीकर्तुं शक्यते, न सामादिना । शान्त एव सामादिप्रयोगः फलति, नाशान्ते, अतोऽभिषेणयितव्य एव सः ।

५४.

यथा अतितप्तं घृतं जलप्रक्षेपेण शीतं न भवति प्रत्युताधिकं दीप्यते ज्वाला स्ततो निस्सरन्ति, तथैव प्रियोक्तयः कोपकषायितचेतसं शिशुपालं शान्तं न करिष्यन्ति, किन्त्वधिकं प्रकोपयिष्यन्ति, अतो दण्ड्य एव सः ।

५५.

ये संधिविग्रहादीनामुपयोगं सम्यग् न विजानन्ति, संधियोग्ये विग्रहं विग्रहयोग्ये वा संधिं विधाय राज्ञां हानिं कुर्वन्ति, ते मन्त्रिणो राजभिर्दूरतस्त्याज्याः, न ते वस्तुतो मन्त्रिणः, अपि तु मन्त्रिलिङ्गधारिणो राज्ञां शत्रवः । उद्धवस्य युद्धपक्षविरोधो न मन्तव्यः, युद्धकाल एवायम् इति बलस्य हृदयम् ।

५६.

नीतिविदः स्वशक्त्युपचयं शत्रुपक्षव्यसनं च पृथक् यानकारणमाहुः । तव तु दैवादुभयमप्यस्ति—इति त्वया योद्धव्यमेव ।

५७.

स्वशक्त्युपचयमाह—यादवसैन्यमतिमहत् , न तत् केनाप्यतिक्रमितुं शक्यते, स्वयं च तच्छत्रुपक्षक्षयं कर्तुमिच्छति परं वेला समुद्रमिव भवतः, क्षमैव तत् तथाकरणाद् व्यावर्तयति, अन्यथेतः प्रागेव शत्रून् संहरेत् ।

५८.

सांख्यदर्शने बुद्धिरेव वस्तुतः कर्त्री सुखदुःखयोरनुभवित्री च, पुरुषस्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः कर्तृत्वादिधर्मशून्यो बुद्धेः साक्षिमात्रम् , असङ्गो ह्ययं पुरुष

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ ५४ ॥
सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ ५५ ॥
गुणानामायथातथ्यादर्थं विप्लावयन्ति ये ।
अमात्यव्यञ्जना राज्ञां दूष्यास्ते शत्रुसंज्ञिताः ॥ ५६ ॥
स्वशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे ।
यानमाहुस्तदासीनं त्वामुत्थापयति द्वयम् ॥ ५७ ॥
लिलङ्घयिषतो लोकानलङ्घ्यानलघीयसः ।
यादवाम्भोनिधीन् रुन्धे वेलेव भवतः क्षमा ॥ ५८ ॥

इति श्रुतेः । परमेवं सर्वथा तटस्थेऽपि पुरुषे यथा सुखदुःखादयो बुद्धिधर्माः अहं सुखी दुःखीत्यादिना व्यपदिश्यन्ते, तथैव हे कृष्ण ! यादवसेना शिशुपालं विजेष्यते, परं स विजयः तटस्थस्यापि तवैव व्यपदेक्ष्यते, भृत्यजयपराजययोः स्वामिगम्यत्वात्, तथा चाक्लेशेनैव विजयलाभावसरमेतं मा स्मोपेक्षिष्ठाः ।

५९.

शत्रुव्यसनमाह—मगधेश्वरो जरासंधः शिशुपालस्य मित्रमासीत्, स च भीमेन युद्धे हतः । अतोऽसौ मित्रव्यसनाक्रान्तत्वादिदानीं सुखेन पराभवितुं शक्यते ।

६०.

स्वशक्त्युपचये परस्य व्यसने वा अभिषेणनं कर्तव्यमिति पूर्वमुक्तम्, तत्रोतरपक्षोऽभ्युपेत्यवरदेनोक्तः, वस्तुतस्तु प्रथमपक्ष एव मानिनामिष्टः, यतः आपदाक्रान्तः शत्रुरभिषेणनीय इति नायं शूराणां पन्थाः, प्रत्युत विपन्नाक्रमणे शूराणां लज्जा स्यात्, स्वयं मृतस्य मारणे किं शौर्यम् । सर्वशक्तिसम्पन्नः एव शत्रुः शूराणाममर्षविषयो भवति, न तु विपदाक्रान्तो निर्बलः, यथा राहुः पौर्णमास्यां पूर्णमण्डलमेव चन्द्रमसं ग्रसते; न तु तिथ्यन्तरेषु क्षीणम् तद्वत् । तथा च साम्प्रतं बलिनो वयम्, बलवतामस्माकं शिशुपालोऽभियातव्य एव ।

६१.

प्रसह्य परपीडनक्षमं बलं भिन्नमेव, तद्वतां कृते 'इदानीं शत्रुर्यातव्यः, इदानीं न' इति न कश्चन नियमः । सर्वदैव ते शत्रुमभिषेणयितुं शक्नुवन्ति । परव्यसनकाले प्रयोगयोग्यं मन्वाद्युदाहृतं बलं तु भिन्नम्, साधारणत्वेन तस्य प्रबलशत्रुपीडनाक्षमत्वात् । प्रकाशतमसोरिव परस्परविरुद्धयोरनयोरेकाश्रयत्वं न घटते । अयं स्फुटो भावोबलवतः शत्रोरभियाने 'तदा यायाद् विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः' इति व्यसनग्रस्ते रिपावभियानं प्रतिपादयद् मनुवचनं विरुध्येतेत्यपि न शङ्कनीयम्, कुतः ? ये स्वयं प्रशस्तबलहीनाः शत्रुं पराभवितुमक्षमास्तेषां कृते मनुवचनमस्ति । ये तु प्रसह्य परपीडनक्षमाः, तेषां कृते तु 'तथा विपच्चे व्यसनानपेक्षी क्षमो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयात्' इति कामन्दकेन व्यसनानपेक्ष्यैवाभिषेणनं प्रतिपादितम् । तथा च यथा विभिन्नशाखाध्येतृविषयत्वेन उदितानुदितहोमयोः परस्परं

विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम् ।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि ॥ ५९ ॥
हते हिडिम्बरिपुणा राज्ञि द्वैमातुरे युधि ।
चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः ॥ ६० ॥
नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये ।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः ॥ ६१ ॥

विरोधो न बाधकः । तथैव भिन्नविषयत्वेन व्यसनाव्यसनयोरभिषेणनं प्रतिपादयतोनंनुकामन्दकवचसोर्विरोधोपि न बाधकः ।

६२.

युधिष्ठिरयज्ञे सन्निधानाय इन्द्रप्रस्थयात्रा न कर्तव्या, इदानीं तु अभिषेणयतामस्माकं हस्तिबलेन निखिलस्य चेदिराष्ट्रस्य उद्यानादिविनाशेन ध्वंस एव प्राप्तकालः ।

६३.

यादवानां सेना माहिष्मतीं शत्रुराजधानीं परितस्तथा वृणोतु यथा शत्रवस्तत्रैव निरुद्धास्तिष्ठन्तु । न च बहिरागन्तुं शक्नुयुः । किं च सर्वाणि प्रवेशद्वाराणि तथा रोद्धव्यानि यथा तत्र भोजनसामग्री, तत्साहाय्यार्थं सैन्यम्, पशूनां कृते घासः काष्ठादिकं चावश्यकं वस्तु किमपि कथमपि प्रवेशयितुं न शक्येत । यथा रात्रौ दोहानन्तरं गावो गोष्ठे प्रवेश्य निरुध्यन्ते, न च तत्र तदानीं क्षीराद्याहरणार्थं विहङ्गिकावाहकानां प्रवेशनिर्गमौ भवतः, तद्वत् । तथा सति बुभुक्षादिपीडितः शत्रुः सुजयः स्यात् ।

६४.

जगति सर्वो लोकः स्वार्थसिद्धये यतते, इन्द्रस्य स्वर्गरक्षणम् सूर्यस्य तपनं च स्वार्थयुक्तमेव, तथैव युधिष्ठिरस्य राजसूययागोऽपि स्वार्थमुद्दिश्यैव, नास्मदर्थः परार्थो वा । तथा च यदि सर्वो लोकः स्वार्थसाधनव्यग्रः तर्हि वयमपि कुतो न स्वशत्रून् निहत्य स्वार्थं साधयेम । इन्द्रादिसमानयोगक्षेमा नः पार्थ इति भावः ।

६५.

अस्माकं सैनिकाः शत्रूणां शिरांसि छिन्दन्तु, शत्रुरुधिराक्ताः सैनिकानामसयः सूर्यकिरणसम्पर्केण विद्योतमाना विद्युत इव भान्तु ।

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ॥ ६२ ॥

इन्द्रप्रस्थागमस्तावत्कारि मा सन्तु चेदयः ।
आस्माकदन्तिसान्निध्याद् वामनीभूतभूरुहः ॥ ६३ ॥

निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम् ।
उपरुन्धन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विषः ॥ ६४ ॥

यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः ।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते ॥ ६५ ॥

६६.

पूर्वोक्तमुक्त्वा बलदेवस्तूष्णीं बभूव सभाभित्तिभ्यस्तद्वाचां प्रतिध्वनिरुद्बभूव। तत्र कविरुत्प्रेक्षते, नैष प्रतिध्वनिः किन्तु सभाभित्तिषु चित्रिताभिर्देवताभिर्बलभद्रभयात् तदुक्तार्थसमर्थनाय तद्वाचामनुवादः कृत इति।

६७.

बलभद्रोक्तं श्रुत्वा हरिरुद्धवं स्वमतं वक्तुं नेत्रसंज्ञया प्रैरयत्।

६८.

भावार्थः सुगमः।

६९.

उद्धव आह—यथा लेखद्वाराभिप्रायवागतौ सत्यं वाचिकश्रवणं निष्प्रयोजनं भवति। तथैव बलभद्रेण कर्तव्यार्थे निर्धारिते न मद्वचनस्य प्रयोजनं किमप्यवशिष्यते।

७०.

यद्यपि बलभद्रेणोक्ते मद्वचनमनवसरग्रस्तम्, तथापि यत् त्वं वयसा विद्यया वा ज्येष्ठोयमिति बुद्ध्वा बलभद्रस्येव ममापि वचनं सादरं श्रोतुमुत्कण्ठसे, तदेव मां वक्तुं प्रेरयति, अतो वक्ष्यामि। नहिं पण्डितैः सादरं पृष्टस्य विशेषज्ञस्याज्ञवत् तूष्णींभावो युक्तः।

७१.

ननु रामेणैव सप्रपञ्चमभिहिते मदुक्तिरनवकाशेत्याशङ्क्याह—यद्यपि स्वराः षड्जादिभेदेन सप्तैव, परं तदुपनिबद्धं गानं तेषां स्वराणां पौर्वापर्यविपर्ययेण ताल-

---

प्राप्यतां विद्युतां सम्पत्सम्पर्कोदर्करोचिषाम्।
शस्त्रैर्द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः ॥ ६६ ॥

इति संरम्भिणो वाणीर्बलस्यालेख्यदेवताः।
सभाभित्तिप्रतिध्वानैर्भयादन्ववदन्निव ॥ ६७ ॥

निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमदिशद् दृशा ॥ ६८ ॥

भारतीमाहितभरामथानुद्धतमुद्धवः।
तथ्यामुतथ्यानुजवज्जगादाग्रे गदाग्रजम् ॥ ६९ ॥

सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना।
निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् ॥ ७० ॥

तथापि ते यन्मय्यपि गुरुरित्यस्ति गौरवम्।
तत्प्रयोजककर्तृत्वमुपैति मम जल्पतः ॥ ७१ ॥

लयादिभेदेन च यथानन्तभेदं भवति, तथैव परिमितैरकारादिभिर्वर्णैर्निर्मितं वाङ्मयमप्यनन्तम् , अनेके तत्रावान्तरविशेषाः, न हि ते सर्वे एकेनैव विज्ञातुं शक्याः, कांश्चिदेकः कांश्चिदपरो जानाति । अतो बलभद्रेण साधूक्तोपि विशेषान्तराभिधित्सया न मदुक्तिरनवकाशा। तस्य दुरुक्तत्वाद् मयैव वक्तव्यमिति गूढाभिसंधिः ।

७२.

भावार्थः सुगमः, रामेण संगतमेवोक्तमिति स्तुतिः, असङ्गतमेवोक्तमिति निन्दा च गम्यते ।

७३.

यथा कुशलस्तन्तुवायो बहुभिस्तन्तुभिः सुकोमलामपि सान्द्रां (सश्लिष्टसूत्राम्) चित्ररूपां मनोहरां शाटीं वयते, तथैव वाग्मिजनः सुकुमाराक्षरामप्यपरिहृतार्थगौरवां श्लेषादिगुणयुक्ताम् उपमानुप्रासादिभिरलंकृतां वाणीं ब्रूते, सा हि श्रोतॄणां मनोहारिणी भवति । रामवागप्येवंविधेतिस्तुतिः, नैवमिति निन्दा च गम्यते (अत्र कविना मदीयं काव्यमपीदृगेवेति सूचितम्)

७४.

उद्धवो गर्वं परिहरन्नाह—हे कृष्ण ! त्वं स्वयं नीतिशास्त्रस्य सर्वान् अवान्तरविशेषान् सम्यग् विजानासि । अत एव यथा ज्ञानदार्ढ्याय अभ्यासस्थिरीकरणाय वाधीतस्य शास्त्रस्य पुनः पुनरावृत्तिः क्रियते, तथैव त्वदग्रे मम नीतिशास्त्रोपन्यासप्रयासोऽपि ज्ञानस्थैर्याय आवृत्तिमात्रम् । न तु तस्य किमपि विशिष्टं प्रयोजनमस्ति ।

७५.

सम्प्रति उद्धवः स्वमतमाह—प्रभुशक्तिकामेन राज्ञा न केवलमुत्साहशक्तय एव यतीयनम्, अपि तु मन्त्रशक्तयेऽपि, यतः मन्त्रोत्साहौ मिलित्वैव प्रभुशक्तिमुत्पादयतः, न पुनर्व्यस्तौ, तथा च बलभद्रस्य केवलोत्साहवादो न समीचीनः ।

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो ! गेयस्येव विचित्रता ॥ ७२ ॥

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥ ७३ ॥

म्रदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम् ।
प्रसारयन्ति कुशलाश्चित्रां वाचं पटीमिव ॥ ७४ ॥

विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः ।
हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा ॥ ७५ ॥

७६.

यथा अध्वगमनादिपरिश्रमश्रान्तः पुरुषः सोपबर्हां द्रढीयसीं शय्यामधिशय्य विश्रान्तः श्रान्तिं नानुभवति, तथैव ये पुरुषाः सर्वव्यवहारेषु युक्तियुक्तां स्थिरां प्रज्ञामाश्रयन्ते—अवान्तरविशेषपर्यालोचनया बुद्धिपूर्वकमेव कार्यं विदधते, न केवलम् उत्साह एव निषीदन्ति, तेषामनेकविधकार्यसंपातेऽपि न जातु मनाङ् मानसिकः श्रमः व्याकुलता वा जायते। सुखेन ते कार्यं निर्वाहयन्ति। अतः उत्साहवद् धीरताप्याश्रयणीयैव।

७७.

यथा तीक्ष्णो बाणः लक्ष्यस्य अल्पमेव प्रदेशं स्पृशति, किन्तु भित्त्वा तदन्तः प्रविशति, तथैव तीव्रबुद्धयः परिश्रमं स्वल्पमेव कुर्वते, परं बहुकार्यं साधयन्ति। मन्दबुद्धयस्तु अल्पस्य कार्यस्य कृते बहु प्रयस्यन्ति, यथा प्रस्तरो यत्र प्रदेशे पात्यते स तत्र पतितो यद्यपि भूयांसं प्रदेशं व्याप्नोति परं तत्प्रदेशस्य पृष्ठ एव तिष्ठति, नान्तः प्रवेष्टुं शक्नोति, तद्वत्। मूषकग्रहणाय शिखरिखननं परिहासास्पदं भवतीति भावः।

७८.

पूर्वं तु मूढ़ा लघ्वेव कार्यमारभन्ते, परं तत्रापि ते अधीरा भवन्ति न च तदारब्धं कार्यं यथायथं समाप्तिं नयन्ति। बुद्धिमन्तस्तु महत्यप्युद्योगे संलग्ना न मात्रपाप्यधैर्यं दधते, आरब्धं च कार्यं समाप्तिं नीत्वैव विरमन्ति।

७९.

यथा मृगाणां यातायातमार्गे आत्मानं गोपयित्वा स्थितोऽपि व्याधो यदि चतुष्कर्णो (सावधानो) न भवेत् तन्द्राक्रान्तः स्यात्। तर्हि न मृगान् हन्तुं समर्थो भवति, तथैव साधनवानपि पुरुषो यदि प्रमादी भवति, तर्हि न जातु कार्यसिद्धिं लभते।

प्रज्ञोत्साहवतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः॥ ७६॥
सोपधानां धियं धीराः स्थेयसीं खट्वयन्ति ये।
तत्रानिशं निषण्णास्ते जानते जातु न श्रमम्॥ ७७॥
स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णाः स्तोकमन्तर्विशन्ति च।
बहुस्पृशाऽपि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत्॥ ७८॥
आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः॥ ७९॥

८०.

यथा द्वादशादित्यानां मध्ये दिनकरणे व्यापृतो य आदित्यः स एव उदेति नान्ये, तथैव अरिमित्रादिद्वादशराजमण्डले स एवाभ्युदयं प्राप्नोति यो विजिगीषया निरन्तरमुद्योगं करोति, नान्ये। तथा चोद्योग एवाभ्युदयस्य मूलम्।

८१.

न खलु नरपतिः साधारणः पुरुषः तस्य हि बुद्धिरेव प्रधानं शस्त्रम् तस्या एवामोघपातित्वत्। अमात्यादिसप्तराज्याङ्गान्येव तस्यावयवाः, तद्वैकल्ये राज्ञोपि वैकल्यं स्यात्, मन्त्रगोपनमेव तस्य कवचम्। कवचभेदे तु शरीरमेव नश्यति, मन्त्रभेदे तु राज्यनाशप्रसङ्गः! चारद्वारैव स्वपरराष्ट्रवृत्तान्तवेदनाच्चारा एव तस्ये क्षणानि, तदभावे राज्ञः स्वपरमण्डलवृत्तान्ताज्ञानाद् अन्धलग्नस्यान्धस्येव पदे पदे विनिपातः। दूतद्वारैव तस्य यावान् वाग्व्यवहारो जायते इति दूत एव तस्य वाग्, तदभावे मूकस्येव वाग्व्यवहारासिद्धौ सर्वकार्यप्रतिबन्धः स्यात्। तथा च राज्ञा बुद्ध्यादिसम्पन्नेन भवितव्यम्।

८२.

यथा रसिकः कवी रसानुगुण्येन ओजस्विनीं सुकुमारां वा उभयीमपि रचनामाश्रयति, शृङ्गारादिषु सुकुमाराम्, रौद्रादिषु ओजस्विनीम् न तस्य रचनाविशेष आग्रहः तथैव समयज्ञस्य राज्ञोऽपि तेजसि क्षमायां वा नाग्रहः, किन्तु यथाकालं पश्यति तथा करोति, अभिषेणनोचिते काले अभिषेणति, क्षमाकाले च क्षमते॥

८३.

यथा रोगः अपथ्यसेवनेन तत्कालं न कंचन विकारं बहिः प्रकटयति, परं कालक्रमेणान्तरवस्थितेन तेन विकारेण साध्यतां प्राप्नोति, रोगिणः शक्तिक्षयावसरे च प्रकुप्यति, अन्ततस्तं निहन्ति च। तथैव चतुरो नृपतिरपि परकृतापकारं कालप्रतीक्षया सहते, नात्मनो मनोविकारं बहिः प्रकटयति, वैरनिर्यातनार्थमलक्षितमेव

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान्॥ ८०॥
उदेतुमत्यजन्नीहां राजसु द्वादशस्वपि।
जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते॥ ८१॥
बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः॥ ८२॥
तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः॥ ८३॥

शक्तिसंचयं करोति, एवं च अप्रतिवार्यवीर्यः सन् शत्रुपक्षे क्षयोन्मुखे सति तं विनाशयति। तदुक्तम्—'वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः, तमेव चागते काले भिन्द्याद् घटीमवाश्मना' इति। तथा च शिशुपालाभिषेणनाय कालः प्रतीक्ष्यः।

८४.

यथा दीपः कोमलया तूलवर्तिकयैव तैलमाकृष्य ज्वलति, तदभावे तु दूरं तैलाकर्षणम्, स्वयमेव शाम्यति, तथैव क्षान्तिपूर्वकमेव क्षात्रतेजः फलति, नान्यथा अतः पूर्वं क्षन्तव्यमेव।

८५.

यथा काव्यं निर्मिमाणः श्रेष्ठः कविः शब्दार्थयोरन्यतरं नोपेक्षते, किन्तु काव्यशरीरत्वादुभयमप्याश्रयति, तथैव विद्वान् पुरुषोऽपि, न केवलं दैवमेवावलम्बते, पुरुषकारं विना दैवस्याकिञ्चित्करत्वात्, न हि पाणिमस्पन्दयतः संमुखस्थमपि भोजनं स्वयं मुखे प्रविशति। एवं न स केवले पुरुषकारे विश्वसिति, दैवप्रातिकूल्ये पुरुषकारस्यापि वैफल्यदर्शनात्, तथा चोभयमपि मिलित्वा कार्यसाधकं भवतीत्युभयमप्याश्रयति।

८६.

यथा विभावानुभावसंचारिभावाः संभूय आस्वादयोग्यतापादनद्वारा रत्यादेः स्थायिन एव उपकुर्वते, तत्कृत एव तेषां व्यापारः तथैव राजानोऽपि क्षान्त्यवसरं प्रतीक्षमाणस्य, तथा चेदानीं शिशुपालः क्षन्तव्य एव। अथवा यथा काव्ये प्रसङ्गाद् वर्णिता अन्ये रसा अङ्गिरसोपकारायैव, तथैव राजानोऽपि स्थायिनं नायकमेवोपकुर्वन्ति।

८७.

यथा विषवैद्यः शस्त्रौषधप्रयोगकौशलेन देवतास्मरणादिना च महतः सर्पा-

---

कृतापचारोऽपि परैरनाविष्कृतविक्रियः।
असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा॥ ८४॥

मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान्प्रकल्पते।
प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशयाऽभ्यन्तरस्थया॥ ८५॥

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥ ८६॥

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभुजः॥ ८७॥

नपि वशमानयति, तथैव यो नृपतिः स्वपराष्ट्रवृत्तं सम्यगवबुध्यते, स्वपरराष्ट्रयोः यथायथं सामाद्युपायप्रयोगेण स्वातङ्कमास्थापयति, स स्वशत्रूननायासेनैव निग्रहीतुं शक्नोति।

८८.

उत्साहशक्तेः मन्त्रशक्तिरेव प्रधानं मूलम्, मन्त्रपुरस्सर एव उत्साहो विस्तारिणीं समृद्धिशालिनीं च प्रभुशक्तिमुत्पादयति। मन्त्रोपेक्षया तु छिन्नमूलो वृक्षइव शुष्यति, अतो मन्त्रो नोपेक्षणीयः।

८९.

शक्तो हि राजा स्वयमुदासीन एव आकाशवत् स्वमहिम्नैव कार्यदेशं व्याप्नुवन् शब्दानिव परोत्पादितान् सर्वार्थानपि स्वकीयतां नयति।

९०.

अरिमित्रादयो द्वादश राजानः पूर्वमुक्ताः, त एवात्र यातव्यपार्ष्णिग्राहादिशब्देन विवक्षिताः, ते सर्वेऽप्यन्योन्यस्मात् स्वोत्कर्षमिच्छन्ति, इति स्वोत्कर्षसिद्धिस्तेषां तुल्यं प्रयोजनम्, एवं तुल्यार्थाभिलाषिण्यां तस्यां राजमालायामधिकतेजस्वी शक्तिसम्पन्नो जिगीषुरेव मणिमालायां मध्यमणिरिव शोभते।

९१.

पूर्वं श्लोकत्रयेण शक्तिसंपदमभिधायेदानीं षाड्गुण्यप्रयोगप्रकारमाह—राज्ञा स्वपरयोर्मन्त्रोत्साहादिशक्त्यनुसारेणैव संधिविग्रहादीनामुपयोगः कर्त्तव्यः। इत्थं कृते तस्यामात्यादिसप्तप्रकृतयः स्थिरा दृढाश्च भवन्ति। शक्तिमुपेक्ष्य सन्ध्यादीनुपयुञ्जानस्तु आपदाक्रान्तः क्षयमेति। यथा रोगी जराजीर्णो वा जनः यदि स्वबलानुसारेण मात्रया रसायनमुपयुङ्क्ते, तर्हि स्वस्थो भवति, तस्य गात्राणि कार्यक्षमतामासाद्य कालान्तरेऽप्युपयोगमावहन्ति। बलादधिकां मात्रां गृह्णानस्य तु तदेव रसायनं विनाशहेतुर्भवति।

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ ८८ ॥

करप्रचेयामुत्तुङ्गः प्रभुशक्तिं प्रथीयसीम्।
प्रज्ञाबलबृहन्मूलः फलत्युत्साहपादपः ॥ ८९ ॥

अनल्पत्वात्प्रधानत्वाद्वंशस्येवेतरे स्वराः।
विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम् ॥ ९० ॥

अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः।
व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः ॥ ९१ ॥

९२.

यथा यः पुरुषः अशक्यकर्मणो निवर्तते, शक्ये च गमनादावपि यथाशक्ति प्रवर्तते, तस्य शरीरमुपचीयते, परिपुष्टं भवति, यश्च तद्विपरीतमाचरति, तस्य बलक्षयाद् विनाशो निश्चितः, तथैव यो नृपतिः क्षमाकाले क्षमाम्, व्यायाम-काले च स्वशक्त्यनतिक्रमेण व्यायाममनुतिष्ठति, तस्य राज्यमुपचितं भवति। अतथाकुर्वाणस्य तु राजक्षयो दुर्निवारः। तथा चास्माकमकस्माच्चैद्यावस्कन्द-नमश्रेयस्करम्।

९३.

यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्कं भवति इति वैयाकरणाः। तथा च यथैकस्मिन् पदे उदात्तस्वर इतरान् सर्वानपि स्वराननुदात्तान् करोति, तथैवातिशक्तिशाली चैद्यः स्वशत्रून् एकपदविन्यास एव (तत्क्षणे वा) निहन्तुं समर्थः; अत इदानीं ना-भियातव्यः।

९४.

जरासन्धमित्रस्य नाशेन शिशुपाल इदानीमेकाकी वर्तते इति सुखेन जेष्यते इति मा स्म मनसि कृथाः। संन्त्यन्येऽपि राजानस्तत्सहायाः, ये चोदासीनास्तेपी-दानीं तस्मिन्नभियास्यमाने तत्साहाय्यं प्रतिपत्स्यन्ते। तथा च यथा रोगराजः क्षयः एकाकी न तिष्ठति अपि तु अन्येपि रोगास्तेन सह वर्तन्ते वर्तितुं संभाव्यन्ते चेति हेतोः स रोगसमष्टिरुच्यते, तथैवायं शिशुपालोपीदानीं राजसमष्टिरूप इति नास्यापचारः कर्तव्यः।

९५.

शिशुपालस्य राजसमष्टितामेव समर्थयते यथा सशल्यः वेगगतये योजितकङ्क-पत्रस्तीक्ष्णः शर आरूढप्रत्यञ्चेन धनुषा संयुज्यते, तथैव बाणासुरोऽपि शिशुपालेन

यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायामधिकद्युतिः।
एकार्थतन्तुप्रोतायां नायको नायकायते॥ ९२॥

षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत शक्त्यपेक्षो रसायनम्।
भवन्त्यस्यैवमङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च॥ ९३॥

स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम्।
अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः॥ ९४॥

तदीशितारं चेदीनां भवांस्तमवमंस्त मा।
निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव॥ ९५॥

संधास्यति, अयमभिसंधिः—शिशुपालेन बाणासुरस्य बहूपकृतमिति कृतज्ञतया बाणासुरः शिशुपालेऽभिषेण्यमानेऽवश्यं तत्साहाय्यं स्वीकरिष्यति। न च बाणासुर एकाकी निर्बलो वेति तत्साहाय्येऽपि न काचन क्षतिरिति मनसि करणीयम् ; स हि ससुहृद्वर्गः शिशुपालसाहाय्यायोपतिष्ठेत, स्वयमपि च स न निर्बलः, अपि तु शत्रुभेदनक्षमः, अतोनायं चैद्यप्रत्यवस्कन्दनावसरः।

९६.

श्लेषानुप्राणितोपमा। विशेषणानां साभिप्रायत्वात् परिकरोऽपि।

९७.

किं च न केवलं बाणासुरः शिशुपालं संधास्यति, अपि तु यथा ध्वान्तं रजनीमुखमनुयाति, तथैव दुष्टस्वभावाः कालयवनादयोपि तुल्यधर्मतया दुष्टस्वभावमेनं शिशुपालमेवानुयास्यन्ति।

९८.

बाणादयः अस्माभिः कृतसंधयो नेदानीं विराध्यन्ति इत्यपि न मन्तव्यम्। अन्तर्वैराः संहिता अपि काले विश्लिष्यन्ति। यद्यपि ते कारणान्तरेण भवता कृतसंजयः सन्ति। तेषां हृदये त्वद्विषये वैराग्निरप्रकटरूपेण विद्यत एव यदीदानीं शिशुपालोऽभिषेण्येत, तर्हि स स्वल्पेनाप्युत्तेजनेन अन्तर्वैरांस्तान् त्वत्तो भेत्स्यति, यथा च वायुः अग्निसहितानि काष्ठानि प्रज्वालयति, तथैव तत्कृतो भेदस्तान् पूर्ववैरनिर्यातनार्थं त्वद्विरुद्धान् विधास्यति।

९९.

लुद्रोप्येवम्, तादृङ् महावीरश्चैद्यस्तु किमु वक्तव्य इत्यपिशब्देन सूच्यते, इतरत् स्पष्टम्।

मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति।
राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम्॥ ९६॥
सम्पादितफलस्तेन सपक्षः परभेदनः।
कार्मुकेणेव गुणिना बाणः सन्धानमेष्यति॥ ९७॥
ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः।
तमःस्वभावास्तेऽप्येनं प्रदोषमनुयायिनः॥ ९८॥
उपजापः कृतस्तेन तानाकोपवतस्त्वयि।
आशु दीपयिताऽल्पोऽपि साग्नीनेधानिवानलः॥ ९९॥

१००.

किंचेदानीं चैद्याभिषेणने क्रियमाणे राजसु केचित् तत्पक्षं केचिच्च स्वपक्ष-मवलम्ब्य युद्धे व्याप्रियेरन् इत्थं सकलस्यापि राजमण्डलस्य युद्धव्याप्ततया युधिष्ठिर-यज्ञे न कोप्युपस्थातुं शक्नुयात् । तथा चैवमनिच्छतापि त्वया मित्रविरोधः कृतः स्यात् ।

१०१.

तदेवं सर्वस्मिन् राजवर्गे रणभूमिमवतीर्णे युधिष्ठिरस्य यज्ञसमारोहो विघ्नितः स्यात्, न तत्र कोप्युपतिष्ठेत्, एतस्य च मूलकारणं चैद्याभिषेणनप्रसङ्गेन सकल-राजमण्डलं युद्धे व्यापारयन् त्वमेव भवेः, किं च मखविघ्नोत्पादनेन त्वमेवाजात-शत्रोः प्रथमः शत्रुर्मंस्यसे—इति सर्वथा युद्धाद् विरमणीयम् ।

१०२.

यथा कश्चिदेकाकी स्वस्कन्धे भारं वोढुमसमर्थः दृढस्कन्धं सहायान्तरमपेक्षते, तद्वद् युधिष्ठिरोऽपि त्वामेव दृढं स्वसहायं मत्वा यज्ञमारिप्सते, न च त्वया स कार्यान्तरव्यग्रताव्याजेन उपेक्षणीयः, यतः स पैतृष्वसेयत्वाद् तव बन्धुः, तदुपेक्षणे बन्धुद्रोहो विश्वासघातश्च स्यात् । बन्धुरपि दुर्वृत्तः शक्यत उपेक्षितुम्, न स तादृशः, किं तु धर्मराजः, तथा च त्वया युद्धाद् विरम्य यज्ञ एव सन्निधातव्यम् ।

१०३.

ननु प्रतिज्ञायाकरणे दोषः, प्रागेव निषेधे तु को दोष इत्यत आह—उदारहृदयैः प्रार्थ्यमानाः शत्रवोऽपि दत्तहस्तावलम्बा भवन्ति, युधिष्ठिरस्तु तव बन्धुः तत्प्रार्थना सुतरां नोपेक्षितव्या, इतरत् स्पष्टम् ।

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥ १०० ॥

तस्य मित्राण्यमित्रास्ते ये च ये चोभये नृपाः ।
अभियुक्तं त्वयैनं ते गन्तारस्त्वामतः परे ॥ १०१ ॥

मखविघ्नाय सकलमित्थमुत्थाप्य राजकम् ।
हन्त ! जातमजातारेः प्रथमेन त्वयाऽरिणा ॥ १०२ ॥

सम्भाव्य त्वामतिभरक्षमस्कन्धं स बान्धवः ।
सहायमध्वरधुरां धर्मराजो विवक्षते ॥ १०३ ॥

१०४.

नचेदानीमुपेक्षितोपि पार्थः पश्चादनुनेष्यत इति मनसि करणीयम्—यतः सकृदप्रियाचरणेन वैमनस्यं प्रापिताः सुहृदः पुनः शतशस्तदनुरोधपालनेनापि अनुकूलयितुं न शक्यन्ते । अतस्तद्विरोधः सर्वथा परिहरणीयः । किं च चैद्यविजयाय का ते त्वरा, बलवान् अद्य श्वो वा शीघ्रं चिराद् वा यदा कदापि शत्रुमभिषेणयेत्, तस्य निश्चितो विजयः, तथा च यदि मित्रद्रोहमनुत्पाद्यापि विजयस्ते निश्चितस्तर्हि, किमर्थं मुधा मित्रमुपेक्षसे ।

१०५.

ननु सुहृत्कार्यापेक्षया सुरकार्यं बलीय इतीन्द्रसंदेशमनुरुध्य शिशुपालहननेन देवसंतोष एव पूर्वं संपादनीयः इति चेत्, सत्यम्, यदि चैद्यविनाशनेन देव-प्रसादनमेव ते समुद्दिष्टं तर्हि तदपेक्षया यज्ञेनैव देवानां प्रीतिः विशेषतः साधयितुं शक्यते, हविःप्रिया वै देवा यज्ञ एव हवींषि लभन्ते नान्यत्र । (शत्रुवधस्तु यज्ञानन्तरमपि सुकरः, तथा सति देवानामुभयथा प्रीतिः, हविर्लाभेन शत्रुवर्धनं च) तथा च मित्राविरोधेनापि देवप्रीतौ सम्पद्यमानायां मित्रविरोधो न कर्तव्यः । यज्ञे सन्निधातव्यमेव ।

१०६.

ननु अमृताशिनो देवाः तेषां किमेभिः पिष्टपुरोडाशभक्षणप्रलोभनैरित्यत आह—अग्नौ विधिपूर्वकम् हुतं पुरोडाशादिद्रव्यमेवामृतमुच्यते, नान्यदस्त्यमृतान्तरम् देवासुरैः संभूय मन्दरं मन्थदण्डं प्रकल्प्य समुद्रो मथितः ततश्चामृतं प्रादुर्भूतमिति तु लोकविनोदाय कविकल्पनाप्रसूतमालङ्कारिकवर्णनमात्रम् ।

१०७.

न केवलं मित्रद्रोह एव त्वां संग्रामात् प्रतिरुणद्धि अपि तु त्वत्प्रतिज्ञापि, तथा हि त्वया शिशुपालजननीं प्रति प्रतिज्ञातं—यदहं शिशुपालस्य शतमपराधान् क्षमिष्ये,

---

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि ।
सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः ॥ १०४ ॥
चिरादपि बलात्कारो बलिनः सिद्धयेऽरिषु ।
छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः सुहृदो विमनीकृताः ॥ १०५ ॥
मन्यसेऽरिवधः श्रेयान्प्रीतये नाकिनामिति ।
पुरोडाशभुजामिष्टमिष्टं कर्तुमलन्तराम् ॥ १०६ ॥
अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।
शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना ॥ १०७ ॥

न चाद्यापि तदपराधाः शतसंख्यामिताः, ततः पूर्वमेव तद्वधे प्रतिज्ञाभङ्गो महान् दोषः प्राप्नोति, अतः प्रतिज्ञानुरोधेनापि त्वया चैद्योऽधुना नाभिषेणनीयः ॥

१०८.

सत्पुरुषाणां बुद्धिर्यद्यपि निशिता तथापि सा न शस्त्रादिवत् परमर्माणि भिनत्ति, अहिंसयैव कार्यं साधयति, तथैव तेषां कर्माणि परांस्तत्प्रभावाक्रान्तान् विदधते, परं पीडोत्पादकानि न भवन्ति। एवमेव तेषां मनोऽभिमानज्वलितं भवति, न मात्रयाप्यपमानं सहते, तथापि अनुचितात् परसंतापनाद् विरमति। इत्थमेव सत्यसन्धोऽपि सत्यमेव वदति—न जातु तदुक्तं विपर्येति। तथा च सत्यसंधस्य—तव प्रतिश्रुतार्थहानिरनर्हा।

१०९.

अपराधशतक्षमारूपवरदानेन त्वया शिशुपालः स्वयमनुगृहीतः, तथा च अपराधशतात् पूर्वं न त्वयापि स हन्तुं शक्यते, वृथेदानीं तदभिषेणनम्, अपराध-संख्यापूर्तये कालः प्रतीक्षणीयः। यथा सूर्यः स्वयमेव दिनं प्रकाश्य न मध्य एव तदन्तं विधातुं प्रभवति, अपित्वस्तमनकाल एव, तद्वत्।

११०, १११.

तर्हि शिशुपालः सर्वथेदानीमुपेक्ष्य एव, नेत्याह, न मे सर्वथा शिशुपालोपेक्षणे सम्मतिः इदं तु वच्मि, यथा कस्मिंश्चिदज्ञातगाम्भीर्ये महति जलाशये कुशल-पुरुषद्वारा जलावतरणसाधनसोपानेषु पादन्यासेन तद्गाम्भीर्यं विज्ञाय तत्र प्रविश्यते तथा सति न तत्र निमज्जनादिभयं भवति, तथैवाभिषेणनात् प्राक्—भवतो निपुणा गुप्तचराः शत्रो राष्ट्रे गत्वा तन्मन्त्रिपुरोहितादिष्वन्तः प्रविश्य—'कियत्यस्य शक्तिः' कानि चास्य च्छिद्राणि' इत्यादि निपुणं गवेषयन्तु, तथा सति शत्रुः सुपरिभवः स्यात्।

सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया।
प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे प्रतिश्रुतम् ॥ १०८ ॥

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत्।
नोपतापि मनः सोष्म वागेका वाग्मिनः सतः ॥ १०९ ॥

स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्याह्नो भानुमानिव।
समयावधिमप्राप्य नान्तायालं भवानपि ॥ ११० ॥

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम्।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ १११ ॥

११२.

यथा व्याकरणशास्त्रं सूत्रानुसारिन्यासवृत्तिमहाभाष्यग्रन्थैरुपबृंहितमपि पस्पशाह्निकं विना त्रुटितमिव न शोभते, तदध्ययनमन्तरेण व्याकरणाध्ययनमसकलं मन्यते, तथैव चारप्रचारं विना राजनीतिरप्यसमग्रेव, कामं तत्र सकलव्यवहारा नीतिशास्त्राविरोधेनैव सम्पाद्येरन्, मन्त्र्याद्यधिकारिणः पुष्कलवृत्तयः क्रियेरन्, समये समये ते हिरण्यादिपारितोषिकादिनापि संभाव्येरन्, परं नैतावता चारोपेक्षणं शक्यं विधातुम्, चारं विना राज्ञोऽन्धप्रायत्वात् न तस्य परराष्ट्रनीतिः सफला भवितुमर्हति। अतः प्रणिधिप्रचारो नितरामावश्यकः।

११३.

न केवलं चारमुखेन परमुखेन परवृत्तान्तज्ञानम्, अपितु शत्रुपक्षे चारद्वारा उपजापश्च कर्तव्यः। तथा हि एतादृशा निपुणाः प्रणिधयः शत्रुराष्ट्रे प्रहेतव्या ये तत्र गत्वा अमात्यादिषु प्रधानपुरुषेषु विस्रम्भोत्पादनद्वाराऽनुप्रविश्य तत्कृपया तत्रैव वैतनिकं किमपि राजकीयपदमधिष्ठाय तथा निपुणं प्रचरन्तु यथा तद्रहस्यं नोद्घाट्येत स्वयं च ते शत्रुमर्म जानीयुः। किं च प्रधानामात्यादीनां कूटलेखान् (तैर्लिखितान् स्वयं कल्पितान् वा) संगृह्य सत्यवसरे राज्ञः सविधे प्रकाश्य, 'इमे भवत्प्रधानपुरुषा उत्कोचादिना द्विषां दत्तहस्ताः भवद्राज्यमुन्मूलयितुं यतन्ते' इत्येवं ते महान्तं दोषमारोप्य राज्ञो भेदनीयाः।

११४.

किं च ये तत्र सुहृदः चैद्यस्य असुहृदश्च राजानः सन्ति, ते उभयेऽपि त्वत्तुल्यमेव चैद्यपराभवं कामयन्ते, अतस्ते निपुणैः स्वप्रणिधिभिस्तथा संदेष्टव्या यथा ते अध्वरयात्राव्याजेन युद्धार्थं सुसज्जिता भूत्वा इन्द्रप्रस्थ उपतिष्ठेरन्, तेषु तत्रागतेष्वनायासेनैव ते महत् कार्यं सेत्स्यति।

११५.

ननु तत्राध्वरे कीदृशो युद्धप्रसङ्गः यदर्थं सज्जितो राजवर्ग आहूयेत—इत्यत-

---

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ ११२॥

अज्ञातदोषैर्दोषज्ञैरुद्दूष्योभयवेतनैः।
भेद्याः शत्रोरभिव्यक्तशासनैः सामवायिकाः॥ ११३॥

उपेयिवांसि कर्तारः पुरीमाजातशात्रवीम्।
राजन्यकान्युपायज्ञैरेकार्थानि चरैस्तव॥ ११४॥

सविशेषं सुते पाण्डोर्मक्षि भवति तन्वति।
वैरायितारस्तरलाः स्वयं मत्सरिणः परे॥ ११५॥

स्तत्र महत्कलहबीजमुपन्यस्यति—युधिष्ठिरो यज्ञे सम्मिलितस्य तव महान्तं सत्कारं करिष्यति, तथाविधं च ते समुत्कर्षं चैद्यः तन्मित्राणि अन्ये च स्वच्छन्दवो न सहिष्यन्ते, असहमानाश्च ते तत्रावश्यं कलहमुत्पादयेयुः न च विचारयेयुर्यन्नायं कलहावसर इति यतस्ते तरलाः, विवेकस्तान् दूरतोऽपि न स्पृशेत्—इत्यस्ति यज्ञे महती युद्धसंभावना ।

११६.

किं च शत्रुपक्ष्याः सर्वेऽपि त्वां द्वेक्ष्यन्ति, इत्यपि न रमणीयम् , यतस्तेषु सन्ति भूयांसो यादवाः ये यद्यपि बाल्यात्प्रभृति शिशुपालेन सह मित्रत्वमुपगम्येदानीं तत्समानवैभवमुपभुञ्जते, परन्तु त्वया सह कलहावसरे न ते शिशुपालमवलम्बिष्यन्ते यतस्ते स्वान् यदुवंशधरान् विज्ञाय त्वया सह विरोधेन स्ववंशविद्वेषं न कामयेरन् अथवा परायत्ता अपि ते आत्माभिमानिनो न स्वजातिविरोधे प्रवर्तेरन् ते तदानीं तस्मात् पृथग्भूत्वा त्वामनुप्रविशेयुः । यथा पिकपोताः काकशावकैः सह एकस्मिन्नेव नीडे काकैरेव संवर्ध्यमानाः सति सामर्थ्ये काककुलं परित्यज्य स्वकुलमनुप्रविशन्ति तद्वत् , पिक्यो निभृतं काकनीड एव स्वाण्डानि प्रसुवते, तानि च काक्यः स्वीयबुद्ध्या रक्षन्तीति लोकवृत्तमत्रानुसन्धेयम् ।

११७.

पतङ्गः खलु स्वभावतश्चञ्चलो नैकत्रावतिष्ठते, अनवरतव्यापृतौ तस्य पक्षावप्यतिदुर्बलौ न किञ्चिदप्यरुह्यं शक्नुतः स यथा निजनैसर्गिकचापलेन प्रोदुर्धर्षां वन्हिशिखामाक्रम्य तत्र सहसात्मानं जुहोति, तथैव तव शत्रवोऽपि निसर्गदुर्विनीततया उद्धताः सन्ति । परं तेषां पक्षो दुर्बलः । अतस्त्वया सह वैरायिष्यमाणाः तव दुःसहतेजसि भस्मसाद् भविष्यन्तीत्यस्माभिराशास्यते ।

११८.

हरिरुद्धवस्य व्याख्यानं श्रुत्वा नितरां प्रासीदत् , यतस्तत्रोद्धवः प्रतिविषयं नीतिशास्त्रानुसारिणीं सम्यग् विवेचनामकरोत् नीतिविरुद्धं बलभद्रोक्तमपि युक्त्या प्रतिचिक्षेप । अन्ते च हरिः सभां विसृज्योदस्थात् न चैतस्मिन्स्थाने बिहिता

य इहात्मविदो विपक्षमध्ये सहसंवृद्धियुजोऽपि भूभुजः स्युः ।
बलिपुष्टकुलादिवान्यपुष्टैः पृथगस्मादचिरेण भाविता तैः ॥ ११६ ॥

सहजचापलदोषसमुद्धतश्चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः ।
तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभतां लभतामसुहृद्गणः ॥ ११७ ॥

इति विशकलितार्थामौद्धवीं वाचमेना-
मनुगतनयमार्गामर्गलां दुर्नयस्य ।

मन्त्रणा कस्याप्यन्यस्य श्रुतिपथमवतीर्णा, यद्यपि हरिवक्षःस्थलवासिनी श्रीरियां श्रुतिगोचरमकरोत् तस्याश्च स्त्रीस्वभावात् कदाचिदस्याः प्रकाशनं संभाव्यते तथापि नात्र तथा संभावनावसरः यतः सा नित्यं हरिवक्षःस्थलवासिनी न क्षणमपि हरेः पृथग्भवति इति दुर्लभस्तत्प्रकाशनावसरः।

इति शिशुपालवध-महाकाव्ये द्वितीयः सर्गः।

जनितमुदमुदस्थादुच्चकैरुच्छ्रितोरः-
स्थलनियतनिषण्णश्रीश्रतां शुश्रुवान् सः ॥ ११८ ॥

कवि-काव्यशब्दौ

गरीयान् खलु संस्कृतवाङ्मये कवेः काव्यस्य च महिमा। शब्दाविमौ कुतः-प्रभृति कस्मिन् कस्मिन्नर्थे प्रवृत्ताविति विषयेऽस्मिन्नाधुनिकीमन्वेषणप्रक्रियामनुसृत्य प्रवर्तामहे चेत्, जगद्वाङ्मये सर्वप्राथम्येन पाश्चात्त्यैरप्युररीकृतायामृग्वेदसंहितायामेव बहुशः शब्दाविमौ शृण्मः। तथैव यजुरादिसंहितास्वपि। तत्र कियन्तिचिन्निदर्शनानि—

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥
[ऋ० म० १ सू० ३१]

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम्।
[ऋ० १। ३१। २]

आयः पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो नार्वा।
[ऋ० १। १४९। ३]

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः
प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। [ऋ० ४। २४। २]

इत्यादिषु प्रचुरेषु मन्त्रेषु अग्निवाय्वादित्यादिदेवविशेषणतया कविशब्दः श्रूयते। 'क्रान्तदर्शनः' 'मेधावी' इत्येवंपरतयैव च तत्रतत्र भाष्यकारैः श्रीमाधवाचार्यादिभिर्व्याख्यायते। अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युगपज्ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शन इति वेदभाष्यकृदुव्वट आह।

'यो अध्वराय परिणीयते कविः' [ऋ० ३। २। ७]

अग्निर्होता कविक्रतुः [ऋ० १। १। ५]

इत्यादिषु क्वचित्क्वचित्तु 'क्रान्तः—व्याप्तः' 'क्रान्तकर्मा' इत्येवंपरतया भाष्यकृता व्याख्यातः।

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि
त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः [ऋ० २। २३। १७]

इति ब्रह्मणस्पतिदेवताके मन्त्रे 'साम्नः कविरुच्चारयिता' इत्येवं व्याख्यातः श्रीसायणाचार्यैः।

धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान्व एना ब्रह्मणा वेदयामसि।
[ऋ० ४। ३६। ७]

इत्यत्र ये मानुषेषु कर्मविशेषाननुष्ठाय देवत्वमाप्तास्त ऋभवः कविशब्देन विशेष्यन्ते। अत्रापि 'मेधाविनः' 'क्रान्तदर्शनाः' इत्येवं व्याचक्षते व्याख्याकृतः।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। [यजुः अ० ४०]

इति याजुषे मन्त्रे तु साक्षादीश्वरविशेषणतयैव कविशब्दो भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातः। अत्रापि 'क्रान्तदर्शनः' 'सर्वद्रष्टा' 'मेधावी' इत्यर्थ एव व्याख्याकृतामभीष्टः। उव्वटादयस्तु उपासक मनुष्यविशेषणतयैवात्र कविशब्दं नयन्ति— इत्यास्तां तावत्। अथ—

'तत्त इन्द्रियं प्रथमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम्।'
[ऋ० १ । १०३ । १]

'धीरासः पदं कवयो नयन्ति नानाहृदा रक्षमाणा अजुर्यम्।'
[ऋ० १ । १४६ । ४]

'अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानुपश्चात् कवयो यन्ति रेभाः।'
[ऋ० १ । १६३ । १२]

वत्से वष्कयेऽधिसप्ततन्तून् वितत्निरे कवय ओतवा उ।
[ऋ० १ । १६४ । ५]

इत्यादिषु तु बहुलेषु मन्त्रेषु मनुष्या एव कविशब्देनाख्यायन्ते। 'स्तोतारः' 'ऋत्विजः' 'विद्वांसः' 'मेधाविनः' इत्येव च तत्र तत्र भाष्यकृतां व्याख्या।

'अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मन्तेन विद्वान्
वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।'
[ऋ० १ । १६४ । ६]

कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः को विवेद।
[ऋ० १ । १८५ । १]

कवीर्यः पुत्रः स इमा चिकेत। [ऋ० १ । १६४ । १६]
कवीयमानः क इह प्रवोचत्। [ऋ० १ । १६४ । १८]

इत्यादिषु तु पण्डितम्मन्याः कविशब्देन कटाक्ष्यन्ते।

अथ सोमस्तुतिपरे मन्त्रे—

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
[ऋ० ९ । ९६ । ६]

इत्यत्र 'कवीनां क्रान्तप्रज्ञानाम् पदवीः स्खलन्ति पदानि साधुत्वेन यो योजयति स पदवीः—राजा' तद्वत्सोम इति माधवव्याख्यामनुसृत्य कविशब्देन विद्वत्सामान्यमभिधाय पदयोजकास्तद्राजत्वेन तेषु मुख्यत्वेनाभिहिता इति प्रतीयते।

निरुक्तपरिशिष्टे तु (१४ अ० १३ ख०) 'एष हि पदं वेत्ति कवीनाम्— कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम् , इत्याधिदैवतम् । अयमपि पदं वेत्ति कवीनाम् कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्' इत्यध्यात्मम्' इत्येवं वैज्ञानिकपरत्वेन व्याख्यातोयं मन्त्रः । तत्र कविशब्दस्य सूर्यरश्मयो वा इन्द्रियाणि वा वाच्योर्थ इति अन्यदपि तत्र तत्रानुसंधेयम् ।

काव्यशब्दोपि द्वेधा श्रूयते मन्त्रेषु पुंल्लिङ्गश्च नपुंसकलिङ्गश्च । तत्र पुंल्लिङ्गः प्रायेण उशनसो वाचको व्याख्याकृतामभीष्टः—

[ऋ० १।८३।५, १।१२१।१२,८।२३।१७]

'काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे ।
रिशादसा सधस्थ आ ।. [यजु० ३३।७२]

इत्यादिषु तु क्वचिन्मित्रावरुणादिदेवतान्तरपरतयापि श्रूयते । काव्ययोः कविहितयोरिति तत्र भाष्यकृतां महीधरादीनां व्याख्या ।

वत्सो वां मधुमद्वचो शंसीत् काव्यः कविः । [ऋ० ८८।११]

इत्यत्र च 'काव्यः विद्वत्पुत्रः' 'कविः—मेधावी' इति श्रीमाधवाचार्यस्य व्याख्या । सर्वत्र कविसंबन्धी कविपुत्रो वा पुंसि काव्यशब्दस्यार्थो दृष्टः, उशनसि शब्दस्यास्य प्रवृत्तिरपि भृगोः कवित्वमभिप्रेत्य तत्पुत्रत्वादेवेति प्रतीयते ।

नपुंसकलिङ्गस्तु काव्यशब्दः—
'अस्मा इत्काव्यं वच उक्थमिन्द्राय शंस्यम् [ऋ० ५।३९।५]
प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो । [ऋ० ९।९७।७]
इत्यादिषु कविकृतिभूतस्तोत्रादिवाचकतया श्रुतः—
'आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुतः
प्रत्नं निपाति काव्यम्' [ऋ० ९।६।८]
'विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्यो ममार स ह्यः समान ॥'

[१०।५५।५]

इत्यादिषु तु सामर्थ्यवाचकतया व्याख्यातो भाष्यकृद्भिः ।

यज्ञस्य आत्मभूतः सुतः सोमः यजमानेभ्यः कामान् प्रेरयन् वेगेन पवते, आत्मनः कवित्वं च निपाति रक्षति । इति प्रथमस्य व्याख्या । तथा च सोमगतं सामर्थ्यमेव काव्यशब्देनोक्तम् । देवस्य कालात्मकस्येन्द्रस्य महत्त्वेनोपेतं काव्यं सामर्थ्यं पश्यत जनाः, यो जरसा प्राप्तोऽद्य ममार, स ह्यः परे द्युः समान सम्यक् चेष्टते पुनर्जन्मान्तरे प्रादुर्भवतीति—द्वितीयस्य व्याख्या । तत्र स्फुट एव विचित्र-सामर्थ्यबोधकः काव्यशब्दः । यजुःसंहितायां च—

'काव्यं छन्दः' (यजुः १५।४)

'पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः' (यजुः १०।३४)

इत्यादिषु 'त्रयी विद्या काव्यं छन्दः' इति शतपथब्राह्मणमनुसृत्य 'कवेः परमात्मन इदं काव्यं वेदत्रयीरूपं छन्दः' इति महीधरो व्याचख्यौ प्रथमे, तथैवोव्वटोऽपि। द्वितीयेऽपि 'काव्यैः मन्त्रैः दंसनाभिः कर्मभिश्च' इत्येव भाष्यकृतां व्याख्या।

ब्राह्मणेष्वपि शब्दाविमौ बहुधा श्रुतौ। तत्रापि—

'असौ वा आदित्यः कविः' (शतपथे ६, ७, २, ४)

इत्यादौ बहुत्र देववाचकः कविशब्दः,

'ये वै ते न ऋषयः पूर्वे प्रेतास्ते वै कवयः' (ऐतरेये ६।२०)

इत्यादौ पितृवाचकः।

ये वै विद्वांसस्ते कवयः (शत० ७,१,४,४)

'सीरं च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते' इति मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजनप्रकारं सम्यग् जानानास्तदभिज्ञा विवक्षिता इत्यर्थः'' इति भाष्यमनुसृत्य कृतिकुशलविद्वद्बोधकः।

'ये वा अनूचानास्ते कवयः' (ऐतरे ०२,२,३८)

'एते वै कवयो यदृषयः' (शत०१।४ ४)

'शुश्रुवांसो वै कवयः' (तैत्ति०।२।२३)

'तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नाविवासन्ति कवयः सयज्ञाः'

(शत० ४।३।३।१३)

इत्यादिषु च क्रान्तदर्शनमेधाविविद्वद्वाचकः। काव्यशब्दश्च 'काव्यं छन्दः' (शत०८।५।२।४) इत्यादौ 'वेदत्रयीरूपं छन्दः' इति महीधरादिव्याख्यामनुसृत्य कविकृतिबोधक इति मन्त्रवदेव व्यवहृतिर्द्रष्टव्या।

पुराणेष्वपि च—'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' (श्रीभागवतम्)

इत्यादिषु ब्रह्मणो वाचकम्।

'कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्' (श्रीभाग०)

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (भगवद्गीता)

इत्यादिषु मेधावि-विद्वद्वाचकं च कविशब्दं कविकृतिवाचकं च काव्यशब्दं बहुत्र पश्याम एवेति किं बहुना विस्तरेण।

अथ कोष-व्याकरणरीत्यापि शब्दयोरनयोर्विवेचनमावश्यकम्। तत्र निघण्टुपदाभिधेये वैदिके कोषे 'कविः' इति मेधाविनामसु पठितः, शब्दः (अ० ३) गत्यर्थकेषु धातुष्वपि च तत्र 'कवते' इति दृश्यते (अ०२) तद्भाष्यकृद्भगवान् यास्कश्च निरुक्ते 'कविः क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा (अ० १२ ख० १३) इति काव्यशब्दं व्याचख्यौ। प्रथमव्याख्यायां 'क्रम्वि' शब्दात्कविशब्दनिष्प-

त्तिरिति यास्कस्याशय उन्नीयते। अनयैव शैल्या तेन रूढशब्दानां व्युत्पादनं कृतम्। 'क्रान्तं व्याप्तं दर्शनं ज्ञानं यस्येति व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थो निघण्टुप्रोक्तं मेधाविवाचकत्वं न विप्रवदते इति तु स्पष्टमेव। व्याख्याकृद्देवराजयज्वा तु क्रमधातोरेव वर्णविकारेण कविशब्दं निष्पादयति, तथैव तत्प्राक्तनः स्कन्दस्वाम्यपि। तन्मते ज्ञानरूपोऽर्थोऽध्याहारलभ्य इत्यास्तां नाम। कवतेर्वा इति द्वितीयेपि पक्षे 'गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः' इति चिरप्रवृत्तामभियुक्तोक्तिमाश्रित्य निघण्टूक्ता मेधाविवाचकता समर्थनीयतामापतत्येव। 'कवते' इति 'कव' धातुरयं दन्त्यौष्ठ्यान्तो निर्दिष्ट इति केचित्। 'कुङ् गतिशोषयोः' इति उकारान्त एव शपा निर्दिष्ट इति तु देवराजयज्वा। भगवतः पाणिनेर्धातुपाठे तु दन्त्यौष्ठ्यान्तः कव्धातुर्न दृश्यते। तत एव—

> 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः।
> धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः॥'
>
> (अमर० १ का ब्रह्मवर्गः)

इति पण्डितनामसु पठितं कविशब्दं 'कु शब्दे' 'कुङ् शब्दे' इति पाणिनीयाभ्यां धातुभ्यामेव व्युत्पादयन्ति व्याख्यासुधाकृदादयः। मुकुटादयः केचित्तु 'कवृ वर्णे' इति धातोः कविशब्दं व्युदपीपन्, तन्मते कवृधातुर्दन्त्यौष्ठ्यान्तः स्यात्, बवयोरभेदो वा तैर्विवक्षितः स्यादित्यन्यदेतत्। निघण्टुरीत्या ज्ञानार्थधातुना कृते व्युत्पादने अमरोक्ता विद्वद्वाचकता सिध्यति। शब्दार्थकाभ्यां धातुभ्यां व्युत्पादने तु शब्दयोजकत्वमपि कविशब्दार्थे क्रोडीकृतं भवतीति विशेषो विवेचकैरनुलक्षणीयः। मुकुटादिरीत्या 'कवृ वर्णे' धातोश्च यदि कविशब्दो व्युत्पाद्येत तदा 'वर्णचित्रणपरः' इति व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थो लक्षणादिना समन्वीयताम्, धातूनामनेकार्थतां वा कामधेनुमाश्रित्य सर्वं समाधीयतामिति विद्वांस एव प्रमाणम्। कोषेषु मेदिनीकारस्तु—

'कविर्वाल्मीकि*काव्ययोः। सूरौ काव्यकरे पुंसि स्यात् खलीने तु योषिति'

इति कविशब्दार्थान् संजग्राह।

तदित्थं कविशब्दोऽनेकार्थ एव मन्तव्यः, अनुगतं वा प्रवृत्तिनिमित्तं किञ्चिदाश्रित्य प्रवृत्तः क्रमेण बहुत्र प्रवृत्तोभूदिति गवेषणायां सर्वं पूर्वोक्तमालोचयेदं नः प्रतीयते—यत्तत्कार्यकरणपाटवापरपर्यायं नैपुण्यमेव ज्ञानातिशयजन्यमादावस्य शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमासीत्। सर्वत्राव्याहता गतिरनेन नैपुण्येन भवतीति गत्यर्थकेनैव धातुना व्युत्पादनमस्याभिमतं पूर्वाचार्याणां निघण्टुकृत्प्रभृतीनाम्। उदाहृतपूर्वेषु मन्त्रेषु अग्निवाय्वादित्यादिविशेषणतया प्रयुक्तः कविशब्दो नैपुण्यादतिरिक्तेऽर्थे न सामञ्जस्येनोपपादयितुं शक्यः केनापि। विशेषतः—

---

* काव्योऽत्र उशना।

विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः
प्रास्तावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।

इत्यादिषु नैपुण्यरूप एवार्थः स्फुटतरं प्रतीयत एव । नैपुण्यवान् निपुणः कवि-शब्देन तस्य तत्तत्कार्यकौशलापरपर्यायं नैपुण्यमेव च कविकर्म काव्यशब्देनाभिहितं मन्त्रेषु यत्र तत्र । कविगतं सामर्थ्यापरपर्यायं नैपुण्यम्, तेन नैपुण्येन संपाद्यमाना कविकृतिः, तादृशकृतिजन्यास्ते ते अर्थाः शब्दा वा कविकर्मतया भवन्ति काव्यशब्दाभिधेयाः—'देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्यो ममार स ह्यः समान' । इत्यादिषूदाहृतेषु कौशलम्, नैपुण्यम्, सामर्थ्यं वा विहाय नान्योऽर्थः सामञ्जस्येनोपपाद्यते । तदेतन्नैपुणं मेधातिशयजन्यमेव लोके दृश्यत इति मेधाविनामसु कविशब्दपाठस्तादृशं भाष्यकृतां तत्र तत्र व्याख्यानं च न मनागपि अर्थान्तरतामास्कन्दति । तथैव क्रान्तकर्मतापि तत्र तत्र माधवाद्युक्ता नार्थान्तरमेतस्मान्नैपुणात् । इमानेव धर्मान्निमित्तीकृत्य सर्वनैपुण्यैकभाजने सर्वत्राभिव्यासकर्मणि सर्वज्ञानैकनिधाने भगवति जगदीश्वरे तद्विभूतिभूतेष्वग्निवाय्वादित्यादिषु जगद्व्यापारपरिचालकेषु विशिष्टकौशलवत्तया ख्याते भृगूशनःप्रभृतिव्यक्तिविशेषे विशिष्टकृतिषु मेधाविषु मनुष्येषु च तुल्यमेव शब्दोयं व्यवहृतस्तत्र तत्र । यस्य तु पिता विशिष्टप्रज्ञो विशिष्टकर्मा वा, स काव्यशब्देनापि व्यवहृत इति न्यदर्शयं प्राक्, एकत्रैव कवि—काव्यशब्दावपि न्यदर्शयमिति मन्ये नात्र संशीतिरवशिष्येत ।

शब्दोऽर्थश्चेत्युभयमपि प्रपञ्चान्तर्भूतं जगदीश्वरकृतिरिति चिरन्तना भारतीयविचाराः ।

शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा ।
अर्थजातमशेषं तु धत्ते मुग्धेदुशेखरः ॥
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इत्याद्याः शतशोऽभियुक्तोक्तयः शब्दस्य प्रपञ्चस्य पृथङ् महिमातिशयं ख्यापयन्ति । किमन्यत्—प्रथमः शब्द एव सर्गः शब्दात्प्रपञ्चादनन्तरमार्थ इति सिद्धान्तोयं भारतीयानां दार्शनिकमूर्द्धन्यानाम् । शतपथादिषु ब्राह्मणश्रुतिषु शतशो 'वाच एव लोकान्' 'त्रय्या विद्यायाः' सृष्टिः श्राव्यते । 'वाग्वा इदं सर्वम्' इति घण्टाघोषं घोषयति भगवती श्रुतिः ।

'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' (मनुः)
'अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं निरञ्जनम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥' (हरिः)

इत्यादि च पदे पदे प्राहुरभियुक्ताः । आस्तामेषोऽप्रासंगिको दार्शनिककथाविस्तरः, इदमेवास्माकमत्र प्रतिपिपादयिषितम्—यदर्थयोजनानैपुण्यं शब्दयोज-

नानैपुण्यं चेत्युभयमपि निदर्शितेषु मन्त्रेषु कविकाव्यशब्दाभ्यां तत्र तत्र विवक्षित-मासीत् । विशिष्टकृतिमत्सुविशिष्टप्रज्ञेषु च तुल्यमयं कविशब्दः प्रायुज्यत, परं कालक्रमेण विशिष्टकृतिषु तद्व्यवहारो विरलतां गतो विलुप्तो वा, विशिष्टप्रज्ञेषु तु प्रवृत्तः इति पुराणादिषु विशिष्टप्रज्ञविद्बोधकमेव कविशब्दं पश्यामः ।

ततोऽप्यनन्तरं तु विद्वत्सामान्येऽपि प्रवृत्तिर्निरुद्धा, विद्वद्विशेषेष्वेव तु शब्द-योजनानिपुणेषु प्रवृत्तः प्रवाहः । अर्थयोजनानैपुण्यात्प्रत्यावृत्तः प्रवाहः शब्द-योजनानैपुण्य एव प्रसृत इति नैपुण्यविशेष एव संकोचमाप कविशब्दः । नेदमाश्चर्यस्थानम् । दृश्यते हि बहूनां शब्दानां विशेषबोधकानां सामान्यार्थ-वाचकतापरिणतिः । यथा अनुकूल-प्रतिकूल-कुशल-तैल-लावण्यादिशब्दानाम् । बहूनां सामान्यबोधकानां विशेष एव निरूढिः । यथा—योग-तपः-संस्थित-शव-लिङ्गादिशब्दानाम् । तथैव पूर्वं सामान्ये प्रवृत्तः कविशब्दः क्रमेण विशेष-परतामाससाद । इदानीं तु विशेषादतिविशेषपरत्वेन परिणतिक्रमात्सेयं शब्दस्या-स्य दुर्दशाऽवलोक्यते यज्जगन्नियन्तरि जगदीश्वरे प्रधानेषु दैवतेषु प्रतिभामेधा-कोषेषु महर्षिषु चासीद्यस्य प्रवृत्तिः सोयमद्योदरदरीपरिपूरणाय तत्तत्सामन्तस्तुत्ये-कपरेषु चाटुशतकुशलेष्वेव व्यवतिष्ठते । राजपुत्रप्रान्ते हि चारण-भाटेतिप्रसिद्धानां जातीनां पुरुषा एव कतिचिदक्षरयोजकाः प्राक्तनयोजनापाठका वा 'कविजी' 'कवजी' इति संबोध्यन्ते । त एव च शब्देनानेन बुध्यन्त इत्यास्तामरुन्तुदं वृत्तम् ।

कवेः कृतिरेवोच्यते काव्यमिति कविशब्दस्य यथा यथा विशेषपरता, तथा तथैव काव्यशब्दस्यापि, इति नेदं विशेषवक्तव्यमपेक्षते । ईश्वरदेवतादिसाम-र्थ्यबोधकः, ईश्वररचितशब्दार्थमयप्रपञ्चबोधकः, वेदमन्त्रबोधकः, रामायणादिबोध-कश्चायमपि शब्दः क्रमेण तथा दुर्दशामापद्यत यथा—'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इति निषेधविषयताप्यस्य शिरसि पतिता । 'काव्यमिदम्' इति वाक्यस्याभिप्राय एवेदानीमयमेव प्रकटीभवति यत् सत्याद् दूरमपेतं कस्यचिद्विषयस्य व्यक्तिविशेषस्य वा प्रशंसामात्रमिदमिति । भवतु यद् भूतम् । न विवेचकास्तत्र प्रभवः । अस्मा-भिस्तु शब्दशक्तेः क्रम एवालोच्यः ।

काव्यलक्षणानि

यतः प्रभृत्यलंकारशास्त्रस्य साहित्यापरपर्यायस्य प्राकट्यम्, प्रचार उन्नतिर्वा, तत एव कालादपरोपि विशेषोऽत्र शब्दार्थे संनिविष्टः, क्रमेण दार्ढ्यं गतश्च यन्न केवलं योजिताः शब्दा एव काव्यम्, अपि तु यच्छ्रवणादनुसंधानाद्वा सभ्यसमाजस्य हृदि काचिच्चमत्कृतिरुदेति, तच्चमत्कृतिजनकतापरपर्यायसौन्दर्यपूर्णं वर्णनं काव्यमिति ।

यद्यपि शब्दालंकारा अर्थालंकाराश्च वेदमन्त्रेषु, स्मृतिषु पुराणेषु च सर्वत्रैव बाहुल्येनोपलभ्यन्ते, लक्षणादिनिरूपणमपि च तेषामग्निपुराणादिषु दृश्यते, तथापि क्रमबद्धतन्निरूपणेन शास्त्रत्वप्रतिष्ठापनमस्याऽर्वाचीनम्। यथा यथा च शास्त्रस्याभ्युन्नतिरभूत्, तथैव काव्यशब्दार्थबोधके तल्लक्षणेऽपि विविधैः प्रकारैः सौन्दर्यस्य निवेश आधिक्यमाप। वक्रोक्तिजीवितकारस्य मतमनुसृत्य यदि ब्रूमः—तर्हि सरलतया कस्याप्यर्थस्य प्रतिपादनं न काव्यम्। अपितु वक्रोक्त्या *घूर्णनेन कविकुलक्षुण्णपद्धत्या तत्तदर्थाभिधानमेव सौन्दर्यप्रयोजकम्, तदेव च काव्यमिति। नेदमिदानीं कथयितुमावश्यकम्—यदियं पद्धतिरेव सहृदयेतरैरुपहस्यमाना काव्यशब्दार्थे मिथ्यात्वमपि प्रावेशयत्। काव्यशब्दार्थं च वेदादिभ्यः समकोचयत्।

इदं त्वत्र स्मरणीयं वर्तते—यद् विलुप्तप्रायाप्यर्थवाचकता काव्यशब्दस्यालंकारिकैरेतैः पुनरुज्जीविता। पूर्वं किल कृतौ ज्ञाने वैशिष्ट्यभाजो निपुणाः कविशब्दवाच्या अभूवन्। तदीयं कर्म चार्थः शब्दश्चेत्युभयमपि काव्यतया गण्यते स्मेति प्राक् प्रत्यपीपदम्। यदीन्द्रवाय्वग्निसूर्याद्याः कवयः तर्हि तेषां कर्मभूता इमे जागताः पदार्थाः कुतो न काव्यानि स्युः। क्रमेण तु ज्ञाने वैशिष्ट्यम्, शब्दविषया कृतिश्चेत्येव कविकाव्यशब्दयोर्गुणप्रधानभावेन वाच्यतयाऽवशिष्टे इति निरूपितं विस्तरेण। तेन शब्दमात्रस्यैव काव्यपदव्यवहार्यताऽवशिष्यते स्म। परमालंकारिकैरेकं द्वौ वा विहाय सर्वैरेव काव्यलक्षणेऽर्थस्यापि निवेशं कृत्वार्थस्यापि काव्यपदवाच्यता पुनरुज्जीविता।

यद्यपि—

> 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
> यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥'

इति चिरन्तनाभियुक्तोक्तिदिशा कविप्रतिभाप्रकल्पिता एवार्थाः काव्यतयाभिमता आलंकारिकाणाम् इति सत्यम्। अन्ये हि प्राकृता अर्थाः तद्विलक्षणाश्चान्य एव कविप्रतिभाप्रकल्पिताः। प्रसिद्धाद्धिमालयाद्विलक्षण एव कालिदासस्य हिमालयः, यत्र दीप्तिमन्त्यौषधानि विद्याधरकामिनीनामतैलपूराः सुरतप्रदीपा भवन्ति। अन्य एव च कालिदासस्य समुद्रो यत्र फेना नक्राणां कर्णचामरतां भजन्ति। अन्य एव कवीनां चन्द्रो यो निशाकामिन्याः कर्णपूरायते, गगनसरसि वा राजहंसायते। प्रसिद्धा हिमालयसमुद्रचन्द्राद्याः क्वचित्कदाचित्कस्यचिदुद्वेजका अपि स्युः परं कालिदासादीनां हिमालयाद्यास्तु सर्वदैवाह्लादजनका इत्यादि निरूपितमालंकारिकैरेव विस्पष्टतया। तथापि 'न ह्यनाधारा कल्पना विजृम्भते' इति मनोविज्ञाननियममाश्रित्य कविप्रतिभाप्रसूतहिमालयादीनामाधारभूतास्तु प्रसिद्धा

---

* 'घुमाव देकर' इति भाषायाम्।

हिमा लयाद्या एवेति तेषामपि परम्परया काव्यशब्दस्पर्शः कथंचित्प्रसज्जत एव। सोयं प्राक्तनानामालंकारिकाणामर्थस्य काव्यवाच्यतानुप्रवेशप्रवाहः साहित्यदर्पण-कृता श्रीविश्वनाथकृतिना पुनर्निरुद्धः। स हि 'वाक्यं रसात्मकं काव्य' मिति वदन् शब्दस्यैव काव्यत्वं व्यवातिष्ठिपत्। चित्रमिदम्—यच्छब्दमात्रस्यैव काव्यत्वमुप-गच्छतापि तेन दृश्यं श्रव्यं चेत्युभयविधं काव्यं स्वीकृतम्। शब्दस्य दृश्यता कथं भवेदिति स एव महामतिः प्रष्टव्यः स्यात्। युज्यतां वा अष्टादशभाषावारविला-सिनीभुजङ्गस्य तस्य चक्षुःश्रवस्त्वाच्छब्दस्यापि चाक्षुषतया दृश्यता, परं यदर्थं लक्षणं रचितं तेषां साधारणानां मनुष्याणां तु नैतद्युज्येत।

न चार्थद्वारकं शब्दानां दृश्यत्वमिति शक्यं समाधातुम् श्रव्यकाव्येष्वति-प्रसक्तेः। 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' इत्यादीनां श्रव्यकाव्यानामर्थाः किमु दृश्या न भवन्ति? तस्माद्यत्र कविप्रतिभासन्निवेशितास्ते तेऽर्था अभिनीताः प्रत्यक्षतामापद्यन्ते तदेव दृश्यं काव्यं मन्तव्यमिति अर्थानां काव्यवाच्यतानुप्रवेशमन्तरेण नैतद्युज्येत वक्तुम्। तथैवात्र लक्षणे रसात्मकतायाः काव्यत्वप्रयोजकतायां तेन महाभागेनात्यर्थमाग्रहः कृतः। अग्रे तु काव्यप्रकाशादी-ननुकुर्वता वस्त्वलंकारादिप्राधान्याप्राधान्यादिकृता ध्वनिगुणीभूतव्यंङ्ग्यादिभेदा-स्तथैव निरूपिता इत्यपि वैचित्र्यम्। काव्ये प्रधानं वस्तु, अलंकारो वा आत्मा तु तत्र रस एवेति कस्तावदनुन्मत्त एतदभ्युपगच्छतु? दुर्दैववशाद्दास्यमनुभवद्रा-जकलत्रमिव क्वचिद्रसोपि परायत्ततामापद्यते इत्यादिसमाधानानि तत्र तत्र दृश्यन्ते, परं तथात्वे आत्मत्वमपि रसस्य कथं प्रत्यभिज्ञायेत? न हि राजकलत्रं तदात्वे स्वोचितकर्मप्रयोजकं भवति। यद्यात्मा, न परं प्रति गुणीभूतः। यदि तु गुणीभूतस्तर्हि नात्मेति उभयतःपाशेयं रज्जुः। एवमेवापातरमणीया बहवो विचारा दर्पणे प्रतिभासन्ते। उपयुक्तमेव च दर्पणस्य भ्रान्तिप्रयोजकत्वमित्यास्ता-मप्रकृतचर्चा।

अशेषशेमुषीसम्पन्नेन पण्डितराजेत्यन्वर्थोपाधिधारिणा श्रीजगन्नाथत्रिशूलिनापि शब्दमात्रस्य काव्यत्वस्वीकारे विश्वनाथ एवानुकृत इति तु परमाश्चर्यम्। नास्य-र्थेषु काव्यशब्दव्यवहार इत्येव पण्डितराजस्य प्रधानतमा युक्तिः। अन्ये कालदोषा-च्छ्रौता व्यवहाराः (येऽस्माभिः पूर्वमुपदर्शिताः) न तस्य दृष्टिपथमनुप्राप्ताः। दृश्यं काव्यम्' इति स्फुटोपि व्यवहारस्तेन गौण इत्युपेक्षितः। लोके दृश्यमाना नदीपर्वताद्याः काव्यशब्देन नाभिलप्यन्त इदानीमिति सत्यम्, परं कविप्रतिभाप्र-कल्पितानामार्थानां काव्यत्वे को विवाद इति कविमूर्धन्येनापि तेन नालोचितं हन्त! या तु काव्यप्रकाशं दूषयता तेन 'काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः' इति व्यवहारानुपप-त्तिरुद्भाविता, सा स्वपक्षेऽपि समानेति व्यस्मरत्पण्डितेन्द्रः। 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः श्रुतः, अर्थस्तु न ज्ञातः' इति फलति। अपि समुचितोयं व्यवहारः? शब्द-

स्यार्थो न बुध्यते, तदीयमर्थप्रतिपादकत्वम् तस्मिन्नर्थे रामणीयकं च बुध्यते—इत्यहो वैदग्ध्यम् !! ततश्च कास्न्र्येन काव्यपदार्थमविदुषामिमे गौणा व्यवहारा इति न तदनुसरणेन कस्यचित् काव्यलक्षणं दूषयितुमुचितम् ।

यदपि च 'एको न द्वौ' इत्यादिवत् काव्यत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वे 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इत्यप्यापद्येतेति नव्यनैयायिकपद्धतिमनुसरता तेनोट्टङ्कितम्, तदपि काव्यपदस्य खण्डशः शक्तिमुपगच्छता 'क्वचिदर्थविशिष्टः शब्दः काव्यम् क्वचिच्च शब्दविशिष्टोऽर्थः काव्यमिति' श्रीमम्मटाचार्येणैव स्वग्रन्थेऽनेकधा समाहितम् ।

अहो प्रसक्तानुप्रसक्त्या बहु दूरं धाविताः स्मः । अर्थस्य काव्यत्वमालङ्कारिककालेऽपि व्यवहारपथमागतं पुनर्विलुप्तं चेत्येव प्रकृतवक्तव्यमस्माकम् । इदानीं तु वाग्वैदग्ध्यप्रधानाः शब्दविशेषा एव काव्यपदव्यवहार्या इति निष्कर्षः ।

इदं तु पुनरपि निदर्शयितुमावश्यकम्—यदेवंसौन्दर्यस्य वाग्वैदग्ध्यप्राधान्यस्य रसात्मकताया अपि वा काव्यशरीरानुप्रवेशेपि वेदादीनां काव्यत्वं पुनरप्यप्रतिहतमेव । सर्वेषां वेदादिषु सम्यक् समन्वितत्वात् ।

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः ॥

(ऋ० १।१२४।७)

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै ।
विसदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ॥

(द्यावापृथिव्यौ) (ऋ० १।१०६।६)

उर्वी सद्मनी बृहती ऋतेन हुवे देवानामवसा जनित्री ।
दधाते ये अमृतं सुप्रतीके द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्यात् ॥

(ऋ० १।१९५।४)

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥
उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः पश्यन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

इत्यादिषु परःसहस्रेषु मन्त्रेषु केन वा सहृदयेन नानुभूयते वाग्वैदग्ध्यप्राधान्यम् ! न केवलं विनोदावहा एवार्थाः अपि तु गूढविज्ञानगर्भिता अप्यर्था मन्त्रेषु वाग्वैदग्ध्येन रोचकतां नीयन्ते—

'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन् सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥' [ऋ०]

शुष्कप्रायापि वृष्टिविद्याऽत्र कियद्रोचकत्वं प्रापिता।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥
[ऋ० १।१६४।१३]

अतिनीरसः संवत्सरविज्ञानविषयोऽत्र कियत्सारस्यमापादित इति सहृदया एवात्र प्रमाणम्।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

सर्वस्मात्परं जीवेश्वरविज्ञानमपि कया पद्धत्या सरसतां नीतम्।

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसा पश्य मन्तितस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्॥

इत्यादिषु च वैज्ञानिकंमन्यानामप्यग्राम्यगम्यं वाक्पाणविज्ञानं नर्मभाषयेवोपनिबद्धम्। वेदेषु प्रभुसंमित उपदेशः, पुराणादिषु सुहृत्संमितः, काव्येषु च कातासंमित इति विभजन्ति आलंकारिकमूर्द्धन्याः। परं यदि सम्यगालोच्येत, उपदेशप्रक्रियापि वेदेष्वतिसरसा प्रतीयते।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जायास्तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥

किमितः परापि क्वचिज्जागर्ति सुहृत्संमितोपदेशप्रक्रिया?

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
[अथ० ३।३०।१]

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥
[अथ० ४।१६।२]

इत्यादौ कियन्महत्त्वास्पदमुपदेशपद्धतिरित्यालोचयन्तु सुधियः। अथान्यदपि दृश्यताम्—क्षुधितायान्नमवश्यं दातव्यम्, न त्वन्यापेक्षयोदासितव्यमितीममभिप्रायं सूक्तमिदं प्रकटयति। तत्र कीदृशी तावदालंकारिकी भाषा समुपयुज्यते। अद्यत्वे यद्युपयुक्ता स्यात् छायावादपदमेवास्यै भाषायै प्रदीयेत।

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नो पदस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥
[ऋ० १०।११७]

भिक्षुः प्रथमं व्यतिरेकमुखेनान्नदानं प्रशंसति—देवाः वै देवाः खलु सर्वेषां क्षुधं न ददुः न प्रायच्छन्, किन्तु वधमित् वधमेव दत्तवन्तः। एतादृशीं वधरूपां

क्षुधम्, अन्नदानेन यः शमयति स दाता खलु उ इति पूरणः। यः अदत्त्वा भुङ्क्ते, तम् आशितं भुञ्जानं पुरुषमपि मृत्यवः मरणानि उपगच्छन्ति समीपे यान्ति। क्षुधार्तानां भोक्तृणां च मरणं समानं किं दानेन धननाशरूपेण, अत आह उतो उतशब्दस्त्वप्यर्थे, पृणतः प्रयच्छतः पुरुषस्य रयिः धनं नो पदस्यति न उपक्षीयते। दानप्रसंगेनादातारं दूषयति—अपृणन् अप्रयच्छन् पुरुषस्तु मर्डितारम्—आत्मनः सुखयितारं न विन्दते—न कुत्रापि लभते। इह बन्धवः अदानेन न सुखयन्ति, देवा अपि हविःप्रदानाभावात् इति सायणभाष्यम्।

न स सखा यो न ददाति सख्ये स चाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥

व्यतिरेकेण निन्दामाह—स पुरुषः सखा न भवति, यः पुरुषः सचाभुवे सर्वदा सह भवनशीलाय सचमानाय सेवमानाय उपसर्जनीभूताय सख्ये सखिजनाय पित्वः—पितूनन्नानि न ददाति, न प्रयच्छति स सुहृन्न भवतीत्यर्थः। अस्माददातुः सख्युः सः अपप्रेयात् अपगच्छेत्, यद्येनं परित्यज्य गच्छेत्, तर्हि तदोकः निवासः नास्ति न भवति, सदनं हि बन्धुभिः परिगतम्। स गतः पुरुषः पृणन्तमन्नादिकं प्रयच्छन्त अन्यमरणं चित्, अर्यं स्वामिनमेव इच्छेत् कामयेत। इति भाष्यम्।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघायांसमनुपश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः ॥ ५ ॥

धनवन्तं पुरुषं दाने प्रेरयति—तव्यान् तवीयान् धनैरतिशयात् प्रवृद्धः पुरुषः नाधमानाय याचमानायातिथये पृणीयादित् धनानि दद्यादेव। यदि दद्यात् द्राघीयांसं दीर्घतमं पन्थानं सुकृतमार्गमनुपश्येत अनुपश्येत्, व्यत्ययेनात्मनेपदम्। तत्र कारणमाह—रायो धनानि ओ हि आ उ आवर्तन्ते खलु, एकत्र न तिष्ठन्तीत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः—रथ्येव यथा रथ्यानि रथसम्बन्धीनि चक्राणि उपर्यधोभावेनावर्तन्ते तद्वत्। आवृत्तिमेव दर्शयति—अन्यमयं पुरुषं धनान्युपतिष्ठन्ते समवेतानि भवन्ति। तस्माद्धनानि देयानीति भावः। इति भाष्यम्।

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सं मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥

अतिथिभ्यो धनमप्रयच्छन्नपि मम भ्राता दास्यति इति चेत्तत्र हेतुमाह—समौ चिद् हस्तौ समावपि समं समानं न विविष्टः कार्ये न व्याप्नुतः। तथा संमातरा वत्सस्य मातरौ धेनू समे अपि समं समानं पयो न दुहाते। यमयोश्चित् सहजातयोः पुत्रयोरपि समा समानि वीर्याणि न सन्ति, तस्मात् ज्ञाती चित् एकस्मिन् कुले सन्तौ जातावपि समं न पृणीतः न प्रयच्छतः। यस्माद्यस्य धनमस्ति स एव दद्यादित्यर्थ इति भाष्यम्।

भाषाभेदाद्वयमत्र तथाविधमानन्दं न विन्दाम इत्यन्यदेतत्। उपदेशप्रक्रियाः स्वित उत्कृष्टा न क्वाप्युपलभ्यते।

तथैव—

यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनां मान्मायिनाममिनाः प्रोतमायाः।
आत्सूर्यं जनयन् द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से॥
अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः॥
अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः॥
नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव॥

इत्यादिषु (ऋ० १।३२) इन्द्रवृत्रयुद्धवर्णनशैली तत्र वीररसपरिपोषश्च सहृदयानां मननार्हौ। एवं सौरेषु सूक्तेषु सूर्यवर्णनमाश्विनेष्वश्विवर्णनं पृथिवीवर्णनं च पार्थिवेषु दर्शनार्हम्। न विस्तरभयादिहोदाह्रियते। सौपर्णकाख्यानप्रभृति-ष्वाख्यानेषु ब्राह्मणानामपि वर्णनशैली नोपेक्षार्हा। अथ रसात्मकं वाक्यमेव काव्यं ब्रुवन्तोऽपि न मन्त्राणां काव्यत्वं वारयितुमीशते—

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥
[यजु० १७.४०]

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥ (४१)
उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ (४२)

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनुयच्छन्ति रश्मयः॥
[यजु० २९।४३]

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यं सन्॥
[२९।४८]

उपश्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अपसेध शत्रून्॥
[ऋ० ४।३५।४]

इत्यादिषु किं नास्ति रसपरिपोष ? तस्माद्धृदयैव कामं वार्यतां वेदादिषु काव्यत्वम् , नान्यः पन्थाः । भगवान् वाल्मीकिरेव जगत्यादिकविरिति प्रसिद्धिरपि वेदादीन् दृशत्तिरोधायैव सूपपादा भवेत् , वेदानां सर्वादिभूततायाः सर्वैरेवोररीक्रियमाणत्वात् । 'अहो आम्नायादन्यत्र च्छन्दसामवतारः' [उ० रा० च०] इति ब्रुवाणेन महाकविना भवभूतिना लौकिक्यां भाषायां छन्दो वाल्मीक्युपज्ञमिति आदिकवित्वप्रसिद्धिः समाहिता, परं नेदमपि क्षोदक्षमम् । मन्वादिस्मृतिषु छन्दसां भगवतो वाल्मीकेः प्रागपि लौकिकभाषायां सुस्पष्टमधीयमानत्वात् ।

'पुरा सूत्रनिबद्धान्येवासन् धर्मशास्त्राणि, वर्तमानं रूपं तु मन्वादिस्मृतीनामर्वाक्तनमेव' इत्याधुनिकैतिहासिकानामुक्तिरपि नास्मदुक्तामनुपपत्तिं समाधातुमीशीत, वाल्मीकीये रामायण एव मनुनाम्ना पद्योद्धरणदर्शनात् । मनुस्मृतौ च तत्पद्योपलम्भात् । तथा हि वाल्मीकीये रामायणे किष्किन्धाकाण्डे अष्टादशे सर्गे बालिनं प्रति भगवतः श्रीरामस्योक्तौ—

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥ ३० ॥
राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥

शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥

श्लोकाविमौ मनुस्मृतेरष्टमेऽध्याये (३१५, ३१६) किञ्चित्पाठभेदेन दृश्येते । तस्मादुपलभ्यमानैव मनुस्मृतिरादिकाव्याद्वाल्मीकीयाद्रामायणात्प्राचीनेति विवशमुपगन्तव्यं स्यात्प्रमाणपरतन्त्रैः । अथ मनुस्मृतेर्वर्णनाशैल्यपि न नाम काव्यत्वं न स्पृशति—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ [अ० १।५]

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ [१।९]

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ [१।१०]

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ [१।३०]

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ [१।९५]

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ [२।११३]
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ [२।११४]
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ [२।१५७]
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ [३।५८]
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ [४।५०६]
यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जनोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ [४।१९४]
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ [४।२३९]
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ [४।२४१]

इत्यादिषु शतशः श्लोकेषु उक्तिवैचित्र्यापरपर्यायस्य सौन्दर्यस्य सहृदयतुष्टेश्च सुस्पष्टमनुभूयमानत्वात् । तस्मात् 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति न्यायेन यत्र सौन्दर्यात्मकं वर्णनमभिलक्ष्यैव ग्रन्थकृतः प्रवृत्तिः, त एव ग्रन्थाः काव्यत्वेन प्रसिद्धिं गताः, तेषु चाद्यं वाल्मीकीयं रामायणमिति भगवान् वाल्मीकिरादिकविराख्यायते । तदनन्तरं तु कालिदासाद्याः सहस्रशः कवयोऽस्याः पद्धतेः परिष्कारकाः प्रादुरभवन्निति विदन्त्येव विद्वांसः ।

सोयं काव्यप्रवाहः कालेन भारते तथाविधः प्रसृतः, येन शास्त्रान्तराणि कलान्तराणि च स्वान्तर्निमज्जितानि नाद्याप्युन्मज्जन्ति । 'छान्दसाः श्लोकशत्रवः' इति वेदाध्ययनं दूरीकृतम् । 'व्याकरणतरुणतरुणिं ये बहु पश्यन्ति ते भवन्त्यन्धाः' इति व्याकरणबोधोऽधिक्षिप्तः, 'अविदितसुखदुःखं निर्गुणं वस्तु किञ्चिद् जडमतिरिह कश्चिन्मोक्ष इत्याचचक्षे' इति दार्शनिका गालीभिः सत्कृताः । सर्वथा काव्यमेवैकं शास्त्रम्, कवय एव देशोद्धारका विद्वांसः, राजसभासु कवय एवोच्चैरुपविशन्ति स्म । कवीन्द्राणामेवाङ्गणभुवः 'कलदृभृङ्गासङ्गाकुलकरिमदामोदमधुराः' अभूवन् । अन्ये तु विद्वांसः कवीनेवोपजीव्य निर्वहन्ति जीवनमिति महान्तं कालं भारतस्य वर्षस्य स्थितिरासीत् । यः श्लोकं रचयितुं न जानाति स नास्त्येवाक्षरमुखः इति

राजाज्ञेवेदृशी सर्वस्मिन्नपि देशे प्रवृत्ता। ये वराकाः सर्वथा 'कवित्वबीजभूतसंस्कार-लेशशून्याः, ते वरं 'कुर्वेऽहन्तु यथामति' 'शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्' इत्याद्येव रचयन्तु, परमन्ततो मङ्गलं तु पद्येन कर्तव्यमेवेति न्यायालयस्येवायं प्रवृत्तः सार्वत्रिको नियमः। दर्शनम्, ज्यौतिषम्, आयुर्वेदः, कोशः, व्याकरणमपि चेति सर्वं पद्यबद्धमेवाद्दतमभूत्। पद्यैरल्पाक्षरैरेव बद्ध्वेव विषयाः पुरः स्थापयितुं शक्यन्ते इति सत्यम्, परं पद्यबद्धाः शास्त्रीया विषया दुरूहा अध्येतॄणां क्लेशप्रदा भवन्तीत्यपि नाऽसत्यम्। इत एव प्रवाहाच्छास्त्राधिगमे, संस्कृताभ्यास एवातिकाठिन्यं प्रसृतमित्यास्तामप्रकृता कथा। काव्यान्यपि तावन्ति निर्मितानि भारते, यत्प्रत्येकं यन्त्रालयैः, समितिभिः, संस्थाभिः, मासिकैः पत्रैश्च सहस्रशः काव्यानि प्रकाशितानि, प्रकाश्यन्ते च, परमद्यापि सहस्रश एव सन्ति प्रकाशनापेक्षीणि, नास्त्येवैषामन्तः। अहो भारतीयानां प्रतिभावैचित्र्यम्! अहो प्रवाहप्रसरणम्। यः प्रवाहोऽत्र प्रसृतः, स एवमेवानन्तसागरायितः। सत्यमियं सर्वासां विद्यानां कलानां च प्ररोहायातिशयितोर्वरा भूमिः।

अथ कालक्रमेण ह्रासमुपेयुषि संस्कृतवाङ्मयभास्करे, समुदयमाप्नुवति च प्राकृतापभ्रंशादिग्रन्थनिवहशीतकरे, सोयं कविताप्रवाह उदीयमानाभिमुख एव सुप्रसृतोऽभूत्। तत्रापि काव्यानामतितमां बाहुल्यमनुभूयते।

संस्कृते तु बहोः कालादनन्तरं कविताप्रवाहः प्रसृत इति ततः प्राक्तना गद्यग्रन्था अपि बाहुल्येनोपलभ्यन्ते, परमपभ्रंशादिभाषाणान्तु जन्मैव कविताप्रसारकाल इति तत्र तु गद्यग्रन्थानामतीव विरलता दृश्यते। सर्वमपि विषयजातं तत्र पद्यनिबद्धमेव। तस्मिन्काले काव्यमेव सकलकलामौलिलुठितमिति सुस्पष्टमपभ्रंशजनितहिन्दीभाषादिवाङ्मयदर्शनेनानुमीयते। प्राकृतम्, अपभ्रंशः, तज्जनिता ब्रजभाषा हिन्दीभाषाद्याश्चेत्यादि सर्वमपि प्राचीनं वाङ्मयं संस्कृतपरिशीलितमेव पन्थानमनुससारेत्यत्र तु नास्ति स्तोकोऽपि संशयः। संस्कृतमेव तदात्वेऽध्ययनभाषाऽभवत्, यः कोऽपि किमप्यध्येतुमैच्छत्, तस्य संस्कृतैव वागासीच्छरणम्। प्राकृतापभ्रंशब्रजभाषादिमहाकवयोऽपि संस्कृतेऽधीतिन एव। तथा च संस्कृतमधीत्य संस्कृतानुसरणं तेषां प्रकृतिसिद्धमेवाभूत्। आस्तां विषयजातकथा, संस्कृतशब्दा अपि तान्न जहति स्म। तत एव प्राकृतापभ्रंशादिक्रमेण विकृतिमासान् शब्दानुपेक्ष्य संस्कृतशब्दा एव ब्रजभाषाकविभिर्भूयो भूयः परिगृहीता इति विस्तरेण दृढाभिर्युक्तिभिः प्रत्यपीपदं स्वीये हिन्दीभाषानिबन्धे (हिन्दी में संस्कृत शब्दों का ग्रहण) इति शीर्षके। तेन च संस्कृता वाक् न केवलं हिन्द्यादिभाषाणां मातामही, पितामही वा अपि तु साक्षाज्जनन्यपीति तत्रैव सिद्धान्तितमित्यास्तामप्रकृतम्।

इदं तु विस्मयावहम्—यद् ब्रजभाषादिदेशीयभाषाकविभिरन्यत्र संस्कृतवाङ्मयं सर्वात्मनानुसरद्भिरपि छन्दोविषये स्वातन्त्र्यमेवाविष्कृतम्। यानि च्छन्दांस्येभि-

-रूपयुक्तानि (दोहा, चौपाई, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया अमृतध्वनि, घनाक्षरी (कवित्तम्) प्रभृतीनि न तेषां प्राकृते संस्कृतवाङ्मये क्वापि समुन्मेषः। संस्कृत-निबद्धेषु पिङ्गलादिच्छन्दःशास्त्रग्रन्थेष्वपि नैषां प्रायेण लक्षणानि दृश्यन्ते। 'दण्डक' पदेनैवैवंविधानि छन्दांसि व्यवहरन्ति स्म पूर्वाचार्याः। प्राकृतपिङ्गले केषांचिल्लक्ष-णानि प्राप्यन्ते, परं प्राकृतेऽपभ्रंशेऽपि च दोहादीनां केषांचिन्मात्राच्छन्दसां व्यव-हारेऽपि प्रलम्बच्छन्दसां व्यवहारो न दृष्ट एव। प्रलम्बच्छन्दसां बाहुल्येन प्रथमः प्रयोक्ता तु देश्यभाषाकविः 'पृथ्वीराजरासो' निर्माता चन्द्रवरदाईत्यभिधो भाट दृश्यते। तदात्वेऽपभ्रंशाद्देशीया भाषा उदयमाना आसन्।

'षड्भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया' इति हि तस्य प्रतिज्ञा। तदन-न्तरं तु व्रजभाषायां प्रलम्बच्छन्दसामेव व्यवहारप्रवाहः प्रसृतः। घनाक्षरी तु तथा सर्वैरभ्यस्ता यथा तन्नामैव 'कवित्तम्' इति जातम्। तन्निर्माता च कविः, तदेव च तस्य कवित्वमिति।

वस्तुतस्तु आवश्यकतामनुसृत्योपकरणान्युपादीयन्ते, परिहीयन्ते वेति प्रकृति-सिद्धः सिद्धान्तः। ब्रजभाषादिकवित्वकालो हि 'रीतिकालः' इति परिभाष्यते। तदात्वे हि अलङ्काराणाम्, तत्रापि विशेषेण शब्दालङ्काराणां बाहुल्यमेव जनमनो-मोहकमासीत्। राजान एव कवीनां प्रसादनीया अभवन्। ते च व्यङ्ग्यादिबोध-शिथिला वाच्येनैवार्थेनाधिकं तुष्यन्ति स्म। अलंकाररुचिरं तद्वीर्यवर्णनम्, यशो-वर्णनम्, तद्रन्तिकरशृङ्गारपरिप्लावनं वा कवीनां कर्तव्यकोटौ प्रधानान्यभूवन्। एतदर्थं च कवित्तादीनि प्रलम्बच्छन्दांसि बहूपकारकाणि। घनाक्षरी 'कवित्तम्' नानुप्रासमन्तरेण पदमपि प्रसरति। बन्ध एवास्यच्छन्दसोऽनुप्रासाधीनः। बहुत-मवर्णमैत्रीश्रवणसमकालमेव प्राकृतानां चेतस्यानन्दपयोनिधिरुद्वेलति। 'भूली सुध घटकी री लोकलाज सटकी री अटकी हिये में फहरानि पीतपटकी।'

इत्यादिश्रवणसमकालमेव शिरो घूर्णयन्ति जनाः।

'केसरिया पाग पर चन्द्रिका सुहाग पर
कलँगी की लाग पर रतनारी दामरैं
बंदन की झूम पर मोतिन की लूमपर
अलकन धूम पर भौंहन की भाँवरैं।
जामा फुलकारी पर बनमाला भारी पर
भूषन उजारी पर बैन के बनावरैं
आँखैं अरविंद पर चारमुखचन्द पर
राधिकागुविन्द पर नैनन निछावरैं॥'

'मेघन लगायो झर नाँचैं बिज्जु व्योमचर
कूकैं मोर मत्तवर बैठे हरी डारतर
सुखी भए चराचर गावैं गीत घर घर
छोड्यों ज्ञान जटाधर देखि बन सरवर।
राजत हैं तरवर बेलिन को लियें घर
गोविंद असमसर मारत वियोगी नर
ऐसे अवसर गिरधर पै अनङ्ग भर
प्यारी मान दूर कर बैठो परियङ्क पर ॥'

इत्यादिष्वनुप्रासबाहुल्यं परां कोटिमधिरूढम्। एतावती हि वर्णमैत्री अनुप्रासापरपर्याया कथं लघुभिश्छन्दोभिरेकत्र समाहर्तुं शक्येत ? अर्थालङ्कारेष्वपि मालोपमा, मालारूपकम्, सावयवरूपकमन्येऽपि चालङ्कारा मालारूपेण यावदत्र समावेशयितुं शक्यन्ते तावत्कथमल्पाक्षरच्छन्दस्सु समावेश्यन्ताम्। स्थानविरह एव बाधकः स्यात्। यथा शिवबीरप्रसादके भूषणस्य प्रसिद्धे कवित्वे—

इन्द्र जिमि जम्भपर वाडव सुअम्भ पर
रावण सुदम्भ पर रविकुलराज है
पौन वारिवाह पर शंभु रतिनाह पर
जौं सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुमदण्ड पर चीता मृगझुंड पर
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज है
तेज तमअंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यौं मलेच्छवंस पर सेर शिवराज है॥

यथा वा—

हीरा सी हरा सी हरदेहसी हलायुध सी
हंससी हँसीसी करकासी घनसारसी
सारदसी नारदसी पारदसी पयसी
पियूखसी हिमाचलसी रूप के पहारसी।
मोतीसी कुमोदिनीसी केतकसी चंदनसी
मालतीसी मुनिन के मनसी मुरारसी
जयसिंह भूपति की पुन्यमई कीरति सी
फैली है जुह्नैया आजु गंगजलधारसी॥

अत्र मालोपमा—

'कुंजगृहमङ्गल रसालमञ्जरी को मित्र
उन को सुहाग बलवेनिन को कन्त है
कोकिला को मौनहर भौंरन को केलिकर
मञ्जुमलैमारुत को सन्त बिलसन्त है।
मानिनीनमायक मनोज को सहायक
सँजोगी सुखदायक वियोगी जन अन्त है
चाँदनी को सोधक विरोधक मुनीन मन
रोधक विदेस फूल्यो बागन बसन्त है॥'

'बरनविचार लघु गुरु लोक लीकन को
साधि सोधि रसना के सुबरन पत्रपर
कर चितही तें चतुराईं चारु लेखनि लै
सबद अरथ रङ्ग व्यङ्ग्यनि उजास घर
सरसुति राधिका कुंवरि व्रजचन्दजू के
रूप की घटानि बरसावैं रसरङ्गझर
नेह के नगर जग जगर मगर ऐसे
सुघर सुघर बन्दौं भारती के चित्रकर॥'

[४०६।२]

अत्र सावयेवं रूपकं च कस्य न मनो हरेत्।

यथा वा पद्ये संस्कृतमये—

'रूपककिरीट–परिणामपत्रपाश्यायुतां
काव्यलिङ्गकर्णिकाढ्य–चूडामणिकोपमाम्।
उत्प्रेक्षावतंस–तुल्ययोगितातरणिभूतां
तद्गुणतरल–हेतुहारतो मनोरमाम्।
श्लेषकरकङ्कण–विरोधवलयानुगुणां
परिकरकाञ्ची–सारनूपुरसुखक्रमाम्।

मानस ! मुकुन्दचरणारविन्दलग्नामये !

मौनमभिनन्दयस्व सूक्तिसुन्दरीमिमाम् ॥'

[गोविन्दवन्दनमन्दारमाला २]

समभिनन्द्यतां सशिरःकम्पं सावयवरूपकम् । एकत्रैव बह्वर्थप्रकाशनं प्रलम्बच्छन्द-सामसाधारणो गुणः । दृश्यताम्—सर्वापि द्रौवदीकथा एकत्रैव समाहृता कुलपति-मिश्रेण स्वीये संग्रामसारे—(द्रोणपर्वानुवादरूपे)—

'शकुनि दुशासन कर्नसुजोधन पापमन्त्र किय
सभामध्य द्रौपदि हि आनि हठि वस्त्र ऐंचि लिय ।
किय पाण्डव अपमान बेधि बहु बाक बान उर
हुते सर्व परवीन किहुन थंभिय सुधमंधुर ।
जदुनाथ नाथ तुव सरन हों राखि लाज कृष्णा कहिय ।
घट्टैन बसन जिमि कालगति सुनत अन्ध अति भय गहिय ॥'

यथा वा तत्रैव सात्यकिभूरिश्रवसोर्युद्धवर्णने—

'लखि सात्यकि बलहीन प्रबल कौरव अद्भुत किय ।
सारदूल जिमि एव काण्ठ गहि भूमि पटक्किय ।
अरु उरमें दै लात केस गहि खग्ग हत्थ लिय
पत्थ ! पत्थ ! सैनेय मरत हरि इहै सोर किय ।
भुजसहित ग्रीव जुजधानहू फेरत कियउ अपुव्व अति ।
निरखै न कण्ठ भूरिस्रवा जिमि नर लखै न कालगति ॥'

साम्प्रदायिकान्दोलनवशाद्दैवतस्तुतिरपि व्रजभाषाकवितासु बहुला दृश्यते । तत्राप्येकत्रैवाशिर आनखं च देवताध्यानसमावेशे प्रलम्बच्छन्दसां भूयानुपकारः । यथा मत्प्रपितामहानां श्रीगोपालचतुर्वेदानां गणपतिस्तुतिः—

चर्चित सिंदूर तन अर्चित सुरेस पद
मण्डित मुकुटमौलि सुषमा अपार है
सुकवि गुपाल भालचन्द की छटा है
मद झरत पटा है एकदन्त निरधार है ।

उदर उदार भुज चार रखवार मही
गोद गिरिजा के मन मुदित विहार है
आनन वितुण्डवारे आनँद अखण्डवारे
सुण्डवारे सरस महेशके कुमार हैं ॥

इदंतु खलु संस्कृते भाषासम्बन्धे अनितरसाधारणं महत्त्वम्—यत्र समास-प्रयोगेण तद्धितेन सतिसप्तम्यादिभिः, अन्येषामपि सुपां तिङां च तत्तदर्थाभिव्यञ्जकतया स्वल्पाक्षरैरेव महार्थः क्रोडीक्रियते। प्राकृताद्यन्यभाषासु न तत्संभवति। तस्मादत्र तु प्रलम्बानि च्छन्दांस्येव शरणं बह्वर्थसंग्रहाय। एवमादिभिस्तत्कालोपयुक्तैर्गुणैरेषां छन्दसां देशीयभाषाकवितासु प्राधान्येन परिग्रहो ननु न्यायसिद्ध एव। तथैव भावरुचिरपि लोकानां प्रवृद्धेति गेयच्छन्दसां पदापरपर्यायाणामपि प्रवाहो व्रजभाषाकवितासूरेण श्रीसूरदासेन प्रवर्तितः। परतस्तु यवनसंपर्कात्तत्रापि नवनवच्छन्दसां समावेशोऽतीव वृद्धिं गतः।

संस्कृतकवित्वं संस्कृतस्य विरले प्रचारे सायन्तनप्रकाशायितमभूदिति न्यवेदयं प्राक्। पण्डितराज एव संस्कृतकवित्वस्य चरमश्चक्रवर्ती। ततः परं न विश्वस्वरप्रतिभः कविः कश्चन प्रादुरभूदित्यस्मद्गुरुचरणैः श्रीलक्ष्मीनाथशास्त्रिमहाभागैः स्वीये भारतेतिवृत्तसारे समुल्लिखितम्। तथापि तु 'न ह्यवीरा वसुन्धरा'। भारतभुवि कस्याऽपि आख्येयस्य वस्तुनो विलोपो न जायते। अभूवन्नेव तत्र तत्र देशविशेषे कालविशेषे च प्रतिभाप्रगल्भाः कवयः। महामहोपाध्यायश्रीगङ्गाधरशास्त्रिणां दुःखभञ्जनदेवीप्रसादप्रभृतीनां च कः खलु विशिष्टकवित्वं नाभिमन्येत। वङ्गदेशे दक्षिणदेशेष्वपि च प्रादुरभवन् बहवः ख्यातनामानो महाकवयः। जयपुरनगरेऽपि भट्टश्रीकृष्णरामप्रभृतयः सुप्रसिद्धाः कवयः प्रादुरभवन्, येषां सुप्रसिद्धानि काव्यानि प्राक्तनकविभ्यो नापकृष्टानि गणयितुं शक्यन्ते। एष्वर्वाचीनेषु कविषु येषां व्रजभाषाकाव्यपरिचयोऽभूत् ते कौतुकवशगाः प्रलम्बच्छन्दसां व्यवहारं क्वचित्कथंचित् संस्कृतेऽपि चक्रुः। पूर्वनिर्दिष्टेन श्रीकृष्णरामकविना भाषाप्रसिद्धाः काश्चन गीतयः संस्कृते रचिताः। तत्कालिकैरन्यैरपि कविभिः स्फुटरूपेण तत्र पदं निहितम्।

परं व्रजभाषाप्रसिद्धानि च्छन्दांसि, नव्यशैलीनिबद्धा गीतयश्चानुप्रासबाहुल्य-मन्तरेण न सौष्ठवं दधत इति तु प्राज्ञन्यवेदयम्। देशीयभाषाकवीनां शब्दत्रोटने मोटने च स्वातन्त्र्यात्तैरनुप्रासा निरुह्यन्ते। संस्कृतभाषा तु व्याकरणसूत्रबद्धेति नात्र शब्दस्वरूपपरिवर्तने मनागपि कवीनामधिकारः। अन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र प्रयोगेऽपि 'निरङ्कुशाः कवयः' इति वैयाकरणास्तान् क्षंस्यन्ति। तस्मादत्र तादृशबन्ध-निर्वहणमतिकठिनमिति न संस्कृते तादृशच्छन्दसां प्रवाहोऽद्यावधि समुच्छलितः। तदित्थं कविकाव्यविषये दिङ्मात्रं प्रकाशिता विचाराः।

इति चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावल्या महामहोपाध्यायश्रीगिरिधरशर्म-
चतुर्वेदानां भारतराष्ट्रपतिसम्मानितानां संस्कृत-
निबन्धानां मञ्जूषायमाणायाः
प्रथमो भागः समाप्तः।





चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस
वाराणसी-१